श्रीमद्-राजचन्द्रजैनशास्त्रमाला-४

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचितः

ज्ञानार्णवः

सुजानगढनिवासिपन्नालालबाकलीवालकृत
हिन्दीभाषानुवादसहितः
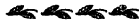
स च
श्रीमद्राजचन्द्र-आश्रम-अगासस्थ-
श्रीपरमश्रुतप्रभावकमण्डल-श्रीमद्राजचन्द्रजैनशास्त्रमाला
इति अस्याः स्वत्वाधिकारिभिः
श्रीरावजीभाई देसाई इत्येतैः
प्रकाशितः

श्रीवीरनिर्वाण संवत् २५००   श्रीविक्रम संवत् २०३१   ईस्वीसन १९७५

प्रकाशक
रावजीभाई छगनभाई देसाई ऑ० व्यवस्थापक
परमश्रुतप्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्र-आश्रम
स्टे: अगास, पोस्ट. बोरिया, वाया आणंद (गुजरात)

चतुर्थावृत्ति-१०००
वीर संवत् २५००
विक्रम संवत् २०३१
ईस्वीसन् १९७५

मुद्रक—
म. स्वामी श्री त्रिभुवनदास शास्त्री
श्रीरामानन्द प्रिन्टिंग प्रेस,
कांकरिया रोड, अमदावाद २२
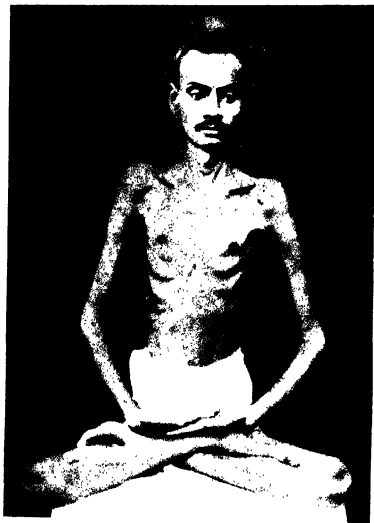
श्रीमद् राजचंद्र ।

जन्म – ववाणीआ
संवत १९२४ कारतक सुद १५

देहोत्सर्ग – राजकोट
संवत १९५७ चैत्र वद ५

प्रकाशकीय निवेदन

आचार्य श्री शुभचन्द्ररचित यह 'ज्ञानार्णव' शास्त्र योगका अपूर्व ग्रन्थ है, जिसमें आचार्य महोदयने तत्त्वोंका निचोड़ भरकर रख दिया है। तत्त्वरसिक आत्मार्थीजन शान्तिपूर्वक स्वाध्याय करके इसका लाभ उठावेंगे ऐसी आशा है।

परमश्रुतप्रभावक मंडलकी ओरसे ज्ञानार्णवकी प्रथम आवृत्ति सन् १९०७ में प्रगट हुई थी, पश्चात् २० वर्ष बाद दूसरा संस्करण सन् १९२७ में छपा। उसके २४वर्ष बाद तीसरा संस्करण सन् १९६१ में प्रकाशित हुआ। इस संस्करणकी प्रतियाँ भी समाप्त हो जानेसे अब यह प्रस्तुत चतुर्थावृत्ति भ० महावीरनिर्वाण सं. २५०० में प्रगट होकर पाठकोंके हाथोंमें आ रही है, जिसका हमें परम हर्ष है।

सुजानगढनिवासी स्व० पन्नालालजी बाकलीवालने पं. जयचन्द्रजीकी ढूँढारीभाषाके आधार पर ही काफी परिश्रम करके यह अनुवाद तैयार किया था। इस संस्थाकी ओरसे वही अनुवाद छपता रहा है। सारी जैन समाजमें आज तक सर्वत्र इसी टीकाका प्रायः पठन-पाठन होता रहा है, जो समझनेमें भी काफी सरल और रोचक है। ग्रन्थके छपानेमें [illegible] सावधानी रखाई गई है, फिर भी कहीं कोई अशुद्धि दृष्टिगोचर हो तो विद्वान् पाठकगण हमें सूचना देनेकी कृपा करें, हम उनका आभार मानेंगे।

परमश्रुतप्रभावक मंडलके तत्त्वावधानमें चल रही श्रीमद्राजचन्द्रजैनशास्त्रमालाका सदैवसे सत्श्रुत-प्रचार ही लक्ष रहा है। सभी ग्रन्थोंका सम्पादन, मुद्रणादि कार्य अपनी परम्पराके अनुरूप आकर्षक और व्यवस्थित होता रहा है। ग्रन्थोंका मूल्य भी लागत मात्रसे अधिक नहीं लिया जाता।

संस्थाकी ओरसे वर्तमानमें अनेक ग्रन्थोंका पुनर्मुद्रणकार्य चल रहा है। इनमें कई ग्रन्थ तो नवीन सम्पादनके साथ यथासमय प्रगट होंगे। हमें विश्वास है कि पाठकगण उत्तमोत्तम साहित्यका स्वाध्याय द्वारा लाभ उठाकर हमें सत्श्रुत-सेवाका अवसर प्रदान करते रहेंगे।

निवेदक

रावजीभाई देसाई

कार्तिक शुक्ला ५, सं. २०३०
३१. १०. ७३
वीर नि. सं. २५००

अलौकिक अध्यात्मज्ञानी परमतत्त्ववेत्ता

श्रीमद् राजचन्द्र

'खद्योतवत्सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित्क्वचित्'

हा ! सम्यक्तत्त्वोपदेष्टा जुगनूंकी भाँति कहीं-कहीं चमकते हैं, दृष्टिगोचर होते हैं ।

—आशाधर

महान् तत्त्वज्ञानियोंकी परम्परारूप इस भारतभूमिके गुजरात प्रदेशान्तर्गत ववाणिया ग्राम (सौराष्ट्र) में श्रीमद्राजचन्द्रका जन्म विक्रम सं० १९२४ (सन् १८६७) की कार्तिक पूर्णिमाके शुभदिन रविवारको रात्रिके २ बजे हुआ था । यह ववाणिया ग्राम सौराष्ट्रमें मोरबीके निकट है । इनके पिताका नाम श्रीरवजीभाई पंचाणभाई महेता और माताका नाम श्री देवबाई था । आपलोग बहुत भक्तिशील और सेवा-भावी थे । साधु-सन्तोंके प्रति अनुराग, गरीबोंको अनाज कपड़ा देना, वृद्ध और रोगियोंकी सेवा करना इनका सहज-स्वभाव था ।

श्रीमद्‌जीका प्रेम-नाम 'लक्ष्मीनंदन' था । बादमें यह नाम बदलकर 'रायचन्द' रखा गया और भविष्यमें आप 'श्रीमद्राजचन्द्र' के नामसे प्रसिद्ध हुए ।

श्रीमद्राजचन्द्रका उज्ज्वल जीवन सचमुच किसी भी समझदार व्यक्तिके लिए यथार्थ मुक्तिमार्गकी दिशामें प्रबल प्रेरणाका स्रोत हो सकता है । वे तीव्र क्षयोपशमवान् और आत्मज्ञानी सन्तपुरुष थे, ऐसा निस्संदेहरूपसे मानना ही पड़ता है । उनकी अत्यन्त उदासीन सहज वैराग्यमय परिणति तीव्र एवं निर्मल आत्मज्ञान-दशाकी सूचक है ।

श्रीमद्‌जीके पितामह श्रीकृष्णके भक्त थे, जब कि उनकी माताके जैनसंस्कार थे । श्रीमद्‌जीको जैन लोगोंके 'प्रतिक्रमणसूत्र' आदि पुस्तकें पढ़नेको मिलीं । इन धर्म–पुस्तकोंमें अत्यन्त विनयपूर्वक जगतके सर्व जीवोंसे मित्रताकी भावना व्यक्त की गई है । इस परसे श्रीमद्‌जीकी प्रीति जैनधर्मके प्रति बढ़ने लगी । यह वृत्तान्त उनकी तेरह वर्षकी वयका है । तत्पश्चात् वे अपने पिताकी दुकानपर बैठने लगे । अपने अक्षरोंकी छटाके कारण जब-जब उन्हें कच्छ दरबारके महलमें लिखने के लिए बुलाया जाता था तब-तब वे वहाँ जाते थे । दुकानपर रहते हुए उन्होंने अनेक पुस्तकें पढ़ीं, राम आदिके चरित्रोंपर कविताएँ रचीं, सांसारिक तृष्णा की, फिर भी उन्होंने किसीको कम-अधिक भाव नहीं कहा अथवा किसीको कम-ज्यादा तौलकर नहीं दिया ।

जातिस्मरण और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति

श्रीमद्‌जी जिस समय सात वर्षके थे उस समय एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग उनके जीवनमें बना । उन दिनों ववाणियामें अमोचन्द नामके एक गृहस्थ रहते थे जिनका श्रीमद्‌जीके प्रति

बहुत ही प्रेम था। एक दिन अमीचन्दको साँपने काट लिया और तत्काल उनकी मृत्यु हो गई। उनके मरणसमाचार सुनते ही राजचन्द्रजी अपने घर दादाजीके पास दौड़े आये और उनसे पूछा: 'दादाजी, क्या अमीचन्द मर गये?' बालक राजचन्द्रका ऐसा सीधा प्रश्न सुनकर दादाजीने विचार किया कि इस बातका बालकको पता चलेगा तो डर जायगा अतः उनका ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करनेके लिए दादाजीने उन्हें भोजन कर लेनेको कहा और इधर-उधरकी दूसरी बातें करने लगे। परन्तु, बालक राजचन्द्रने मर जानेके बारेमें प्रथमबार ही सुना था इसलिए विशेष जिज्ञासापूर्वक वे पूछ बैठे 'मर जानेका क्या अर्थ है?' दादाजीने कहा—उसमेंसे जीव निकल गया है। अब वह चलना-फिरना, खाना-पीना कुछ नहीं कर सकता, इसलिए उसे तालाबके पास स्मशान भूमिमें जला देवेंगे।' इतना सुनकर राजचन्द्रजी थोड़ी देर तो घरमें इधर-उधर घूमते रहे, बादमें चुपचाप तालाबके पास गये और वहाँ बबूलके एक वृक्षपर चढकर देखा तो सचमुच कुटुम्बके लोग उसके शरीरको जला रहे हैं। इस प्रकार एक परिचित और सज्जन व्यक्तिको जलाता देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे विचारने लगे कि यह सब क्या है? उनके अन्तरमें विचारोंकी तीव्र खलबली-सी मच गई और वे गहन विचारमें डूब गये। इसी समय अचानक चित्तपरसे भारी आवरण हट गया और उन्हें पूर्वभवोंकी स्मृति हो आई। बादमें एक बार वे जूनागढ़का किला देखने गये तब पूर्व-स्मृतिज्ञानकी विशेष वृद्धि हुई[1]। इस पूर्व-स्मृतिरूप-ज्ञानने उनके जीवनमें प्रेरणाका अपूर्व नवीन—अध्याय जोड़ा। श्रीमद्जीकी पढ़ाई विशेष नहीं हो पाई थी फिर भी, वे संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओंके ज्ञाता थे एवं जैन आगमोंके असाधारण वेत्ता और मर्मज्ञ थे। उनकी क्षयोपशम-शक्ति इतनी विशाल थी कि जिस काव्य या सूत्रका मर्म बड़े—बडे विद्वान् लोग नहीं बता सकते थे उसका यथार्थ विश्लेषण उन्होंने सहजरूपमें किया है[2]। किसी भी विषयका सांगोपांग विवेचन करना उनके अधिकारकी बात थी[3]। उन्हें अल्प-वयमें ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो गई थी, जैसा कि उन्होंने स्वयं एक काव्यमें लिखा है—

> लघुवयथी अद्भुत थयो, तत्त्वज्ञाननो बोध।
> ए ज सूचवे एम के, गति आगति कां शोध?

---

१. इस प्रसंगकी चर्चा कच्छके एक वणिक बंधु पदमशीभाई ठाकरशीके पूछनेपर बम्बईमें भूलेश्वरके दि० जैन मन्दिरमें सं० १९४२ में श्रीमद्जीने की।

२. देखिए पं० बनारसीदासजीके 'समता रमता उरधता०' पद्यका विवेचन 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुजराती) पत्रांक ४३८।

३. आनंदघन चौबीसीके कुछ पद्योंका विवेचन उपरोक्त ग्रन्थमें पत्रांक ७५३।

जे संस्कार थवो घटे, अति अभ्यासे कांय,
विना परिश्रम ते थयो, भवशंका शी त्यांय ?

अर्थात् छोटी अवस्थामें मुझे अद्‌भुत तत्त्वज्ञानका बोध हुआ है, यही सूचित करता है कि अब पुनर्जन्मके शोधकी क्या आवश्यकता है ? और जो संस्कार अत्यन्त अभ्यासके द्वारा उत्पन्न होते हैं वे मुझे विना किसी परिश्रमके ही प्राप्त हो गये हैं, फिर वहाँ भवशंकाका क्या काम ! (पूर्वभवके ज्ञानसे आत्माकी श्रद्धा निश्चल हो गई है ।)

अवधान–प्रयोग, स्पर्शनशक्ति

श्रीमद्‌जीकी स्मरणशक्ति अत्यन्त तीव्र थी । वे जो कुछ भी एक बार पढ़ लेते, उन्हें ज्यों का त्यों याद रह जाता था । इस स्मरणशक्तिके कारण वे छोटी अवस्थामें ही अवधान-प्रयोग करने लगे थे । धीरे धीरे वे सौ अवधान तक पहुंच गये थे । वि० सं० १९४३ में १९ वर्षकी अवस्था में उन्होंने बम्बईकी एक सार्वजनिक सभामें डॉ. पिटर्सनके सभापतित्वमें सौ अवधानोंका प्रयोग बताकर बड़े बड़े लोगोंको आश्चर्यमें डाल दिया था । उस समय उपस्थित जनताने उन्हें 'स्वर्ण-चन्द्रक' प्रदान किया, साथ ही 'साक्षात्-सरस्वती' के पदसे विभूषित किया था । ई० सन् १८८६–८७ में 'मुंबई समाचार' 'जामे जमशेद' 'गुजराती' 'पायोनियर' 'इण्डियन स्पॅक्टेटर' 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' आदि गुजराती एवं अंग्रेजी पत्रोंमें श्रीमद्‌जीकी अद्‌भुत शक्तियोंके बारेमें भारी प्रशंसात्मक लेख छपे थे । शतावधानमें शतरंज खेलते जाना, मालाके दाने गिनते जाना, जोड़ बाकी गुणा करते जाना, आठ भिन्न-भिन्न समस्याओंकी पूर्ति करते जाना, सोलह भाषाओंके भिन्न-भिन्न क्रमसे उलटे-सीधे नम्बरोंके साथ शब्दोंको याद रखकर वाक्य बनाते जाना, दो कोठोंमें लिखे हुए उल्टे-सीधे अक्षरोंसे कविता करते जाना, कितने ही अलंकारोंका विचार करते जाना, इत्यादि सौ कामोंको एक साथ कर सकते थे ।

श्रीमद्‌जीकी स्पर्शनशक्ति भी अत्यन्त विलक्षण थी । उपरोक्त सभामें ही उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकारके बारह ग्रन्थ दिये गये और उनके नाम भी उन्हें पढ़कर सुना दिये गये । बादमें उनकी आँखोंपर पट्टी बांधकर जो-जो ग्रन्थ उनके हाथ पर रखे गये उन सब ग्रन्थोंके नाम हाथोंसे टटोलकर उन्होंने बता दिये ।

श्रीमद्‌जीकी इस अद्‌भुतशक्तिसे प्रभावित होकर उस समयके बम्बई हाईकोर्टके मुख्य न्यायाधीश सर चार्ल्स सारजंटने उन्हें विलायत चलकर अवधान-प्रयोग दिखानेकी इच्छा प्रकट की थी, परन्तु श्रीमद्‌जीने इसे स्वीकार नहीं किया । उन्हें कीर्तिकी इच्छा नहीं थी बल्कि ऐसी प्रवृत्तियोंको आत्मकल्याणके मार्गमें बाधक जानकर फिर उन्होंने अवधान–प्रयोग नहीं किये ।

महात्मा गाँधीने कहा था—

महात्मा गांधीने उनकी स्मरणशक्ति और आत्मज्ञानसे जो अपूर्व प्रेरणा प्राप्त की वह संक्षेपमें उन्हींके शब्दोंमें—

"रायचन्द्रभाई के साथ मेरी भेंट जुलाई सन् १८९१ में उस दिन हुई जब मैं विलायतसे बम्बई वापिस लौटा। इन दिनों समुद्रमें तूफान आया करता है इस कारण जहाज रातको देरीसे पहुँचा। मैं डाक्टर बैरिस्टर और अब रंगूनके प्रख्यात जौहरी प्राणजीवनदास महेताके घर उतरा था। रायचन्द्रभाई उनके बडे भाईके जमाई होते थे। डॉक्टर सा० (प्राणजीवनदास) ने ही परिचय कराया। उनके दूसरे बडे भाई झवेरी रेवाशंकर जगजीवनदासकी पहचान भी उसी दिन हुई। डाक्टर सा० ने रायचन्द्रभाईका 'कवि' कहकर परिचय कराया और कहा 'कवि' होते हुए भी आप हमारे साथ व्यापारमें हैं, आप ज्ञानी और शतावधानी हैं। किसीने सूचना की कि मैं उन्हें कुछ शब्द सुनाऊँ, और वे शब्द चाहे किसी भी भाषाके हों जिस क्रमसे मैं बोलूंगा उसी क्रमसे वे दुहरा जावेंगे, मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ। मैं तो उस समय जवान और विलायतसे लौटा था; मुझे भाषाज्ञानका भी अभिमान था। मुझे विलायतकी हवा भी कम नहीं लगी थी। उन दिनों विलायतसे आया मानो आकाशसे उतरा था। मैने अपना समस्त ज्ञान उलट दिया और अलग-अलग भाषाओंके शब्द पहले तो मैंने लिख लिये, क्योंकि मुझे वह क्रम कहाँ याद रहनेवाला था ? और बादमें उन शब्दोंको मै बांच गया। उसी क्रमसे रायचन्द्रभाईने धीरेसे एकके बाद एक सब शब्द कह सुनाये। मैं राजी हुआ, चकित हुआ और कविकी स्मरणशक्तिके विषयमें मेरा उच्च विचार हुआ। विलायतकी हवाका असर कम पड़नेके लिए यह सुन्दर अनुभव हुआ कहा जा सकता है।............कविके साथ यह परिचय बहुत आगे बढ़ा............कवि संस्कारी ज्ञानी थे।

मुझपर तीन पुरुषोंने गहरा प्रभाव डाला है—टाल्सटॉय, रस्किन और रायचंदभाई! टाल्सटॉयने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्र व्यवहारसे, रस्किनने अपनी एक ही पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' से—जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रखा है, और रायचन्द्रभाईने अपने गाढ़ परिचयसे। जब मुझे हिन्दूधर्ममें शंका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करनेमें मदद करने वाले रायचन्द्रभाई थे। सन् १८९३ में दक्षिण अफ्रिकामें मैं कुछ क्रिश्चियन सज्जनोंके विशेष सम्पर्कमें आया। उनका जीवन स्वच्छ था। वे चुस्त धर्मात्मा थे। अन्य-धर्मियोंको क्रिश्चियन होनेके लिए समझाना उनका मुख्य व्यवसाय था। यद्यपि मेरा और उनका सम्बन्ध व्यावहारिक कार्यको लेकर ही हुआ था, तो भी उन्होंने मेरे आत्माके कल्याणके लिये चिन्ता करना शुरु कर दिया। उस समय मैं अपना एक ही कर्तव्य समझ

सका कि जब तक मैं हिन्दूधर्मके रहस्यको पूरी तौरसे न जान लूँ और उससे मेरे आत्माको असंतोष न हो जाय, तबतक मुझे अपना कुलधर्म कभी नहीं छोड़ना चाहिये । इसलिये मैने हिन्दूधर्म और अन्य धर्मोंकी पुस्तकें पढ़ना शुरू कर दीं । क्रिश्चियन और इस्लामधर्मकी पुस्तकें पढ़ीं । विलायतसे अंग्रेज मित्रोंके साथ पत्रव्यवहार किया । उनके समक्ष अपनी शंकायें रक्खीं तथा हिन्दुस्तानमें जिनके ऊपर मुझे कुछ भी श्रद्धा थी उनसे पत्रव्यवहार किया । उनमें रायचन्द्र-भाई मुख्य थे । उनके साथ तो मेरा अच्छा सम्बन्ध हो चुका था, उनके प्रति मान भी था, इसलिए उनसे जो भी मिल सके उसे लेनेका मैने विचार किया । उसका फल यह हुआ कि मुझे शान्ति मिली । हिन्दूधर्ममें मुझे जो चाहिए वह मिल सकता है, ऐसा मनको विश्वास हुआ । मेरी इस स्थितिके जिम्मेदार रायचन्द्रभाई हुए, इससे मेरा उनके प्रति कितना अधिक मान होना चाहिये इसका पाठक लोग अनुमान कर सकते हैं।"

इस प्रकार उनके प्रबल आत्मज्ञानके प्रभावके कारण ही महात्मा गांधीको सन्तोष हुआ और उन्होंने धर्मपरिवर्तन नहीं किया[1] ।

और भी वर्णन करते हुये गांधीजीने उनके बारेमें लिखा है :

"श्रीमद्राजचन्द्र असाधारण व्यक्ति थे । उनके लेख उनके अनुभवके बिन्दु समान हैं । उन्हें पढ़नेवाले, विचारनेवाले और उसके अनुसार आचरण करनेवालोंको मोक्ष सुलभ होवे । उसकी कषायें मन्द पड़ें, उसे संसारमें उदासीनता आवे, वह देहका मोह छोड़कर आत्मार्थी बने ।

इस परसे वांचक देखेंगे कि श्रीमद्के लेख अधिकारीके लिए उपयोगी हैं । सभी वांचक उसमें रस नहीं ले सकते । टीकाकारको उसकी टीकाका कारण मिलेगा परन्तु श्रद्धावान तो उसमेंसे रस ही लूटेगा । उनके लेखोंमें सत् निथर रहा है, ऐसा मुझे हमेशा भास हुआ है । उन्होंने अपना ज्ञान दिखानेके लिए एक भी अक्षर नहीं लिखा । लिखनेका अभिप्राय वांचकको अपने आत्मानन्दमें भागीदार बनानेका था । जिसे आत्मक्लेश टालना है, जो अपना कर्तव्य जाननेको उत्सुक है उसे श्रीमद्के लेखोंमेंसे बहुत मिल जायगा ऐसा मुझे विश्वास है फिर वह हिन्दू हो या अन्य धर्मी ।

····जो वैराग्य (अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे !) इस काव्यकी कड़ियोंमें झलक रहा है वह मैने उनके दो वर्षके गाढ़ परिचयमें प्रतिक्षण उनमें देखा था । उनके लेखोंकी एक असाधारणता यह है कि स्वयं जो अनुभव किया वही लिखा है । उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं है । दूसरे पर प्रभाव डालनेके लिये एक पंक्ति भी लिखी हो ऐसा मैने नहीं देखा·········।

खाते, बैठते, सोते, प्रत्येक क्रिया करते उनमें वैराग्य तो होता ही । किसी समय इस जगत्के किसी भी वैभवमें उन्हें मोह हुआ हो ऐसा मैने नहीं देखा ।

---

१. श्रीमद्जी द्वारा म० गांधीको उनके प्रश्नोंके उत्तरमें लिखे गये कुछ पत्र, क० ५३०, ५७०, ७१७ 'श्रीमद् राजचन्द्र,—ग्रंथ (गुजराती)

उनकी चाल धीमी थी, और देखनेवाला भी समझ सकता कि चलते हुये भी ये अपने विचारमें मस्त हैं। आँखोंमें चमत्कार था अत्यन्त तेजस्वी, विह्वलता जरा भी नहीं थी। दृष्टिमें एकाग्रता थी। चेहरा गोलाकार, होंठ पतले, नाक नोंकदार भी नहीं चपटी भी नहीं, शरीर इकहरा, कद मध्यम, वर्ण श्याम, देखाव शांत मूर्तिका-सा था। उनके कण्ठमें इतना अधिक माधुर्य था कि उन्हें सुनते हुए मनुष्य थके नहीं। चेहरा हँसमुख और प्रफुल्लित था, जिसपर अन्तरानन्दकी छाया थी। भाषा इतनी परिपूर्ण थी कि उन्हें अपने विचार प्रगट करनेके लिये कभी शब्द ढूँढ़ना पड़ा है, ऐसा मुझे याद नहीं। पत्र लिखने बैठे उस समय कदाचित् ही मैंने उन्हें शब्द बदलते देखा होगा, फिर भी पढ़नेवालेको ऐसा नहीं लगेगा कि कहीं भी विचार अपूर्ण है या वाक्य-रचना खंडित है, अथवा शब्दोंके चुनावमें कमी है।

यह वर्णन संयमीमें संभवित है। बाह्याडम्बरसे मनुष्य वीतरागी नहीं हो सकता। वीतरागता आत्माकी प्रसादी है। अनेक जन्मके प्रयत्नसे वह प्राप्त होती है और प्रत्येक मनुष्य उसका अनुभव कर सकता है। रागभावको दूर करनेका पुरुषार्थ करने वाला जानता है कि रागरहित होना कितना कठिन है। यह रागरहित दशा कवि (श्रीमद्) को स्वाभाविक थी, ऐसी मेरे ऊपर छाप पड़ी थी।

मोक्षकी प्रथम पैड़ी वीतरागता है। जबतक मन जगत्की किसी भी वस्तुमें फँसा हुआ है तबतक उसे मोक्षकी बात कैसे रुचे? और यदि रुचे तो वह केवल कानको ही—अर्थात् जैसे हम लोगोंको अर्थ जाने या समझे बिना किसी संगीतका स्वर रुच जाय वैसे। मात्र ऐसी कर्णप्रिय क्रीडामेंसे मोक्षका अनुसरण करनेवाले आचरण तक आनेमें तो बहुत समय निकल जाय! अंतरंग वैराग्यके बिना मोक्षकी लगन नहीं होती। वैराग्यका तीव्र भाव कविमें था।

....व्यवहारकुशलता और धर्मपरायणताका जितना उत्तम मेल मैंने कविमें देखा उतना किसी अन्यमें नहीं देखा।"

गृहस्थाश्रम

सं० १९४४ माघ सुदी १२ को १९ वर्षकी आयुमें उनका पाणिग्रहणसंस्कार, गांधीजीके परममित्र स्व० रेवाशंकर जगजीवनदास महेताके बड़े भाई पोपटलालकी पुत्री झबकबाईके साथ हुआ था। इसमें दूसरोंकी 'इच्छा' और 'अत्यन्त आग्रह' ही कारणरूप प्रतीत होते हैं[1]। पूर्वोपार्जित कर्मोंका भोग समझकर ही उन्होंने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया, परन्तु इससे भी दिन-पर-दिन उनकी उदासीनता और वैराग्यका बल बढ़ता ही गया। आत्मकल्याणके इच्छुक तत्त्वज्ञानी पुरुषके लिए विषम परिस्थितियाँ भी अनुकूल बन जाती हैं, अर्थात् विषमतामें उनका पुरुषार्थ और भी अधिक निखर उठता है। ऐसे ही महात्मा पुरुष दूसरोंके लिये भी मार्गप्रकाशक—दीपकका कार्य करते हैं।

---

१. देखिये—'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुजराती) पत्र क्र० ३०

श्रीमद्जी गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी अत्यन्त उदासीन थे। उनकी दशा, छहढालाकार पं० दौलतरामजीके शब्दोंमें 'गेही पै गृहमें न रचै ज्यों जलतें भिन्न कमल है'—जैसी निर्लेप थी। उनकी इस अवस्थामें भी यही मान्यता रही कि "कुटुम्बरूपी काजलकी कोठड़ीमें निवास करनेसे संसार बढ़ता है। उसका कितना भी सुधार करो तो भी एकान्तवाससे जितना संसारका क्षय हो सकता है उसका शतांश भी उस काजलकी कोठड़ीमें रहनेसे नहीं हो सकता, क्योंकि वह कषायका निमित्त है और अनादिकालसे मोहके रहनेका पर्वत है[1]।" फिर भी इस प्रतिकूलतामें वे अपने परिणामोंकी पूरी सँभाल रखकर चले। यहाँ उनके अन्तरके भाव एक मुमुक्षुको लिखे गये पत्रमें इस प्रकार व्यक्त हुए हैं--'संसार स्पष्ट प्रीतिसे करनेकी इच्छा होती हो तो उस पुरुषने ज्ञानीके वचन सुने नहीं अथवा ज्ञानीके दर्शन भी उसने किये नहीं ऐसा तीर्थंकर कहते हैं।' 'ज्ञानी पुरुषके वचन सुननेके बाद स्त्रीका सजीवन शरीर अजीवनरूप भास्यमान हुए बिना रहे नहीं[2]।' इससे स्पष्ट प्रगट होता है कि वे अत्यन्त वैरागी महापुरुष थे।

सफल व्यापारी

व्यापारिक झंझट और धर्मसाधनाका मेल प्रायः कम बैठता है, परन्तु आपका धर्म—आत्मचिन्तन तो साथमें ही चलता था। वे कहते थे कि धर्मका पालन कुछ एकादशीके दिन ही, पर्यूषणमें ही अथवा मन्दिरोंमें ही हो और दुकान या दरबारमें न हो ऐसा कोई नियम नहीं, बल्कि ऐसा कहना धर्मतत्त्वको न पहचाननेके तुल्य है। श्रीमद्जीके पास दुकान पर कोई न कोई धार्मिक पुस्तक और दैनन्दिनी (डायरी) अवश्य होती थी। व्यापारकी बात पूरी होते ही फौरन धार्मिक पुस्तक खुलती या फिर उनकी वह डायरी कि जिसमें कुछ न कुछ मनके विचार वे लिखते ही रहते थे। उनके लेखोंका जो संग्रह प्रकाशित हुआ है उसका अधिकांश भाग उनकी नोंधपोथीमेंसे लिया गया है।

श्रीमद्जी सर्वाधिक विश्वासपात्र व्यापारीके रूपमें प्रसिद्ध थे। वे अपने प्रत्येक व्यवहारमें सम्पूर्ण प्रामाणिक थे। इतना बड़ा व्यापारिक काम करते हुए भी उनमें उनकी आसक्ति नहीं थी। वे बहुत ही सन्तोषी थे। रहन-सहन पहरवेश सादा रखते थे। धनको तो वे 'उच्च प्रकारके कंकर'[3] मात्र समझते थे।

एक अरब व्यापारी अपने छोटे भाईके साथ बंबईमें मोतियोंकी आड़तका काम करता था। एक दिन छोटे भाईने सोचा कि मैं भी अपने बड़े भाई की तरह मोतीका व्यापार करूँ। वह परदेशसे आया हुआ माल लेकर बाजारमें गया। वहां जाने पर एक दलाल उसे श्रीमद्जीकी दुकानपर लेकर पहुँचा। श्रीमद्जीने माल अच्छी तरह परखकर देखा और उसके कहे अनुसार रकम चुकाकर ज्यों-

१. 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुजराती) पत्र क्र० १०३
२. 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुजराती) पत्र क्र० ४५४
३. 'ऊँची जातना कांकरा'

का त्यों माल एक ओर उठाकर रख दिया। उधर घर पहुंचकर बड़े भाईके आनेपर छोटे भाईने व्यापारकी बात कह सुनाई। अब जिस व्यापारीका वह माल था उसका पत्र इस अरब व्यापारीके पास उसी दिन आया था कि अमुक भावसे नीचे माल मत बेचना। जो भाव उसने लिखा था वह चालू बाजार-भावसे बहुत ही ऊँचा था। अब यह व्यापारी तो घबरा गया क्योंकि इसे इस सौदे-में बहुत अधिक नुकसान था। वह क्रोधमें आकर बोल उठा —'अरे! तूने यह क्या किया? मुझे तो दिवाला ही निकालना पड़ेगा!'

अरब-व्यापारी हांफता हुआ श्रीमदजीके पास दौड़ा हुआ आया और उस व्यापारीका पत्र पढ़वाकर कहा-'साहब, मुझ पर दया करो वरना मैं गरीब आदमी बरबाद हो जाऊँगा। श्रीमदजी-ने एक ओर ज्यों का त्यों बँधा हुआ माल दिखाकर कहा—'भाई, तुम्हारा माल यह रक्खा है। तुम खुशीसे ले जाओ। यों कहकर उस व्यापारीका माल दे दिया और अपने पैसे ले लिये। मानो कोई सौदा किया ही नहीं था, ऐसा सोचकर हजारोंके लाभकी भी कोई परवाह नहीं की। अरब-व्यापारी उनका उपकार मानता हुआ अपने घर चला गया। यह अरब व्यापारी श्रीमद्को खुदाके पैगम्बरके समान मानने लगा।

व्यापारिक नियमानुसार सौदा निश्चित हो चुकने पर वह व्यापारी माल वापिस लेनेका अधिकारी नहीं था, परन्तु श्रीमदजीका हृदय यह नहीं चाहता था कि किसीको उनके द्वारा हानि हो। सचमुच महात्माओंका जीवन उनकी कृतिमें व्यक्त होता ही है।

इसी प्रकारका एक दूसरा प्रसंग उनके करुणामय और निस्पृही जीवनका ज्वलन्त उदाहरण है:

एक बार एक व्यापारीके साथ श्रीमदजीने हीरोंका सौदा किया। इसमें ऐसा तय हुआ कि अमुक समयमें निश्चित किये हुए भावसे वह व्यापारी श्रीमदको अमुक हीरे दे। इस विषयकी चिट्ठी भी व्यापारीने लिख दी थी। परन्तु हुआ ऐसा कि मुद्दतके समय उन हीरोंकी कीमत बहुत अधिक बढ़ गई। यदि व्यापारी चिट्ठीके अनुसार श्रीमदको हीरे दे, तो उस बेचारेको बड़ा भारी नुकसान सहन करना पड़े, अपनी सभी सम्पत्ति बेच देनी पड़े! अब क्या हो?

इधर जिस समय श्रीमदजीको हीरोंका बाजार-भाव मालूम हुआ, उस समय वे शीघ्र ही उस व्यापारीकी दुकानपर जा पहुँचे। श्रीमदजीको अपनी दुकानपर आये देखकर व्यापारी घबराहटमें पड़ गया। वह गिड़गिड़ाते हुए बोला—'रायचन्दभाई, हम लोगोंके बीच हुए सौदेके सम्बन्धमें मै खूब ही चिन्तामें पड़ गया हूँ। मेरा जो कुछ होना हो वह भले हो, परन्तु आप विश्वास रखना कि मै आपको आजके बाजार-भावसे सौदा चुका दूँगा। आप जरा भी चिन्ता न करें।'

यह सुनकर राजचन्द्रजी करुणाभरी आवाजमें बोले!: "वाह! भाई, वाह! मैं चिन्ता क्यों न करूं? तुमको सौदेकी चिन्ता होती हो तो मुझे चिन्ता क्यों न होनी चाहिये? परन्तु हम

दोनोंकी चिन्ताका मूल कारण यह चिट्ठी ही है न! यदि इसको ही फाड़कर फेंक दें तो हम दोनोंकी चिन्ता मिट जायेगी।"

यों कहकर श्रीमद् राजचन्द्रने सहजभावसे वह दस्तावेज फाड़ डाला। तत्पश्चात् श्रीमद्जी बोले: "भाई इस चिट्ठीके कारण तुम्हारे हाथपाँव बँधे हुए थे। बाजारभाव बढ़ जानेसे तुमसे मेरे साठ-सत्तर हजार रुपये लेना निकलते हैं, परन्तु मैं तुम्हारी स्थिति समझ सकता हूँ। इतने अधिक रुपये मैं तुमसे लूँ तो तुम्हारी क्या दशा हो! परन्तु राजचन्द्र दूध पी सकता है, खून नहीं!"

वह व्यापारी कृतज्ञ-भावसे श्रीमद्की ओर स्तब्ध होकर देखता ही रहा।

भविष्यवक्ता, निमित्तज्ञानी

श्रीमद्जीका ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान भी प्रखर था। वे जन्मकुंडली, वर्षफल एवं अन्य चिह्न देखकर भविष्यकी सूचना कर देते थे। श्रीजूठाभाई (एक मुमुक्षु) के मरणके बारेमें उन्होंने २॥ मास पूर्व स्पष्ट बता दिया था[1]। एक बार सं० १९५५ की चैत्र वदी ८ को मोरबीमें दोपहरके ४ बजे पूर्वदिशाके आकाशमें काले बादल देखे और उन्हें दुष्काल पड़नेका निमित्त जानकर उन्होंने कहा कि 'ऋतुको सन्निपात हुआ है।' इसवर्ष १९५५ का चोमासा कोरा रहा—वर्षा नहीं हुई और १९५६ में भयंकर दुष्काल पड़ा। वे दूसरेके मनकी बातको भी सरलतासे जान लेते थे। यह सब उनकी निर्मल आत्मशक्तिका प्रभाव था।

कवि—लेखक

श्रीमद्जीमें, अपने विचारोंकी अभिव्यक्ति पद्यरूपमें करनेकी सहज क्षमता थी। उन्होंने सामाजिक रचनाओंमें—'स्त्रीनीतिबोधक', 'सद्बोधशतक' 'आर्य प्रजानो पडती' 'हुन्नरकला वधारवा विषे, 'सद्गुण, सुनीति, सत्य विषे' आदि अनेक रचनाएँ केवल आठ वर्षकी वयमें लिखी थीं, जिनका एक संग्रह प्रकाशित हुआ है। ९ वर्षकी आयुमें उन्होंने रामायण और महाभारतकी भी पद्य-रचना की थी जो प्राप्त नहीं हो सकी। इसके अतिरिक्त जो उनका मूल विषय आत्मज्ञान था उसमें उनकी अनेक रचनाएँ हैं। प्रमुखरूपसे 'आत्मसिद्धि' (१४२ दोहे) 'अमूल्य तत्त्वविचार' 'भक्तिना वीस दोहरा' 'ज्ञानमीमांसा' 'परमपदप्राप्तिनी भावना' (अपूर्व अवसर) 'मूळमार्ग रहस्य' 'जिनवाणीनी स्तुति' 'बारह भावना' और 'तृष्णानी विचित्रता' हैं। अन्य भी बहुत—सी रचनाएँ हैं, जो भिन्न—भिन्न वर्षोंमें लिखी हैं।

'आत्मसिद्धि'—शास्त्रकी रचना तो आपने मात्र डेढ़ घंटेमें, श्री सौभागभाई, डुंगरभाई आदि मुमुक्षुओंके हितार्थ नडियादमें आश्विन वदी १ (गुजराती) गुरुवार सं० १९५२ को २९ वे वर्षमें लिखी थी। यह एक, निस्संदेह धर्ममार्गको प्राप्तिमें प्रकाशरूप अद्भुत रचना है। अंग्रेजीमें

१. देखिये-दैनिक नोंधसे लिया गया कथन, त्रा क० ११६, ११७ ('श्रीमद्राजचन्द्र' गुजराती)

भी इसके गद्य-पद्यात्मक अनुवाद प्रगट हो चुके हैं[1]।

गद्य-लेखनमें श्रीमद्‌जीने 'पुष्पमाला' 'भावनाबोध' और 'मोक्षमाला' की रचना की। यह सभी सामग्री पठनीय-विचारणीय है। 'मोक्षमाला' उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है, जिसे उन्होंने केवल १६ वर्ष ५ मासकी आयुमें मात्र ३ दिनमें लिखी थी। इसमें १०८ पाठ हैं। कथनका प्रकार विशाल और तत्त्वपूर्ण है।

उनकी अर्थ करनेकी शक्ति भी बड़ी गहन थी। भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यके 'पंचास्तिकाय'-ग्रन्थको मूल गाथाओंका उन्होंने अविकल गुजराती अनुवाद किया है।[2]

सहिष्णुता

विरोधमें भी सहनशील होना महापुरुषोंका स्वाभाविक गुण है। यह बात यहाँ घटित होती है। जैन समाजके कुछ लोगोंने उनका प्रबल विरोध किया, निन्दा की, फिर भी वे अटल शांत और मौन रहे। उन्होंने एक बार कहा था : 'दुनिया तो सदा ऐसी ही है। ज्ञानियोंको, जीवित हों तब कोई पहचानता नहीं, वह यहाँ तक कि ज्ञानीके सिर पर लाठियोंकी मार पड़े वह भी कम; और ज्ञानीके मरनेके बाद उनके नामके पत्थरको भी पूजे !'

एकान्तचर्या

मोहमयी (बम्बई) नगरीमें व्यापारिक काम करते हुए भी श्रीमद्‌जी ज्ञानाराधना तो करते ही रहते थे। यह उनका प्रमुख और अनिवार्य कार्य था। उद्योग-रत जीवनमें शांत और स्वस्थ चित्तसे चुपचाप आत्म-साधना करना उनके लिये सहज हो चला था; फिर भी बीच-बीचमें विशेष अवकाश लेकर वे एकान्त स्थान, जंगल या पर्वतोंमें पहुँच जाते थे। वे किसी भी स्थानपर बहुत गुप्त-रूपसे जाते थे। वे नहीं चाहते थे कि किसीके परिचयमें आया जाय, फिर भी उनकी सुगन्धी छिप नहीं पाती थी। अनेक जिज्ञासु-भ्रमर उनका उपदेश, धर्मवचन सुननेकी इच्छासे पीछे-पीछे कहीं भी पहुँच ही जाते थे और सत्समागमका लाभ प्राप्त कर लेते थे। गुजरातके चरोतर, ईडर आदि प्रदेशोंमें तथा सौराष्ट्र क्षेत्रके अनेक शान्तस्थानोंमें उनका गमन हुआ। आपके समागमका विशेष लाभ जिन्हें मिला उनमें मुनिश्री लल्लुजी (श्रीमद्‌लघुराजस्वामी), मुनिश्री देवकरणजी तथा सायलाके श्री सौभागभाई, अम्बालालभाई (खंभात), जूठाभाई (अहमदाबाद) एवं डूंगरभाई मुख्य थे।

एक बार श्रीमद्‌जी सं० १९५५ में जब कुछ दिन ईडरमें रहे तब उन्होंने डॉ० प्राणजीवनदास महेता (जो उस समय ईडर स्टेटके चीफ मेडिकल ऑफीसर थे और सम्बन्धकी दृष्टिसे

---

१. 'आत्मसिद्धि' के अंग्रेजी अनुवादमें Atmasiddhi, Self Realization, और Self Fulfilment प्रगट हुए हैं। संस्कृत-छाया भी छपी है।

२. देखिये—'श्रीमद्‌राजचन्द्र' गुज० पत्रांक ७६६। उनकी सभी प्रमुखसामग्रीका संकलन 'श्रीमद्‌राजचन्द्र'-ग्रन्थमें किया गया है।

उनके श्वसुरके भाई होते थे) से कह दिया था कि उनके आनेकी किसीको खबर न हो। उस समय वे नगरमें केवल भोजन लेने जितने समयके लिए ही रुकते, शेष समय ईडरके पहाड़ और जंगलोंमें बिताते।

मुनिश्री लल्लुजी, श्रीमोहनलालजी तथा श्री नरसीरखको उनके वहाँ पहुँचनेके समाचार मिल गये। वे शीघ्रतासे ईडर पहुँचे। श्रीमद्‌जीको उनके आगमनका समाचार मिला। उन्होंने कहलवा दिया कि मुनिश्री बाहरसे बाहर जंगलमें पहुँचे-यहाँ न आवें। साधुगण जंगलमें चले गये। बादमें श्रीमद्‌जी भी वहाँ पहुँचे। उन्होंने मुनिश्री लल्लुजीसे एकांतमें अचानक ईडर आनेका कारण पूछा। मुनिश्रीने उत्तर में कहा कि 'हम लोग अहमदाबाद या खंभात जानेवाले थे, यहाँ निवृत्ति क्षेत्रमें आपके समागममें विशेष लाभकी इच्छासे इस ओर चले आये। मुनि देवकरणजी भी पीछे आते हैं।' इस पर श्रीमद्‌जीने कहा— 'आप लोग कल यहाँसे विहार कर जावें, देवकरणजीको भी हम समाचार भिजवा देते हैं वे भी अन्यत्र विहार कर जावेंगे। हम यहाँ गुप्तरूपसे रहते हैं—किसीके परिचयमें आनेकी इच्छा नहीं है।'

श्री लल्लुजी मुनिने नम्र-निवेदन किया—'आपकी आज्ञानुसार हम चले जावेंगे परन्तु मोहनलालजी और नरसीरख मुनियोंको आपके दर्शन नहीं हुये हैं, आप आज्ञा करें तो एक दिन रुककर चले जावें।' श्रीमद्‌जीने इसकी स्वीकृति दी। दूसरे दिन मुनियोंने देखा कि जंगलमें आम्रवृक्षके नीचे श्रीमद्‌जी प्राकृतभाषाकी*गाथाओंका तन्मय होकर उच्चारण कर रहे हैं। उनके पहुँचनेपर भी आधा घण्टे तक वे गाथायें बोलते ही रहे और ध्यानस्थ हो गए। यह वातावरण देखकर मुनिगण आत्मविभोर हो उठे। थोड़ी देर बाद श्रीमद्‌जी ध्यानसे उठे और 'विचारना' इतना कहकर चलते बने। मुनियोंने विचारा कि लघुशंकादि निवृत्तिके लिए जाते होंगे परन्तु वे तो निस्पृहरूपसे चले ही गये। थोड़ी देर इधर-उधर ढूँढ़कर मुनिगण उपाश्रयमें आ गये।

उसी दिन शामको मुनि देवकरणजी भी वहाँ पहुँच गये। सभीको श्रीमद्‌जीने पहाड़के ऊपर स्थित दिगम्बर, श्वेताम्बर मन्दिरोंके दर्शन करनेकी आज्ञा दी। वीतराग-जिनप्रतिमाके दर्शनोंसे मुनियोंको परम उल्लास जाग्रत हुआ। इसके पश्चात् तीन दिन और भी श्रीमद्‌जीके सत्समागमका लाभ उन्होंने उठाया। जिसमें श्रीमद्‌जीने उन्हें 'द्रव्यसंग्रह' और 'आत्मानुशासन'—ग्रन्थ पूरे पढ़कर स्वाध्यायके रूपमें सुनाये एवं अन्य भी कल्याणकारी बोध दिया।

---

* १. मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु। थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥४८॥
२. जं किंचि वि चिंततो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू। लद्धूणय एयत्तं तदाहु तं णिच्चयं ज्झाणं ॥५५॥
३. मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो। अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं ॥५६॥
(द्रव्यसंग्रह)

—श्रीमद्‌जीने यह 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' ग्रन्थ ईडरके दि० जैन शास्त्र भण्डारमेंसे स्वयं निकलवाया था।

अत्यन्त जाग्रत आत्मा ही परमात्मा बनता है, परम वीतरागदशाको प्राप्त होता है। इन्हीं अन्तरभावोंके साथ आत्मस्वरूपकी ओर लक्ष्य कराते हुए एक बार श्रीमद्‌जीने अहमदाबादमें मुनिश्री लल्लुजी (पू॰ लघुराजस्वामी) तथा श्रीदेवकरणजीको कहा था कि 'हममें और वीतरागमें भेद गिनना नहीं' हममें और श्री महावीर भगवानमें कुछ भी अन्तर नहीं, केवल इस कुर्तेका फेर है।'

मत-मतान्तरके आग्रहसे दूर

उनका कहना था कि मत-मतान्तरके आग्रहसे दूर रहने पर ही जीवनमें रागद्वेषसे रहित हुआ जा सकता है। मतोंके आग्रहसे निज स्वभावरूप आत्मधर्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। किसी भी जाति या वेषके साथ भी धर्मका सम्बन्ध नहीं :

"जाति वेषनो भेद नहि, कह्यो मार्ग जो होय। साधे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय॥"

(आत्मसिद्धि १०७)

—जो मोक्षका मार्ग कहा गया है वह हो तो किसी भी जाति या वेषसे मोक्ष होवे, इसमें कुछ भेद नहीं है। जो साधना करे वह मुक्तिपद पावे।

आपने लिखा है -- "मूलतत्त्वमें कहीं भी भेद नहीं है। मात्र दृष्टिका भेद है ऐसा मानकर आशय समझकर पवित्र धर्ममें प्रवृत्ति करना।" (पुष्पमाला १४ पृ० ४)

"तू चाहे जिस धर्मको मानता हो इसका मुझे पक्षपात नहीं, मात्र कहनेका तात्पर्य यही है कि जिस मार्गसे संसारमलका नाश हो उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचारका तू सेवन कर"। (पु० मा० १५ पृ० ४)

"दुनिया मतभेदके बंधनसे तत्त्व नहीं पा सकी!"[1] (पत्र क्र० २७)

उन्होंने प्रीतम, अखा, छोटम, कबीर, सुन्दरदास, सहजानन्द, मुक्तानन्द, नरसिंह महेता आदि सन्तोंकी वाणीको जहाँ-तहाँ आदर दिया है और उन्हें मार्गानुसारी जीव (तत्त्वप्राप्तिके योग्य आत्मा) कहा है। इसलिए एक जगह उन्होंने अत्यन्त मध्यस्थतापूर्वक आध्यात्मिक-दृष्टि प्रकट की है 'कि मैं किसी गच्छमें नहीं, परन्तु आत्मामें हूँ।'

एक पत्रमें आपने दर्शाया है—"जब हम जैनशास्त्रोंको पढ़नेके लिए कहें तब जैनी होनेके लिए नहीं कहते; जब वेदान्तशास्त्र पढ़नेके लिए कहें तो वेदान्ती होनेके लिए नहीं कहते। इसीप्रकार अन्य शास्त्रोंको बांचनेके लिए कहें तब अन्य होनेके लिए नहीं कहते। जो कहते हैं वह केवल तुम सब लोगोंको उपदेश-ग्रहणके लिए ही कहते हैं। जैन और वेदान्ती आदिके भेदका त्याग करो। आत्मा वैसा नहीं है[2]।"

---

१. देखिये इसीप्रकारके विचार—पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु। युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥ (हरिभद्रसूरि)

२. श्रीमद्‌राजचन्द्र' (गुज०) पत्र क्र० ३५८।

फिर भी अनुभवपूर्वक उन्होंने निर्ग्रन्थशासनकी उत्कृष्टताको स्वीकार किया है[1]। अहो ! सर्वोत्कृष्ट शांतरसमय सन्मार्ग, अहो ! उस सर्वोत्कृष्ट शांतरसप्रधान मार्गके मूल सर्वज्ञदेव, अहो ! उस सर्वोत्कृष्ट शांतरसकी सुप्रतीति करानेवाले परमकृपालु सद्‌गुरुदेव इस विश्वमें सर्वकाल तुम जयवंत वर्तो, जयवंत वर्तो[2]।'

दिनोदिन और क्षण-क्षण उनकी वैराग्यवृत्ति वर्धमान हो चली । चैतन्यपुंज निखर उठा । वीतराग-मार्गकी अविरल उपासना उनका ध्येय बन गई । वे बढ़ते गये और सहजभावसे कहते गये— "जहाँ-तहाँसे रागद्वेषसे रहित होना ही मेरा धर्म है[3] ।"

निर्मल सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें उनके उद्‌गार इस प्रकार निकले हैं—

ओगणीससें ने सुडतालीसे,
समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे,
श्रुत अनुभव वधती दशा,
निज स्वरूप अवभास्युं रे,
धन्य रे दिवस आ अहो !

(हा. नों. १।६३ क्र० ३२)

सोल्लास उपकार-प्रगटना

"हे सर्वोत्कृष्ट सुखके हेतुभूत सम्यग्दर्शन ! तुझे अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार हो। इस अनादि अनन्त संसारमें अनन्त अनन्त जीव तेरे आश्रय विना अनन्त अनंत दुःख अनुभवते हैं। तेरे परमानुग्रहसे स्वस्वरूपमें रुचि हुई। परमवीतराग स्वभावके प्रति परम निश्चय आया। कृतकृत्य होनेका मार्ग ग्रहण हुआ।

हे जिन वीतराग ! तुम्हें अत्यन्त भक्तिसे नमस्कार करता हूँ। तुमने इस पामरपर अनंत अनंत उपकार किया है।

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों ! तुम्हारे वचन भी स्वरूपानुसंधानमें इस पामरको परम उपकारभूत हुए हैं। इसके लिए मैं तुम्हें अतिशय भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

हे श्री सोभाग ! तेरे सत्समागमके अनुग्रहसे आत्मदशाका स्मरण हुआ। अतः तुझे नमस्कार करता हूँ।" (हा. नों. २। ४५ क्र० २०)

परमनिवृत्तिरूप कामना । चिंतना—

उनका अन्तरङ्ग, गृहस्थावास-व्यापारादि कार्यसे छूटकर सर्वसंगपरित्याग कर निर्ग्रन्थदशाके लिए छटपटाने लगा। उनका यह अन्तरआशय उनकी 'हाथनोंध' परसे स्पष्ट प्रगट होता है —

१. 'श्रीमद्‌राजचन्द्र' शिक्षापाठ ९५ (तत्त्वावबोध १४) तथा पत्र क्र० ५९६ ।
२. हाथनोंध ३।५२ क्रम २३ 'श्रीमद्‌राजचन्द्र' (गुज०)।
३. पत्र क्र० ३७ 'श्रीमद्‌राजचन्द्र'

"हे जीव ! असारभूत लगनवाले ऐसे इस व्यवसायसे अब निवृत्त हो, निवृत्त ! उस व्यवसायके करनेमें चाहे जितना बलवान प्रारब्धोदय दिखता हो तो भी उससे निवृत्त हो निवृत्त। जो कि श्रीसर्वज्ञने कहा है कि चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव भी प्रारब्ध भोगे बिना मुक्त नहीं हो सकता, फिर भी तू उस उदयके आश्रयरूप होनेसे अपना दोष जानकर उसका अत्यन्त तीव्ररूपमें विचारकर उससे निवृत्त हो, निवृत्त ! (हा० नों० १।१०१ क्र० ४४)

"हे जीव ! अब तू संग-निवृत्तिरूप कालकी प्रतिज्ञा कर, प्रतिज्ञा कर ! केवलसंगनिवृत्तिरूप प्रतिज्ञाका विशेष अवकाश दिखाई न दे तो अंशसंगनिवृत्तिरूप इस व्यवसायका त्याग कर ! जिस ज्ञानदशामें त्यागात्याग कुछ सम्भावित नहीं उस ज्ञानदशाकी सिद्धि है जिसमें ऐसा तू, सर्वसंगत्याग दशा अल्पकाल भी भोगेगा तो सम्पूर्ण जगत प्रसंगमें वर्तते हुए भी तुझे बाधा नहीं होगी, ऐसा होते हुए भी सर्वज्ञने निवृत्तिको ही प्रशस्त कहा है, कारण कि ऋषभादि सर्व परमपुरुषोंने अन्तमें ऐसा ही किया है।" (हा. नों. १।१०२ क्र० ४५)

"राग, द्वेष और अज्ञानका आत्यंतिक अभाव करके जो सहज शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थित हुए वही स्वरूप हमारे स्मरण, ध्यान और प्राप्त करने योग्य स्थान है।" (हा. नों. २।३ क्र० १)

"सर्व परभाव और विभावसे व्यावृत्त, निज स्वभावके भान सहित, अवधूतवत्-विदेहीवत् जिनकल्पीवत् विचरते पुरुष भगवानके स्वरूपका ध्यान करते हैं।" (हा. नों. ३।३७ क्र० १४)

"मैं एक हूँ, असंग हूँ। सर्व परभावसे मुक्त हूँ, असंख्यप्रदेशात्मक निजअवगाहनाप्रमाण हूँ। अजन्म, अजर, अमर, शाश्वत हूँ। स्वपर्यायपरिणामी समयात्मक हूँ। शुद्ध चैतन्यमात्र निर्विकल्प दृष्टा हूँ। (हा. नों. ३।२९ क्र० ११)

"मैं परमशुद्ध, अखंड चिद्धातु हूँ, अचिद्धातुके संयोगरसका यह आभास तो देखो ! आश्चर्यवत्, आश्चर्यरूप, घटना है। कुछ भी अन्य विकल्पका अवकाश नहीं, स्थिति भी ऐसी ही है।" (हा. नों. २।३७ क्र० १७)

इसप्रकार अपनी आत्मदशाको संभालकर वे बढ़ते रहे। आपने सं० १९५६ में व्यवहार सम्बन्धी सर्व उपाधिसे निवृत्ति लेकर सर्वसंगपरित्यागरूप दीक्षा धारण करनेकी अपनी माताजीसे आज्ञा भी ले ली थी। परन्तु उनका शारीरिक स्वास्थ्य दिन-पर-दिन बिगड़ता गया। उदय बलवान है। शरीरको रोगने आ घेरा। अनेक उपचार करनेपर भी स्वास्थ्य ठीक नहीं हुआ। इसी विवशतामें उनके हृदयकी गंभीरता बोल उठी: "अत्यन्त त्वरासे प्रवास पूरा करना था, वहाँ बीचमें सेहराका मरुस्थल आ गया। सिरपर बहुत बोझ था उसे आत्मवीर्यसे जिसप्रकार अल्पकालमें सहन कर लिया जाय उस प्रकार प्रयत्न करते हुए, पैरोंने निकाचित उदयरूप थकान ग्रहण की। जो स्वरूप है वह अन्यथा नहीं होता यही अद्भुत आश्चर्य है। अव्याबाध स्थिरता है[1]।"

1. 'श्रीमद् राजचन्द्र' (गुज०) पत्र क्र० ९५१।

अन्त समय

स्थिति और भी गिरती गई। शरीरका वजन १३२ पौंडसे घटकर मात्र ४३ पौंड रह गया। शायद उनका अधिक जीवन कालको पसन्द नहीं था। देहत्यागके पहले दिन शामको आपने अपने छोटे भाई मनसुखराम आदिसे कहा—"तुम निश्चिंत रहना, यह आत्मा शाश्वत है। अवश्य विशेष उत्तम गतिको प्राप्त होगा, तुम शान्ति और समाधिरूपसे प्रवर्तना। जो रत्नमय ज्ञानवाणी इस देहके द्वारा कही जा सकती थी, वह कहनेका समय नहीं। तुम पुरुषार्थ करना।" रात्रिको २॥ बजे वे फिर बोले 'निश्चिंत' रहना, भाईका समाधिमरण है। और अवसानके दिन प्रातः पौने नौ बजे कहा : 'मनसुख, दुखी न होना, मैं अपने आत्मस्वरूपमें लीन होता हूँ।' और अन्तमें उस दिन सं० १९५७ चैत्र वदी ५ (गुज०) मंगलवारको दोपहरके दो बजे राजकोटमें उनका आत्मा इस नश्वर देहको छोड़कर चला गया। भारतभूमि एक अनुपम तत्त्वज्ञानी सन्तको खो बैठी।

उनके देहावसानके समाचार सुनकर मुमुक्षुओंके चित्त उदास हो गये। वसंत मुरझा गया। निस्संदेह श्रीमद्‌जी विश्वको एक महान विभूति थे। उनका वीतरागमार्ग-प्रकाशक अनुपम वचनामृत आज भी जीवनको अमरत्व प्रदान करनेके लिए विद्यमान है। धर्मजिज्ञासु बन्धु उनके वचनोंका लाभ उठावें।

श्रीलघुराजस्वामी (प्रभुश्री) ने उनके प्रति अपना हृदयोद्गार इन शब्दोंमें प्रगट किया है :"अपर-मार्गमें परमार्थके दृढ़ आग्रहरूप अनेक सूक्ष्म भूलभुलैयाँके प्रसंग दिखाकर इस दासके दोष दूर कर-नेमें इन आप्त पुरुषका परम सत्संग तथा उत्तम बोध प्रबल उपकारक बने हैं।" "संजीवनी औषध समान मृतको जीवित करे ऐसे उनके प्रबल पुरुषार्थ जागृत करनेवाले वचनोंका माहात्म्य विशेष विशेष भासमान होनेके साथ ठेठ मोक्षमें ले जाय ऐसी सम्यक् समझ (दर्शन) उस पुरुष और उसके बोधकी प्रतीतिसे प्राप्त होती है, वे इस दुषम कलिकालमें आश्चर्यकारी अवलंबन हैं।" परम माहात्म्यवंत सद्‌गुरु श्रीमद् राजचन्द्रदेवके वचनोंमें तल्लीनता, श्रद्धा जिसे प्राप्त हुई है, या होगी उनका महद् भाग्य है। वह भव्य जीव अल्पकालमें मोक्ष पाने योग्य है।[1]

उनकी स्मृतिमें शास्त्रमालाकी स्थापना

सं० १९५६ में[2] सत्श्रुतके प्रचार हेतु बम्बईमें श्रीमद्‌जीने परमश्रुतप्रभावकमण्डलकी स्थापना की थी। उसीके तत्त्वावधानमें उनकी स्मृतिस्वरूप श्रीरायचन्द्र जैन शास्त्रमालाकी स्थापना हुई। जिनकी ओरसे अब तक समयसार, प्रवचनसार, गोम्मटसार, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, परमात्मप्रकाश और योगसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, इष्टोपदेश, प्रशमरतिप्रकरण, न्यायावतार, स्याद्वादमञ्जरी,

---

१. 'श्रीसद्‌गुरुप्रसाद, पृ० २, ३।

२. श्रीमद्‌जीद्वारा निर्देशित सत्श्रुतरूप ग्रन्थोंकी सूचीके लिये देखिए, 'श्रीमद्‌राजचन्द्र'-ग्रन्थ (गुज०) उपदेश-नोंध क्र० १५।

अष्टप्राभृत, सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, ज्ञानार्णव, बृहद्‌द्रव्यसंग्रह, पंचास्तिकाय, लब्धिसार-क्षपणा-सार, द्रव्यानुयोगतर्कणा, सप्तभंगीतरंगिणी, उपदेशछाया और आत्मसिद्धि, भावनाबोध-मोक्षमाला, श्रीमदराजचन्द्र आदि ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। वर्तमानमें संस्थाके प्रकाशनका सब काम अगास से ही होता है। विक्रयकेन्द्र बम्बईमें भी पूर्वस्थानपर ही है। श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगाससे गुजराती भाषामें अन्य भी उपयोगी ग्रन्थ छपे हैं।

वर्तमानमें निम्नलिखित स्थानोंपर श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम व मन्दिर आदि संस्थाएँ स्थापित हैं, जहाँ पर मुमुक्षु-बन्धु मिलकर आत्मकल्याणार्थ वीतराग-तत्त्वज्ञानका लाभ उठाते हैं। वे स्थान हैं— अगास, ववाणिया, राजकोट, वडवा, खंभात, काविठा, सीमरडा, भादरण, नार, सुणाव, नरोडा, सडोदरा, धामण, अहमदाबाद, ईडर, सुरेन्द्रनगर, वसो, वटामण, उत्तरसंडा, बोरसद, आहोर, (राज०) हम्पी (दक्षिण भारत), इन्दोर (म० प्र०), बम्बई-घाटकोपर, देवलाली तथा मोम्बासा (आफ्रिका)।

अन्तमें, वीतराग-विज्ञानके निधान तीर्थंकरादि महापुरुषों द्वारा उपदिष्ट सर्वोपरि-आत्मधर्मका अविरल प्रवाह जन-जनके अन्तरमें प्रवाहित हो यही भावना है।

बाबूलाल सिद्धसेन जैन

श्रीशुभचन्द्राचार्यका समयनिर्णय।

इस परमशान्तिप्रद पवित्र ग्रन्थके कर्त्ता पूज्यपाद श्रीशुभचन्द्राचार्यके विषयमें यह लेख लिखने के प्रारम्भमें हमको खेद होता है कि उन्होंने हम लोगोंके साथ बड़ी भारी प्रतारणा की, जो अपना परिचय देनेके लिये एक श्लोक भी नहीं लिखा। हमारे उपकारके लिये जिन्होंने अश्रान्त-परिश्रम करके इतना बड़ा ग्रन्थ रचना कठिन न समझा, उन्होंने दो चार श्लोकोंके बनानेमें कंजूसी क्यों की? यह समझमें नहीं आता। माना कि हम लोगोंके समान उन्हें कीर्तिकी चाह न थी, और न मानकषाय उनके समीप आने पाती थी, परंतु अपना परिचय न देनेसे भी तो उनकी कीर्ति कहीं छुपी न रही। आज प्रत्येक जैनीको उनका नाम भगवत् तुल्य आदरके साथ लेनेमें संकोच नहीं होता। फिर परिचय न देनेसे सिवाय हम लोगोंको दुःखित व विडम्बित करनेके और क्या लाभ हुआ? सुनामधेय महात्माओंका जीवनवृत्तान्त जाननेकी भला, किसको इच्छा नहीं होती! और फिर वर्तमान कालमें, जबकि इतिहासके प्रेमकी मात्रा दीनोंदिन बढ़ रही है। कौन ऐसा होगा, जो भगवान् शुभचन्द्र जैसे ग्रन्थकर्त्ताकी जीवनवार्ता जाननेको उत्कंठित न हो? अर्थात् कोई नहीं। इसलिये आचार्य भगवान्को उलाहना देकर हम खेदके साथ विविध ग्रन्थोंके सहारे युक्ति और अनुमानोंको स्थिर करके अपने विचारोंका उपक्रम करते हैं।

श्रीविश्वभूषण आचार्यका बनाया हुआ एक भक्तामरचरित्रनामका संस्कृतग्रन्थ है। उसको उत्थानिकामें शुभचन्द्र और भर्तृहरिकी एक कथा है, उसे हम पृथक् प्रकाशित करते हैं। उससे जाना जाता है कि भर्तृहरि, भोज, शुभचन्द्र और मुंज समकालीन पुरुष थे। इसके सिवाय भक्तामरस्तोत्रके बननेकी कथासे जिसका कि इससे घनिष्ट सम्बन्ध है, यह भी प्रगट होता है कि मानतुंग कालिदास, वररुचि और धनंजय भी शुभचन्द्रके समसामयिक हैं। इसलिये उपर्युक्त व्यक्तियोंमें किसी एकका भी समय ज्ञात हो जानेसे शुभचन्द्रका समय ज्ञात हो सकता है।

मुंज।

परमारवंशावतंस महाराज मुंजराजका समय शोधनेमें हमको कुछ भी कठिनाई नहीं हुई। क्योंकि धर्मपरीक्षा, श्रावकाचार, सुभाषितरत्नसंदोह आदि ग्रंथोंके सुप्रसिद्ध रचयिता श्रीअमितगति आचार्य उन्हींके समयमें हुए हैं। सुभाषितरत्नसंदोहकी प्रशस्तिमें लिखा है।

समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके।
समाप्तं पञ्चम्यामवति धरणिं मुञ्जनृपतौ। सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम्॥

अर्थात् विक्रम राजके स्वर्गगमनके १०५० वर्षके पश्चात् अर्थात् विक्रम संवत् १०५० (ईस्वीसन् ९९४) में पौष-शुक्ला पंचमीको मुंज राजाकी पृथ्वीपर विद्वानोंके लिये पवित्र ग्रन्थ बनाया

---

1 जैनग्रन्थरत्नाकरकार्यालय—बम्बईसे प्रकाशित आदिनाथस्तोत्रकी भूमिकामें यह कथा प्रकाशित हुई है। पाठक उसे मँगाकर पढ़ सकते हैं।

गया। श्रीअमितगतिसूरिने श्रीमुन्जमहाराजको राजधानी उज्जयनीमें ही सुभाषितरत्नसंदोह ग्रंथ समाप्त किया था, इसलिये मुंजका राज्यकाल विक्रमसंवत् १०५० मान लेनेमें किसी प्रकारका संदेह नहीं रह सकता। इसके सिवाय श्रीमेरुतुंगसूरिने भी अपने प्रबन्धचिन्तामणि ग्रन्थमें जो कि विक्रमसंवत् १३६१ [इ० स० १३०५] में रचा गया है, इस समयको शंकारहित कर दिया है। प्रबन्धचिन्तामणिमें लिखा है :—

विक्रमाद्वासराद्ष्टमुनिव्योमेन्दुसंमति
वर्षे मुञ्जपदे भोजभूपः पट्टे निवेशितः ॥

अर्थात् विक्रम संवत् १०७८ (ई० स० १०२२) में राजामुंजके सिंहासनपर महाराज भोज बैठे। अर्थात् श्रीअमितगतिसूरिके लिखे हुए संवत् १०५० से १०७८ तक मुन्जमहाराजका राज्य रहा, पश्चात् भोजको राजतिलक हुआ। और श्रीविश्वभूषणसूरिके कथानकके अनुसार यही समय श्रीशुभचन्द्राचार्यका था।

भोज

मुंजका समय निर्णीत हो चुकनेपर भोजके समयके विषयमें कुछ शंका नहीं रहती। क्योंकि मुंजके सिंहासनके उत्तराधिकारी महाराजा भोज ही हुए थे। अतएव प्रबन्धचिन्तामणिके आधारसे संवत् १०७८ के पश्चात् भोजका राज्यकाल समझना चाहिये। अनेक पाश्चात्य विद्वानोंका भी यही मत है कि ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें राजा भोज जीवित थे। श्रीभोजराजका दिया हुआ एक दानपत्र एपिग्राफिकाइंडिकाके वोल्युम १११, पी. ४८—५० में छपा है, जो विक्रम सं० १०७८ (इ० सन् १०२२) में लिखा गया था। उससे भी भोजराजका समय ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीका पूर्वार्ध निश्चित होता है। बृहद्द्रव्यसंग्रहकी संस्कृतटीकाकी प्रस्तावनामें श्रीब्रह्मदेवने एक लेख लिखा है, जिससे विदित होता है कि श्रीभोजदेवके समयमें ही श्रीनेमीचन्द्र-सिद्धान्तचक्रवर्ती हुए हैं। वह लेख यह है:—

मालवदेशेधारानामनगराधिपतिराजभोजदेवाभिधानकलिकालचक्रवर्तिसम्बन्धिनः—श्रीपालमण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याऽऽश्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रततीर्थंकरचैत्यालये शुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादविपरीतनारकादिदुःखभयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्नसुखसुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य भाण्डागाराद्यनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्तं श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैः पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्द्रव्यसंग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारभ्यते।

१ राजा भोजने राजधानी उज्जयनीसे उठाकर धारानगरीमें स्थापित की थी।

२ श्रीअमितगत्याचार्यने धर्मपरीक्षानामक ग्रन्थ संवत् १०७० में पूर्ण किया है, परन्तु खेद है कि, उसकी प्रशस्तिमें मुन्जके विषयमें उन्होंने कुछ नहीं लिखा।

३ रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके द्वारा यह ग्रन्थ छप चुका है।

इसका सारांश यह है कि, मालवदेश धारानगरीके कलिकालचक्रवर्तिराजा भोजदेवके सम्बन्धी, मंडलेश्वर राजा श्रीपालके राज्यान्तर्गत आश्रम नामक नगरके मुनिसुव्रत भगवान्के चैत्यालयमें सोम राजश्रेष्ठीके निमित्त श्रीनेमिचन्द्रसैद्धान्तिकदेवने द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ बनाया था। इससे श्रीनेमिचन्द्रकी और भोजकी समकालीनता प्रकट होती है। परन्तु श्रीनेमिचन्द्रके समयका विचार करनेसे इस विषयमें सन्देह उत्पन्न होता है क्योंकि श्रीचामुन्डरायके समय इतिहास लेखकोंने प्रायः सातवीं शताब्दीमें माना है और श्रीनेमिचन्द्र सि० च० चामुन्डरायके परमगुरु थे यह सब जगतमें प्रसिद्ध है। यथाः—

भास्वद्देशीगणाग्रेसरसुरुचिरसिद्धान्तविन्नेमिचन्द्र-
श्रीपादाग्रे सदा षण्णवतिदशशतद्रव्यभूग्रामवर्यान्।
दत्त्वा श्रीगोमठेशोत्सववरतरनित्यार्चनायैमवाय
श्रीमच्चामुण्डराजो निजपुरमथुरां संजगाम क्षितीशः ॥१॥

(बाहुबलिचरित्रे)

इसके सिवाय बम्बईके दिगम्बरजैनमन्दिरमें जो एक आष्टा (भोपाल) की लिखी हुई पुस्तक है, जिसमें कि अनेक पट्टावलियोंके तथा ग्रन्थोंके आधारसे आचार्योंकी नामावली तथा किसी २ आचार्यका समय लिखा है। उसमें लिखा है कि, "श्रीनेमिचन्द्रसैद्धान्तिकचक्रवर्ती (श्रीअभयनन्दीके शिष्य) विक्रमसंवत् ७९४(ई० सन् ७३८) में हुए है।" और इससे श्रीचामुन्डरायका समय प्रायः मिलता है। श्रवणबेलगुलके इतिहासमें लिखा है, चामुन्डरायने जिसे स्थापित किया था, वह राज्य शकसंवत् ७७७ (ईस्वी सन् ८५५) में हयसाल देशके राजाके अधीन हो गया। चामुन्डरायके वंशधरोंमें वह १०९ वर्षतक रहा। और "कर्नाटकमें जैनियोंका निवास" नामक लेखमें एक साहब कहते हैं। "बल्लालवंशके स्थापक राजा चामुन्डराय थे, जिनका राज्य सन् ७१४ में था" और भी गोमठेशकी प्रतिष्ठाका समय जो कि श्रीचामुन्डरायने कराई थी; बाहुबलिचारित्रमें इस प्रकार लिखा है:—

कल्क्यब्देषट्शताख्ये विनुतविभवसंवत्सरे मासि चैत्रे।
पञ्चम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलग्ने सुयोगे ॥
सौभाग्ये हस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्तां चकार।
श्रीमच्चामुण्डराजो बेल्गुलनगरे गोमठेशप्रतिष्ठाम् ॥१॥

अर्थात् कल्की संवत् ६०० (ईस्वीसन् ६७८) श्रीचामुन्डरायने श्री बाहुबलिकी प्रतिष्ठा कराई। कल्की संवत्से यहांपर शक संवत् समझना चाहिए। क्योंकि शक राजाको जैन ग्रन्थोंमें कल्की माना है।

इन प्रमाणोंसे श्रीचामुन्डरायका समय ईसाकी ७ वीं सदी के लगभग ही जान पड़ता है।

अनेक लोगोंका कथन है कि, भोजदेव नामके दो राजा हुए हैं, और वे दोनों ही धारामें हुए हैं यदि यह बात सत्य है और श्रीनेमिचन्द्रका समय ७ वीं शताब्दि निश्चित हो जावे, तो हो सकता है

---

१ अर्थात् ८५५–१०९=७४६ इस्वी सन् तक चामुन्डरायका शासनसमय था ॥

कि श्री ब्रह्मदेवलिखित धाराधीश प्रथम भोज हों और प्रबंधचिंतामणिलिखित दूसरे भोज हों। कुछ भी हो, परन्तु यह निश्चय है कि श्रीशुभचन्द्राचार्य ग्यारहवीं सदीके भोजके समयमें हुए हैं।

भर्तृहरि

भर्तृहरिका नाम सुनते ही शतकत्रयके कर्ता राजर्षी भर्तृहरिका स्मरण हो आता है। और आचार्य विश्वभूषणकी कथाका आशय प्रायः इन्हींकी ओर झुकता हुआ है। परन्तु शुभचन्द्रके समयसे भर्तृहरिका समय मिलानेमें बड़ी २ झन्झटे हैं। सबसे पहली बात तो यही है कि, प्रसिद्धिके अनुसार भर्तृहरि विक्रमादित्यके बडे भाई हैं और विश्वभूषणजी उसे भोजका भाई बतलाते हैं। जमीन आसमान जैसा अन्तर है। क्योंकि भोज ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दिमें हुए हैं। और विक्रमादित्य संवत्के प्रारंभमें अर्थात् ईसासे ५७ वर्ष पहले हुए हैं। लोकमें जो किंवदन्तियां प्रसिद्ध है और भर्तृहरिसम्बन्धी दो एक कथाग्रन्थ हैं, उनसे जाना जाता है कि भर्तृहरि विक्रमके ज्येष्ठभ्राता थे। उन्होंने बहुत समयतक राज्य किया है। एक बार अपनी प्रियतमा स्त्रीका दुश्चरित्र देखकर वे संसारसे विरक्त होकर योगी हो गये थे। स्त्रीके विषयमें उस समय उन्होंने यह श्लोक कहा थाः—

> यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
> सप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
> अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
> धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥

अर्थात् जिसका मैं निरन्तर चिन्तवन किया करता हूं वह मेरी स्त्री मुझसे विरक्त है। इतना ही नहीं, किन्तु दूसरे पुरुषपर आसक्त है। और वह पुरुष किसी दूसरी स्त्री पर आसक्त है। तथा वह दूसरी स्त्री मुझपर प्रसन्न है। एतएव उस स्त्रीको, उस पुरुषको उस कामदेवको इस (मेरी स्त्री)को, और मुझको भी धिक्कार है। भर्तृहरिके विषयमें छोटी मोटी बहुतसी कथायें प्रसिद्ध हैं, जिनका यहां उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं दिखती। भर्तृहरिके पिताका नाम वीरसेन था। उसके छह पुत्र थे जिनमें एक विक्रमादित्य भी थे। भर्तृहरिकी स्त्रीका नाम पद्माक्षी अथवा पिङ्गला था।

जैसे विक्रम नामके कई राजा हो गये हैं, उसी प्रकार भर्तृहरि भी कई हो गये हैं। एक भर्तृहरि वाक्यपदीय तथा राहतकाव्यका कर्ता गिना जाता है। किसीके मतमें शतकत्रय और वाक्यपदीय दोनोंका कर्ता एक है। इट्सिंग नामका एक चीनयात्री भारतमें ईसाकी सातवीं सदीमें आया था। उसने भर्तृहरिकी मृत्यु सन् ६५० ईस्वीमें लिखी है।

इन सब बातोंसे यह कुछ भी निश्चय नहीं हो सकता कि, शुभचन्द्राचार्यके भाई भर्तृहरि उपर्युक्त दोनों तीनोंमेंसे कोइ एक हैं अथवा पृथक् ही हैं। विद्वान ग्रन्थकार विद्यावाचस्पतिने तत्त्वबिन्दु ग्रन्थमें भर्तृहरिको धर्मबाह्य लिखा है। और उपरलिखित भर्तृहरि वैदिकधर्मके अनुयायी माने जाते हैं। इसलिये आश्चर्य नहीं कि, इस धर्मबाह्यसे जैनका तात्पर्य हो और शुभचन्द्रके भाई भर्तृहरिको

ही यह धर्मबाह्य संज्ञा दी गई हो। क्योंकि उन्होंने जैनधर्मकी दीक्षा ले ली थी। शतत्रयकके अनेक श्लोक ऐसे हैं, जिनमें जैनधर्मके अभिप्राय स्पष्ट व्यक्त होते हैं यथा;—

> एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
> कदाहं सम्भविष्यामि कर्म्मनिर्मूलनक्षमः॥ ६९॥ (वैराग्यशतक)

अर्थात्—मैं एकाकी निस्पृह शान्त और कर्मोंको नाश करनेमें समर्थ पाणिपात्र (हाथ ही जिसके पात्र है) दिगम्बरमुनि कब होऊंगा। वैराग्यशतकके ५० वें श्लोकमें जैनसाधुकी प्रशंसा इस प्रकार की है। देखियेः—

> पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्ष्यमक्षय्यमन्नं
> विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकममलिनं तल्पमस्वल्पमुर्वी।
> येषां निःसङ्गताङ्गीकरणपरिणतिः स्वात्मसंतोषिणस्ते।
> धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म्म निर्मूलयन्ति॥ १॥

अर्थात्—जिनके हाथरूपी पवित्र पात्र हैं, जो सदा भ्रमण करते हैं, जिन्हें भिक्षामें अक्षय्य अन्न मिलता है, जिनके दिशारूपी लम्बे चौड़े वस्त्र हैं, परिग्रहत्यागरूप जिनकी परिणति रहती है, अपने आत्मामें ही जिन्हें संतोष रहता है और जो कर्मोंका नाश करते रहते हैं, ऐसे दीनतारूपी दुःख-समूहसे रहित महात्माओंको धन्य है।

भर्तृहरिका वैराग्यशतक बड़ी ही उत्तम रचना है। प्रायः वह सबका सब जैनसिद्धान्तोंसे मिलता जुलता है। यदि शतकत्रयके कर्त्ता भर्तृहरि ही शुभचन्द्रके भाई सिद्ध हों तो हम कह सकते हैं कि शृंगार और नीतिशतक उन्होंने अपनी पूर्वावस्थामें बनाये थे और वैराग्यशतक दीक्षा लेनेपर बनाया था। यह देखकर हमको आश्चर्य हुआ कि, ज्ञानार्णव और वैराग्यशतकके अनेक श्लोकोंका भाव एक सा मिलता है। बल्कि देखिये, इन दोनों श्लोकोंमें कितना साम्य हैः—

> विन्ध्याद्रिर्नगरं गुहा वसतिकाः शय्या शिला पार्वती
> दीपाश्चन्द्रकरा मृगाः सहचरा मैत्री कुलीनाङ्गना।
> विज्ञानं सलिलं तपः सदशनं येषां प्रशान्तात्मनां
> धन्यास्ते भवपङ्कनिर्गमपथप्रोद्देशकाः सन्तु नः॥ २१॥

(ज्ञानार्णव पृष्ठ ८१-८२)

> शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणां त्वचः
> सारङ्गाः सुहृदो ननु क्षितिरुहां वृत्तिः फलैः कोमलैः।
> येषां निर्झरमम्बुपानमुचितं रत्यैव विद्याङ्गना
> मन्ये ते परमेश्वराः शिरसि यैर्बद्धो न सेवाञ्जलिः॥

(वैराग्यशतक श्लोक १२)

---

१ अभी कुछ दिन हुए भर्तृहरिके नामसे एक विज्ञानशतक नामका ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ। परन्तु यथार्थमें वह किसी दूसरे ग्रन्थकारका बनाया हुआ जान पड़ता है।

इस कवितासाम्यसे और कुछ नहीं तो इतना अवश्य कहा जा सकता है कि, (शतककर्त्ता) भर्तृहरि और शुभचन्द्र एक दूसरेके ग्रन्थोंके पठन अध्ययन करनेवाले अवश्य होंगे, चाहे एक समयमें न रहे हो ।

अन्य कवि ।

कालिदास अनेक हुए हैं । उनमें जो सबसे प्रसिद्ध हैं, वे महाराज विक्रमकी सभाके रत्न थे और दूसरे भोजकी सभामें थे, जिनके विषयमें हमारे यहां सैंकड़ो किंवदन्तियां प्रसिद्ध हैं । ये ही कालिदास शुभचन्द्रके समकालीन जान पड़ते हैं । भक्तामरकी कथामें जिस वररुचिका जिक्र आया है, वह कोई अन्य पंडित होगा । क्योंकि वररुचिकवि जो विक्रमकी सभाके नवरत्नोंमें थे, वे ये नहीं हो सकते । यथाः—

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य ॥ १ ॥

मानतुंगके विषयमें और कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु उनका भोजसे सम्बन्ध अवश्य है । श्वेताम्बर ग्रन्थकारोंने भी मानतुंग तथा भोजकी कथा लिखी है । इससे भोज तथा शुभचन्द्रका समय ही उनका समय मानना चाहिये । धनंजयके विषयमें काव्यमालाके सम्पादकने लिखा हैं, कि अनुमानसे ईसाकी आठवीं सदीके पूर्वमें धनंजयका समय मानना चाहिये । क्योंकि ईस्वीसन् ८८४ तक राज्य करनेवाले काश्मीरनरेश अवन्तिवर्माके समसामयिक आनन्दवर्धन और रत्नाकर कविने तथा ई० स० ९५९ में श्रीसोमदेवमहाकविने राजशेखरकविकी प्रशंसा की है, और उस राजशेखरने धनंजयकी प्रशंसा की है । इसलिये धनंजय राजशेखरके पूर्ववर्ती थे । और ऐसा माननेसे भोजकी समकालीनता धनंजय के साथ नहीं बन सकती । तब क्या कालिदासके समान धनंजय भी कई हुए हैं, ऐसा मान लेना चाहिये ? विद्वानोंको निर्णय करना चाहिये कि कथाओंमें इस प्रकार ऐतिहासिक तत्त्वोंका अभाव क्यों हैं ?

शुभचन्द्राचार्य ।

ज्ञानार्णवमें श्रीशुभचन्द्रसूरिने अपने विषयमें कुछ भी नहीं लिखा । और तो अपना नाम भी नहीं लिखा । यदि प्रत्येक सर्गके अन्तमें उनका नाम नहीं मिलता और परम्परासे उनके ग्रन्थके पढ़नेकी परिपाटी न चली आई होती, तो आज यह जानना भी कठिन हो जाता कि, ज्ञानार्णवके रचयिता कौन हैं । उनके समयादिके विषयमें बाह्य प्रमाणोंसे एक प्रकारसे यह निश्चय हुआ कि वे ईसाकी ग्यारहवीं सदीमें हुए हैं । परन्तु अब देखना चाहिये कि, उनका ग्रन्थ भी इस विषयमें कुछ साक्षी दे सकता है, या नहीं । मंगलाचरणमें उन्होने लिखा है—

जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिताः ।
योगिभिर्यत्समासाद्य स्खलितं नात्मनिश्चये ॥ १ ॥

अर्थात् "जिसे योगीजन पा करके आत्माके निश्चयसे स्खलित नहीं होते हैं, वह त्रैविद्यो (न्याय, व्याकरण और सिद्धान्तके ज्ञाताओं) करके वन्दनीय भगवत् जिनसेनकी वाणी जयवन्ती रहे। इस श्लोकसे यह निश्चय होता है कि, श्री शुभचन्द्राचार्यसे भगवान् जिनसेन पहले हुए है। और भगवत् जिनसेनका समय ईस्वीसन् ८९८ के पहले पुष्ट प्रमाणोंसे सिद्ध होता है। प्रायः यह सब ही जानते हैं कि, भगवज्जिनसेन महापुराणको पूरा नहीं कर सके थे, केवल उसका पूर्वभाग आदिपुराण [कुछ कम] बना था और उनका स्वर्गवास हो गया था। पीछे उनके अग्रगण्य शिष्य श्रीगुणभद्राचार्यने उत्तरपुराण बनाकर महापुराणको पूर्ण किया था। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें उन्होंने लिखा है: —

शकनृपकालाभ्यन्तरविंशत्यधिकाष्टशतमिताब्दान्ते ।
मङ्गलमहार्थकारिणि पिङ्गलनामनि समस्तजनसुखदे ॥२२॥
श्रीपञ्चम्यां बुधार्द्रायुजि दिवसके मन्त्रिवारे बुधांशे ।
पूर्वायां सिंहलग्ने धनुषि धरणिजे वृश्चिकार्कौ तुलायाम् ।
सूर्ये शुक्रे कुलीरे गवि च सुरगुरौ निष्ठितं भव्यवर्यैः ।
प्राप्तेज्यं शास्त्रसारं जगति विजयते पुण्यमेतत्पुराणम् ॥२३॥

जिसका सारांश यह है कि, संवत् ८२० (ई० सन् ८९८) में उत्तरपुराण पूर्ण किया गया। इसके सिवाय भगवज्जिनसेनके प्रिय शिष्य महाराज अमोघवर्षका राज्यकाल शक सं० ७३७से ८०० पर्यन्त निश्चित हैं। इससे सिद्ध है कि, ई० सन् ८९८ के कुछ वर्ष पहले आदिपुराणके कर्त्ता भगवज्जिनसेनका अस्तित्व था और उनके पीछे श्रीशुभचन्द्राचार्यजी हुए हैं; नवमी शताब्दी पहले शुभचन्द्रका समय अब किसी प्रकारसे नहीं माना जा सकता।

मंगलाचरणमें शुभचन्द्रजीने स्वामिसमन्तभद्र भट्टाकलंकदेव और देवनन्दि (पूज्यपाद) को भी नमस्कार किया है। परन्तु अकलंकदेव जिनसेनसे भी पहले हुए है। क्योंकि आदिपुराणोंमें जिनसेनने अकलंकदेवका स्मरण किया है। और स्वामिसमन्तभद्र तथा पूज्यपादस्वामी इनसे भी पहले हुए हैं। इसलिये समय निर्णयके विषयमें जिनसेनके समान इनसे कुछ सहायता नहीं मिल सकती। क्या ही अच्छा हो, यदि शुभचन्द्रके पिछेके किसी आचार्यने उनका स्मरण किया हो, और वह हमें प्रमाण स्वरूप मिल जावे। ऐसे प्रमाणसे यह सीमा निर्धारित हो जावेगी कि अमुक समयसे वे पहले ही हुए है, पीछे नहीं।

शुभचन्द्र नामके एक दूसरे आचार्य सागवाड़ाके पट्टपर विक्रम संवत् १६००(ई० सन् १५४४) में हुए हैं। उन्हें षट्भाषाकविचक्रवर्तिकी उपाधि थी। पांडवपुराण, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृत टीका आदि ४०—५० ग्रन्थ उनके बनाये हुए है। परन्तु ज्ञानार्णवके कर्त्ता शुभचन्द्रसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। शुभचन्द्र नामके और भी विद्वान्, भट्टारक सुने जाते हैं। पटवर्धन राजाके समय श्रवणबलगुलके एक पट्टाचार्य भी शुभचन्द्र नामधारी हुए है। और उनका समय भी पहले शुभचन्द्रके निकट ही अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है।

इस ग्रन्थके कर्त्ता शुभचन्द्राचार्यके जीवनचरितके विषयमें यहां विशेष कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इस भूमिकाके अन्तमें उनकी एक स्वतंत्र कथा लिखी गई है, जिससे उनके कुटुम्बादिक सब विषय स्पष्ट हो जाता है। यहां इतना ही कहना बस होगा कि, वे एक बड़े भारी योगी थे, और संसारसे उन्हें अतिशय विरक्ति थी। राज्य छोड़कर इस विरक्तिके कारण ही वे योगी हुए थे। यह समस्त ज्ञानार्णवग्रन्थ उनकी योगीश्वरता और विरक्तिका साक्षी है।

ज्ञानार्णव।

इसका दूसरा नाम योगार्णव है। इसमें योगीश्वरोंके आचरण करने योग्य, जानने योग्य सम्पूर्ण जैनसिद्धान्तका रहस्य भरा हुआ है। जैनियोंमें यह एक अद्वितीय ग्रन्थ है। इसके पठन मनन करनेसे जो आनन्द प्राप्त होता है, वह वचन अगोचर है। "करकंकनको आरसी क्या?" पाठक स्वयं ही इसका अध्ययन करके हमारी सम्मतिको पुष्ट करेंगे। इस ग्रन्थकी कविता और कविकी प्रतिभा कैसी है, इसका निर्णय करना प्रतिभाशाली विद्वानोंका काम है, हम जैसे अज्ञोंका नहीं। परन्तु इतना कहे विना हमारा जी नहीं मानता, कि ऐसी स्वाभाविक, (अकृत्रिम) शीघ्रबोधक, सौम्य, सुन्दर और हृदयग्राही कविता बहुत थोड़ी देखी जाती है। खेद है कि भर्तृहरिके शतत्रयके समान इस ग्रन्थका सर्व साधारणमें प्रचार नहीं हुआ। यदि होता, तो विधर्मीय विद्वानों के द्वारा प्रशंसा होते हुए सुनकर आज हमारा हृदय शीतल हो गया होता।

श्वेताम्बरजैनसमाजमें एक योगशास्त्र नामका ग्रन्थ प्रसिद्ध है। उसके देखनेसे विदित हुआ कि ज्ञानार्णव तथा योगशास्त्रके अनेक अंश एकसे मिलते हैं। उदाहरणके लिये हम नीचे थोडेसे समानश्लोकोंको उद्धृत करते हैं।

किंपाकफलसम्भोगसन्निभं तद्धि मैथुनम्।
आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ॥१०॥ (ज्ञानार्णव पृष्ठ १२५।
रम्यमापातमात्रे यत् परिणामेऽति दारुणम्।
किंपाकफलसंकाशं तत्कः सेवेत मैथुनम् ॥७८॥ (योगशास्त्र द्वितीयप्रकाश।)
मनस्यन्यद्वचस्यन्यद्वपुष्यन्यद्विचेष्टितम्।
यासां प्रकृतिदोषेण प्रेम तासां कियद्वरम् ॥२१॥ (ज्ञानार्णव पृष्ठ १३५।)
मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्क्रियायामन्यदेव हि
यासां साधारणस्त्रीणां ताः कथं सुखहेतवे ॥८९॥ (योगशास्त्र द्वि० प्र०।
विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते ॥३॥
स्वर्णाचल इवाकम्पा ज्योतिःपथ इवामलाः।
समीर इव निःसंगा निर्ममत्वं समाहिताः ॥१५॥ (ज्ञानार्णव पृष्ठ ७९-८०)
विरतः कामभोगेभ्यः स्वशरीरेऽपि निःस्पृहः।
संवेगह्रदनिर्मग्नः सर्वत्र समतां श्रयन् ॥५॥

सुमेरुरिव निष्कम्पः शशीवानन्ददायकः
समीर इव निःसङ्गः सुधीर्ध्याता प्रशस्यते ॥७ (योगार्णव सप्तमप्रकाश ।)

ज्ञानार्णवकी एक दो संस्कृतटीकायें सुनी हैं, परन्तु अभी तक देखनेमें नहीं आई। केवल इससे गद्यभागकी एक छोटीसी टीका श्रीश्रुतसागरसूरिकृत प्राप्त हुई है। भाषामें जयपुरनिवासी पंडित जयचन्द्रजीकृत एक सुन्दर टिका है। हमको खास पं० जयचन्द्रजीकी लिखी हुई और शोधी हुई वचनिकासहित १ प्रति मुरादाबादसे और १ मूल सटिप्पण प्रति जयपुरसे प्राप्त हुई थी। उसीके अनुसार मान्यवर पंडित पन्नालालजी वाकलीवालने यह सरल हिन्दीटीका तैयार की है। इसके बनाने का सम्पूर्ण श्रेय स्वर्गीय पंडित जयचन्द्रजीको है। और नवीन पद्धतिसे संस्कृत करनेका द्वितीय श्रेय पन्नालालजीको है। नियमानुसार इसकी भूमिका पंडित पन्नालालजीको ही लिखनी चाहिये। परन्तु उनका आग्रह इसे मुझसे ही लिखानेका हुआ इसलिये उनकी आज्ञाका पालन करना मैंने अपना कर्तव्य समझा है। इसके लिखनेमें मेरी मन्दबुद्धिके अनुसार कुछ भूल हुई हो तो उदारपाठक क्षमा करे क्योंकि ऐसे विषयोंको लिखनेके लिये जितने साहित्यकी आवश्यकता है, जैनियोंका उतना साहित्य अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है, और न कोई ऐसा संग्रह अथवा लायब्रेरी है जहां लेखककी इच्छा पूर्ण हो सके।

अन्तमें—श्री रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके उदारव्यवस्थापकोंको हार्दिक धन्यवाद देकर मैं यह लेख समाप्त करता हूं जिन्होंने जैन साहित्यके प्रचार करनेके लिये एक ऐसी उदारसंस्था स्थापित की है जो जैनियोंकी अनन्तउपकारकारिणी और अभूतपूर्व है। श्रीजिनदेवसे प्रार्थना है कि यह संस्था अपने कर्तव्यका पालन द्विगुण चतुर्गुण उत्साहसे करनेमें समर्थ हो। अलमतिपल्लवितेन।

चंदावाडी—बम्बई १८-७-०७ जिनवाणीका सेवक—नाथूराम प्रेमी

आचार्यप्रवर शुभचन्द्रका जीवनचरित्र

प्राचीनकालमें मालवदेशकी उज्जयनी नगरीमें एक सिंह नामक राजा राज्य करता था। वह बड़ा धर्मात्मा था। और प्रजाका अपने पुत्रके समान पालन करता था। उसके राज्यमें सब लोग बड़े आनन्दसे निर्भय होकर अपने दिन व्यतीत करते थे। राजाके कोइ संतान नहीं थी, इसलिये एक दिन एकान्तमें बैठे हुए उसे इस प्रकारकी चिन्ता हुई, कि—"हाय! मेरे कोइ पुत्र नहीं है। बिना पुत्र के यह सम्पूर्ण वैभव शून्य है। पुत्रके बिना मेरे वीरवंशकी अब कैसे रक्षा हो सकेगी। सचमुच पुत्रके बिना संसार निरानन्दमय है, और यह जीवन भी दुःखमय है। इस प्रकारके आन्तरिक दुःखमें मग्न होनेसे राजाकी मुखश्री कुछ मलिन देख कर मंत्रीने पूछा कि महाराज उदासीनताका क्या कारण है? यदि हम लोगोंके वशका होगा, तो उसके दूर करनेका प्रयत्न करेंगे। मंत्रीके अधिक आग्रहसे इच्छा न रहते भी राजाको अपने हृदयकी व्यथा कहनी पड़ी। बुद्धिमान मंत्रीने इस दैवाधीन बातको सुनकर निवेदन किया कि महाराज सम्पूर्ण सांसारिक सुखोंकि प्राप्ति पुण्यके प्रभावसे होती है। बिना पुण्य के उदयके कुछ नहीं होता। इसलिये इसके सिवाय अन्य शरण नहीं है। पुण्य कमाइये, आपकी सब इच्छाये पूर्ण होगी। मंत्रीके इस प्रकारके सम्बोधनसे राजाको संतोष हुआ, और वह धर्मकृत्योंमें विशेष सावधान होकर राज्य करने लगा।

एक दिन राजा अपनी रानी और मंत्रीको साथ लेकर वनक्रीड़ा करनेके लिये गया। वहां एक सरोवरके समीप मुंजके (कांसके) खेतमें राजा टहल रहा था कि, अचानक उसकी दृष्टि एक बालक पर पड़ी, जो मुन्जके पेडोंकी ओटमें पड़ा हुआ अंगूठा चूस रहा था। उसे देखते ही राजाके हृदयमें प्रेमका संचार हुआ। चटसे बालकको उठाकर वह सरोवरके समीप बैठी हुई रानीके पास आया और उसकी गोदमें बालकको रखकर बोला, प्रिय देखो यह कैसा प्यारा और सम्पूर्ण श्रेष्ट लक्षणोंसे संयुक्त बालक है, इसे थोडे समय हृदयसे लगाकर आनन्दानुभवन तो करो। रानी पुत्रको गोदमें ले विहँसकर बोली नाथ! अभी २ आप यह मनमोहन बालक कहांसे ले आये? राजाने कहा, मैं इस खेत में टहल रहा था कि अचानक एक मुन्जके पेड़के नीचे इसपर मेरी दृष्टि जा पड़ी। मन्त्रीसे भी राजाने यह सब सच्चा वृत्तान्त कह दिया। उसने सम्मति दी कि, महाराज यह एक होनहार बालक है। आपके सौभाग्यसे इसकी प्राप्ति हुई है। अब नगरमें चलकर महारानीका गूढगर्भ प्रगट कीजिये और पुत्रोत्सव मनाइये। ऐसा करनेसे लोगोंको कुछ संदेह न होगा। समझेंगे कि महारानीके पहलेसे गर्भ होगा परन्तु किसी कारणसे प्रगट नहीं किया गया था। मन्त्रीकी सम्मति राजाको पसन्द आई। और फिर नगरमें आकर ऐसा ही किया गया। घर घर बन्धनवारे बांधे गये। उत्सव मनाया जाने लगा। राज्यकी ओरसे इच्छित दान बँटने लगा। सारांश—जैसा चाहिये, सम्पूर्ण रीतिसे पुत्रजन्मका उत्सव किया गया। प्रजाको भी संतोष हुआ कि, हमारे पूज्य महाराज की गोद भर गई।

बालक मुंजके नीचे मिला था, इसलिये राजाने उसका नाम मुंज रख दिया। मुंज राजकुमार दिन दिन बढ़ने लगा। और कुछ दिनोंमें गुरुके पास अध्ययन करके सकलकलाओंमें कुशल हो गया। योग्य वय प्राप्त होने पर महाराजने रैत्नावती नामक एक राजकन्याके साथ उसका विवाह कर दिया। मुंज राजकुमार उसमें रममाण होकर सुखसे कालयापन करने लगा।

इधर कुछ दिनोंमें महाराज सिंहकी रानीने गर्भ धारण किया। और दशवें महीनेमें एक पुत्र प्रसव किया। इसका नाम सिंहलै (सिन्धुराज) रक्खा गया। इस पुत्रके जन्मका और भी अधिक उत्सव किया गया। महाराज और महारानीको वर्णनातीत सुख हुआ। सिंहलकुमारका विवाह मृगावती नामक राजकन्यासे कर दिया गया।

मृगावती कुछ दिनोंमें गर्भवती हुई। उसके शुभमुहूर्तमें युगल पुत्र हुए। ज्येष्ठका नाम शुभचन्द्र और छोटेका भर्तृहरि रक्खा। बालकपनसे ही इन बालकोंका चित्त तत्त्वज्ञानकी ओर सविशेष था, इस लिए वयः प्राप्त होने पर इन्होंने तत्त्वज्ञानमें अच्छी योग्यता सम्पादन की। ये ही दोनों पीछेसे परमयोगी श्रीशुभचन्द्राचार्य और राजर्षि भर्तृहरि हुए।

एक दिन अभ्रपटलोंको रंग बदलते और लुप्त होते हुए देखकर महाराज सिंहको वैराग्य उत्पन्न हो गया। सम्पूर्ण विषयसुखोंको बादलोंके समान क्षणभंगुर जान कर उन्होने मुंज और सिंहलैको राजनीतिसम्बन्धी शिक्षा देकर जिनदीक्षा ले ली। राजा मुंज अपने भाईके साथ सुखपूर्वक राज्य करने लगे।

एक दिन राजा मुंज वनक्रीडा से लौट रहे थे कि उन्होंने मार्गमें एक तेलीको कंधेपर कुदाली रक्खे हुए खडा देखा। उसे गर्वोन्मत्ततासे खडा देखकर मुंजने पूछा, इस तरह क्यों खड़ा है? उसने

---

१ मुंजका दूसरा नाम वाक्पतिराज अथवा अमोघवर्ष भी प्रसिद्ध है। एक ग्रन्थमें उत्पलराज भी उन्हीका नाम बतलाया है। अमोघवर्षके विषयमें कई विद्वानोंका मत है कि यह एक पदवी है। जो एक चौलुक्यवंशीय राजाको भी प्राप्त थी।

२ प्रबंधचिन्तामणिमें मुंजकी स्त्रीका नाम भीमराजाकी कन्या श्रीमती लिखा है, यथा-भीमभूपसुतां सिंहभटेन सेवनीभुजा। श्रीमतीं सम्महं मुञ्जकुमारः परिणायितः।

३ नागपुरके एक शिलालेखसे, श्वेताम्बरजैनकवि धनपालकृत तिलकमंजरीसे, नवसाहसांकचरितसे और उदयपुरप्रशस्तिसे भोजकी वंशावलीमें सिन्धुराजके पिताका नाम सीयकदेव, सीयक अथवा श्रीहर्षसीयक प्रगट होता है, सिंह किसी भी लेखमें नहीं मिलता। हां सीयकदेवके पिताका नाम वैरिसिंह अवश्य ही प्रसिद्ध है। एपीग्राफिका इंडिकाके वोल्यूम १ पृष्ठ २२२-२२५ में सीयकदेवका एक नामान्तर सिंहदन्त सिंहभट बतलाया गया है, शायद सिंहदन्त, सिंहभटको ही इस कथाके लेखकने संक्षेपरूपमें लिखा हो।

४ सिंहल (सिन्धुराज) को कई पाश्चात्य विद्वानोंने मुंजका पुत्र और कई ग्रन्थकारोंने मुंजका बडा भाई माना है, परन्तु प्रबन्धचिन्तामणि आदि अनेक ग्रन्थोंके आधारसे यह निश्चय हुआ है कि सिंहल मुंजका छोटा भाई था। इससे विरुद्ध माननेवालोंका खंडन सुभाषितरत्नसंदोहकी भूमिकामें विस्तारसे किया गया है।

कहा कि, मैंने एक अपूर्वविद्या साधी है। उसके प्रभावसे मुझमें इतना बल है कि, मुझे कोई जीत नहीं सकता। यह सुन राजाने घृणायुक्त परिहाससे कहा, कि तेली भी बलवान हुए हैं? इसके उत्तरमें तेलीने एक लोहेका दंड बड़े जोरसे जमीनमें गाड़ दिया और कहा, अच्छा महाराज! आपके सामन्तोंमें यदि कोई वीरताका घमंड रखता हो तो इस दंडको उखाड़के मेरे बलकी परीक्षा करे। सुनकर मुंजने अपने सैनिकोंकी ओर देखा। इसारा पाते ही सामन्तगण उसे उखाड़नेका प्रयत्न करने लगे। परन्तु किसीसे भी वह रंचमात्र नहीं हिला। तब राजा सिंहल वीरोंको लज्जा खाते हुए देखकर स्वयं उठ खड़ा हुआ, और एक हाथसे उस लोहदंडको उखाड़कर बोला, अच्छा अब मेरा गाड़ा हुआ कोई उखाड़े। ऐसा कहकर उसने एक हाथसे लोहदंडको फिर गाड़ दिया। तब तेली बल लगाकर थक गया, परन्तु लोहदंड नहीं उखड़ा। अन्यान्य सामन्त भी अपना २ बल आजमाके देख चुके, पर सफलमनोरथ कोई भी नहीं हुए। अन्तमें राजकुमार शुभचन्द्र और भर्तृहरि दोनोंने मुंजके सम्मुख हाथ जोड़कर कहा तात! यदि आज्ञा हो तो हम लोग इस लोहदंडको उखाडे। इस पर राजाने विहँसकर कहा, बेटो! तुम लोगोंका यह काम नहीं है। अभी तुम बालक हो, इसलिये अखाडेमें जाकर अपनी जोड़ीके लडकोंसे कुश्ती खेलो। बालकोंने कहा, महाराज! सिंहनीके बच्चोंको हाथी मस्तक विदारण करना कौन सिखलाता है? हम लोग आपके पुत्र हैं। इस दंडको हाथसे उखाड़ना क्या बड़ी बात है। आप आज्ञा देवें, तो विना हाथ लगाये इसको निकालके फेंक सकते हैं। यदि ऐसा न कर सकें, तो आप हमें क्षत्रियपुत्र नहीं कहना। इस प्रार्थना पर भी मुंजने कुछ भी ध्यान न दिया और उन्हें समझाकर टालना चाहा, परन्तु बालहठ बुरा होता है; अन्तमें आज्ञा देनी ही पड़ी। तब कुमारोंने चोटीके बालों का फंदा लगाकर देखते देखते एक झटकेमें लोहदंडको निकालके फेंक दिया। चारों ओरसे धन्य धन्यकी ध्वनि गूंज उठी। तेली निर्मद होकर अपनी राह लग गया।

राजतृष्णा बहुत बुरी होती है। बडे २ विद्वान् इसके फंदेमें पड़कर अनर्थ कर बैठते हैं। उस दिन राजा मुंजको बालकोंका यह कौतुक देखकर विचार हुआ, ! इन बालकोंके बलका कुछ ठिकाना है? इनके जीते जी क्या मेरे राज्य सिंहासनकी कुशलता हो सकती है? अवश्य ही जब ये लोग इच्छा करेंगे, मुझे सिंहासनसे च्युत करनेमें देर न लगावेंगे, । यदि इस समय इनका निर्मूलन न किया जावेगा, तो राजनीतिकी बडी भारी भूल होगी। विषवृक्षके अंकुरको ही नष्टकर डालना बुद्धिमानी है। तत्काल ही मंत्रीको बुलाकर मुंजने अपना विचार प्रगट किया और कहा, शीघ्र ही इनको परलोकका मार्ग दिखानेका प्रयत्न करो। मंत्री सन्न हो गया। छातीपर पत्थर रखकर उसने मुंजको बहुत समझाया! यह अनर्थ न कीजिये। राजकुमारोंके द्वारा ऐसी शंका करनेके लिये कोई कारण नहीं दिखता। परन्तु मुंजने एक न सुनी। कहा, राजनीतितत्त्वमें अभी तक तुम अपरिपक्व हो हो। इसमें तुम कुछ विचाराविचार मत करो, और हमारी आज्ञाका पालन करो। मंत्री हृदयमें दुःखी हो "जो आज्ञा" कहकर चला गया। पश्चात् उसने राजाज्ञाकी पालना करनेकी बहुत चेष्टाकी, परन्तु उसका हृदय तत्पर नहीं हुआ।

एकान्तमें राजपुत्रोंको बुलाकर उसने मुंजके भयंकर विचारको प्रगट कर दिया और उज्जयनी छोड़ कर भाग जानेको सम्मति दी। तब राजकुमारोंने अपने पिता सिंहलके निकट मुंजकी गुप्तमंत्रणा प्रकटकर पूछा, हम लोगोंका अब क्या कर्तव्य है, यह आपको स्थिर करना चाहिये। मुंजके पामर विचारको सुनकर सिंहलका क्रोध उबल उठा। उन्होने अधीर होके कहा, यदि मुंज ऐसा नीचे है, तो तुम क्यों चुप बैठे हो? जाओ और इसके पहले ही कि वह षडयंत्रको कार्यमें परिणत करे, तुम उसे यमलोकको पहुंचा दो। क्योंकि राजनीतिमें "हनिये ताहि हनै जो आपू" ऐसा कहा है। इसपर तत्त्वविशारद उदार-हृदय राजकुमारोंने कहा, तात! यह कृत्य हमलोगोंके करने योग्य नहीं हैं। वे हमारे आपके समान ही पूज्य पितृव्य हैं। हम उन्हें मारकर अपयशकी गठड़ी अपने सिर नहीं रखना चाहते। और कितनेसे जीवनके लिये यह कृत्य करे? उन्हें उनके पापोंका बदला स्वयं मिल जावेगा। हम उसका प्रयत्न करके आपको दोषी क्यों बनावें? वे शायद अपनेको अमर समझते हैं, परन्तु हम इस शरीरको क्षणस्थायी माननेवाले हैं। इसलिये अब हम सब झंझटोंसे मुक्त होकर इस शरीरसे कुछ आत्मकृत्य करना चाहते हैं। संसारमें कोई किसीका नहीं है, सब अपने २ मतलबके सगे हैं। यह बुद्धिमान पुरुषोंके सेवन करने योग्य नहो है। इत्यादि विचार प्रगट करके दोनो भाई वहांसे चल दिये। पिता स्नेहार्द्र नेत्रोंसे उन्हें देखते ही रह गये।

महामति शुभचन्द्रने किसी वनमें जाकर एक मुनिराजके निकट जिनदीक्षा ले ली और तेरह प्रकारके चारित्रका पालन करते हुए उन्होंने घोर तप करना प्रारम्भ किया। परन्तु भर्तृहरिने एक कौल (तंत्रवादी) तपस्वीके निकट जाकर उसकी सेवामें मन लगाया। उसकी दीक्षा ले ली। जटा रख ली, शरीरमें भस्म रमाली, कमंडलु चीमटा ले लिया और कन्दमूलसे उदरपोषणा प्रारंभ कर दी। एक जंगलमें भूलकर वे एक स्थानमें पहुंचे, जहां एक योगी समाधि लगाये हुए पंचाग्नि तप रहा था। उसे विशेषज्ञ जानकर उन्होंने चेला बननेकी प्रार्थना की। उसने यह जानकर कि, यह एक राजपुत्र है, चेला बना लिया और कहा, मेरे पास बहुत सी विद्यायें है, तुम्हें जो चाहिये, प्रसन्नतासे सीखो। तबसे ये उसीके पास रहने लगे, और अपनी सेवासे प्रसन्नकर उससे विद्या सीखने लगे। बारह वर्ष रहकर भर्तृहरि बहुत सी विद्या मंत्र तंत्र यंत्र सीखकर वहांसे चलनेका मानस किया। तब योगीने एक सतविद्या और रसतुंबी देकर जिस रसके संसर्गसे तांबा सुवर्ण हो जाता था, जानेकी आज्ञा दे दी। भर्तृहरि प्रणाम करके वहांसे चल दिये और एक स्वतंत्र स्थानमें आसन जमा कर रहने लगे। वहां उनके सैकडों शिष्य हो गये, और तनमनसे सेवा करने लगे। रसतुंबीके प्रभावसे वहां उन्हें सब प्रकारके सुख सुलभ हो गये।

एक दिन उन्हें अपने भाईकी चिन्ता हुई कि, वे कहां रहते हैं, और किस प्रकार सुख दुःखसे अपना जीवन निर्वाह करते हैं। इसलिये अपने एक शिष्यको उन्होंने शुभचन्द्रकी खबर लानेके लिये भेजा। वह शिष्य अनेक जंगलोंकी राख छानता हुआ वहां पहुंचा, जहां श्रीशुभचन्द्र मुनि

तपस्या करते थे । देखा, उनके शरीरमें एक अंगुलभर वस्त्र भी नहीं हैं, और कमंडलुके सिवाय कुछ परिग्रह नहीं है । शिष्यजी दो दिन रहे, सो दो उपवास करना पड़े ! वहां कौन पूछनेवाला था कि भाई ! तुम भोजन करोगे या नहीं । आखिर तीसरे दिन प्रणाम करके वहांसे चले आये । अपने गुरु-देवसे जाकर कहा, महाराज ! आपके भाई बड़े कष्टमें हैं । और तो क्या चार अंगुल लंगोटी भी उनके पास नहीं है । खाने पीनेके लिये कुछ प्रबंध नहीं है । मैं स्वयं वहां दो उपवास करके आया हूं । आपको चाहिये कि, उन्हें कुछ सहायता पहुंचावें; जिसमें वे उक्त घोर दारिद्र्यसे मुक्त हो जावें। यह सुनकर भर्तृहरिको बहुत दुःख हुआ । उन्होंने उसी समय तुंबीमेंसे आधा रस दूसरी तुंबीमें करके उसी शिष्यको दिया, और कहा, भाईको यह दे देना और कहना कि, अब इस रससे मनोवांछित सुवर्ण तैयार करके दारिद्र्यसे मुक्त हो जाओ और सुख चैनसे रहो । चेला तत्काल ही वहांको रवाना हो गया । मुनिराज शुभचन्द्रके समीप जाकर उसने रसतुम्बी समर्पण की और उसका गुण वर्णन करके भाईका संदेशा कह सुनाया । मुनिराजने कहा, अच्छा, इसे पत्थरपर डाल दो । शिष्य आश्चर्यचकित हो बोला, महाराज ! यह क्या ? ऐसी अपूर्व वस्तुको आप यों ही व्यर्थ क्यों खोते हैं ? उन्होंने कहा, तुम्हें इससे क्या ? जब तुम हमें दे चुके हो, तो हम कुछ भी करें । जो ऐसा नहीं है, तो ले जाओ । अपने गुरुको वापिस दे देना, हमको नहीं चाहिये । चेला बड़ी चिन्तामें पड़ा । अन्तमें यह सोचकर कि, "रस वापिस ले जाऊंगा, तो गुरुजी अप्रसन्न होंगे जब इन्हें दिया जा चुका है, तो ये चाहे जो करें मुझे इससे क्या ? इनका भाग्य हो ऐसा है, जो यह मूर्खता सूझी है" चेला रस पत्थरपर डालकर अपने गुरुके पास लौट गया । जाके सब समाचार कहे । सुनकर भर्तृहरिको बहुत दुःख हुआ । परन्तु यह विचार करके कि शायद इस चेलाने उनसे रसका गुण यथार्थ नहीं कहा होगा, इससे उन्होंने रस फिकवा दिया होगा; वे अपने अनेक चेलोंको लेकर स्वयं शुभचन्द्रजीसे मिलनेको चले । साथमें बचा हुआ आधी तुंबी रस भी ले लिया । वहां पहुँचकर श्री शुभचन्द्रमुनिको बड़ी नम्रतासे नमस्कार कर कुशलप्रश्न किया । पश्चात्, वह रसतुंबी भेंट स्वरूप आगे रख दी । मुनिने पूछा, इसमें क्या है ?

भर्तृहरि —इसमें रस-भेदी रस है इसके स्पर्शसे तांबा सुवर्ण हो जाता है । बड़े परिश्रमसे यह प्राप्त हुआ है ।

शुभचन्द्र—(तुंबीको पत्थरकी शिलापर मारके) भाई ! यह पत्थर तो सुवर्णका नहीं हुआ इसका गुण पत्थरमें लगनेसे कहां भाग गया ?

भर्तृहरि—(विरक्त होकर) यह आपने क्या किया ! मेरी बारह वर्षकी कमाई आपने नष्ट कर दी । मैं ऐसा जानता, तो आपके पास नहीं आता । तुंबीको फोड़कर आपने बुद्धिमानीका कार्य नहीं किया है । भला, आप अपनी भी तो कुछ कला दिखाइये कि,इतने दिनोंमें क्या सिद्धि प्राप्त की है

शुभचन्द्र—भैया ! क्या तुम्हें अपने रसके नष्ट होनेका इतना रंज हुआ है ? भला, इस सुवर्णके कमानेकी ही इच्छा थी,तो घर द्वार किसलिये छोड़ा था ! क्या वहां सुवर्ण रत्नोंकी न्यूनता थी? अरे

मूर्ख क्या इस सांसारिक दुःखकी निवृत्ति इन मन्त्र जंत्रों अथवा रसोंसे हो जावेगी ? तेरा ज्ञान कहां चल गया, जो एक जरासे रसके लिये विवाद करके मेरी कला जानना चाहता है। मुझमें न कोई कला है, और न जादू है। तौ भी तपमें वह शक्ति है कि, अशुचिको धारसे यह पर्वत सुवर्णमय हो सकता है।

इतना कहकर शुभचन्द्रने अपने पैरके नीचेकी थोड़ो सो घूल उठाकर पासमें पड़ी हुई उसी शिलापर डाल दी। डालते ही वह विशाल शिला सुवर्णमय हो गई। यह देखकर भर्तृहरि अवाक हो गये। चरणोंपर गिरके बोले, भगवन् क्षमा कीजिये। अपनी मूर्खतासे आपका माहात्म्य न जानकर मैंने यह अपराध किया हैं। सचमुच मैंने इन विद्याओंमें फँसकर अपना इतना समय व्यर्थ ही खो दिया और पापोपार्जन किये। अब कृपा करके मुझे यह लोकोत्तर दीक्षा देकर अपने समान बना लीजिये, जिसमें इस दुःखमय संसारसे हमेशाके लिये मुक्त होनेका प्रयत्न कर सकूं।

भर्तृहरिको इस प्रकार उपशान्तचित्त देखकर श्रीशुभचन्द्रमुनिने विस्तृतरीतिसे धर्मोपदेश दिया। सप्ततत्व नवपदार्थोंका वर्णन करके उनके हृदयके कपाट खोल दिया। तब भर्तृहरि उसी समय उनके समीप दीक्षा लेकर दिगम्बर हो गये। इसके पश्चात्, भगवान् शुभचन्द्रने उन्हें मुनि मार्गमें दृढ होनेके लिये तथा योगका अध्ययन करानेके लिये ज्ञानार्णव (योगप्रदोप) ग्रन्थको रचना को, जिसे पढकर भर्तृहरि कर्मयोगी हो गये'।

आचार्य विश्वभूषणकृत भक्तामरचरित्रको पीठिकामें शुभचन्द्रजीके विषयमें उक्त कथा मिलती है। महाराज सिंहलके विषयमें इतना कहनेको और रह गया कि, राजामुन्ज राज्यतृष्णा और असूयासे उन्हें भी मारनेका प्रयत्न करने लगा। एकबार एक मदोन्मत्त हाथी उनपर छोड़ा, परन्तु उसे उन्होंने वशमें कर लिया। अन्तमें एक दासीके द्वारा जो तैलमर्दन करती थी, सिंहलके नेत्र फुड़वा कर वह तृप्त हुआ। उसी समय सिंहलके प्रसिद्ध पाण्डितमान्य और यशस्वी भोजकुमारने जन्म लिया। जिससे वे अपनी अन्धावस्थाके दुःखको कुछेक भूल गये। सिंहलके अन्धे होनेका पीछेसे मुन्जसे बहुत पश्चात्ताप किया, और भोजको अपने पुत्रके समान मानकर जब वह सर्वकलाकुशल हुआ तब उसे राज्य सिंहासनपर आरूढ करके आप एकान्तमें सुखसे कालयापन करने लगा। इत्यलम्।

---

१ उज्जयनीके पास एक भर्तृहरि नामकी गुफा है। भर्तृहरिने उसी गुफामें घोर तपस्या की थी।

२ श्रीमेरुतुंगसूरिने भी सिन्धुलके नेत्र फुड़वानेकी बात लिखी है। परन्तु इसमें भी सिंधुलकी उद्दंडताके सिवाय और कोई कारण नहीं लिखा। एक बार मुंजने सिंधुलको अपने देशसे इसी उद्दंडताके कारण निकाल भी दिया था। भोजको मारनेके लिये भेजनेकी और फिर उसका लिखा हुआ मान्धाता स महीपतिरित्यादि श्लोक पढकर उसके लिये पश्चात्ताप करनेकी बात भी मेरुतुंगसूरिने लिखी हैं।

३ तैलंग देशके राजा तैलिपदेवकी कैदमें जाकर राजा मुंज उसीके द्वारा मारा गया। तैलिपदेवकी विधवा बहिन मृणालवतीके साथ अनुचित प्रेम करनेके कारण उसे यह सजा मिली। भर्तृहरि शुभचन्द्रका वाक्य सिद्ध हो गया कि वे अपने पापोंका फल पा लेंगे

अनुवादककी प्रार्थना ।

पाठक महाशय ! इस ग्रन्थका जैसा महान् नाम है, वैसा ही यह ग्रन्थ भी महान् है । यह ज्ञानका अर्णव अर्थात् समुद्र और योगमार्गको सुझानेवाला प्रदीप अर्थात् उत्कृष्ट दीपक है । इसलिये इसका अनुवाद शोधनादि करना भी किसी बडे विद्वान्‌का काम था । परन्तु श्रीपरमश्रुतप्रभावक मंडलके व्यवस्थापकोंका अत्याग्रह होनेके कारण मुझ अल्पज्ञको यह कार्य करना पड़ा है । तौ भी इसमें मेरी स्वयंकृति कुछ भी नहीं है । स्वर्गीय पंडितवर जयचन्द्रराय (जयपुरनिवासी) जीकी ढूंढारी भाषाटीकाका यह अनुकरणमात्र है । खुशीकी बात यह है कि स्वयं पंडित जयचन्द्रजीके द्वारा लिखाई हुई और खास उनकी शोधी हुई प्रथम प्रतिसे हमने यह ग्रन्थ लिखा है । उनकी शोधी हुई प्रतिकी शुद्धताके विषयमें कहनेकी कुछ आवश्यकता ही नहीं है । स्वयं टीकाकारकी हाथकी प्रति शुद्ध होनी ही चाहिये । इसके सिवाय मूल संस्कृत ग्रन्थकी प्रति भी मैंने दो संग्रह की थीं जो प्रायः शुद्ध थी । परन्तु इतने पर भी मुझे खेद है कि, यह ग्रन्थ जैसा शुद्ध छपना चाहिये था, वैसा नहीं छपा । प्रमाद तथा अन्यमनस्कताके कारण अनेक अशुद्धियां रह गई है, जिन्हें ग्रन्थके अन्तमें एक शुद्धिपत्रमें लिख दी है । सज्जन महाशयोंको चाहिये कि उसके अनुसार पहले ग्रन्थ शुद्ध कर लेवें पीछे स्वाध्याय करैं ।

शुद्धिपत्रके अतिरिक्त तत्त्व–तत्व ब–व, स–श महत्त्व–महत्व ज्ञानार्णवम् ज्ञानार्णवः यह–ये और पदच्छेदकी अनेक छोटी २ अशुद्धियां रह गई है परन्तु वे ऐसी नहीं है, जिनसे कुछ अर्थविपर्य्याय हो । इसलिये उन्हें शुद्धिपत्रमें देनेकी आवश्यकता नहीं देखो । पाठकगण क्षमा कर मूल श्लोकोंमें पादान्त अनुस्वारको म् करना चाहिये, परन्तु मैंने जानबुझकर कहीं २ अनुस्वार ही लिखा है क्योंकि हमारे शर्ववर्मजैनाचार्यप्रणीत कातन्त्र्याकरणके 'विरामे वा' सूत्रसे ऐसा करना अशुद्ध नहीं है । सिवाय इसके मैं उच्चारणके अनुसार कहीं २ नहीं के स्थानमें नहिं लिखना उचित समझता हूं इसलिये इस ग्रन्थमें भी ऐसा ही किया है । अनेक सज्जन इसके विरोधी है, परन्तु मैं उन्हें मेडियाध सानका पक्षपाती समझता हूं, उच्चारणका नहीं ।

इस ग्रन्थमें बहुतसे श्लोक उक्तं च कहकर ग्रन्थान्तरोंसे लिये गये मालूम होते हैं, इसलिये मैंने उन्हें ग्रन्थसंख्यामें शामिल नहीं किया है, क्योंकि मूल ग्रन्थसे वे पृथक् हैं ।

अन्तमें इस ग्रन्थके संशोधन कार्यमें सहायता देनेवाले श्रीयुत पंडितवर्य रघुवंशजी शास्त्रीका तथा प्रस्तावना लेखक कविवर भाई नाथूराम प्रेमीका हृदयसे उपकार मानकर मैं अपनो प्रार्थनाको समाप्त करता हूँ ।

जैनसमाजका हितैषीदास
पन्नालाल बाकलीवाल ।

बम्बई २९–७–०७

विषयानुक्रम

स्वरूप है। इस विशेषणसे अन्यमती परमात्माके स्वरूपका भिन्न प्रकारसे वर्णन करते हैं, अतः उनसे विभिन्नता दिखाई है। अर्थात् कई वैष्णव तो "परमात्मा परब्रह्म है और सर्वव्यापक है। अतएव जितने स्त्रीके स्वरूप हैं, वे तो परमात्माकी शक्तिके रूप हैं और जितने पुरुषके स्वरूप हैं, वे सब परमात्माके रूप हैं। इसप्रकार लक्ष्मी और परमात्माके संयोगरूप दृढ आलिंगनसे परमात्माको सुख होता है"। ऐसी कपोलकल्पना करके उसका व्यवहार करते हैं। और कोई कोई तो **श्रीराम** ऐसी संज्ञा रखकर स्त्री पुरुषका आकार (मूर्ति) स्थापन कर पूजते तथा ध्यान करते हैं। कोई कोई **लक्ष्मीनारायण** कहते हैं, कोई **राधाकृष्ण** कहते हैं, और कोई **गोपीनाथ** कहते हैं। तथा कई एक शिवमती **पार्वती**का स्थापन करते हैं। कोई कोई केवल **शिवजी**के लिंग तथा **पार्वती**की जननेन्द्रियको ही स्थापन कर पूजते हैं। सो इनके माने हुए स्वरूपको तो **ज्ञानलक्ष्मी** शब्दसे निराकरण किया। नैयायिक कहते हैं कि—ज्ञान और आत्मा भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं और उनकी एकता जो समवायनामक एक भिन्न पदार्थ है, सो करता है"। परन्तु भिन्न पदार्थकी की हुई एकता कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि एकता तो तादात्म्यरूप होती है, सो ही होती है। इस कारण **घनाश्लेष**के कहनेसे उन नैयायिकोंकी कल्पनासे भी भिन्नता दिखाई हैं। सांख्यमती प्रकृति और पुरुषका संयोग होनेसे आत्माको ज्ञानसुख होना कहते हैं, सो इनसे भी ज्ञानलक्ष्मीके दृढ आलिंगन अर्थात् तादात्म्य भावसे ही सुख होता हैं, इस प्रकार भिन्नता दिखाई है। एवम् अन्यान्य मतवाले जो परमात्माको अन्य प्रकार कहते हैं, उन सबका भी निराकरण इसी विशेषणसे जानना चाहिए, क्योंकि परमात्माके ज्ञानानन्दरूपतासे परमानन्द है अन्य प्रकारसे नहीं हैं। फिर कैसा है परमात्मा? निष्ठित परिपूर्ण हो गये हैं, अर्थ प्रयोजन जिसके, ऐसा कृतकृत्य है। इस विशेषणसे जो नैयायिक कहते हैं कि, परमात्मा वा ईश्वर है सो समस्त कार्यका कर्त्ता है अर्थात् सृष्टिको बनाता वा बिगाड़ता रहता है, सो इस मान्यताका खंडन किया है। क्योंकि जो कुछ भी कार्य करता रहता है, वह कृतकृत्य कदापि नहीं हो सकता। फिर कैसा है वह परमात्मा? कि—अज है, अजन्मा है, अर्थात् उसका कभी जन्म नहीं होता। इस विशेषणसे जो राम कृष्ण आदि परमात्माके अवतारोंको मानते हैं, उनकी कल्पनाका निषेध किया है; क्योंकि परमात्माका फिर कभी संसारमें जन्म नहीं होता। फिर कैसा है परमात्मा? अव्यय कहिये नाश रहित अर्थात् अविनाशी है। इस विशेषणसे जो कोई परमात्माका नाश मानते हैं, तथा सर्वथा अभाव ही मानते हैं, उनकी कल्पनाको मिथ्या ठहराया है। इस प्रकार इन चार विशेषणोंसे सहित समस्त मतोंसे भिन्न जैसा यथार्थ स्वरूप परमात्माका है, उसे प्रकट करके आचार्य महाराजने नमस्काररूप मंगलाचरण किया है। अन्यमती जो कल्पना करके कहते हैं, सो यथार्थ नहीं है। और जो अयथार्थ हैं सो वस्तु नहीं है, तथा अवस्तुको नमस्कार करना योग्य नहीं हैं॥

यहां कोई अन्यमती प्रश्न करे कि—"हम भी तो परमात्मा इन ही विशेषणोंसे सहित कहते हैं, सो यथार्थ क्यों नहीं है? हम परमात्माको समस्त जगत्की मायासे पृथक् मानते हैं"—उसका यह उत्तर है, कि—

श्रीवीतरागाय नमः

श्रीमद्-राजचन्द्रजैनशास्त्रमालायाम्

श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचितः

ज्ञानार्णवः

भाषानुवादसहितः

अथ प्रथमः सर्गः

सत्श्रुतप्रशंसा

दोहा ।

केरमघातिया नाश करि केवललक्ष्मी पाय ।
नाशि अघाति लई मुकति, वन्दौं तिनके पाय ॥ १ ॥
परमागम केवलकथित, गणधरगूंथित सार ।
ताकों वन्दौं भावश्रुत, पाऊं ज्ञान उदार ॥ २ ॥
गुरु गौतमको आदि दे, भये पंचमैं काल ।
तिनिके पदकूं वंदि करि, तजूं सकल जंजाल ॥ ३ ॥
देवशास्त्रगुरु वंदि करि, ज्ञानार्णवश्रुत देखि ।
करूं वचनिका देशमय, भव्यजीव हित पेखि ॥ ४ ॥

मंगलाचरणम्

ज्ञानलक्ष्मीघनाश्लेषप्रभवानन्दनन्दितम् ।
निष्ठितार्थमजं नौमि परमात्मानमव्ययम् ॥१॥

अर्थ--आचार्यवर्य कहते हैं कि--मैं परमात्माको नमस्कार करता हूं, परा=उत्कृष्ट–मा=लक्ष्मी-जिस आत्माको होय सो परमात्मा है, इस विशिष्ट गुणके धारक अरहन्त तथा सिद्ध भगवान् ही हैं। सो परमात्मा कैसा है । ज्ञानकी जो लक्ष्मी अर्थात् समस्त पदार्थोंका जानना तथा वीतरागतारूप लक्ष्मीके दृढ आलिंगनसे (एकरूपतासे) उत्पन्न हुए आनंदसे (परम अतीन्द्रिय अनन्त सुखसे) आनन्द

१ भाषाटीकाकार पं० जयचन्द्रजीका मंगलाचरण । २ श्लोक अनुष्टुप् ।

तुम जो ऐसा कहते हो, सो एकान्तपक्षसे कहते हो। वस्तुका स्वरूप सर्वथा एकान्तरूप प्रमाण-सिद्ध नहीं है, क्योंकि वस्तुका स्वरूप जो अनेकान्तात्मक है, वही सत्यार्थ है। इसकी चर्चा बाधा निर्बाधास्वरूप जैनके प्रमाण नयके कथन करनेवाले स्याद्वादरूप जो अनेक शास्त्र हैं, उनसे जाननी चाहिये। यहां इतना ही अभिप्राय जानना कि, सामान्यतासे तो परमात्माको समस्त मतवाले मानते हैं, परन्तु उसके स्वरूपमें विवाद है। और समस्त मतावलंबी परस्पर विधिनिषेध करते हैं, उनके विरोधको जैनियोंका स्याद्वादन्याय दूर करके यथार्थ स्वरूपको स्थापन करता है। वही स्वरूप भव्यजीवोंके श्रद्धान तथा नमस्कार करने योग्य है।

यहां कोई प्रश्न करे कि, परमात्मामें नमस्कार करनेकी योग्यता कैसे है? इसका उत्तर यह है—

यह जीवनामा पदार्थ निश्चयनयसे स्वयं ही परमात्मा है, किन्तु अनादिकालसे कर्माच्छादित होनेके कारण जब तक अपने स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती है, तब तक इसको जीवात्मा कहते हैं। जीव अनेक हैं, इस कारण जो जीव कर्म काट कर परमात्मा अर्थात् सिद्ध हो गये हैं, यदि उनका स्वरूप जान उन्होंके जैसा अपना भी स्वरूप जानै तो उनके स्मरण ध्यानसे कर्मोंको काट कर जीवात्मा स्वयम् उस पदको प्राप्त होता है। अतः जब तक कर्म काट कर उनके जैसा न होय, तब तक उस परमात्माके स्वरूपको नमस्कार करना आवश्यक है, तथा उसका स्मरण ध्यान करना भी उचित है।

आगे आचार्य इष्ट देवका नाम प्रकाश करके नमस्कार करते हैं। प्रथम ही इस कर्मभूमिकी आदिमें आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेवजी हुए है, इसलिये उनको नमस्कार करते हैं—

भुवनाम्भोजमार्त्तण्डं धर्मामृतपयोधरम् ।
योगिकल्पतरुं नौमि देवदेवं वृषध्वजम् ॥२॥

अर्थ मैं (शुभचन्द्राचार्य) वृषध्वज कहिये वृषका है ध्वज अर्थात् चिन्ह जिसको, अथवा वृष कहिये धर्मकी ध्वजास्वरूप श्री ऋषभदेव आदि तीर्थंकरको नमस्कार करता हूँ। कैसा है ऋषभदेव? देवदेव कहिये चार प्रकारके देवोंका देव है। इस विशेषणसे समस्त देवोंके द्वारा पूज्यता दिखाई। फिर कैसा है? भुवन कहिये लोकरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्यसमान है। इस विशेषण से भगवान्के गर्भ जन्मकल्याणकमें अनेक अतिशय चमत्कार हुए, उनसे लोकमें प्रचुर आनंद प्रवर्त्ता ऐसा जनाया है। फिर कैसा है प्रभु? धर्मरूपी अमृत वर्षानेको मेघके समान है। इस विशेषणसे केवलज्ञानप्राप्तिके पश्चात् दिव्यध्वनिसे अभ्युदय निःश्रेयसका मार्ग धर्म प्रवर्त्ताना प्रगट किया है। फिर कैसा है प्रभु? योगीश्वरोंको मनोवांछित फल देनेके लिये कल्पवृक्षके समान है। इस विशेषणसे योगीश्वरोंको मोक्षमार्गके साधनेवाले ध्यानकी वांछा होती है, सो उनको यथार्थ ध्यानका मार्ग बतानेवाला है, अर्थात् जो ध्यान हम करते हैं, वही ध्यान तुम करो, इस प्रकार परंपरासे ध्यानका मार्ग जानकर योगीश्वरगण अपनी वांछाको पूर्ण करते हैं, ऐसा आशय जनाया है॥२॥

आगे आचार्य अपने नामके निमित्तसे स्मरणमें आये हुए अष्टम तीर्थंकर श्रीचन्द्रप्रभदेवको प्रार्थना रूप वचन कहते हैं—

भवज्वलनसंभ्रान्तसत्त्वशांतिसुधार्णवः ।
देवश्चन्द्रप्रभः पुष्यात् ज्ञानरत्नाकरश्रियम् ॥३॥

अर्थ— आचार्य कहते हैं कि, चन्द्रप्रभदेव हैं सो ज्ञानरूप समुद्रकी लक्ष्मीको पुष्ट करो। कैसे हैं चन्द्रप्रभदेव? संसाररूप अग्निमें भ्रमते हुए जीवोंको अमृतके समुद्रके समान हैं।

भावार्थ—यहां रूपकालंकारकी अपेक्षासे कहा है कि, चन्द्रप्रभदेव चन्द्रमास्वरूप हैं। जैसे चन्द्रमा समुद्रको बढानेका कारण होता है, भगवान् भी ज्ञानरूपी समुद्रको बढानेके लिए एक कारण हैं। अतः इसी कारण यह प्रार्थना की है। तथा इस ग्रंथका नाम **'ज्ञानार्णव'** रक्खा है, सो इसकी पुष्टताके लिए भी प्रार्थना की है। और जगतके प्राणी संसारतापसे तप्तायमान हो रहे हैं, उनके लिये चन्द्रप्रभ भगवान् चन्द्रमाके समान हैं। तथा ज्ञानरूपी अमृतकी वर्षा करके तापको मिटानेवाले हैं॥३॥

आगे विघ्नको नष्ट करके शांति करनेमें सोलहवें तीर्थंकर श्रीशान्तिनाथ भगवान् कारण है, इस कारण उनको नमस्कार करते है--

सत्संयमपयःपूरपवित्रितजगत्त्रयम् ।
शान्तिनाथं नमस्यामि विश्वविघ्नौघशान्तये ॥४॥

अर्थ— आचार्य कहते हैं कि, मैं समस्त विघ्नोंके समूहकी शान्तिके लिये श्रीशान्तिनाथ तीर्थंकर भगवान्को नमस्कार करता हूं। कैसे हैं प्रभु? सम्यक्चारित्ररूप जलके प्रवाहसे पवित्र किया है जगतका त्रय जिनने—ऐसे हैं।

भावार्थ-शान्ति कार्योंमें शान्तिनाथ तीर्थंकरको प्रधान मानते हैं, इस कारण शास्त्रकी आदिमें विघ्न-निवारणार्थ उनको नमस्कार करना युक्त है। तथा चक्रवर्तिपदको त्यागकर संयम ग्रहण किया, इस कारण अन्य जनोंके संयमकी रुचि उत्पन्न करके उन्हें पवित्र किया, इस हेतुसे भी यह विशेषण युक्त है॥४॥

आगे अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान भट्टारकको प्रार्थनारूप वचन कहते हैं-

श्रियं सकलकल्याणकुमुदाकरचन्द्रमाः ।
देवः श्रीवर्द्धमानाख्यः क्रियाद्भव्याभिनन्दिताम् ॥५॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि, श्रीवर्द्धमान नामा अन्तिम तीर्थंकर देव हैं, सो भव्य पुरुषोंकर प्रशंसित और इच्छित लक्ष्मीको करो। कैसे हैं प्रभु? समस्त प्रकारके कल्याणरूपी चन्द्रवंशी कमलोंके समूहको प्रफुल्लित करनेके लिये चन्द्रमाके समान हैं। **भावार्थ**-भगवान् समस्त कल्याणोंसे परिपूर्ण हैं, समस्त विघ्नोंको विनाश करनेवाले है। और इस कालमें जिनके वचन मोक्षमार्गके उपदेशरूप प्रवर्तें हैं, ऐसे भगवान्से वांछित लक्ष्मीको प्रार्थना करना युक्त है॥५॥

आगे ध्यानकी सिद्धिके अर्थ श्रीगौतमगणधरको नमस्कार करते हैं—

श्रुतस्कन्धनभश्चन्द्रं संयमश्रीविशेषकम् ।
इन्द्रभूतिं नमस्यामि योगीन्द्रं ध्यानसिद्धये ॥६॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि, योगियोंमें इन्द्रके समान इन्द्रभूति कहिये श्रीगौतम नामक गणधर भगवान्को ध्यानकी सिद्धिके अर्थ नमस्कार करता हूं। कैसे हैं इन्द्रभूति ? श्रुतस्कन्ध कहिये द्वादशांगरूप शास्त्र, सो ही हुआ आकाश, उसमें प्रकाश करनेके अर्थ चन्द्रमाके समान हैं ? फिर कैसे हैं ? संयमरूपी लक्ष्मीको विशेष करनेवाले हैं।

भावार्थ-श्रीगौतमगणधरने श्रीवर्द्धमानस्वामीकी दिव्यध्वनि सुनकर द्वादशांगरूप शास्त्रकी रचना की, आप संयम पाल, ध्यान कर और केवल लक्ष्मीको प्राप्त करके मोक्षको पधारे। पश्चात् उनसे ध्यानका मार्ग प्रवर्त्ता। इस कारण उनको इस ध्यानके (योगके) ग्रंथकी आदिमें नमस्कार करना युक्त समझके नमस्कार किया है ॥६॥

आगे सर्वज्ञके स्याद्वादरूप शासनको आशीर्वादरूप वचन कहते हैं—

प्रशान्तमतिगम्भीरं विश्वविद्याकुलगृहम् ।
भव्यैकशरणं जीयाच्छ्रीमत्सर्वज्ञशासनम् ॥७॥

अर्थ—श्रीमत् कहिये निबाध लक्ष्मीसहित जो सर्वज्ञका शासन (आज्ञामत) है, सो जयवन्त प्रवर्त्तो। कैसा है सर्वज्ञका शासन ? व्याकरण, न्याय, छन्द अलंकार, साहित्य, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, निमित्त और मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति आदि विद्याओंके वसनेका कुलगृह है; तथा भव्य जीवोंको एक मात्र अद्वितीय शरण है। प्रशान्त है, तथा समस्त आकुलता और क्षोभका मिटानेवाला है, अतएव अति गंभीर है, मन्दबुद्धि प्राणी इसका थाह नहीं पा सकते।

भावार्थ—सर्वज्ञका मत समस्त जीवोंका हित करनेवाला है, सो जयवन्त प्रवर्त्तो ऐसा आचार्य महाराजने अनुराग सहित आशीर्वाद दिया है ॥७॥

आगे सत्पुरुषोंकी वाणी जीवोंके उपकारार्थ ही प्रवर्तती है, ऐसा कहते हैं—

प्रबोधाय विवेकाय हिताय प्रशमाय च ।
सम्यक्तत्त्वोपदेशाय सतां सूक्तिः प्रवर्त्तते ॥८॥

अर्थ—सत्पुरुषोंकी उत्तम वाणी जो है, सो जीवोंके प्रकृष्टज्ञान, विवेक, हित, प्रशमता और सम्यक् प्रकारसे तत्त्वके उपदेश देनेके अर्थ प्रवर्त्तती है।

भावार्थ—यहां प्रकृष्टज्ञानका अभिप्राय पदार्थोंका विशेषरूप ज्ञान होना है, और विवेक कहनेसे आपापरके भेद जाननेका अभिप्राय लेना चाहिये, क्योंकि पदार्थोंके ज्ञान विना आपापरका भेद ज्ञान कैसे हो ? एवं पदार्थोंका ज्ञान आपापरके ज्ञान विना निष्फल है। तथा हितशब्दका अभिप्राय सुखका कारण समझना, क्योंकि भेदविज्ञान भी हो, उसमें सुख नहीं उपजै तो भेदज्ञान कैसा ? तथा प्रशम कहनेका अभिप्राय कषायोंका मंद होना है, सो जिस वाणीसे कषाय मंद (उपशम भावरूप)न हो, वह वाणी दुःखकी कारण होती है, उसे ग्रहण करना योग्य नहीं है। तथा सम्यक्तत्त्वोपदेशका अर्थ यथार्थ तत्त्वार्थके उपदेशका जानना है। जिसमें मिथ्या तत्त्वार्थका उपदेश हो, वह वाणी सत्पुरुषोंकी नहीं है। इस प्रकार पांच प्रयोजनोंकी सिद्धिके अर्थ सत्पुरुषोंकी वाणी होती है। यहां यह आशय भी ज्ञात होता है कि, हम जो यह शास्त्र रचते हैं सो सर्वज्ञकी परंपरासे जो उपदेश चला आता है, वह ही

समस्त जीवोंका हित करनेवाला है, उसीके अनुसार हम भी कहते हैं। सो इसमें भी उक्त पांच प्रयोजनों-का विचार लेना, और जो इन पांच प्रयोजनोंके अतिरिक्त वचन हों सो सत्पुरुषोंके वचन न जानने ॥८॥

आगे इसी अभिप्रायको अन्य प्रकारसे कहते हैं—

तच्छ्रुतं तच्च विज्ञानं तद्ध्यानं तत्परं तपः ।
अयमात्मा यदासाद्य स्वस्वरूपे लयं व्रजेत् ॥९॥

अर्थ—वही शास्त्रका सुनना है, वही चतुराईरूप भेद विज्ञान है। वही ध्यान वा तप है, जिसको प्राप्त होकर यह आत्मा अपने स्वरूपमें लवलीन होता है।

भावार्थ—आत्माका परमार्थ (हित) अपने स्वरूपमें लीन होना है, सो जो शास्त्र पढ़ना, सुनना, भेदज्ञान करना, ध्यान करना, महान् तप करना तथा स्वरूपमें लीन होनेका कारण होता है, वही तो सफल है, अन्य सब निष्फल खेद मात्र है ॥९॥

आगे कहते हैं कि, संसारको निःसार जानकर बुद्धिमान इसमें लीन नहीं होता और अपने हितको नहीं भूलता—

दुरन्तदुरिताक्रान्तं निःसारमतिवञ्चकम् ।
जन्म विज्ञाय कः स्वार्थे मुह्यत्यङ्गी सचेतनः ॥१०॥

अर्थ—जन्म अर्थात् संसारके स्वरूपको जानकर ज्ञानसहित प्राणी ऐसा कौन है, जो अपने हितरूप प्रयोजनमें मोहको प्राप्त हो ? अर्थात् कोई नहीं। कैसा है जन्म ? दुःखकर है अन्त जिसका ऐसा, तथा दुरितसे (पापसे) व्याप्त है, ठग है, क्योंकि ठगके समान किंचित्सुखका लालच बताकर सर्वस्व हर लेता है, और निगोदका वास कराता है। इस प्रकार संसारका स्वरूप जान ज्ञानी पुरुषको अपना हित भूलना उचित नहीं है, ऐसी उपदेशकी सूचना दी गई है ॥१०॥

आगे आचार्य ग्रन्थ रचनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

अविद्याप्रसरोद्भूतग्रहनिग्रहकोविदम् ।
ज्ञानार्णवमिमं वक्ष्ये सतामानन्दमन्दिरम् ॥११॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं, कि मैं इस **ज्ञानार्णव** नामके ग्रंथको कहूंगा। कैसा होगा यह ग्रन्थ ? अविद्याके प्रसारसे (फैलावसे) उत्पन्न हुए आग्रह (हठ) तथा पिशाचको निग्रह करनेमें प्रवीण, तथा सत्पुरुषोंके लिये आनंदका मंदिर।

भावार्थ—यहां अविद्या शब्दसे मिथ्यात्वकर्मके उदयसे अज्ञानका ग्रहण करना चाहिये। उस अज्ञानका प्रसार अनादिकालसे जीवोंके हृदयमें व्याप्त होनेके कारण उत्पन्न हुआ जो एकान्तरूप हठ उसको यह **ज्ञानार्णव** नामक शास्त्र तथा इसका ज्ञान निराकरण करनेवाला है। और यही सत्पुरुषोंको आनन्दित करनेवाला है, क्योंकि सर्वथा एकान्त पक्ष है, सो वस्तुका स्वरूप नहीं है, और अवस्तुमें ध्याता ध्यान ध्येय फल काहेका ? शास्त्रोंमें मिथ्यात्व दो प्रकारका कहा गया है, एक अगृहीत दूसरा गृहीत। इनमेंसे अगृहीत मिथ्यात्व तो जीवोंके बिना उपदेश ही अनादिकालसे विष-

मान है, सो इसमें एकान्तपक्ष संसार देह भोगोंको ही अपना हित समझ लेना है। इस प्रकार समझ लेनेसे जीवोंके आर्त रौद्रध्यान स्वयमेव प्रवर्त्तते हैं। और गृहीत मिथ्यात्व है सो उपदेशजन्य है, उसके कारण यह जीव वस्तुका स्वरूप सर्वथा सत् अथवा असत्, सर्वथा नित्य तथा अनित्य तथा सर्वथा एक तथा अनेक, सर्वथा शुद्ध तथा अशुद्ध इत्यादि भिन्न धर्मियोंका कहा हुआ सुनकर उसी पक्षको दृढ़कर उसीको मोक्षमार्ग समझ लेता है, वा श्रद्धान कर लेता है, सो उस श्रद्धानसे कुछ भी कल्याणकी सिद्धि नहीं है। इस कारण उस एकांत हठका निराकरण जब स्याद्वादकी कथनी सुने, तब ही सर्वथा नष्ट हो। वस्तुका यथार्थ स्वरूप जाने. और श्रद्धान करे, तब ही ध्याता ध्यान ध्येय फलकी संभवता वा असंभवताका निश्चय हो। इसी अभिप्रायसे आचार्य महाराजने यह ज्ञानावर्ण शास्त्र रचा है इसीसे समस्त संभवासंभव जाना जायगा, ऐसा आशय व्यक्त होता है ॥११॥

आगे ज्ञानार्णवकी महिमा तथा आचार्य अपनी लघुता प्रगट करते हैं—

अपि तीर्येत बाहुभ्यामपारो मकरालयः ।
न पुनः शक्यते वक्तुं मद्विधैर्योगिरञ्जकम् ॥१२॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, मकरालय कहिये समुद्र अपार है, तौ भी अनेक समर्थ पुरुष उसे भुजाओंसे तैर सकते हैं, परन्तु यह ज्ञानार्णव योगियोंको रंजायमान करनेवाला अथाह है, सो हम जैसोंसे नहीं तैरा जा सकता।

भावार्थ—यह ज्ञानार्णव अपार है अतः हम जैसे इसका पार कैसे पावें ? ॥१२॥

आगे इसी अर्थको सूचित करनेको फिर भी कहते हैं—

महामतिभिर्निःशेषसिद्धान्तपथपारगैः ।
क्रियते यत्र दिग्मोहस्तत्र कोऽन्यः प्रसर्पति ॥१३॥

अर्थ—जहां बड़ी बुद्धिवाले समस्त सिद्धान्त मार्गके पार करनेवाले भी दिशा भूल जाते हैं, वहां अन्य जन किस प्रकार पार पा सकते हैं ? **भावार्थ**-यह ज्ञानार्णव अथाह है इसमें बड़े बड़े बुद्धिमान भी चकरा जाते हैं, फिर अन्यका तो कहना ही क्या ? ॥१३॥

आगे पूर्वके महाकवियोंकी महिमा और अपनी लघुता दिखाते हैं,—

वंशस्थम् ।

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः ।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ॥१४॥

अर्थ—जहां समन्तभद्रादिक कवीन्द्ररूपी सूर्योंकी निर्मल उत्तम वचनरूप किरणें फैलती हैं, वहां ज्ञानलवसे उद्धत पटबीजके (जुगनूके) समान मनुष्य क्या हास्यताको प्राप्त नहीं होंगे ? अवश्य ही होंगे।

भावार्थ-सूर्यके सामने खद्योत कीटका प्रकाश क्या प्रकाश कर सकता है ? ॥१४॥

अनुष्टुप्

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवम् ।
कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥१५॥

अर्थ—जिनके वचन जीवोंके काय वचन मनसे उत्पन्न होनेवाले मलोंको नष्ट करते हैं, ऐसे देवनन्दीनामक मुनीश्वरको (पूज्यपादस्वामीको) हम नमस्कार करते हैं ॥१५॥

जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिताः ।
योगिभिर्यत्समासाद्य स्खलितं नात्मनिश्चये ॥१६॥

अर्थ—जिनसेन आचार्यमहाराजके वचन है, सो जयवन्त हैं। क्योंकि योगीश्वर उनके वचनोंको प्राप्त होकर आत्माके निश्चयमें स्खलित नहीं होते, अर्थात् यथार्थ निश्चय कर लेते हैं। तथा उनके वचन न्याय व्याकरण और सिद्धान्त इन तीन विद्याओंके ज्ञातापुरुषोंके द्वारा वन्दनीय हैं ॥१६॥

श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती ।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥१७॥

अर्थ—श्रीमत् कहिये शोभायमान निर्दोष भट्टाकलंक नामा आचार्यकी पवित्र वाणी है, सो हमको पवित्र करो और हमारी रक्षा करो। कैसी है वाणी ? अनेकान्त स्याद्वादरूपी आकाशमें चन्द्रमाकी रेखासमान आचरण करती है।

भावार्थ—भट्टाकलंक नामक आचार्य स्याद्वाद विद्याके अधिकारी हुए, उनकी वाणीरूपी चन्द्रमाकी किरणें स्याद्वादरूपी आकाशमें प्रकाश करती हैं ॥१७॥

आगे आचार्य महाराज अपनी कृतिका प्रयोजन प्रगट करते हैं—

भवप्रभवदुर्वारक्लेशसन्तापपीडितम् ।
योजयाम्यहमात्मानं पथि योगीन्द्रसेविते ॥१८।

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, इस ग्रंथके रचनेसे संसारमें जन्म ग्रहण करनेसे उत्पन्न हुए दुर्निवार क्लेशोंके संतापसे पीडित मैं अपने आत्माको योगीश्वरोंसे सेवित ज्ञान ध्यानरूपी मार्गमें जोड़ता हूँ।

भावार्थ—यह अपना प्रयोजन संसारके दुःख दूर करनेका ही जनाया है ॥१८॥

न कवित्वाभिमानेन न कीर्तिप्रसरेच्छया ।
कृतिः किन्तु मदीयेयं स्वबोधायैव केवलम् ॥१९॥

अर्थ—यहां ग्रन्थरूपी मेरी कृति (कार्य) है, सो केवल मात्र अपने ज्ञानकी वृद्धिके लिए है। कविताके अभिमानसे तथा जगतमें कीर्ति होनेके अभिप्रायसे नहीं की जाती है।

भावार्थ—यहाँ आचार्य महाराजने ग्रन्थ रचनेमें लौकिक प्रयोजन साधनेका निषेध किया है ॥१९॥

आगे सत्पुरुषोंके शास्त्र रचनेका विचार किस प्रकार होता है सो दिखाते हैं—

अयं जागर्ति मोक्षाय वेत्ति विद्यां भ्रमं त्यजेत् ।
आदत्ते समसाम्राज्यं स्वतत्त्वाभिमुखीकृतः ॥२०॥

न हि केनाप्युपायेन जन्मजातङ्कसंभवा ।
विषयेषु महातृष्णा पश्य पुंसां प्रशाम्यति ॥ २१ ॥
तस्याः प्रशान्तये पूज्यैः प्रतीकारः प्रदर्शितः ।
जगज्जन्तूपकाराय तस्मिन्नस्यावधीरणा ॥ २२ ॥
अनुद्विग्नैस्तथाप्यस्य स्वरूपं बन्धमोक्षयोः ।
कीर्त्यते येन निर्वेदपदवीमधिरोहति ॥ २३ ॥
निरूप्य सच्च कोऽप्युच्चैरुपदेशोऽस्य दीयते ।
येनादत्ते परां शुद्धिं तथा त्यजति दुर्मतिम् ॥ २४ ॥

अर्थ— सत्पुरुष ऐसा विचारते हैं कि, यह प्राणी अपना निजस्वरूप तत्त्वके सन्मुख करनेसे मोक्षके अर्थ जागता है। मोह निद्राको छोड़ कर सम्यग्ज्ञानको जानता है। तथा भ्रम कहिए-अनादि अविद्याको छोड़कर उपशमभावरूपी (मन्दकषायरूपी) साम्राज्यको ग्रहण करता है ॥ २० ॥ और देखो कि, पुरुषोंकी विषयोंमें महातृष्णा है। वह तृष्णा कैसी है ? जन्मसे (संसारसे) उत्पन्न हुए आतंक (दाहरोग) से वह उपजी है, सो किसी भी उपायसे नष्ट नहीं होती ॥ २१ ॥ उस तृष्णाको प्रशान्तिके अर्थ पूज्य पुरुषोंने प्रतीकार (उपाय) दिखाया है, और वह जगतके जीवोंके उपकारार्थ ही दिखाया है। किन्तु यह जीव उस प्रतीकारकी अवज्ञा (अनादर) करता है ॥ २२ ॥ तथापि उद्वेगरहित पूज्य पुरुषोंके द्वारा इस प्राणीके हितार्थ बन्धमोक्षका स्वरूप वर्णन किया जाता है, जिससे यह प्राणी वैराग्य पदवीको प्राप्त हो ॥ २३ ॥ इस कारण कोई अतिशय समीचीन उपदेश विचार करके इस प्राणीको देना चाहिये, जिससे यह प्राणी उत्कृष्ट शुद्धताको ग्रहण करे और दुर्बुद्धिको छोड़ दे। **भावार्थ**— सत्पुरुष इस प्रकार विचार कर जीवोंके संसार सम्बन्धी दुःख दूर करनेके लिये ऐसा उपदेश देते हैं, वा शास्त्रोंकी रचना करते हैं ॥ २४ ॥

आगे ग्रंथकर्त्ता आचार्य महाराज कहते हैं कि, हमको भी यही विचार हुआ है—

अहो सति जगत्पूज्ये लोकद्वयविशुद्धिदे ।
ज्ञानशास्त्रे सुधीः कः स्वमसच्छास्त्रैर्विडम्बयेत् ॥ २५ ॥

अर्थ—अहो ! जगत्पूज्य और लोकपरलोकमें विशुद्धिके देनेवाले समीचीन ज्ञानशास्त्रोंके होते हुए भी ऐसा कौन सुबुद्धि है, जो मिथ्याशास्त्रोंके द्वारा अपने आत्माको विडंबनारूप करे ॥ २५ ॥

आगे मिथ्याशास्त्रोंके रचनेवालों पर आक्षेप तथा उनके बनाये शास्त्रोंका निषेध करते हैं—

असच्छास्त्रप्रणेतारः प्रज्ञालवमदोद्धताः ।
सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे कवयः स्वान्यवञ्चकाः ॥ २६ ॥
स्वतत्त्वविमुखैर्मूढैः कीर्तिमात्रानुरञ्जितैः ।
कुशास्त्रछद्मना लोको वराको व्याकुलीकृतः ॥ २७ ॥

अर्थ– इस पृथ्वीतलमें बुद्धिके अंशमात्रसे मदोन्मत्त हो कर असत् शास्त्रोंके रचनेवाले अनेक कवि हैं। वे केवल अपनी आत्मा तथा अन्य भोले जीवोंको ठगनेवाले ही हैं ॥ २६ ॥ तथा आत्मतत्त्वसे विमुख, अपनी कीर्तिसे प्रसन्न होनेवाले मूढ़ हैं। और इन्हीं मूढ़ोंने इस अज्ञानी जगत्को अपने बनाये हुए मिथ्याशास्त्रोंके बहानेसे व्याकुलित कर दिया है ॥ २७ ॥

अधीतैर्वा श्रुतैर्ज्ञातैः कुशास्त्रैः किं प्रयोजनम् ।
यैर्मनः क्षिप्यते क्षिप्रं दुरन्ते मोहसागरे ॥ २८ ॥

अर्थ— उन शास्त्रोंके पढ़ने, सुनने व जाननेसे क्या प्रयोजन (लाभ) है, जिनसे जीवोंका चित्त (मन) दुरन्तर तथा दुर्निवार मोह समुद्रमें पड़ जाता है ॥ २८ ॥

क्षणं कर्णामृतं सूते कार्यशून्यं सतामपि ।
कुशास्त्रं तनुते पश्चादविद्यागरविक्रियाम् ॥ २९ ॥

अर्थ—कुशास्त्र यद्यपि सुननेमें क्षणभरके लिए अमृतकी-सी वर्षा करता है, परन्तु कालान्तरमें वह सत्पुरुषोंके कार्यसे रहित अविद्यारूपी विषके विकारको बढ़ाता है, अर्थात् विषयोंकी तृष्णाको बढ़ाता है ॥ २९ ॥

अज्ञानजनितश्चित्रं न विद्मः कोऽप्ययं ग्रहः ।
उपदेशशतेनापि यः पुंसामपसर्प्पति ॥ ३० ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, यह बडा आश्चर्य है, जो जीवोंका अज्ञानसे उत्पन्न हुआ यह आग्रह (हठ) सैकड़ों उपदेश देने पर भी दूर नहीं होता। हम नहीं जानते कि, इसमें क्या भेद है। भावार्थ--एक वार मिथ्याशास्त्रकी युक्ति भोले जीवोके मनमें ऐसी प्रवेश हो जाती है कि, फिर सैकड़ों उत्तमोत्तम युक्तियें सुने, तो भी वे चित्तमें प्रवेश नहीं करती हैं। अर्थात् ऐसा ही कोई संस्कारका निमित्त है कि, वह मिथ्या आग्रह कभी दूर नहीं होता ॥ ३० ॥

आगे कहते हैं कि, सत्पुरुषोंको शास्त्रोंके भले-बुरे गुणोंका विचार करना चाहिये—

सम्यग्निरूप्य सद्वृत्तैर्विद्वद्भिर्वीतमत्सरैः ।
अत्र मृग्या गुणा दोषाः समाधाय मनः क्षणम् ॥ ३१ ॥

अर्थ— ऐसे सदाचारी पुरुष जिन्हें मत्सर कहिये द्वेष नहीं है, उन्हें उचित है कि इस शास्त्र तथा प्रवृत्तिमें मनको समाधान करके गुणदोषको भले प्रकार विचारें ॥ ३१ ॥

स्वसिद्ध्यर्थं प्रवृत्तानां सतामपि च दुर्धियः ।
द्वेषबुद्ध्या प्रवर्त्तन्ते केचिज्जगति जन्तवः ॥ ३२ ॥

अर्थ—इस जगतमें अनेक दुर्बुद्धि ऐसे हैं, जो अपनी सिद्धिके अर्थ प्रवृत्त हुए सत्पुरुषों पर द्वेषबुद्धिका व्यवहार करते हैं। भावार्थ—दुष्ट जीव सत्पुरुषोंसे द्वेष रखते हैं ॥ ३२ ॥

सत्पुरुष परीक्षा कर निर्णय करते हैं---

साक्षाद्वस्तुविचारेषु निकषग्रावसन्निभाः ।
विभजन्ति गुणान्दोषान्धन्याः स्वच्छेन चेतसा ॥ ३३ ॥

अर्थ--वे धन्य पुरुष हैं जो अपने निष्पक्ष चित्तसे वस्तुके विचारमें कसोटीके समान हैं और गुणदोषोंको भिन्न भिन्न जान लेते है ॥ ३३ ॥

आगे कहते हैं, कि जीवोंके गुणदोष स्वभावसे ही होते हैं—

प्रसादयति शीतांशुः पीडयत्यंशुमाञ्जगत् ।
निसर्गजनिता मन्ये गुणदोषाः शरीरिणाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा कहते हैं कि, देखो चन्द्रमा जगतको प्रसन्न करता है और तापको नष्ट करता है ! एवं सूर्य पीडित करता है, अर्थात् तापको उत्पन्न करता है । इसी प्रकार जीवोंके गुणदोष स्वभावसे ही हुआ करते हैं । ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ३४ ॥

फिर भी कहते हैं -

दूषयन्ति दुराचारा निर्दोषामपि भारतीम् ।
विधुबिम्बश्रियं कोकाः सुधारसमयीमिव ॥ ३५ ॥

अर्थ--जो दुष्ट पुरुष हैं वे निर्दोष वाणीको भी दूषण लगाते हैं । जैसे सुधारसमयी चन्द्रमाके बिम्बको शोभाको चक्रवाक दूषण देते हैं कि, चन्द्रमा हो चकवीसे हमारा बिछोह (वियोग) करा देता है ॥ ३५ ॥

आगे आत्माकी शुद्धिका उपाय बतलाते हैं —

अयमात्मा महामोहकलङ्की येन शुद्धयति ।
तदेव स्वहितं धाम तच्च ज्योतिः परं मतम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—यह आत्मा महामोहसे (मिथ्यात्व कषायसे) कलंकी और मलीन है, अतः जिससे यह शुद्ध हो, वही अपना हित है, वही अपना घर है और वही परम ज्योति वा प्रकाश है । **भावार्थ**—मलिनता नष्ट होनेसे उज्ज्वलता होती है । यह आत्मा निश्चयसे तो अनंतज्ञानादि प्रकाशस्वरूप है, परन्तु मिथ्यात्वकषायादिसे मलिन हो रहा है । इस कारणसे जब मिथ्यात्वकषायरूपी मैल नष्ट हो, तब निज स्वरूपका प्रकाश हो सकता है । मिथ्यात्वकषायादिकके नष्ट करनेका उपाय जिनागममें कहा है वही जानना ॥ ३६ ॥

विलोक्य भुवनं भीमयमभोगीन्द्रशङ्कितम् ।
अविद्याव्रजमुत्सृज्य धन्या ध्याने लयं गताः ॥ ३७ ॥

अर्थ—इस जगतको भयानक कालरूपी सर्पसे शङ्कित देखकर अविद्याव्रज अर्थात् मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरणके समूहको छोड निजस्वरूपके ध्यानमें लवलीन हो जाते हैं, वे धन्य कहिये महाभाग्यवान् पुरुष हैं ॥ ३७॥

इसी बातको पुनः कहते हैं—

हृषीकराक्षसाक्रान्तं स्मरशार्दूलचर्वितम् ।
दुःखार्णवगतं विश्वं विवेच्य विरतं बुधैः ॥ ३८ ॥

अर्थ—जो बुद्धिमान् हैं, उन्होंने इस जगतको इन्द्रियरूपी राक्षसोंसे व्याप्त तथा कामरूपी सिंहसे चर्वित और दुःखरूपी समुद्रमें डूबा हुआ समझ कर छोड दिया। भावार्थ-जिस जगह राक्षस विचरें, सिंह व्याघ्र भक्षण कर जावें और जहां दुःख ही दुःख दिखाई पडे, उस जगह विवेकी जन किस लिये वसें ? ॥ ३८ ॥

जन्मजातङ्कदुर्वारमहाव्यसनपीडितम् ।
जन्तुजातमिदं वीक्ष्य योगिनः प्रशमं गताः ॥ ३९ ॥

अर्थ—संसारसे उत्पन्न दुर्निवार आतंक (दाहरोग) रूपी महाकष्टसे पीडित इस जीवसमूहको देख कर ही योगीजन शान्तभावको प्राप्त हो गये। भावार्थ—संसारमें जीवोंको प्रत्यक्ष दुःखी देख कर ज्ञानी जन क्यों मोहित हो ? ॥ ३९ ॥

भवभ्रमणविभ्रान्ते मोहनिद्रास्तचेतने ।
एक एव जगत्यस्मिन् योगी जागर्त्यहर्निशम् ॥ ४० ॥

अर्थ—संसार-भ्रमणसे विभ्रान्त और मोहरूपी निद्रासे जिसकी चेतना नष्ट हो गई है, ऐसे इस जगतमें मुनिगण ही निरंतर जागते हैं। भावार्थ—जैसे निरन्तर भ्रमण करनेसे शरीर खेदखिन्न हो जाता है, तो उसके निमित्तसे प्रगाढ निद्रा आती है और तब यह जीव अपनेको भूल जाता है। ऐसा समझ कर ज्ञानीजन निरन्तर सावधान ही रहते हैं ॥ ४० ॥

रजस्तमोभिरुद्भूत कषायविषमूर्च्छितम् ।
विलोक्य सत्त्वसन्तानं सन्तः शान्तिमुपाश्रिताः ॥ ४१ ॥

अर्थ—जो सत्पुरुष हैं, वे रज कहिये ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म और तम कहिये मिथ्याज्ञानसे अथवा रजोगुण तमोगुणसे कम्पायमान तथा कषायरूपी विषसे मूर्छित इस सत्त्वसन्तान कहिये जगतको देख कर शान्तभावको ग्रहण करते हैं ॥ ४१ ॥

पुनः कहते हैं—

मुक्तिस्त्रीवक्त्रशीतांशुं द्रष्टुमुत्कण्ठिताशयैः ।
मुनिभिर्मथ्यते साक्षाद्विज्ञानमकरालयः ॥ ४२ ॥

अर्थ—मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखरूपी चन्द्रमाके देखनेको उत्सुक हुए मुनिजन साक्षात् विज्ञानरूपी समुद्रका मंथन करते हैं। भावार्थ—लोकमें ऐसी प्रसिद्धि है कि, नारायणने समुद्रको मथ कर चन्द्रमाको निकाला है। सो यहां अलंकारिक रीतिसे कहा है कि, मुनिजन मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखरूपी चन्द्रमाका देखनेकी अभिलाषासे ज्ञानरूपी समुद्रका मथन करते हैं। क्योंकि ज्ञानके ध्यानसे मोक्षकी प्राप्ति

होती है ॥ ४२ ॥

उपर्युपरिसंभूतदुःखवह्निक्षतं जगत् ।
वीक्ष्य सन्तः परिप्राप्ताः ज्ञानवारिनिधेस्तटम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—बारंबार उत्पन्न हुई दुःखाग्निसे क्षय होते जगतको देखकर सन्तपुरुष ज्ञानरूपी समुद्रके तटपर प्राप्त हुए हैं। भावार्थ—संसारकी दुःखरूपी अग्निके बुझानेको ज्ञान ही कारण है ॥ ४३ ॥

अनादिकालसंलग्ना दुस्त्यजा कर्मकालिका ।
सद्यः प्रक्षीयते येन विधेयं तद्धि धीमताम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—अनादि कालसे लगी हुई कर्मरूपी कालिमा बडे कष्टसे तजने योग्य है। इस कारण यह कालिमा जिससे शीघ्र ही नष्ट हो जाय, वही उपाय बुद्धिमानोंको करना चाहिये। अन्य उपाय करना व्यर्थ है ॥ ४४ ॥

मोक्षकथनः

निष्कलङ्कं निराबाधं सानन्दं स्वस्वभावजम् ।
वदन्ति योगिनो मोक्षं विपक्षं जन्मसन्ततेः ॥ ४५ ॥

अर्थ—प्राणीका हित मोक्ष (कर्मोंसे छूटना) है। सो कैसा है ? समस्त प्रकारकी कालिमासे रहित निःकलंक है, बाधा (पीड़ा) रहित है, आनंद सहित है, जिसमें किसी भी प्रकारका दुःख नहीं है। तथा अपने स्वभावसे उत्पन्न है, क्योंकि जो परका उपजाया हो, उसको नष्ट भी कर सकता है, परन्तु जो स्वभावसे उत्पन्न हो, उसका कभी नाश नहीं होता। और संसारका विपक्षी कहिये शत्रु है। योगीगण मोक्षका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं ॥ ४५ ॥

आगे मोक्षको हित जान उसका साधन करनेकी शिक्षा देते हैं—

जीवितव्ये सुनिःसारे नृजन्मन्यतिदुर्लभे ।
प्रमादपरिहारेण विज्ञेयं स्वहितं नृणाम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—मनुष्य जन्म अति दुर्लभ है। जीवितव्य है सो निःसार है। ऐसी अवस्थामें मनुष्यको आलस्य त्यागके अपने हितको जानना चाहिये। वह हित मोक्ष ही है ॥ ४६ ॥

विचारचतुरैर्धीरैरत्यक्षसुखलालसैः ।
अत्र प्रमादमुत्सृज्य विधेयः परमादरः ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो धीर और विचारशील पुरुष हैं, तथा अतीन्द्रिय सुख (मोक्षसुख) की लालसा रखते हैं, उनको प्रमाद छोड़ कर इस मोक्षमें ही परम आदर करना चाहिये ॥ ४७ ॥

न हि कालकलैकापि विवेकविकलाशयैः ।
अहो प्रज्ञाधनैर्नेया नृजन्मन्यतिदुर्लभे ॥ ४८ ॥

अर्थ—अहो भव्य जीवो ! यह मनुष्य जन्म बड़ा दुर्लभ है और इसका बारबार मिलना कठिन

है, इस कारण बुद्धिमानोंको चाहिये कि, विचारशून्य हृदय हो कर कालकी एक कलाको भी व्यर्थ नहीं जाने दें ॥ ४८ ॥

आगे उपदेशपूर्वक इस अधिकारको पूर्ण करते हैं—

शिखरिणी ।

भृशं दुःखज्वालानिचयनिचितं जन्मगहनम्
यदक्षाधीनं स्यात्सुखमिह तदन्तेतिविरसम् ।
अनित्या कामार्था क्षणरुचिचलं जीवितमिदं
विमृश्योच्चैः स्वार्थे क इह सुकृती मुह्यति जनः ॥ ४९ ॥

अर्थ—यह संसार बड़ा गहन वन ही है, क्योंकि दुःखरूपी अग्निकी ज्वालासे व्याप्त है। इस संसारमें इन्द्रियाधीन सुख है सो अन्तमें विरस है, दुःखका कारण है, तथा दुःखसे मिला हुआ है। और जो काम और अर्थ हैं सो अनित्य हैं, सदैव नहीं रहते। तथा जीवित है, सो विजुलीके समान चंचल है। इस प्रकार समीचीनतासे विचार करनेवाले जो अपने स्वार्थमें सुकृती–पुण्यवान्–सत्पुरुष हैं, वे कैसे मोहको प्राप्त होवें ? कदापि नहीं। **भावार्थ**—इस संसारमें समस्त वस्तु दुःखरूप निःसार जानकर बुद्धिमानोंको अपने हितरूप मोक्षका साधन सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रके धारणपूर्वक ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। यह श्रीगुरुका उपदेश है ॥ ४९ ॥

इति श्री ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः सर्गः ।

द्वादश भावना ।

दोहा ।

श्रीयुत वीरजिनेन्द्रको, वंदौं मनवचकाय।
भवपद्धतिभ्रम मेटिकैं, करै मोक्ष सुखदाय ॥ १ ॥

आगे–इस प्राणीको ध्यानके सन्मुख करनेके लिये संसारदेहभोगादिसे वैराग्य उत्पन्न कराना हैं, सो वैराग्योत्पत्तिके लिये एक मात्र कारण बारह भावना हैं; इस कारण इनका व्याख्यान इस अध्यायमें किया जायगा। सो प्रथम ही इनके भावनेको (वारंवार चिन्तवन करने को) प्रेरणा करते हैं —

शार्दूलविक्रीडितम् ।

सङ्गैः किं न विषाद्यते वपुरिदं किं छिद्यते नामयैः
मृत्युः किं न विजृम्भते प्रतिदिनं द्रुह्यन्ति किं नापदः ।
श्वभ्राः किं न भयानकाः स्वपनवद्भोगा न किं वञ्चकाः
येन स्वार्थमपास्य किन्नरपुरप्रख्ये भवे ते स्पृहा ॥ १ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! इस संसारमें संग कहिये धन-धान्य स्त्री-कुटुंबादिकके मिलापरूप जो परिग्रह हैं, वे क्या तुझे विषादरूप नहीं करते ? तथा यह शरीर है, सो क्या रोगोंके द्वारा छिन्न रूप वा पीडित नहीं किया जाता है ? तथा मृत्यु क्या तुझे प्रतिदिन ग्रसनेके लिए मुख नहीं फाड़ती है ? और आपदायें क्या तुझसे द्रोह नहीं करती हैं ? क्या तुझे नरक भयानक नहीं दिखते ? और ये भोग हैं सो क्या स्वप्नकी समान तुझे ठगनेवाले (धोखा देनेवाले) नहीं हैं ? जीससे कि तेरे इन्द्रजालसे रचे हुए किन्नरपुर के समान इस असार संसारमें इच्छा बनी हुई है ? **भावार्थ**—संसार देह भोगोंको उक्त प्रकारके जानकर भी जो जीव अपने प्रयोजनमें सावधान नहीं होते, उनका अज्ञानपना स्पष्ट है ॥१॥

इस जीवकी भूल कहते हैं—

श्लोकः ।

नासादयसि कल्याणं न त्वं तत्त्वं समीक्षसे ।
न वेत्सि जन्मवैचित्र्यं भ्रातर्भूतैर्विडम्बितः ॥ २ ॥

अर्थ—हे भाई ! तू भूत अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंसे विडम्बनारूप होकर अपने कल्याणमें नहीं लगता है और तत्त्वोंका (वस्तुस्वरूपका) विचार नहीं करता है, तथा संसारकी विचित्रताको नहीं जानता है; सो यह तेरी बडी भूल है ॥ २ ॥

असद्विद्याविनोदेन आत्मानं मूढ वञ्चय ।
कुरु कृत्यं न किं वेत्सि विश्ववृत्तं विनश्वरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी ! अनेक असत् कला चतुराई श्रृंगार शास्त्रादि असद्विद्याओंके कौतूहलोंसे अपनी आत्माको मत ठगो और तेरे करने योग्य जो कुछ हितकार्य हो उसे कर । क्योंकि जगतके ये समस्त प्रवर्तन विनाशाक हैं । क्या तू ये बातें नहीं जानता है ? ॥ ३ ॥

समत्वं भज भूतेषु निर्ममत्वं विचिन्तय ।
अपाकृत्य मनःशल्यं भावशुद्धिं समाश्रय ॥ ४ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू समस्त जीवोंको एकसा जान । ममत्वको छोड़ कर निर्ममत्वका चिंतवन कर । मनकी शल्यको दूर कर अर्थात् किसी प्रकारकी शल्य (क्लेश) अपने चित्तमें न रख कर अपने भावोंकी शुद्धताको अंगीकार कर ॥ ४ ॥

आगे बारह भावनाओंके अंगीकार करनेका उपदेश करते हैं—

चिनु चित्ते भृशं भव्य भावना भावशुद्धये ।
याः सिद्धान्तमहातन्त्रे देवदेवैः प्रतिष्ठिताः ॥ ५ ॥

अर्थ—हे भव्य ! तू अपने भावोंकी शुद्धिके अर्थ अपने चित्तमें बारह भावनाओंका चिंतवन कर, जिन्हें देवाधिदेव श्री तीर्थंकर भगवान्‌ने सिद्धान्तके प्रबन्धमें प्रतिष्ठित की हैं ॥ ५ ॥

वे भावनायें कैसी हैं, सो कहते हैं—

> ताश्च संवेगवैराग्ययमप्रशमसिद्धये ।
> आलानिता मनःस्तम्भे मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः ॥ ६ ॥

अर्थ—उन भावनाओंको मोक्षाभिलाषी मुनियोंने अपनेमें संवेग (धर्मानुराग) वैराग्य (संसारसे उदासीनता), यम (महाव्रतादि चारित्र) और प्रशमकी (कषायोंके अभावरूप शान्त भावोंकी) सिद्धिके लिये अपने चित्तरूपी स्तंभमें आलानित कहिये ठहराई वा बांधी हैं। **भावार्थ**—मुणिगण निरन्तर ही इनका चिन्तवन किया करते हैं ॥ ६ ॥

> अनित्याद्याः प्रशस्यन्ते द्वादशैता मुमुक्षुभिः ।
> या मुक्तिसौधसोपानराजयोऽत्यन्तवन्धुराः ॥ ७ ॥

अर्थ—वे भावना अनित्य आदि *द्वादश हैं। इनको मोक्षाभिलाषी मुनिगणोंने प्रशंसारूप कही हैं। क्योंकि ये सब भावनायें, मोक्षरूपी महलके चढ़नेकी अति उत्तम पैड़ियोंकी (सीढ़ियोंकी) पंक्ति समान हैं। ॥ ७ ॥

अथ अनित्यभावना।

आगे इन भावनाओंका भिन्न-भिन्न व्याख्यान करेंगे जिनमेंसे प्रथम ही अनित्यभावनाका वर्णन करते हैं—

> हृषीकार्थसमुत्पन्ने प्रतिक्षणविनश्वरे ।
> सुखे कृत्वा रतिं मूढ विनष्टं भुवनत्रयं ॥ ८ ॥

अर्थ—हे मूढ क्षणमें नाश होने वाले इन्द्रियजनित सुखमें प्रीति करके ये तीनों भुवन नाशको प्राप्त हो रहे हैं, सो तू क्यों नहीं देखता ? ॥ ८ ॥

> भवाब्धिप्रभवाः सर्वे सम्बन्धा विपदास्पदम् ।
> सम्भवन्ति मनुष्याणां तथान्ते सुष्ठुनीरसाः ॥ ९ ॥

अर्थ—इस संसाररूपी समुद्रमें भ्रमण करनेसे मनुष्योंके जितने संबन्ध होते हैं, वे सब ही आपदाओंके घर हैं। क्योंकि अन्तमें प्रायः सब ही संबन्ध नीरस (दुःखदायक) हो जाते हैं। यह प्राणी उनसे सुख मानता है, सो भ्रम मात्र है ॥ ९ ॥

> वपुर्विद्धि रुजाक्रान्तं जराक्रान्तं च यौवनम् ।
> ऐश्वर्यं च विनाशान्तं मरणान्तं च जीवितम् ॥ १० ॥

---

*अनित्य १, अशरण २. संसार ३, एकत्व ४, अन्यत्व ५, अशुचि, ६, आस्रव ७, संवर ८, निर्जरा ९ लोक १०, बोधिदुर्लभ ११, और धर्म १२, ये बारह हैं।

अर्थ—हे आत्मन्! शरीरको तू रोगोंसे घिरा हुआ समझ और यौवनको बुढ़ापेसे घिरा हुआ जान तथा ऐश्वर्य सम्पदाओंको विनाशीक और जीवनको मरणान्त जान। भावार्थ—ये सब पदार्थ प्रतिपक्ष सहित जानने ॥ १० ॥

ये दृष्टिपथमायाताः पदार्थाः पुण्यमूर्त्तयः ।
पूर्वाह्णे न च मध्याह्ने ते प्रयान्तीह देहिनाम् ॥ ११ ॥

अर्थ—इस संसारमें जिनके यहां पुण्यके मूर्त्तिस्वरूप उत्तमोत्तम पदार्थ प्रभातके समय दृष्टिगोचर होते थे, वे मध्याह्नकालमें देखनेमें नहीं आते, अर्थात् नष्ट हो जाते हैं। आत्मन्! तू विचारपूर्वक देख ॥ ११ ॥

यज्जन्मनि सुखं मूढ ! यच्च दुःखं पुरःस्थितम् ।
तयोर्दुःखमनन्तं स्यात्तुलायां कल्प्यमानयोः ॥ १२ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी! इस संसारमें तेरे सम्मुख जो कुछ सुख वा दुःख हैं, उन दोनोंको ज्ञानरूपी तुलामें (तराजूमें) चढ़ा कर तोलेगा, तो सुखसे दुःख ही अनन्तगुणा दीख पड़ेगा। क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है ॥ १२ ॥

आगे भोगोंका निषेध करते हैं—

भोगा भुजङ्गभोगाभाः सद्यः प्राणापहारिणः ।
सेव्यमानाः प्रजायन्ते संसारे त्रिदशैरपि ॥ १३ ॥

अर्थ—इस संसारमें भोग सर्पके फण समान हैं, क्योंकि इनको सेवन करते हुए देव भी शीघ्र प्राणान्त हो जाते हैं। भावार्थ—देव भी भोगोंके भोगनेसे मर कर एकेन्द्रिय हो जाते हैं, अतः मनुष्य तो नरकादिकमें अवश्य ही जावेंगे ॥ १३ ॥

आगे इस जीवकी अज्ञानता दिखाते हैं—

वस्तुजातमिदं मूढ प्रतिक्षणविनश्वरम् ।
जानन्नपि न जानासि ग्रहः कोऽयमनौषधः ॥ १४ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी! यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि. इस संसारमें जो वस्तुओंका समूह है सो पर्यायोंसे क्षण क्षणमें नाश होनेवाला है। इस बातको तू जान कर भी अजान हो रहा है, यह तेरा क्या आग्रह (हठ) है? क्या तुझ पर कोई पिशाच चढ़ गया है, जिसकी औषधि ही नहीं है? ॥ १४ ॥

आगे अन्य प्रकारसे कहते हैं—

क्षणिकत्वं वदन्त्यार्या घटीघातेन भूभृताम् ।
क्रियतामात्मनः श्रेयो गतेयं नागमिष्यति ॥ १५ ॥

अर्थ—इस लोकमें राजाओंके यहां जो घड़ीका घंटा बजता है और शब्द करता है, सो सबके क्षणिकपनको प्रगट करता है; अर्थात् जगत्को मानो पुकार पुकार कर कहता है कि, हे जगत्के जीवों!

जो कुछ अपना कल्याण करना चाहते हो, सो शीघ्र हो कर डालो नहीं तो पछताओगे। क्योंकि यह जो घड़ी बीत गई, वह किसी प्रकार भी पुनर्वार लौट कर नहीं आयेगी। इसी प्रकार अगली घड़ीमो जो व्यर्थ ही खो दोगे तो वह भी गई हुई नहीं लौटेगी ॥ १५ ॥

यद्यपूर्वं शरीरं स्याद्यदि वात्यन्तशाश्वतम् ।
युज्यते हि तदा कर्तुमस्यार्थे कर्म निन्दितम् ॥ १६ ॥

अर्थ--हे प्राणी! यदि यह शरीर अपूर्व हो, अर्थात् पूर्वमें कभी तूने नहीं पाया हो, अथवा अत्यन्त अविनश्वर हो, तब तो इसके अर्थ निंद्य कार्य करना योग्य भी है, परन्तु ऐसा नहीं है। क्योंकि यह शरीर तूने अनन्तवार धारण किया है और छोड़ा भी है, तो फिर ऐसे शरीरके अर्थ निन्द्य कार्य करना कदापि उचित नहीं है। इस कारण ऐसे कार्य कर जिससे कि, तेरा वास्तवमें कल्याण हो ॥१६॥

आगे फिर भी इसी अर्थको सूचित करते हुए कहते हैं—

अवश्यं यान्ति यास्यन्ति पुत्रस्त्रीधनबान्धवाः ।
शरीराणि तदैतेषां कृते किं खिद्यते वृथा ॥ १७ ॥

अर्थ--पुत्र स्त्री बांधव धन शरीरादि चले जाते हैं और जो हैं, वह भी अवश्य चले जायेंगे। फिर इनके कार्यसाधनके लिये यह जीव वृथा हो क्यों खेद करता है? ॥ १७ ॥

नायाता नैव यास्यन्ति केनापि सह योषितः ।
तथाप्यज्ञाः कृते तासां प्रविशन्ति रसातलम् ॥ १८ ॥

अर्थ--इस संसारमें स्त्रियां न तो किसीके साथ आई और न किसीके साथ जायेंगी, तथापि मूढ जन इनके लिये निन्द्य कार्य करके नरकादिकमें प्रवेश करते हैं। यह बड़ा अज्ञान है ॥ १८ ॥

आगे बन्धुजन कैसे हैं, सो कहते हैं—

ये जाता रिपवः पूर्वं जन्मन्यस्मिन्विधेर्वशात् ।
त एव तव वर्त्तन्ते बान्धवा बद्धसौहृदः ॥ १९ ॥

अर्थ--हे आत्मन्! जो पूर्व जन्ममें तेरे शत्रु थे, वे ही इस जन्ममें तेरे अति स्नेही होकर बंधु हो गये हैं, अर्थात् तू इनको हितू वा मित्र समझता है, परन्तु ये तेरे हितू मित्र नहीं हैं, किन्तु पूर्वजन्मके शत्रु हैं ॥ १९ ॥

रिपुत्वेन समापन्नाः प्राक्तनास्तेऽत्र जन्मनि ।
बान्धवाः क्रोधरुद्धाक्षा दृश्यन्ते हन्तुमुद्यताः ॥ २० ॥

अर्थ--और जो पूर्वजन्ममें तेरे बांधव थे, वे हो इस जन्ममें शत्रुताको प्राप्त होकर तथा क्रोधयुक्त लाल नेत्र करके तुझे मारनेके लिये उद्यत हुए हैं। यह प्रत्यक्षमें देखा जाता है ॥ २० ॥

आगे इस प्राणीको अन्धवत् बताते हैं—

अज्ञानादिमहापाशैरतिगाढं नियन्त्रिताः ।
पतस्यन्धमहाकूपे भवाख्ये भविनोऽध्वगाः ॥ २१ ॥

अर्थ--इस संसारमें निरन्तर फिरनेवाले प्राणिरूपी पथिक स्त्री आदिके बड़े २ रस्सोंसे अतिशय कसे हुए संसार नामक महान्धकूपमें गिरते हैं । भावार्थ--जैसे अन्धे पुरुष मार्गमें चलते २ अन्ध कूपमें गिर पड़ते है, उसी प्रकार ये जीव सूझते हुए भी अन्ध पुरुषके समान संसाररूपी कूपमें गिरते हैं ॥२१॥

आगे फिर उपदेश करते हैं—

पातयन्ति भवावर्त्ते ये त्वां ते नैव बान्धवाः ।
बन्धुतां ते करिष्यन्ति हितमुद्दिश्य योगिनः ॥ २२ ॥

अर्थ---देखो ! आत्मन् ! जो तुझे संसारके चक्रमें डालते हैं, वे तेरे बांधव (हितैषी) नहीं हैं, किन्तु जो मुनिगण (गुरुमहाराज) तेरे हितकी वांछा करके बंधुता करते हैं, अर्थात् हितका उपदेश करते हैं, स्वर्ग तथा मोक्षका मार्ग बताते हैं, वे ही वास्तवमें तेरें सच्चे और परम मित्र हैं ॥ २२ ॥

आगे आश्चर्यपूर्वक कहते हैं--

शरीरं शीर्यते नाशा गलत्यायुर्न पापधीः ।
मोहः स्फुरति नात्मार्थः पश्य वृत्तं शरीरिणाम् ॥ २३ ॥

अर्थ---देखो ! इन जीवोंका प्रवर्त्तन कैसा आश्चर्यकारक है कि, शरीर तो प्रतिदिन छीजता जाता है और आशा नहीं छीजती है; किन्तु बढ़ती जाती है । तथा आयुर्बल तो घटता जाता है और पापकार्योंमें बुद्धि बढ़ती जाती है । मोह तो नित्य स्फुरायमान् होता है और यह प्राणी अपने हित वा कल्याण मार्गमें नहीं लगता है । सो यह कैसा अज्ञानका माहात्म्य है ! ॥ २३ ॥

आगे उपदेश करते हैं—

यास्यन्ति निर्दया नूनं यद्दत्वा दाहमूर्जितम् ।
हृदि पुंसां कथं ते स्युस्तव प्रीत्यै परिग्रहाः ॥ २४ ॥

अर्थ---हे आत्मन् ! यह परिग्रह पुरुषोंके हृदयमें अतिशय दाह अर्थात् सन्ताप देकर अवश्य ही चले जाते हैं । ऐसे ये परिग्रह तेरी प्रीति करनेयोग्य कैसे हो सकते हैं ? भावार्थ--तू वृथा ही इन धनधान्यादि परिग्रहोंसे प्रीति मत कर; क्योंकि ये किसी प्रकार भी नहीं रहेंगे ॥ २४ ॥

आगे अज्ञानके कारण नरकादिक दुःख सहेगा ऐसा कहते हैं—

अविद्यारागदुर्वारप्रसरान्धीकृतात्मनाम् ।
श्वभ्रादौ देहिनां नूनं सोढव्या सुचिरं व्यथा ॥ २५ ॥

अर्थ---मिथ्याज्ञानजनित रागोंके दुर्निवार विस्तारसे अन्धे किये हुए जीवोंको अवश्य ही नरकादिकमें बहुत काल पर्यन्त दुःख सहने पड़ेंगे, जिसका जीवोंको चेत ही नहीं है ॥ २५ ॥

आगे जो लोग विषयोंमें सुख ढूंढते हैं, वे क्या करते हैं सो कहते हैं—

वह्निं विशति शीतार्थं जीवितार्थं पिबेद्विषम् ।
विषयेष्वपि यः सौख्यमन्वेषयति मुग्धधीः ॥ २६ ॥

अर्थ—जो मूढधी पञ्चेन्द्रियोंके विषय सेवनमें सुख ढूंढते हैं, वे मानो शीतलताके लिये अग्निमें प्रवेश करते हैं और दीर्घ जीवनके लिये विषपान करते हैं। उन्हें इस विपरीत बुद्धिसे सुखके स्थान दुःख ही होगा ॥ २६ ॥

कृते येषां त्वया कर्म कृतं श्वभ्रादिसाधकम् ।
त्वामेव यान्ति ते पापा वञ्चयित्वा यथायथम् ॥ २७ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! निज कुटुंबादिकके लिये तूने नरकादिकके दुःख देनेवाले पापकर्म किये, वे पापी तुझे अवश्य ही धोखा देकर अपनी-अपनी गतिको चले जाते हैं। उनके लिये तूने जो पापकर्म किये थे, उनके फल तुझे अकेले ही भोगने पड़ते हैं, वा भोगने पड़ेंगे ॥ २७ ॥

आगे इस जीवको करने योग्य कार्यका उपदेश है—

अनेन नृशरीरेण यल्लोकद्वयशुद्धिदम् ।
विवेच्य तदनुष्ठेयं हेयं कर्म ततोऽन्यथा ॥ २८ ॥

अर्थ—जिस प्राणीको चाहिये कि, इस मनुष्य देहसे उभय लोकमें शुद्धताको देनेवाले कार्यका विचार करके अनुष्ठान करे और उससे भिन्न अन्य सब कार्य छोड़ दे। यह सामान्यतया उपदेश है ॥ २८ ॥

आगे कहते हैं कि, जो जीव उक्त प्रकारसे नहीं करते, वे क्या करते हैं—

वर्द्धयन्ति स्वघाताय ते नूनं विषपादपम् ।
नरत्वेऽपि न कुर्वन्ति ये विवेच्यात्मनो हितम् ॥ २९ ॥

अर्थ—जिसमें समस्त प्रकारके विचार करनेका सामर्थ्य है, तथा जिसका पाना दुर्लभ है ऐसे मनुष्य जन्मको पाकर भी जो अपना हित नहीं करते, वे अपने घात करनेके लिये विषवृक्षको बढ़ाते हैं। **भावार्थ**—पापकार्य विषके वृक्ष समान हैं, इस कारण इसका फल भी मारनेवाला है ॥ २९ ॥

आगे प्राणी किस कुलमें आकर कैसे जन्म लेते हैं, सो दृष्टान्तपूर्वक वर्णन करके दिखाते हैं—

यद्वद्देशान्तरादेत्य वसन्ति विहगा नगे ।
तथा जन्मान्तरान्मूढ प्राणिनः कुलपादपे ॥ ३० ॥

अर्थ—जैसे पक्षी नानादेशोंसे आ आ कर सन्ध्याके समय वृक्षों पर वसते हैं, वैसे ही ये प्राणीजन अन्यान्य जन्मोसे आ आ कर कुलरूपी वृक्षों पर वसते हैं, अर्थात् जन्म लेते हैं। और—

प्रातस्तरुं परित्यज्य यथैते यान्ति पत्रिणः ।
स्वकर्मवशगाः शश्वत्तथैते क्वापि देहिनः ॥

अर्थ—जिस प्रकार वे पक्षी प्रभातके समय उस वृक्षको छोड़कर अपना-अपना रस्ता लेते हैं, उस ही प्रकार यह प्राणी भी आयु पूर्ण होने पर अपने २ कर्मानुसार अपनी २ गतिमें चले जाते हैं ॥३१॥

फिर अन्य प्रकारसे कहते हैं—

गीयते यत्र सानन्दं पूर्वाह्णे ललितं गृहे ।
तस्मिन्नेव हि मध्याह्ने सदुःखमिह रुद्यते ॥३२॥

अर्थ—जिस घरमें प्रभातके समय आनन्दोत्साहके साथ सुन्दर-सुन्दर मांगलिक गीत गाये जाते हैं, मध्याह्नके समय उसी घरमें दुःखके साथ रोना सुना जाता है । तथा —

यस्य राज्याभिषेकश्रीः प्रत्यूषेऽत्र विलोक्यते ॥
तस्मिन्नहनि तस्यैव चिताधूमश्च दृश्यते ॥३३॥

अर्थ—प्रभातके समय जिसके राज्याभिषेकको शोभा देखी जाती है, उसी दिन उस राजाकी चिताकी धूआँ देखनेमें आता है । यह संसारकी विचित्रता है ॥३३॥

अब जीवोंके शरीरकी अवस्था कहते हैं—

अत्र जन्मनि निर्वृत्तं यैः शरीरं तवाणुभिः ।
प्राक्तनान्यत्र तैरेव खण्डितानि सहस्रशः ॥३४॥

अर्थ—हे आत्मन् ! इस संसारमें जिन परमाणुओंसे तेरा यह शरीर रचा गया है, उन्हीं परमाणुओंने इस शरीरसे पहिले तेरे हजारों शरीर खंड खंड किये हैं। भावार्थ—पुराने परमाणु तो इस शरीरमेंसे खिरते हैं और नये परमाणु स्थानापन्न होते जाते हैं । इस कारण वे ही परमाणु तो शरीरको रचते हैं और वे ही बिगाड़नेवाले हैं । शरीरकी यह दशा है ॥३४॥

शरीरत्वं न ये प्राप्ता आहारत्वं न येऽणवः ।
भ्रमतस्ते चिरं भ्रातर्यक्ष ते सन्ति तद्गृहे ॥३५॥

अर्थ—हे भाई ! तेरे इस संसारमें बहुत कालसे भ्रमण करते हुए जो परमाणु शरीरताको तथा आहारताको प्राप्त नहीं हुए, ऐसे बचे हुए परमाणु कोई भी नहीं हैं । भावार्थ—इस शरीरमें ऐसे परमाणु नहीं हैं, जो पहिले अनन्त परावर्तनमें शरीररूप या आहाररूपसे ग्रहण करनेमें नहीं आये हों ॥३५॥

अब ऐश्वर्यादिकी अनित्यता दिखाते हैं—

सुरोरगनरैश्वर्यं शक्रकार्मुकसन्निभम् ।
सद्यः प्रध्वंसमायाति दृश्यमानमपि स्वयम् ॥३६॥

अर्थ—इस जगतमें जो सुर (कल्पवासी देव), उरग (भवनवासी देव), और मनुष्योंके इन्द्र अर्थात् चक्रवर्तीपनेके ऐश्वर्य (विभव) हैं, वे सब इन्द्रधनुषके समान हैं, अर्थात् देखनेमें अति सुन्दर दीख पड़ते हैं, परन्तु देखते-देखते विलय जाते हैं ॥३६॥

फिर अन्य प्रकार दृष्टान्तसे कहते हैं—

यान्त्येव न निवर्तन्ते सरितां यद्वदूर्मयः ।
तथा शरीरिणां पूर्वा गता नायान्ति भूतयः ॥३७॥

अर्थ—जिस प्रकार नदीकी जो लहरें जाती है, वे फिर लौट कर कभी नहीं आती है, इसी प्रकार जीवोंकी जो विभूति पहिले होती है, वह नष्ट होनेके पश्चात् फिर लौट कर नहीं आती। यह प्राणी वृथा ही हर्षविषाद करता है ॥३७॥

आगे फिर इस अर्थको सूचित करते हैं—

क्वचित्सरित्तरंगाली गतापि विनिवर्त्तते ।
न रूपबललावण्यं सौन्दर्यं तु गतं नृणाम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—नदीकी लहरें कदाचित् कहीं लौट भी आती हैं, परन्तु मनुष्योंका गया हुआ रूप, बल, लावण्य और सौन्दर्य फिर नहीं आता। यह प्राणी वृथा ही उनकी आशा लगाये रहता है ॥ ३८ ॥

आगे फिर भी आयु और यौवनकी व्यवस्थाका दृष्टान्त देते हैं—

गलत्येवायुरव्यग्रं हस्तन्यस्ताम्बुवत्क्षणे ।
नलिनीदलसंक्रान्तं प्रालेयमिव यौवनम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जीवोंका आयुबल तो अञ्जलिके जल समान क्षण क्षणमें निरन्तर झरता है और यौवन कमलिनीके पत्र पर पड़े हुए जलबिंदुके समान तत्काल ढलक जाता है। यह प्राणी वृथा ही स्थिरताकी इच्छा रखता है ॥ ३९ ॥

आगे मनोज्ञविषयोंकी व्यवस्थाका दृष्टान्त कहते हैं—

मनोज्ञविषयैः सार्द्धं संयोगाः स्वप्नसन्निभाः ।
क्षणादेव क्षयं यान्ति वञ्चनोद्धतबुद्धयः ॥ ४० ॥

अर्थ—जीवोंके मनोज्ञ विषयोंके साथ संयोग स्वप्नके समान हैं, क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं। जिनकी बुद्धि ठगनेमें उद्धत है, ऐसे ठगोंकी भाँति ये किंचित्काल चमत्कार दिखा कर फिर सर्वस्व हरनेवाले हैं ॥ ४० ॥

अब अन्य सामग्रीकी व्यवस्था कैसी है, यह दिखाते हैं—

घनमालानुकारीणि कुलानि च बलानि च ।
राज्यालङ्कारवित्तानि कीर्त्तितानि महर्षिभिः ॥ ४१ ॥

अर्थ—महर्षियोंने जीवोंके कुल-कुटुंब, बल, राज्य अलंकार, धनादिकोंको मेघपटलोंके समूह समान देखते २ विलुप्त होनेवाले कहे हैं। यह मूढ प्राणी वृथा ही नित्यकी बुद्धि करता है ॥४१॥

अब शरीरको निःसार बताते हैं·

फेनपुञ्जेऽथवा रम्भास्तम्भे सारः प्रतीयते ।
शरीरे न मनुष्याणां दुर्बुद्धे विद्धि वस्तुतः ॥ ४२ ॥

अर्थ—हे दुर्बुद्धि मूढ प्राणी! वास्तवमें देखा जाय, तो झागोंके समूहमें तथा केलेके थंभमें तो कुछ सार प्रतीत होता भी है, परन्तु मनुष्योंके शरीरमें तो कुछ सार नहीं है। भावार्थ—यह दुर्बुद्धि

प्राणी मनुष्यके शरीरमें कुछ सार समझता है, इससे कहा गया है कि, इसमें कुछ भी सार नहीं है। मरनेके पीछे यह शरीर भस्म कर दिया जाता है तथा अवशेष-कुछ भी नहीं रहता। यह प्राणी वृथा ही शरीरको सार जानता है। ॥ ४२ ॥

फिर भी कहते हैं—

यातायातानि कुर्वन्ति ग्रहचन्द्रार्कतारकाः ।
ऋतवश्च शरीराणि न हि स्वप्नेऽपि देहिनाम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—इस लोकमें ग्रह, चन्द्र सूर्य तारे तथा छह ऋतु आदि सब ही जाते और आते हैं, अर्थात् निरन्तर गमनागमन करते रहते हैं। परन्तु जीवोंके गये हुए शरीर स्वप्नमें भी कभी लौट कर नहीं आते। यह प्राणी वृथा ही इनसे प्रीति करता है ॥ ४३ ॥

ये जाताः सातरूपेण पुद्गलाः प्राङ्मनःप्रियाः ।
पश्य पुंसां समापन्ना दुःखरूपेण तेऽधुना ॥ ४४ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! इस जगतमें जो पुद्गलस्कन्ध पहिले जिन पुरुषोंके मनको प्रिय और सुखके देनेवाले उपजे थे, वे ही अब दुःखके देनेवाले हो गये हैं, उन्हें देख अर्थात् जगतमें ऐसा कोई भी नहीं है जो शाश्वत सुखरूप ही रहता हो ॥ ४४ ॥

अब सामान्य से कहते हैं—

मोहाञ्जनमिवाक्षाणामिन्द्रजालोपमं जगत् ।
मुह्यत्यस्मिन्नयं लोको न विद्मः केन हेतुना ॥ ४५ ॥

अर्थ—यह जगत इन्द्रजालवत् है। प्राणियोंके नेत्रोंको मोहनी अञ्जनके समान भुलाता है, और लोग इसमें मोहको प्राप्त हो कर अपनेको भूल जाते हैं, अर्थात् लोग धोखा खाते हैं। अतः आचार्य महाराज कहते हैं कि, हम नहीं जानते ये लोग किस कारणसे भूलते हैं। यह प्रबल मोहका माहात्म्य ही है ॥ ४५ ॥

ये[१] चात्र जगतीमध्ये पदार्थाश्चेतनेतराः ।
ते ते मुनिभिरुद्दिष्टाः प्रतिक्षणविनश्वराः ॥ ४६ ॥

अर्थ—इस जगतमें जो जो चेतन और अचेतन पदार्थ है, उन्हें सब महर्षियोंने क्षणक्षणमें नष्ट होनेवाले और विनाशीक कहे हैं। यह प्राणी इन्हें नित्यरूप मानता है, यह भ्रम मात्र है ॥ ४६ ॥

अब संक्षेपतासे कह कर अनित्य भावनाके कथनको संकुचित करते हैं—

मालिनी ।

गगननगरकल्पं संगमं वल्लभानाम्
जलदपटलतुल्यं यौवनं वा धनं वा ।

१. ये ये च-पाठान्तर ।

सुजनसुतशरीरादीनि विद्युच्चलानि
क्षणिकमिति समस्तं विद्धि संसारवृत्तम् ॥४७॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि हे प्राणी ! वल्लभा अर्थात् प्यारी स्त्रियोंका संगम आकाशमें देवोंसे रचे हुए नगरके समान है; अतः तुरन्त विलुप्त हो जाता है। और तेरा यौवन वा धन जलद पटलके समान है, सो भी क्षणमें नष्ट हो जानेवाला है। तथा स्वजन परिवारके लोग पुत्र शरीरादिक बिजुलीके समान चंचल हैं। इस प्रकार इस जगतकी अवस्था अनित्य जानके नित्यताकी बुद्धि मत रख ॥४७॥

इस भावनाका संक्षेप यह है कि, यह लोक षड्द्रव्यमयी है। इसे द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय तो छहों द्रव्य अपने-अपने स्वरूपमें शाश्वते अर्थात् नित्य विराजते हैं। परन्तु इनकी पर्यायें (अवस्थायें) स्वभाव विभावरूप उत्पन्न होती और विनशती रहती हैं अतः ये अनित्य हैं। संसारी जीवोंको द्रव्यके वास्तविक स्वरूपका तो ज्ञान होता नहीं अतः वे पर्यायको ही वस्तुस्वरूप मानकर उसमें नित्यताकी बुद्धिसे ममत्व वा रागद्वेषादि करते हैं। इस कारण यह उपदेश है कि "पर्याय बुद्धिका एकान्त छोड़ कर द्रव्यदृष्टिसे अपने स्वरूपको कथंचित् नित्य जान और उसका ध्यान करके लयको प्राप्त होकर वीतराग विज्ञानदशाको प्राप्त होइये"।

दोहा

द्रव्यरूपकरि सर्व थिर, परजै थिर है कौन ? ।
द्रव्यदृष्टि आपा लखौ, पर्ययनयकरि गौन ॥ १ ॥

इति अनित्यभावना ॥ १ ॥

अथ अशरणभावना लिख्यते ।

आगे अशरणभावनाका व्याख्यान करते हैं—सो प्रथम ही कहते हैं कि जब जीवका काल (मृत्यु) आता है तो कोई भी शरण नहीं है—

न स कोऽप्यस्ति दुर्बुद्धे शरीरी भुवनत्रये ।
यस्य कण्ठे कृतान्तस्य न पाशः प्रसरिष्यति ॥ १ ॥

अर्थ—हे मूढ दुर्बुद्धि प्राणी ! तू जो किसीकी शरण चाहता है, सो इस त्रिभुवनमें ऐसा कोई भी शरीरी (जीव) नहीं है कि, जिसके गलेमें कालकी फाँसी नहीं पड़ती हो। **भावार्थ**—समस्त प्राणी कालके वश हैं ॥ १ ॥

फिर विशेष कहते हैं—

समापतति दुर्वारे यमकण्ठीरवक्रमे ।
त्रायते तु नहि प्राणी सोद्योगैस्त्रिदशैरपि ॥ २ ॥

अर्थ—जब यह प्राणी दुर्निवार कालरूपी सिंहके पांवतले आ जाता है, तब उद्यमशील देवगण भी इसकी रक्षा नहीं कर सकते हैं; अन्य मनुष्यादिकोंकी तो क्या सामर्थ्य है कि, रक्षा कर सकें ॥ २ ॥

सुरासुरनराहीन्द्रनायकैरपि दुर्द्धरा ।
जीवलोकं क्षणार्धेन बध्नाति यमवागुरा ॥३॥

अर्थ—यह कालका जाल अथवा फंदा ऐसा है कि क्षण मात्रमें जीवोंको फांस लेता है और सुरेन्द्र असुरेन्द्र नरेन्द्र तथा नागेन्द्र भी इसका निवारण नहीं कर सकते हैं ॥३॥

अब कहते हैं कि, यह काल अद्वितीय सुभट है—

जगत्त्रयजयी वीर एक एवान्तकः क्षणे ।
इच्छामात्रेण यस्यैते पतन्ति त्रिदशेश्वराः ॥४॥

अर्थ—यह काल तीन जगतको जीतनेवाला अद्वितीय सुभट है, क्योंकि इसकी इच्छा मात्रसे देवोंके इन्द्र भी क्षण मात्रमें गिर पड़ते हैं, अर्थात् स्वर्गसे च्युत हो जाते हैं।। फिर अन्यकी कथा ही क्या है ? ॥४॥

आगे कहते हैं कि, जो मृत्युप्राप्त पुरुषका शोक करते हैं वे मूर्ख हैं—

शोच्यन्ते स्वजनं मूर्खाः स्वकर्मफलभोगिनम् ।
नात्मानं बुद्धिविध्वंसा यमदंष्ट्रान्तरस्थितम् ॥५॥

अर्थ—यदि अपना कोई कुटुंबीजन अपने कर्मवशात् मरणको प्राप्त हो जाता है, तो नष्टबुद्धि मूर्खजन उसका शोच करते हैं, परन्तु आप स्वयं यमराजकी दाढोंमें आया हुआ है, इसकी चिन्ता कुछ भी नहीं करता है ! यह बड़ी मूर्खता है ॥५॥

फिर कहते हैं कि, पूर्व कालमें बड़े-बड़े पुरुष प्रलयप्राप्त हो गये—

यस्मिन्संसारकान्तारे यमभोगीन्द्रसेविते ।
पुराणपुरुषाः पूर्वमनन्ताः प्रलयं गताः ॥६॥

अर्थ—कालरूप सर्पसे सेवित संसाररूपी वनमें पूर्व कालमें अनेक पुराणपुरुष (शलाकापुरुष) प्रलयको प्राप्त हो गये, उनका विचार कर शोक करना वृथा है ॥६॥

फिर भी कालकी प्रबलता दिखाते हैं—

प्रतीकारशतेनापि त्रिदशैर्न निवार्यते ।
यत्रायमन्तकः पापी नृकीटैस्तत्र का कथा ॥७॥

अर्थ—जब यह पापस्वरूप यम देवताओंके सैकड़ों उपायोंसे भी नहीं निवारण किया जाता है, तब मनुष्यरूपी कीड़ेकी तो बात ही क्या ? भावार्थ—काल दुर्निवार है ॥७॥

गर्भादारभ्य नीयन्ते प्रतिक्षणमखण्डितैः ।
प्रयाणैः प्राणिनो मूढ कर्मणा यममन्दिरम् ॥८॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी ! आयुनामा कर्म जीवोंको गर्भावस्थासे ही निरन्तर प्रतिक्षण अपने प्रयाणोंसे (मंजिलोंसे) यममन्दिरकी तरफ ले जाता है, सो उसे देख ! ॥८॥

यदि दृष्टः श्रुतो वास्ति यमाज्ञावञ्चको बली ।
तमाराध्य भज स्वास्थ्यं नैव चेत्किं वृथा श्रमः ॥९॥

अर्थ—हे प्राणी ! यदि तूने किसीको यमराजकी आज्ञाका लोप करनेवाला बलवान् पुरुष देखा वा सुना हो, तो तू उसीकी सेवा कर, अर्थात् उसकी शरण लेकर निश्चिन्त हो रह, और यदि ऐसा कोई बलवान् देखा वा सुना नहीं है, तो तेरा खेद करना व्यर्थ है ॥९॥

परस्येव न जानाति विपत्तिं स्वस्य मूढधीः ।
वने सत्त्वसमाकीर्णे दह्यमाने तरुस्थवत् ॥१०॥

अर्थ—ये मूढजन दूसरोंकी आई हुई आपदाओंको इस प्रकार नहीं जानते, जैसे असंख्य जीवोंसे भरा हुआ वन जलता हो और वृक्ष पर बैठा हुआ मनुष्य कहे कि, देखो ये सब जीव जल रहे हैं, परन्तु यह नहीं जाने कि, जब यह वृक्ष जलेगा, तब मैं भी इनके समान ही जल जाउंगा । यह बड़ी मूर्खता है ॥१०॥

यथा बालं तथा वृद्धं यथाढ्यं दुर्विधं तथा ।
यथा शूरं तथा भीरुं साम्येन ग्रसतेऽन्तकः ॥११॥

अर्थ—यह काल जैसे बालकको ग्रसता है, तैसे ही वृद्धको भी ग्रसता है । और जैसे धनाढ्य पुरुषको ग्रसता है, उसी प्रकार दरिद्रको भी ग्रसता है । तथा जैसे शूरवीरको ग्रसता है, उसी प्रकार कायरको भी ग्रसता है । एवं प्रकार जगतके सब ही जीवोंको समान भावसे ग्रसता है किसीमें भी इसका हीनाधिक विचार नहीं है, इसी कारणसे इसका एक नाम समवर्त्ती भी है ॥११॥

अब कहते हैं कि, इस कालको कोई भी नहीं निवार सकता—

गजाश्वरथसैन्यानि मन्त्रौषधबलानि च ।
व्यर्थीभवन्ति सर्वाणि विपक्षे देहिनां यमे ॥१२॥

अर्थ—जब यह काल जीवोंके विरुद्ध होता है अर्थात् जगतके जीवोंको ग्रसता है तथा नष्ट करता है, तब हाथी घोड़ा रथ सेना मन्त्र तन्त्र औषध पराक्रमादि सब ही व्यर्थ हो जाते हैं। भावार्थ—जब मृत्यु (काल) आती है, तब इस जीवोंको कोई भी नहीं बचा सकता है ॥१२॥

विक्रमैकरसस्तावज्जनः सर्वोऽपि वल्गति ।
न शृणोत्यदयं यावत्कृतान्तहरिगर्जितम् ॥१३॥

अर्थ—पराक्रम ही है अद्वितीय रस जिसके, ऐसा यह मनुष्य तब तक ही उद्धत हो कर दौड़ता कूदता है, जब तक कि कालरूपी सिंहकी गर्जनाका शब्द नहीं सुनता । अर्थात् तेरी मौत आ गई ऐसा शब्द सुनते ही सब खेल कूद भूल जाता है ॥१३॥

अकृताभीष्टकल्याणमसिद्धारब्धवाञ्छितम् ।
प्रागेवागत्य निस्त्रिंसो हन्ति लोकं यमः क्षणे ॥१४॥

अर्थ—यह काल ऐसा निर्दयी है कि, जिन्होंने अपना मनोवांछित कल्याणरूप कार्य नहीं किया और न अपने प्रारंभ किये हुए कार्योंको पूर्ण कर पाये, ऐसे लोगोंको यह सबसे पहिले आ कर तत्काल मार डालता है। लोगोंके कार्य जैसेके तैसे अधूरे ही धरे रह जाते हैं ॥ १४ ॥

फिर भी जीवोंके अज्ञानपनको दिखाते हैं—

स्रग्धरा ।

भ्रूभङ्गारम्भभीतं स्खलति जगदिदं ब्रह्मलोकावसानम्
सद्यस्त्रुट्यन्ति शैलाश्चरणगुरुभराक्रान्तधात्रीवशेन ।
येषां तेऽपि प्रवीराः कतिपयदिवसैः कालराजेन सर्वे
नीता वार्तावशेषं तदपि हतधियां जीवितेऽप्युद्धताशा ॥ १५ ॥

अर्थ—जिनकी भौंहके कटाक्षोंके प्रारंभ मात्रसे ब्रह्मलोक पर्यन्तका यह जगत् भयभीत हो जाता है, तथा जिनके चरणोंके गुरुभारके कारण पृथ्वीके दबने मात्रसे पर्वत तत्काल खंड-खंड हो जाते हैं, ऐसे ऐसे सुभटोंको भी, जिनकी कि अब कहानी मात्र हो सुननेमें आती है, इस कालने खा लिया है; फिर यह हीनबुद्धि जीव अपने जीनेकी बड़ी भारी आशा रखता है, यह कैसी बड़ी भूल है ! ॥ १५ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

रुद्राशागजदेवदैत्यखचरग्राहग्रहव्यन्तरा-
दिक्पालाः प्रतिशत्रवो हरिबला व्यालेन्द्रचक्रेश्वराः ।
ये चान्ये मरुदर्यमादिबलिनः संभूय सर्वे स्वयम्
नारब्धं यमकिङ्करैः क्षणमपि त्रातुं क्षमा देहिनम् ॥ १६ ॥

अर्थ रुद्र, दिग्गज देव, दैत्य, विद्याधर, जलदेवता, ग्रह, व्यन्तर, दिक्पाल, नारायण, प्रति-नारायण, बलभद्र, धरणीन्द्र, चक्रवर्ति, तथा पवन देव सूर्यादि बलिष्ठ देहधारी सब एकत्र हो कर भी कालके किंकर स्वरूप कालको कलासे आरंभ किये अर्थात् पकड़े हुए प्राणीको क्षणमात्र भी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं। भावार्थ—कोई ऐसा समझता होगा कि मृत्युसे बचावनेवाला कोई तो इस जगतमें अवश्य होगा, परन्तु ऐसा समझना सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि कालसे—मृत्युसे रक्षा करनेवाला न तो कोई हुआ और न कभी कोई होगा ॥ १६ ॥

फिर भी उपदेश करते हैं—

आरब्धा मृगबालिकेव विपिने संहारदन्तिद्विषा
पुंसां जीवकला निरेति पवनव्याजेन भीता सती ।
त्रातुं न क्षमसे यदि क्रमपदमाप्तां वराकीमिमां
न त्वं निर्घृण लज्जसेऽत्र जनने भोगेषु रन्तुं सदा ॥ १७ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी ! जिस प्रकार वनमें मृगकी बालिकाको सिंह पकड़नेका आरंभ करता है

और वह भयभीत होकर भागती है, उसी प्रकार जीवोंके जीवनकी कला कालरूपी सिंहसे भयभीत होकर उच्छ्वासके बहानेसे बाहर निकलती है, अर्थात् भागती है। और जिस प्रकार वह मृगकी बालिका सिंहके पाँवों तले आ जाती है, उसी प्रकार जीवोंके जीवनकी कला कालके अनुक्रमसे अन्तको प्राप्त हो जाती है। अतएव तू इस निर्बलको रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है, और हे निर्दयी! तू इस जगतमें भोगोमें रमनेको उद्यमी होकर प्रवृत्ति करता है और लज्जित नहीं होता है, यह तेरा निर्दयपन है क्योंकि सत्पुरुषोंकी ऐसी प्रवृत्ति होती है कि, जो कोई किसी असमर्थ प्राणीको समर्थ दबावें, तो अपने समस्त कार्य छोड़ कर उसकी रक्षा करनेका विचार करते हैं; और तू कालसे हनते हुए प्राणियोंको देख कर भी भोगोंमें रमता है और सुकृत करके अपनेको नहीं बचाता है, यह तेरी बड़ी निर्दयता है ॥ १७॥

स्रग्धरा।

पाताले ब्रह्मलोके सुरपतिभवने सागरान्ते वनान्ते
दिक्चक्रे शैलशृङ्गे दहनवनहिमध्वान्तवज्रासिदुर्गे।
भूगर्भे सन्निविष्टं समदकरिघटासङ्कटे वा बलीयान्
कालोऽयं क्रूरकर्मा कवलयति बलाज्जीवितं देहभाजां॥ १८॥

अर्थ—यह काल बड़ा बलवान् और क्रूरकर्मा अर्थात् दुष्ट है। जीवोंको पातालमें, ब्रह्मलोकमें, इन्द्रके भवनमें, समुद्रके तट, वनके पार, दिशाओंके अन्तमें, पर्वतके शिखर पर, अग्निमें, जलमें, हिमालयमें, अंधकारमें, वज्रमयी स्थानमें, तलवारोंके पहरेमें, गढ कोट भूमि घरमें, तथा मदोन्मत्त हस्तियोंके समूह इत्यादि किसी भी विकट स्थानमें, यत्नपूर्वक बिठाओ, तो भी यह काल बलात्कारपूर्वक जीवोंके जीवनको ग्रसीभूत कर लेता है। इस कालके आगे किसीका भी वश नहीं चलता॥ १८॥

अब अशरणभावनाका वर्णन पूरा करनेके लिये कथनको संकोचते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम्।

अस्मिन्नन्तकभोगिवक्त्रविवरे संहारदंष्ट्राङ्किते
संसुप्तं भुवनत्रयं स्मरगरव्यापारमुग्धीकृतम्।
प्रत्येकं गिलतोऽस्य निर्दयधियः केनाप्युपायेन वै
नास्मान्निःसरणं तवार्य कथमप्यत्यक्षबोधं विना॥ १९॥

अर्थ—हे आर्य सत्पुरुष! अन्तसमयरूपी दाढसे चिह्नित कालरूप सर्पके मुखरूपी विवरमें कामरूपी विषकी गहलतासे मूर्छित भुवनत्रयके प्राणी गाढ़ निद्रामें सो रहे हैं, उनमें प्रत्येकको यह निर्दयबुद्धि काल निगलता जाता है। परन्तु प्रत्यक्षज्ञानकी प्राप्तिके बिना इस कालके पंजेसे निकलनेका और कोई भी उपाय नहीं है अर्थात् अपने ज्ञान व स्वरूपका शरण लेनेसे ही इस कालसे रक्षा हो सकती है। इस प्रकार अशरण भावनाका वर्णन किया है॥ १९॥

इस भावनाका संक्षेप यह है कि निश्चयसे तो समस्त द्रव्य अपनी २ शक्तिके भोगनेवाले हैं तथा

कोई किसीका कर्त्ता हर्त्ता नहीं है। किन्तु व्यवहार दृष्टिसे निमित्त नैमित्तिक भाव देख कर यह जीव अन्य किसीके शरणकी कल्पना करता है, यह मोहकर्मके उदयका माहात्म्य है। इस कारण यदि निश्चय दृष्टिसे विचारा जाय तो अपनी आत्माका ही शरण है; और व्यवहार दृष्टिसे विचार किया जाय तो परंपरा सुखके कारण वीतरागताको प्राप्त हुए पंचपरमेष्ठिका ही शरण है; क्योंकि ये वीतरागताके एकमात्र कारण हैं, अतएव अन्य सबका शरण छोड़ कर उक्त दो ही शरणको विचारना चाहिए।

सोरठा।

जगमें शरणा दोय शुद्धातम अरु पंचगुरु।
आन कल्पना होय, मोह उदय जियकै वृथा ॥ २ ॥

इति अशरणभावना ॥ २ ॥

अथ संसारभावना लिख्यते

आगे संसार भावनाका व्याख्यान करते हैं—

चतुर्गतिमहावर्त्ते दुःखवाडवदीपिते।
भ्रमन्ति भविनोऽजस्रं वराका जन्मसागरे ॥ १ ॥

अर्थ—चार गतिरूप महा आवर्त्त (भौंरें) वाले तथा दुःखरूप वडवानलसे प्रज्वलित इस संसाररूपी समुद्रमें जगत्के दीन अनाथ प्राणी निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं ॥ १ ॥

उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते स्वकर्मनिगडैर्वृताः।
स्थिरेतरशरीरेषु संचरन्तः शरीरिणः ॥ २ ॥

अर्थ—ये जीव अपने २ कर्मरूपी बेड़ियोंसे बंधे स्थावर और त्रस शरीरोंमें संचार करते हुए मरते और उपजते हैं ॥ २ ॥

कदाचिद्देवगत्यायुर्नामकर्मोदयादिह।
प्रभवन्त्यङ्गिनः स्वर्गे पुण्यप्राग्भारसंभृताः ॥ ३ ॥

अर्थ—कभी तो यह जीव देवगति-नामकर्म और देवायुकर्मके उदयसे पुण्यकर्मके समूहोंसे भरे स्वर्गोंमें देव उत्पन्न होता है ॥ ३ ॥

कल्पेषु च विमानेषु निकायेष्वितरेषु च।
निर्विशन्ति सुखं दिव्यमासाद्य त्रिदिवश्रियम् ॥ ४ ॥

अर्थ—और यहां देवगतिमें कल्पवासियोंके विमानोंमें तथा भवनवासी ज्योतिषी तथा व्यन्तर-देवोंमें उनकी लक्ष्मी पा कर देवोपनीत सुखोंको भोगता है ॥ ४ ॥

प्रच्यवन्ते ततः सद्यः प्रविशन्ति रसातलम्।
भ्रमन्त्यनिलवद्विश्वं पतन्ति नरकोदरे ॥ ५ ॥

अर्थ— फिर उस देवगतिसे च्युत हो कर ॥ पृथिवीतल पर आता है और वहां पवनके समान जगतमें भ्रमण करता है तथा नरकोंमें गिरता है ॥ ५ ॥

विडम्बयत्यसौ हन्त संसारः समयान्तरे ।
अधमोत्तमपर्यायैर्नियोज्य प्राणिनां गणम् ॥ ६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज आश्चर्य करते हैं कि, देखो यह संसार जीवोंके समूहको समयान्तरमें ऊंची नीची पर्यायोंसे जोड़ कर विडम्बनारूप करता है और जीवके स्वरूपको अनेक प्रकारसे बिगाड़ता है ॥ ६ ॥

स्वर्गी पतति साक्रन्दं श्वा स्वर्गमधिरोहति ।
श्रोत्रियः सारमेयः स्यात् कृमिर्वा श्वपचोऽपि वा ॥ ७ ॥

अर्थ—अहो ! देखो ! स्वर्गका देव तो रोता पुकारता स्वर्गसे नीचे गिरता है और कुत्ता स्वर्गमें जा कर देव होता है ! एवं श्रोत्रिय अर्थात् क्रियाकांडका अधिकारी अस्पृष्ट रहनेवाला ब्राह्मण मर कर कुत्ता कृमि अथवा चंडालादि हो जाता है ! इस प्रकार संसारकी विडंबना है ॥ ७ ॥

रूपाण्येकानि गृह्णाति त्यजत्यन्यानि सन्ततम् ।
यथा रङ्गेऽत्र शैलूषस्तथायं यन्त्रवाहकः ॥ ८ ॥

अर्थ— यह यंत्रवाहक (प्राणी) संसारमें अनेक रूपोंको ग्रहण करता है और अनेक रूपोंको छोड़ता है। जिस प्रकार नृत्यके रंगमञ्च पर नृत्य करनेवाला भिन्न–भिन्न स्वाँगोंको धरता है, उसी प्रकार यह जीव निरन्तर भिन्न–भिन्न स्वाँग (शरीर) धारण करता रहता है ॥ ८ ॥

सुतीव्रासातसंतप्ताः मिथ्यात्वातङ्कतर्किताः ।
पञ्चधा परिवर्त्तन्ते प्राणिनो जन्मदुर्गमे ॥ ९ ॥

अर्थ—इस संसाररूपी दुर्गम वनमें संसारी जीव मिथ्यात्वरूपी रोगसे शंकित अतिशय तीव्र असातावेदनीसे दुःखित होते हुए पांच प्रकारके परिवर्तनोंमें भ्रमण करते रहते हैं ॥ ९॥

उन पांच प्रकारके परिवर्तनोंके नाम कहते हैं—

द्रव्यक्षेत्रे तथा काले भवभावविकल्पतः ।
संसारो दुःखसंकीर्णः पञ्चधेति प्रपञ्चितः ॥ १० ॥

अर्थ —द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भावके भेदसे संसार पांच प्रकारके विस्ताररूप दुःखोंसे व्याप्त कहा गया है। इन पांच प्रकारके परिवर्त्तनोंका स्वरूप विस्तारपूर्वक अन्य ग्रन्थोंसे जानना ॥ १० ॥

सर्वैः सर्वेऽपि सम्बन्धाः संप्राप्ता देहधारिभिः ।
अनादिकालसंभ्रान्तैस्त्रसस्थावरयोनिषु ॥ ११ ॥

अर्थ—इस संसारमें अनादिकालसे त्रसस्थावर योनियोंमें फिरते हुए जीवोंने समस्त जीवोंके साथ

पिता पुत्र भ्राता माता पुत्री स्त्री आदिक सम्बन्ध अनेक बार पाये हैं। ऐसा कोई भी जीव या सम्बन्ध बाकी नहीं रहा, जो इस जीवने न पाया हो ॥ ११ ॥

देवलोके नृलोके च तिरश्चि नरकेऽपि च ।
न सा योनिर्न तद्रूपं न तद्देशो न तत्कुलम् ॥ १२ ॥
न तद्दुःखं सुखं किञ्चिन्न पर्यायः स विद्यते ।
यत्रैते प्राणिनः शश्वद्यातायातैर्न खण्डिताः ॥ १३ ॥

अर्थ—इस संसारमें चतुर्गतिमें फिरते हुए जीवके वह योनि वा रूप, देश, कुल तथा वह सुख, दुःख, वा पर्याय नहीं है, जो निरन्तर गमनागमन करनेसे प्राप्त न हुई हो। भावार्थ–सर्व ही अवस्थाएँ अनेक वार भोगनी पड़ती हैं तथा विनाभोगा कुछ भी नहीं है ॥ १३ ॥

न के बन्धुत्वमायाताः न के जातास्तव द्विषः ।
दुरन्तागाधसंसारपङ्कमग्नस्य निर्दयम् ॥ १४ ॥

अर्थ—हे प्राणी ! इस दुरन्त अगाध संसाररूपी कर्दम (कीच) में फँसे हुए, तेरे ऐसे कौनसे जीव हैं, जो मित्र वा निर्दयतासे शत्रु नहीं हुए ? अर्थात् सब जीव तेरे शत्रु वा बंधु हो गये हैं ॥१४॥

भूपः कृमिर्भवत्यत्र कृमिश्चामरनायकः ।
शरीरी परिवर्त्तेत कर्मणा वञ्चितो बलात् ॥ १५ ॥

अर्थ--इस संसारमें यह प्राणी कर्मोंसे बलात् वञ्चित हो राजासे तो मर कर कृमि (लट) हो जाता है और कृमिसे मर कर क्रमसे देवोंका इन्द्र हो जाता है। इस प्रकार परस्पर ऊँची गतिसे नीची गति और नीचीसे ऊँची गति पलटती ही रहती है ॥ १५ ॥

माता पुत्री स्वसा भार्या सैव संपद्यतेऽङ्गजा ।
पिता पुत्रः पुनः सोऽपि लभते पौत्रिकं पदम् ॥ १६ ॥

अर्थ— इस संसारमें प्राणीकी माता तो मर कर पुत्री हो जाती है और बहन मर कर स्त्री हो जाती है, और फिर वही स्त्री मर कर आपकी पुत्री भी हो जाती है। इसी प्रकार पिता मर कर पुत्र हो जाता है तथा फिर वही मर कर पुत्रका पुत्र हो जाता है। इस प्रकार परिवर्तन होता ही रहता है ॥१६॥

अब संसारभावनाका वर्णन पूरा करते हैं और उसे सामान्यतासे कहते हैं--

शार्दूलविक्रीडितम्

श्वभ्रे शूलकुठारयन्त्रदहनक्षारक्षुरव्याहतै-
स्तिर्यक्षु श्रमदुःखपावकशिखासंभारभस्मीकृतैः ।
मानुष्येऽप्यतुलप्रयासवशगैर्देवेषु रागोद्धतैः ।
संसारेऽत्र दुरन्तदुर्गतिमये बम्भ्रम्यते प्राणिभिः ॥ १७ ॥

अर्थ—इस दुर्निवार दुर्गतिमय संसारमें जीव निरन्तर भ्रमण करते हैं। नरकोंमें तो ये शूली, कुल्हाड़ी, घाणी, अग्नि, क्षार, जल, छुरा, कटारी आदिसे पीड़ाको प्राप्त हुए नाना प्रकारके दुःखोंको भोगते हैं और तिर्यंचगतिमें अग्निकी शिखाके भारसे भस्मरूप खेद और दुःख पाते हैं। तथा मनुष्य-गतिमें भी अतुल्य खेदके वशीभूत हो कर नाना प्रकारके दुःख भोगते हैं। इसी प्रकार देवगतिमें राग-भावसे उद्धत हो कर दुःख सहते हैं। अर्थात् चारों ही गतिमें दुःख ही पाते हैं, इन्हें सुख कहीं भी नहीं हैं। इस प्रकार संसारभावनाका वर्णन किया ॥ १७ ॥

इसका संक्षेप यह है कि, संसारका कारण अज्ञानभाव है। अज्ञानभावसे परद्रव्योंमें मोह तथा रागद्वेषकी प्रवृत्ति होती है। रागद्वेषकी प्रवृत्तिसे कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्धका फल चारों गतिमें भ्रमण करना है, सो कार्य है। यहाँ कार्य और कारण दोनोंको ही संसार कहते हैं। यहां कार्यका वर्णन विशेषतासे किया गया है क्योंकि व्यवहारी जीवको कार्यरूप संसारका अनुभव विशेषतासे है। परमार्थसे अज्ञानभाव ही संसार है।

दोहा।

परद्रव्यनतें प्रीति जो, है संसार अबोध।
ताको फल गति चारमें, भ्रमण कह्यो श्रुतशोध ॥ ३ ॥

इति संसारभावना ॥ ३ ॥

अथ एकत्वभावना लिख्यते।

अब एकत्वभावनाका व्याख्यान करते हैं, सो प्रथम ही यह कहते हैं कि यह आत्मा समस्त अवस्थाओंमें एक ही होता है—

महाव्यसनसंकीर्णे दुःखज्वलनदीपिते।
एकाक्येव भ्रमत्यात्मा दुर्गे भवमरुस्थले ॥ १ ॥

अर्थ—महा आपदाओंसे भरे हुए दुःखरूपी-अग्निसे प्रज्वलित और गहन ऐसे संसाररूपी मरुस्थलमें (जल-वृक्षादि-हीन रेतीली भूमिमें) यह जीव अकेला ही भ्रमण करता है। कोई भी इसका साथी नहीं है ॥ १ ॥

स्वयं स्वकर्मनिर्वृत्तं फलं भोक्तुं शुभाशुभम्।
शरीरान्तरमादत्ते एकः सर्वत्र सर्वथा ॥ २ ॥

अर्थ—इस संसारमें यह आत्मा अकेला ही तो अपने पूर्वकर्मोंके सुखदुःखरूप फलको भोगता है और सर्व प्रकारसे अकेला ही समस्त गतियोंमें एक शरीरसे दूसरे शरीरको धारण करता है ॥ २ ॥

संकल्पानन्तरोत्पन्नं दिव्यं स्वर्गसुखामृतम्।
निर्विशत्ययमेकाकी स्वर्गश्रीरञ्जिताशयः ॥ ३ ॥

अर्थ तथा यह आत्मा अकेला ही स्वर्गकी शोभासे रंजायमान् होके कर देवोपनीत संकल्प मात्र करते ही उत्पन्न होनेवाले स्वर्गसुखरूपी अमृतका पान करता है अर्थात् स्वर्गके सुख भी अकेला ही भोगता है। कोई भी इसका साथी नहीं होता है ॥३॥

संयोगे विप्रयोगे च संभवे मरणेऽथ वा ।
सुखदुःखविधौ वास्य न सखान्योऽस्ति देहिनः ॥४॥

अर्थ---इस प्राणीके संयोगवियोगमें अथवा जन्ममरणमें तथा दुःख-सुख भोगनेमें कोई भी मित्र साथी नहीं है। अकेला ही भोगता है ॥४॥

मित्रपुत्रकलत्रादिकृते कर्म करोत्ययम् ।
यत्तस्य फलमेकाकी भुङ्क्ते श्वभ्रादिषु स्वयम् ॥५॥

अर्थ—तथा यह जीव पुत्र मित्र स्त्री आदिकके निमित्त जो कुछ बुरे-भले कार्य करता है, उनका फल भी नरकादिक गतियोंमें स्वयं अकेला ही भोगता है। वहाँ भी कोई पुत्रमित्रादि कर्मफल भोगनेको साथी नहीं होते ॥५॥

सहाया अस्य जायन्ते भोक्तुं वित्तानि केवलम् ।
न तु सोढुं स्वकर्मोत्थं निर्दया व्यसनावलीम् ॥६॥

अर्थ---यह प्राणी बुरे-भले कार्य करके जो धनोपार्जन करता है, उस धनके भोगनेको तो पुत्र-मित्रादि अनेक साथी हो जाते हैं, परन्तु अपने कर्मोंसे उपार्जन किये हुए निर्दयरूप दुःखोंके समूहको सहनेके अर्थ कोई भी साथी नहीं होता है! यह जीव अकेला ही सब दुःखोंको भोगता है ॥६॥

एकत्वं किं न पश्यन्ति जडा जन्मग्रहार्दिताः ।
यज्जन्ममृत्युसम्पाते प्रत्यक्षमनुभूयते ॥७॥

अर्थ---आचार्य महाराज कहते हैं कि, ये मूर्ख प्राणी संसाररूपी पिशाचसे पीड़ित हुए भी अपनी एकताको क्यों नहीं देखते, जिसे जन्ममरणके प्राप्त होने पर सब ही जीव प्रत्यक्षमें अनुभवन करते हैं। भावार्थ-आप अपनी आँखोंसे देखता है कि, यह जन्मा और यह मरा। जो जन्म लेता है वह मरता है। दूसरा कोई भी उसका साथी नहीं है। इस प्रकार एकाकीपन देख कर भी अपने एकाकीपनको नहीं देखता है, यह बड़ी भूल है ॥७॥

अज्ञातस्वस्वरूपोऽयं लुप्तबोधादिलोचनः ।
भ्रमत्यविरतं जीव एकाकी विधिवञ्चितः ॥८॥

अर्थ---यह जीव अपने अकेलेपनको नहीं देखता है इसका कारण यह है कि, ज्ञानादि नेत्रोंके लुप्त होनेसे यह अपने स्वरूपको भले प्रकार नहीं जानता है और इसी कारणसे कर्मोंसे ठगाया हुआ यह जीव एकाकी ही इस संसारमें भ्रमण करता है। भावार्थ—इसका अज्ञान ही कारण है ॥८॥

यदैक्यं मनुते मोहादयमर्थैः स्थिरेतरैः ।
तदा स्वं स्वेन बध्नाति तद्विपक्षः शिवीभवेत् ॥९॥

अर्थ—यह मूढ़ प्राणी जिस समय मोहके उदयसे चेतन तथा अचेतन पदार्थोंसे अपनी एकता मानता है तब यह जीव आपको अपने ही भावोंसे बांधता है अर्थात् कर्मबन्ध करता है। और जब यह अन्य पदार्थोंसे अपनी एकता नहीं मानता है तब कर्मबन्ध नहीं करता है। और कर्मोंकी निर्जरा-पूर्वक परंपरा मोक्षगामी होता है। एकत्वभावनाका यही फल है ॥९॥

एकाकित्वं प्रपन्नोऽस्मि यदाहं वीतविभ्रमः ।
तदैव जन्मसम्बन्धः स्वयमेव विशीर्यते ॥१०॥

अर्थ—जिस समय यह जीव भ्रमरहित हो ऐसा चिंतवन करे कि, मैं एकताको प्राप्त हो गया हूँ, उसी समय इस जीवका संसारका संबन्ध स्वयं ही नष्ट हो जाता है। क्योंकि संसारका संबंध तो मोह से है और यदि मोह जाता रहे, तो आप एक है फिर मोक्ष क्यों न पावें ! ॥१०॥

अब एकत्वभावनाका व्याख्यान पूरा करते है सो सामान्यतासे कहते हैं—

मन्दाक्रान्ता

एकः स्वर्गी भवति विबुधः स्त्रीमुखाम्भोजभृङ्गः
एकः श्वाभ्रं पिबति कलिलं छिद्यमानः कृपाणैः ।
एकः क्रोधाद्यनलकलितः कर्म बध्नाति विद्वान्
एकः सर्वावरणविगमे ज्ञानराज्यं भुनक्ति ॥११॥

अर्थ—यह आत्मा आप एक हो देवांगनाके मुखरूपी कमलकी सुगन्धि लेनेवाले भ्रमरके समान स्वर्गका देव होता है और अकेला आप ही कृपाण छुरी तलवारोंसे छिन्न भिन्न किया हुआ नरक संबन्धी रुधिरको पीता है तथा अकेला आप क्रोधादि कषायरूपी अग्निसहित हो कर कर्मोंको बांधता है और अकेला ही आप विद्वान् ज्ञानी पण्डित हो कर समस्त कर्मरूप आवरणके अभाव होने पर ज्ञान-रूप राज्यको भोगता है। भावार्थ—आत्मा आप अकेला ही स्वर्गमें जाता है, आप ही अकेला नरकमें जाता है, आप ही कर्म बांधता है और आप ही केवलज्ञान पा कर मोक्षको जाता है ॥११॥

इस भावनाका संक्षेप आशय इतना ही है कि, परमार्थसे (निश्चयसे) तो आत्मा अनन्तज्ञानादि स्वरूप आप एक ही है, परन्तु संसारमें जो अनेक अवस्थायें होती हैं वे कर्मके निमित्तसे होती हैं। उनमें भी आप अकेला ही है। इसका दूसरा कोई भी साथी नहीं है। इस प्रकार एकत्वभावनाका व्याख्यान किया है ॥

दोहा ।

परमारथतें आतमा, एक रूप ही जोय ।
कर्मनिमित विकलप घनें, तिनि नाशें शिव होय ॥४॥

इति एकत्वभावना ॥४॥

अथ अन्यत्वभावना लिख्यते ।

अब अन्यत्वभावनाका व्याख्यान करते हैं। प्रथम ही परमार्थतः आत्माको शरीरादिकसे भिन्न दिखाते हैं—

अयमात्मा स्वभावेन शरीरादेर्विलक्षणः ।
चिदानन्दमयः शुद्धो बन्धं प्रत्येकवानपि ॥१॥

अर्थ—यह आत्मा यदि कर्मबन्धको दृष्टिसे देखा जाय, तो बंधरूप वा एकरूप है और स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाय, तो शरीरादिकसे विलक्षण चिदानंदमय परद्रव्यसे भिन्न है, शुद्ध है ॥१॥

अचिच्चिद्रूपयोरैक्यं बन्धं प्रति न वस्तुतः ।
अनादिश्चानयोः श्लेषः स्वर्णकालिमयोरिव ॥२॥

अर्थ—चेतन और अचेतनके बन्धदृष्टिकी अपेक्षा एकपना है और वस्तुतः देखनेसे दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु हैं, एकपन नहीं है। इन दोनोंका अनादिकालसे एकक्षेत्रावगाहरूप संश्लेष है—मिलाप है। जैसे सुवर्ण और कालिमाके खानिमें एकपना है, उसी प्रकार जीव पुद्गलोंके एकता है, परन्तु वास्तवमें भिन्न-भिन्न वस्तु हैं ॥२॥

इह मूर्तममूर्तेन चलेनात्यन्तनिश्चलम् ।
शरीरमुह्यते मोहाच्चेतनेनास्तचेतनम् ॥३॥

अर्थ—इस जगतमें मोहके कारण अमूर्तीक और चलनेवाले जीवको यह मूर्तीक अति निश्चल चेतनारहित जड शरीर अपने साथ २ लगाये रहना पड़ता है। भावार्थ—जीव अमूर्तीक चेतन है। और मोहके कारण चलनेके स्वभावसहित है। और शरीर मूर्तीक है, अचेतन है, चलनेकी इच्छारहित है और चल नहीं है। यह जीव उसको जीता पुरुष जैसे मुरदेको लिये फिरे, उसी प्रकार लिये लिये फिरता है ॥३॥

अणुप्रचयनिष्पन्नं शरीरमिदमङ्गिनाम् ।
उपयोगात्मकोऽत्यक्षः शरीरी ज्ञानविग्रहः ॥४॥

अर्थ—जीवोंका यह शरीर पुद्गल-परमाणुओंके समूहसे बना है। और शरीरी अर्थात् आत्मा उपयोगमयी है और अतीन्द्रिय है। यह इन्द्रियगोचर नहीं है, तथा इसका ज्ञान ही शरीर है। शरीर और आत्मामें इस प्रकार अत्यन्त भेद है ॥४॥

अन्यत्वं किं न पश्यन्ति जडा जन्मग्रहार्दिताः ।
यज्जन्ममृत्युसंपाते सर्वेणापि प्रतीयते ॥५॥

अर्थ—यद्यपि उक्त प्रकारसे शरीर और आत्माके अन्यपना है, तथापि संसाररूपी पिशाचसे पीड़ित मूढ प्राणी क्यों नहीं देखते कि, यह अन्यपना जन्म तथा मरणके सम्पातमें सर्व लोककी प्रतीतिमें

जाता है ! अर्थात् जन्मा तब शरीरको साथ लाया नहीं, और मरता है तब यह शरीर साथ जाता नहीं है। इस प्रकार शरीरसे जीवकी पृथक्ता प्रतीत होती है ॥५॥

मूर्तैर्विचेतनैश्चित्रैः स्वतन्त्रैः परमाणुभिः ।
यद्वपुर्विहितं तेन कः सम्बन्धस्तदात्मनः ॥६॥

अर्थ—मूर्तीक चेतनारहित नाना प्रकारके स्वतन्त्र पुद्गल परमाणुओंसे जो शरीर रचा गया है उससे और आत्मासे क्या संबंध है ! विचारो ! इसका विचार करनेसे कुछ भी संबंध नहीं है, ऐसा प्रतिभास होगा ॥६॥

इस प्रकार शरीरसे भिन्नता बताई, अब अन्यान्य पदार्थोंसे भिन्नता दिखाते हैं—

अन्यत्वमेव देहेन स्याद्भृशं यत्र देहिनः ।
तत्रैक्यं बन्धुभिः सार्धं बहिरङ्गैः कुतो भवेत् ॥७॥

अर्थ— जब उपर्युक्त प्रकारसे देहसे ही प्राणीके अत्यन्त भिन्नता है, तब बहिरंग जो कुटुंबादिक हैं उनसे एकता कैसे हो सकती है ? क्योंकि ये तो प्रत्यक्षमें भिन्न दीख पड़ते हैं ॥७॥

ये ये सम्बन्धमायाताः पदार्थाश्चेतनेतराः ।
ते ते सर्वेऽपि सर्वत्र स्वस्वरूपाद्विलक्षणाः ॥८॥

अर्थ—इस जगतमें जो जो जड़ और चेतन पदार्थ इस प्राणीके संबंधरूप हुए हैं, वे सब ही सर्वत्र अपने २ स्वरूपसे विलक्षण (भिन्न भिन्न) हैं, आत्मा सबसे अन्य है ॥८॥

पुत्रमित्रकलत्राणि वस्तूनि च धनानि च ।
सर्वथाऽन्यस्वभावानि भावय त्वं प्रतिक्षणम् ॥९॥

अर्थ—हे आत्मन् ! इस जगतमें पुत्र मित्र स्त्री आदि अन्य वस्तुओंकी तू निरन्तर सर्व प्रकारसे अन्य-स्वभाव भावना कर, इनमें एकपनेकी भावना कदापि न कर, ऐसा उपदेश है ॥९॥

अन्यः कश्चिद्भवेत्पुत्रः पितान्यः कोऽपि जायते ।
अन्येन केनचित्सार्द्धं कलत्रेणानुयुज्यते ॥१०॥

अर्थ—इस जगतमें कोई अन्य जीव ही तो पुत्र होता है और अन्य ही पिता होता है और किसी अन्य जीवके ही साथ स्त्रीसंबंध होता है। इस प्रकार सब ही संबंध भिन्न २ जीवोंसे होते हैं ॥१०॥

स्वस्वरूपमतिक्रम्य पृथक्पृथग्व्यवस्थिताः ।
सर्वेऽपि सर्वथा मूढ भावास्त्रैलोक्यवर्तिनः ॥११॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी ! तीनलोकवर्ती समस्त ही पदार्थ तेरे स्वरूपसे भिन्न सर्वथा पृथक् पृथक् तिष्ठते हैं, तू उनसे अपना एकत्व न मान ॥११॥

अब अन्यत्वभावनाके कथनको पूरा करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम्

मिथ्यात्वप्रतिबद्धदुर्णयपथभ्रान्तेन बाह्यानलं
भावान् स्वान् प्रतिपद्य जन्मगहने खिन्नं त्वया प्राक् चिरं ।
संप्रत्यस्तसमस्तविभ्रमभवश्चिद्रूपमेकं परम्
स्वस्थं स्वं प्रविगाह्य सिद्धिवनितावक्त्रं समालोकय ॥१२॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू इस संसाररूपी गहन वनमें मिथ्यात्वके संबंधसे उत्पन्न हुए सर्वथा एकान्तरूप दुर्नयके मार्गमें भ्रमरूप होता हुआ, बाह्य पदार्थोंको अतिशय करके अपने मान करके तथा अंगीकार करके, चिरकालसे सदैव खेदखिन्न हुआ और तब अस्त हुआ है समस्त विभ्रमोंका भार जिसका ऐसा होकर, तू अपने आप ही में रहनेवाले उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूपको अवगाहन करके उसमें मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखको अवलोकन कर (देख)। **भावार्थ**—यह आत्मा अनादिकालसे पर पदार्थोंको अपने मान कर उनमें रमता है इसी कारणसे संसारमें भ्रमण किया करता है। आचार्य महाराजने ऐसे ही जीवको उपदेश किया है कि, तू परभावोंसे भिन्न अपने चैतन्यभावमें लीन होकर मुक्तिको प्राप्त हो। इस प्रकार यह अन्यत्वभावनाका उपदेश है ॥१२॥

इसका संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि, इस लोकमें समस्त द्रव्य अपनी अपनी सत्ताको लिये भिन्न भिन्न हैं। कोई भी किसीमें मिलता नहीं है और परस्पर निमित्तनैमित्तिकभावसे कुछ कार्य होता है,उसके भ्रमसे यह प्राणी परमें अहंकार ममकार करता है, सो जब यह अपना स्वरूप जाने तब अहंकार ममकार अपनेमें ही हो और तब परका उपद्रव आपके नहीं आवें यह अन्यत्वभावना है ॥

दोहा।

अपने अपने सत्वकूं, सर्व वस्तु विलसाय ।
ऐसें चितवै जीव तब, परतैं ममत न थाय ॥५॥

इति अन्यत्वभावना ॥५॥

अथ अशुचित्वभावना लिख्यते ।

यह अशुचिभावनाका व्याख्यान करते हैं। प्रथम शरीरकी अशुद्धता दिखाते हैं—

निसर्गगलिलं निन्द्यमनेकाशुचिसम्भृतम् ।
शुक्रादिबीजसम्भूतं घृणास्पदमिदं वपुः ॥१॥

अर्थ—इस संसारमें जीवोंका जो शरीर है, वह प्रथम तो स्वभावसे ही गलनरूप (मैला झरनेवाला) है, निंद्य है, तथा अनेक धातु उपधातुओंसे भरा हुआ है। एवं शुक्र रुधिरके बीजसे उत्पन्न हुआ है, इस कारण ग्लानिका स्थान है ॥१॥

असृग्मांसवसाकीर्णं शीर्णं कीकसपञ्जरम् ।
शिरानद्धं च दुर्गन्धं क्व शरीरं प्रशस्यते ॥२॥

अर्थ—यह शरीर रुधिर मांस चर्बीसे घिरा हुआ सड़ रहा है, हाडोंका पंजर है और शिराओंसे (नसोंसे) बंधा हुआ दुर्गन्धमय है । आचार्य महाराज कहते हैं, कि इस शरीरके कौनसे स्थानकी प्रशंसा करें ? सर्वत्र निंद्य ही दीख पडता है ॥२॥

प्रस्रवन्नवभिर्द्वारैः पूतिगन्धानिरन्तरम् ।
क्षणक्षयं पराधीनं शश्वन्नरकलेवरम् ॥३॥

अर्थ—यह मनुष्यका शरीर नव द्वारोंसे निरन्तर दुर्गन्धरूप पदार्थोंसे झरता रहता है, तथा क्षणध्वंसी पराधीन है और नित्य अन्नपानीकी सहायता चाहता है ॥३॥

कृमिजालशताकीर्णे रोगप्रचयपीडिते ।
जराजर्जरिते काये कीदृशी महतां रतिः ॥४॥

अर्थ—यह शरीर लट कीडोंके सैंकड़ो समूहोंसे भरा हुआ रोगोंके समूहसे पीड़ित तथा वृद्धावस्थासे जर्जरित है। ऐसे शरीरमें महन्त पुरुषोंकी रति (प्रीति) कैसे हो ? कदापि नहीं हो ॥४॥

यद्यद्वस्तु शरीरेऽत्र साधुबुद्ध्या विचार्यते ।
तत्तत्सर्वं घृणां दत्ते दुर्गन्धामेध्यमंदिरे ॥५॥

अर्थ—इस शरीरमें जो जो पदार्थ हैं, सुबुद्धिसे विचार करने पर वे सब घृणाके स्थान तथा दुर्गन्धमय विष्टाके घर ही प्रतीत होते हैं । इस शरीरमें कोई भी पदार्थ पवित्र नहीं है ॥५॥

यदीदं शोध्यते दैवाच्छरीरं सागराम्बुभिः ।
दूषयत्यपि तान्येवं शोध्यमानमपि क्षणे ॥६॥

अर्थ—यदि इस शरीरको दैवात् समुद्रके जलसे भी शुद्ध किया जाय, तो उसी क्षण समुद्रके जलको भी यह अशुद्ध (मैला) कर देता है। अन्य वस्तुको अपवित्र कर दे, तो आश्चर्य ही क्या है ? ॥६॥

कलेवरमिदं न स्याद्यदि चर्मावगुण्ठितम् ।
मक्षिकाकृमिकाकेभ्यः स्यात्त्रातुं कस्तदा प्रभुः ॥७॥

अर्थ—यदि यह शरीर बाहिरके चमड़ेसे ढका हुआ नहीं होता, तो मक्खी कृमि तथा कौओंसे इसकी रक्षा करनेमें कोई भी समर्थ नहीं होता । ऐसे घृणास्पद शरीरको देख कर सत्पुरुष जब दूरसे ही छोड़ देते हैं, तब इसकी रक्षा कौन करें ? ॥७॥

सर्वदैव रुजाक्रान्तं सर्वदैवाशुचेर्गृहम् ।
सर्वदा पतनप्रायं देहिनां देहपञ्जरम् ॥८॥

अर्थ—इन जीवोंका देहरूपी पींजरा सदा ही रोगोंसे व्याप्त, सर्वदा अशुद्धताओंका घर और सदा ही पतन होनेके स्वभाववाला है । ऐसा कभी मत समझो कि, किसी कालमें यह उत्तम और पवित्र होता होगा ॥८॥

तैरेव फलमेतस्य गृहीतं पुण्यकर्मभिः ।
विरज्य जन्मनः स्वार्थे यः शरीरं कदर्थितम् ॥ ९ ॥

अर्थ—इस शरीरके प्राप्त होनेका फल उन्हींने लिया, जिन्होंने संसारसे विरक्त हो कर इसे अपने आत्मकल्याणके मार्गमें लगा कर पुण्यकर्मोंसे क्षीण किया ॥ ९ ॥

शरीरमेतदादाय त्वया दुःखं विसह्यते ।
जन्मन्यस्मिंस्ततस्तद्धि निःशेषानर्थमन्दिरम् ॥ १० ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! इस संसारमें तूने इस शरीरको ग्रहण करके दुःख पाये वा सहे हैं इसीसे तू निश्चय कर जान कि, यह शरीर ही समस्त अनर्थोंका घर है, इसके संसर्गसे सुखका लेश भी नहीं मान ॥ १० ॥

भवोद्भवानि दुःखानि यानि यानीह देहिभिः ।
सह्यन्ते तानि तान्युच्चैर्वपुरादाय केवलम् ॥ ११ ॥

अर्थ—इस जगतमें संसारसे (जन्ममरणसे) उत्पन्न जो जो दुःख जीवोंको सहने पड़ते हैं, वे सब केवल इस शरीरके ग्रहणसे ही सहने पड़ते हैं। इस शरीरसे निवृत्त (मुक्त) होने पर फिर कोई भी दुःख नहीं है ॥ ११ ॥

आर्या ।

कर्पूरकुङ्कुमागुरुमृगमदहरिचन्दनादिवस्तूनि ।
भव्यान्यपि संसर्गान्मलिनयति कलेवरं नृणाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—कर्पूर, केशर, अगर, कस्तूरी, हरिचंदनादि सुन्दर सुन्दर पदार्थोंको भी यह मनुष्योंका शरीर संसर्गमात्रसे अर्थात् लगाते हो अशुभ (मैले) कर देता है। भावार्थ—आप तो मैला है ही और संसर्गसे उत्तमोत्तम पदार्थोंको भी मलीन कर देता है, यह अधिकता है ॥ १२ ॥

अब अशुचिभावनाके कथनको पूरा करते हैं—

मालिनी ।

अजिनपटलगूढं पञ्जरं कीकसानाम्
कुथितकुणपगन्धैः पूरितं मूढगाढम् ।
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं
कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम् ॥ १३ ॥

अर्थ—हे मूढ़ प्राणी ! इस संसारमें मनुष्योंका यह शरीर चर्मके पटलोंसे (परदोंसे) ढका हुआ हाडोंका पिंजरा है, तथा बिगड़ी हुई. राधकी (पीबकी) दुर्गन्धसे परिपूर्ण है, एवं कालके मुखमें बैठे हुए रोगरूपी सर्पोंका घर है। ऐसा शरीर प्रीति करनेके योग्य कैसे हो ? यह बड़ा आश्चर्य है ॥ १३ ॥

इस अशुचिभावनाके व्याख्यानका संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि, आत्मा तो निर्मल है, अमूर्तिक है और उसके मल लगता ही नहीं है; परन्तु कर्मोंके निमित्तसे जो इसके शरीरका संबंध है उसे यह अज्ञानी

(मोहसे) अपना मान कर भला जानता है, और मनुष्योंका यह शरीर सर्वतया अपवित्रताका घर है। इस कारण इसमें जब अशुचिभावना भावे, तब इससे विरक्तता होकर अपने निर्मल आत्मस्वरूपमें रमनेकी रुचि हो। इस प्रकार अशुचिभावनाका आशय है।

दोहा।

निर्मल अपनो आतमा, देह अपावनगेह।
जानि भव्य निजभावको, यासों तजो सनेह॥ ६॥

इति अशुचिभावना॥ ६॥

अथ आस्रवभावना लिख्यते।

आगे आस्रवभावनाका व्याख्यान करते हैं। प्रथम ही आस्रवका स्वरूप कहते हैं—

मनस्तनुवचःकर्म योग इत्यभिधीयते।
स एवास्रव इत्युक्तस्तत्त्वज्ञानविशारदैः॥ १॥

अर्थ—मन-वचन-कायकी क्रियाको योग कहते हैं और इस योगको ही तत्त्वविशारदोंने (ऋषियोंने) आस्रव कहा है! यह स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है, यथा—"कायवाङ्मनः कर्म योगः, स आस्रवः"॥ १॥

वार्धेरन्तः समादत्ते यानपात्रं यथा जलम्।
छिद्रैर्जीवस्तथा कर्मयोगरन्ध्रैः शुभाशुभैः॥ २॥

अर्थ—जैसे समुद्रमें प्राप्त हुआ जहाज छिद्रोंसे जलको ग्रहण करता है, उस ही प्रकार जीव शुभाशुभ योगरूप छिद्रोंसे (मनवचनकायसे) शुभाशुभ कर्मोंको ग्रहण करता है॥ २॥

यमप्रशमनिर्वेदतत्त्वचिन्तावलम्बितम्।
मैत्र्यादिभावनारूढं मनः सूते शुभास्रवम्॥ ३॥

अर्थ—यम (अणुव्रत महाव्रत), प्रशम (कषायोंकी मंदता), निर्वेद (संसारसे विरागता अथवा धर्मानुराग), तथा तत्त्वोंका चिन्तवन इत्यादिका अवलंबन हो, एवं मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावोंको जिस मनमें भावना हो, वही मन शुभास्रवको उत्पन्न करता है॥३॥ और—

कषायदहनोद्दीप्तं विषयैर्व्याकुलीकृतम्।
संचिनोति मनः कर्म जन्मसम्बन्धसूचकम्॥ ४॥

अर्थ—कषायरूप अग्निसे प्रज्वलित और इन्द्रियोंके विषयोंसे व्याकुल मन संसारके संबंधके सूचक अशुभ कर्मोंका संचय करता है॥ ४॥

विश्वव्यापारनिर्मुक्तं श्रुतज्ञानावलम्बितम् ।
शुभास्रवाय विज्ञेयं वचः सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥५॥

अर्थ—समस्त विश्वके व्यापारोंसे रहित, तथा श्रुतज्ञानके अवलम्बनयुक्त और सत्यरूप प्रामाणिक वचन शुभास्रवके लिये होते हैं ॥५॥

अपवादास्पदीभूतमसन्मार्गोपदेशकम् ।
पापास्रवाय विज्ञेयमसत्यं परुषं वचः ॥६॥

अर्थ—अपवाद (निन्दा) का स्थान, असन्मार्गका उपदेशक, असत्य, कठोर, कानोंसे सुनते ही जो दूसरेके कषाय उत्पन्न कर दे, और जिससे परका बूरा हो जाय, ऐसे वचन अशुभास्रवके कारण होते हैं ॥६॥

सुगुप्तेन सुकायेन कायोत्सर्गेण वानिशम् ।
संचिनोति शुभं कर्म काययोगेन संयमी ॥७॥

अर्थ—भले प्रकार गुप्तरूप किये हुए, अर्थात् अपने वशीभूत किये हुए कायसे तथा निरन्तर कायोत्सर्गसे संयमी मुनी शुभ कर्मको संचय (आस्रवरूप) कहते हैं ॥७॥

सततारम्भयोगैश्च व्यापारैर्जन्तुघातकैः ।
शरीरं पापकर्माणि संयोजयति देहिनाम् ॥८॥

अर्थ - निरन्तर आरम्भ करनेवाले और जीवघातके कार्योंसे तथा व्यापारोंसे जीवोंका शरीर (काययोग) पापकर्मोंको संग्रह करता है अर्थात् काययोगसे अशुभास्रव करता है ॥८॥

अब आस्रवभावनाका व्याख्यान पूर्ण करते हैं—

शिखरिणी

कषायाः क्रोधाद्याः स्मरसहचराः पञ्चविषयाः
प्रमादा मिथ्यात्वं वचनमनसी काय इति च ।
दुरन्ते दुर्ध्याने विरतिविरहश्चेति नियतम्
स्रवन्त्येते पुंसां दुरितपटलं जन्मभयदम् ॥९॥

अर्थ—प्रथम तो मिथ्यात्वरूप परिणाम, दूसरे क्रोधादि कषाय, तीसरे कामके सहचारी (मित्र) पंचेन्द्रियोंके विषय, चौथे प्रमाद विकथा, पांचवें मनवचनकायके योग, छट्ठे व्रतरहित अविरतिरूप परिणाम और सातवें आर्त्त-रौद्र दोनों अशुभ ध्यान ये सब परिणाम नियमसे पापरूप आस्रवोंको करते हैं। इन परिणामोंका विशेष कथन तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाओंसे जानना चाहिये। इस प्रकार आस्रवभावनाका व्याख्यान पूर्ण किया ॥९॥

इसका संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि, यद्यपि यह आत्मा शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे तो आस्रवसे रहित केवलज्ञानरूप है, तथापि अनादिकर्मके संबन्धसे मिथ्यात्वादि परिणामरूप परिणमता है, अतएव नवीन

कर्मोंका आस्रव करता है। जब उन मिथ्यात्वादि परिणामोंसे निवृत्ति पाके अपने स्वरूपका ध्यान करे, तब कर्मास्रवोंसे रहित हो और मुक्त हो। यह आस्रवभावनाका आशय है॥

दोहा।

आतम केवलज्ञानमय, निश्चयदृष्टि निहार।
सब विभावपरिणाममय, आस्रवभाव विडार॥७॥

इति आस्रवभावना॥७॥

अथ संवरभावना लिख्यते।

आगे संवरभावनाका व्याख्यान करते हैं। पहिले संवरका स्वरूप कहते हैं—

सर्वास्रवनिरोधो यः संवरः स प्रकीर्तितः।
द्रव्यभावविभेदेन स द्विधा भिद्यते पुनः॥१॥

अर्थ—समस्त आस्रवोंके निरोधको संवर कहा है। वह द्रव्यसंवर तथा भावसंवरके भेदसे दो प्रकारका है॥१॥

आगे दोनों भेदोंका स्वरूप कहते हैं—

यः कर्मपुद्गलादानविच्छेदः स्यात्तपस्विनः।
स द्रव्यसंवरः प्रोक्तो ध्याननिर्धूतकल्मषैः॥२॥

अर्थ—ध्यानसे पापोंको उडानेवाले ऋषियोंने कहा है कि जो तपस्वी मुनियोंके कर्मरूप पुद्गलोंके ग्रहण करनेका विच्छेद (निरोध) हो, वह द्रव्यसंवर है॥२॥

या संसारनिमित्तस्य क्रियाया विरतिः स्फुटम्।
स भावसंवरस्तज्ज्ञैर्विज्ञेयः परमागमात्॥३॥

अर्थ—संसारके कारणस्वरूप कर्मग्रहणकी क्रियाकी विरति अर्थात् अभावको भावसंवर कहते हैं, यह निश्चित है ऐसा उक्त भावसंवरके ज्ञाताओंको परमागमसे जानना चाहिये॥३॥

असंयममयैर्बाणैः संवृतात्मा न भिद्यते।
यमी यथा सुसन्नद्धो वीरः समरसंकटे॥४॥

अर्थ—जिस प्रकार युद्धके संकटमें भले प्रकारसे सजा हुआ वीरपुरुष बाणोंसे नहीं भिदता है, उसी प्रकार संसारकी कारणरूप क्रियाओंसे विरतिरूप संवरवाला संयमी मुनि भी असंयमरूप बाणोंसे नहीं भिदता है॥४॥

जायते यस्य यः साध्यः स तेनैव निरुध्यते।
अप्रमत्तैः समुद्युक्तैः संवरार्थं महर्षिभिः॥५॥

अर्थ—प्रमादरहित संवरके लिये उद्यमी महर्षियों द्वारा जो जिसका साध्य हो, वह उसीसे रोकना चाहिये । भावार्थ—जिस कारणसे आस्रव हो, उसके प्रतिपक्षी भावोंसे उसे रोकना चाहिये ॥५॥

उन भावोंको आगे कहते हैं—

क्षमा क्रोधस्य मानस्य मार्दवं त्वार्जवं पुनः ।
मायायाः सङ्गसन्यासो लोभस्यैते द्विषः क्रमात् ॥६॥

अर्थ—क्रोधकषायका तो क्षमा शत्रु है, तथा मानकषायका मृदुभाव (कोमलभाव), मायाकषायका ऋजुभाव (सरलभाव) और लोभकषायका परिग्रह त्यागभाव;इस प्रकार अनुक्रमसे शत्रु जानने चाहिये ॥६॥

और—

रागद्वेषौ समत्वेन निर्ममत्वेन वाऽनिशम् ।
मिथ्यात्वं दृष्टियोगेन निराकुर्वन्ति योगिनः ॥७॥

अर्थ—जो योगी ध्यानी मुनि हैं, वे निरंतर समभावोंसे अथवा निर्ममत्वसे रागद्वेषका निराकरण (परास्त) करते रहते हैं, तथा निर्ममत्वसे और सम्यग्दर्शनके योगसे मिथ्यात्वरूप भावोंको नष्ट कर देते हैं ॥७॥

अविद्याप्रसरोद्भूतं तमस्तत्त्वावरोधकम् ।
ज्ञानसूर्यांशुभिर्वीढ़ं स्फेटयन्त्यात्मदर्शिनः ॥८॥

अर्थ—आत्माको अवलोकन करनेवाले मुनिगण अविद्याके विस्तारसे उत्पन्न और तत्त्वज्ञानको रोकनेवाले अज्ञानरूपी अन्धकारको ज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंसे अतिशय दूर कर देते हैं ॥८॥

असंयमगरोद्गारं सत्संयमसुधाम्बुभिः ।
निराकरोति निःशङ्कं संयमी संवरोद्यतः ॥९॥

अर्थ—संवर करनेमें तत्पर संयमी और निःशंक मुनि असंयमरूपी विषके (जहरके) उद्गारको संयमरूपी अमृतमयी जलोंसे दूर कर देते हैं ॥९॥

द्वारपालीव यस्योच्चैर्विचारचतुरा मतिः ।
हृदि स्फुरति तस्याघसूतिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ॥१०॥

अर्थ—जिस पुरुषके हृदयमें द्वारपालके समान अतिशय विचार करनेवाली चतुर मति कलोलें करती है, उसके हृदयमें स्वप्नमें भी पापकी उत्पत्ति होनी कठिन है । भावार्थ—जैसे चतुर द्वारपाल मैले तथा असभ्यजनोंको घरमें प्रवेश नहीं करने देता है उसी प्रकार समीचीन बुद्धि पापबुद्धिको हृदयमें फटकने नहीं देती ॥१०॥

अब संक्षेपतासे कहते हैं—

विहाय कल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मनः ।
यदाधत्ते तदैव स्यान्मुनेः परमसंवरः ॥११॥

अर्थ—जिस समय समस्त कल्पनाओंके जालको छोड़ कर अपने स्वरूपमें मनको निश्चलतासे थांमते हैं, उस ही काल मुनिको परमसंवर होता है ॥११॥

आगे संवरका कथन पूर्ण करते हुए संवरकी महिमा कहते हैं—

मालिनी।

सकलसमितिमूलः संयमोद्दामकाण्डः
प्रशमविपुलशाखो धर्मपुष्पावकीर्णः।
अविकलफलबन्धैर्बन्धुरो भावनाभि-
र्जयति जितविपक्षः संवरोद्दामवृक्षः॥ १२॥

अर्थ—ईर्यासमिति आदि पांच समितियां ही हैं मूल अर्थात् जड़ जिसकी, सामायिक आदि संयम ही हैं स्कन्ध जिसके, और प्रशमरूप (विशुद्धभावरूप) बड़ी २ शाखावाला, उत्तमक्षमादि दश धर्म हैं पुष्प जिसके, तथा मजबूत अविकल हैं फल जिसमें, ऐसा बारह भावनाओंसे सुंदर यह संवररूपी महावृक्ष सर्वोपरि है। इस प्रकार संवरभावनाका व्याख्यान किया॥ १२॥

इसका संक्षिप्त आशय यह है कि, आत्मा अनादिकालसे अपने स्वरूपको भूल रहा है, इस कारण आस्रवरूप भावोंसे कर्मोंको बांधता है और जब यह अपने स्वरूपको जान कर उनमें लीन होता है, तब यह संवररूप हो कर आगामी कर्मबन्धको रोकता है, और पूर्वकर्मोंको निर्जरा होने पर मुक्त हो जाता है। उस संवरके बाह्यकारण समिति, गुप्ति, धर्मानुप्रेक्षा, परीषहोंका जीतना तथा चारित्र आदि कहे गये हैं। उनका विशेष कथन तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाओंसे जानना चाहिये॥

दोहा।

निजस्वरूपमें लीनता, निश्चयसंवर जानि।
समिति-गुप्ति-संयम धरम, धरें पापकी हानि॥ ८॥

इति संवरभावना॥ ८॥

अथ निर्जराभावना लिख्यते।

आगे निर्जराभावनाका व्याख्यान करते हैं। प्रथम ही निर्जराका तथा यह जिनको होती है, उन्होंका स्वरूप कहते हैं—

यया कर्माणि शीर्यन्ते बीजभूतानि जन्मनः।
प्रणीता यमिभिः सेयं निर्जरा जीर्णबन्धनैः॥ १॥

अर्थ—निर्जरासे जीर्ण हो गये हैं कर्मबन्ध जिनके ऐसे मुनिजन जिससे संसारके बीजरूप कर्म गल जाते हैं वा झड़ जाते हैं, उसे निर्जरा कहते हैं॥ १॥

सकामाकामभेदेन द्विधा सा स्याच्छरीरिणाम् ।
निर्जरा यमिनां पूर्वा ततोऽन्या सर्वदेहिनाम् ॥२॥

अर्थ—यह निर्जरा जीवोंको सकाम और अकाम दो प्रकारकी होती है। इनमेंसे पहिली सकामनिर्जरा तो मुनियोंको होती है और अकामनिर्जरा समस्त जीवोंको होती है। इससे अर्थात् अकामनिर्जरासे विना तपश्चरणादिके स्वयमेव निरन्तर ही कर्म उदयरस दे कर क्षरते रहते हैं ॥२॥

पाकः स्वयमुपायाच्च स्यात्फलानां तरोर्यथा ।
तथात्र कर्मणां ज्ञेयः स्वयं सोपायलक्षणः ॥३॥

अर्थ—जिस प्रकार वृक्षोंके फलोंका पकना एक तो स्वयं ही होता है, दूसरे पाल देनेसे भी होता है। इसी प्रकार कर्मोंका पकना भी है अर्थात् एक तो कर्मोंकी स्थिति पूरी होने पर फल दे कर खिर जाती है, दूसरे सम्यग्दर्शनादिसहित तपश्चरण करनेसे कर्म नष्ट हो जाते हैं अर्थात् क्षर जाते हैं ॥३॥

विशुद्ध्यति हुताशेन सदोषमपि काञ्चनम् ।
यद्वत्तथैव जीवोऽयं तप्यमानस्तपोऽग्निना ॥४॥

अर्थ—जैसे सदोष भी सुवर्ण (सोना) अग्निमें तपानेसे विशुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार यह कर्मरूपी दोषोंसहित जीव तपरूपी अग्निमें तपनेसे विशुद्ध और निर्दोष (कर्मरहित) हो जाता है ॥४॥

चमत्कारकरं धीरैर्बाह्यमाध्यात्मिकं तपः ।
तप्यते जन्मसन्तानशङ्कितैरार्यसूरिभिः ॥५॥

अर्थ—संसारकी परिपाटीसे भयभीत धीर और श्रेष्ठ मुनीश्वरगण उक्त निर्जराका एक मात्र कारण तप ही है, ऐसा जानकर बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकारका तप करते हैं ॥५॥

तत्र बाह्यं तपः प्रोक्तमुपवासादिषड्विधम् ।
प्रायश्चित्तादिभिर्भेदैरन्तरङ्गं च षड्विधम् ॥६॥

अर्थ—उनमेंसे अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, और कायक्लेश ये छह तो बाह्य (बहिरंग) तप हैं और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, और ध्यान ये छह अभ्यन्तर तप हैं। इनका विशेषरूप जानना हो तो तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाओंको देखना चाहिये ॥६॥

निर्वेदपदवीं प्राप्य तपस्यति यथा यथा ।
यमी क्षपति कर्माणि दुर्जयानि तथा तथा ॥७॥

अर्थ—संयमी मुनी वैराग्य पदवीको प्राप्त हो कर जैसे जैसे (ज्यों ज्यों) तप करते हैं, तैसे तैसे (त्यों त्यों) दुर्जय कर्मोंको क्षय करते हैं ॥७॥

ध्यानानलसमालीढमप्यनादिसमुद्भवम् ।
सद्यः प्रक्षीयते कर्म शुद्ध्यत्यङ्गी सुवर्णवत् ॥८॥

अर्थ—यद्यपि कर्म अनादि कालसे जीवके साथ लगे हुए हैं, तथापि वे ध्यानरूपी अग्निसे स्पर्श होने पर तत्काल ही क्षय हो जाते हैं। उनके क्षय हो जानेसे जैसे अग्निके तापसे सुवर्ण शुद्ध होता है, उसी प्रकार यह प्राणी भी तपसे कर्म नष्ट हो कर शुद्ध (मुक्त) हो जाता है ॥८॥

अब निर्जराका कथन पूर्ण करते हैं—

शिखरिणी।

तपस्तावद्बाह्यं चरति सुकृति पुण्यचरित-
स्ततश्चात्माधीनं नियतविषयं ध्यानपरमम्।
क्षपत्यन्तर्लीनं चिरतरचितं कर्मपटलम्
ततो ज्ञानाम्भोधिं विशति परमानन्दनिलयम् ॥९॥

अर्थ—पवित्र आचरणवाला सुकृती पुरुष प्रथम अनशनादि बाह्यतपोंका आचरण करता है, तत्पश्चात् आत्माधीन आभ्यन्तर तपोंको आचरता है। और उनमें नियत विषयवाले ध्याननामा उत्कृष्ट तपको आचरता है। इस तपसे चिरकालसे संचित किये हुए कर्मरूपी पटलको (घातिया कर्मोंको) क्षय करता है, और पश्चात् परमानंदके (अतीन्द्रियसुखके) घर ज्ञानरूपी समुद्रमें प्रवेश करता है **भावार्थ**—सम्यग्दृष्टि जीव दोनो प्रकारके तपोंसे विशेषतया ध्याननामक उत्कृष्ट तपसे घातिया कर्मोंको नष्ट करके केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टयको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार निर्जराभावनाका व्याख्यान किया है ॥९॥

इसका संक्षिप्त आशय यह है कि, आत्मा और कर्मका सम्बन्ध अनादि कालसे है। काललब्धिके निमित्तसे यह आत्मा अपने स्वरूपको जब सम्हारे और तपश्चरण करके ध्यानमें लीन हो, तब संवररूप हो। और जब यह आगामी नये कर्म नहीं बांधे और पुराने कर्मोंकी निर्जरा करे, तब मोक्षको प्राप्त हो ॥

दोहा।

संवरमय है आतमा, पूर्वकर्म झड जाय।
निजस्वरूपको पायकर, लोकशिखर जब थाय ॥९॥

इति निर्जराभावना ॥९॥

अथ धर्मभावना लिख्यते।

अब धर्मभावनाका व्याख्यान करते हैं—

पवित्रीक्रियते येन येनैवोद्ध्रियते जगत्।
नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्मकल्पाङ्घ्रिपाय वै ॥१॥

अर्थ—जिस धर्मसे जगत् पवित्र किया जाता है, तथा उद्धार किया जाता है, और जो दयारूपी रससे आर्द्रित (गीला) और हरा है, उस धर्मरूपी कल्पवृक्षके लिये मेरा नमस्कार है। इस प्रकार आचार्य महाराजने धर्मका माहात्म्य कथनपूर्वक नमस्कार किया है ॥१॥

दशलक्ष्मयुतः सोऽयं जिनैर्धर्मः प्रकीर्तितः ।
यस्यांशमपि संसेव्य विन्दन्ति यमिनः शिवम् ॥ २ ॥

अर्थ—वह धर्म जिसके अंशमात्रको भी सेवन करके संयमी मुनि मुक्तिको प्राप्त होते हैं, उसे जिनेन्द्र भगवान्ने दश लक्षणयुक्त कहा है ॥ २ ॥

न सम्यग्गदितुं शक्यं यत्स्वरूपं कुदृष्टिभिः ।
हिंसाक्षपोषकैः शास्त्रैरतस्तैस्तन्निगद्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—धर्मका स्वरूप मिथ्यादृष्टियों तथा हिंसा और इन्द्रियविषयपोषण करनेवाले शास्त्रोंके द्वारा भले प्रकार नहीं कहा जा सकता। इस कारण इस धर्मका वास्तविक स्वरूप हम कहते हैं ॥ ३ ॥

चिन्तामणिर्निधिर्दिव्यः स्वर्धेनुः कल्पपादपाः ।
धर्मस्यैते श्रिया सार्द्धं मन्ये भृत्याश्चिरन्तनाः ॥ ४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि "लक्ष्मीसहित चिन्तामणि, दिव्यनवनिधि, कामधेनु और कल्पवृक्ष, ये सब धर्मके चिरकालसे किंकर (सेवक) हैं, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ४ ॥

धर्मो नरोरगाधीशनाकनायकवाञ्छिताम् ।
अपि लोकत्रयीपूज्यां श्रियं दत्ते शरीरिणाम् ॥ ५ ॥

अर्थ—धर्म, जीवोंको चक्रवर्ती धरणीन्द्र तथा देवेन्द्रों द्वारा वांछित और त्रैलोक्यपूज्य तीर्थंकरकी लक्ष्मीको देता है ॥ ५ ॥

धर्मो व्यसनसंपाते पाति विश्वं चराचरम् ।
सुखामृतपयःपूरैः प्रीणयत्यखिलं जगत् ॥ ६ ॥

अर्थ—धर्म, कष्टके आने पर समस्त जगतके त्रस स्थावर जीवोंकी रक्षा करता है और सुखरूपी अमृतके प्रवाहोंसे समस्त जगतको तृप्त करता है ॥ ६ ॥

पर्जन्यपवनार्केन्दुधराम्बुधिपुरन्दराः ।
अमी विश्वोपकारेषु वर्त्तन्ते धर्मरक्षिताः ॥ ७ ॥

अर्थ—मेघ, पवन, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, समुद्र और इन्द्र ये संपूर्ण पदार्थ जगतके उपकाररूप प्रवर्त्तते हैं और वे सब ही धर्म द्वारा रक्षा किये हुए प्रवर्त्तते हैं। धर्मके विना ये कोई भी उपकारी नहीं होते हैं ॥ ७ ॥

मन्येऽसौ लोकपालानां व्याजेनाव्याहतक्रमः ।
जीवलोकोपकारार्थं धर्म एव विजृम्भितः ॥ ८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज ऐसा मानते हैं कि, इन्द्रादिक लोकपाल अथवा राजादिकोंके व्याजसे (बहानेसे) लोकोंके उपकारार्थ यह धर्म ही अव्याहत फैल रहा है ॥ ८ ॥

न तन्त्रिजगतीमध्ये भुक्तिमुक्त्योर्निबन्धनम् ।
प्राप्यते धर्मसामर्थ्यान्न यद्यमितमानसैः ॥ ९ ॥

अर्थ—इस तीन जगतमें भोग और मोक्षका ऐसा कोई भी कारण नहीं है, जिसको धर्मात्मा पुरुष धर्मकी सामर्थ्यसे न पाते हों अर्थात् धर्मसामर्थ्यसे समस्त मनोवांछित पदको प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

नमन्ति पादराजीवराजिकां नतमौलयः ।
धर्मैकशरणीभूतचेतसां त्रिदशेश्वराः ॥ १० ॥

अर्थ—जिनके चित्तमें धर्म हो एक शरणभूत है, उनके चरणकमलोंकी पंक्तिको इन्द्रगण भी नम्रीभूत मस्तकसे नमस्कार करते हैं। भावार्थ—धर्मके माहात्म्यसे जब तीर्थंकर-पदवी प्राप्त होती है, तब इन्द्र भी आ कर नमस्कार करते हैं ॥ १० ॥

धर्मो गुरुश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बान्धवः ।
अनाथवत्सलः सोऽयं संत्राता कारणं विना ॥ ११ ॥

अर्थ— धर्म गुरु है, मित्र है, स्वामी है, बांधव है, हितू है, और धर्म ही बिना कारण अनाथोंका प्रीतिपूर्वक रक्षा करनेवाला है। इस प्राणीको धर्मके अतिरिक्त और कोई शरण नहीं है ॥ ११ ॥

धत्ते नरकपाताले निमज्जज्जगतां त्रयम् ।
योजयत्यपि धर्मोऽयं सौख्यमत्यक्षमङ्गिनां ॥ १२ ॥

अर्थ—यह धर्म नरकोंके नीचे जो निगोदस्थान है, उसमें पड़ते हुए जगत्त्रयको धारण करता है—अवलम्बन दे कर बचाता है तथा जीवोंको अतीन्द्रियसुख भी प्रदान करता है ॥ १२ ॥

नरकान्धमहाकूपे पततां प्राणिनां स्वयम् ।
धर्म एव स्वसामर्थ्याद्दत्ते हस्तावलम्बनम् ॥ १३ ॥

अर्थ—नरकरूपी महाअंधकूपमें स्वयं गिरते हुए जीवोंको धर्म ही अपने सामर्थ्यसे हस्तावलम्बन (हाथका सहारा) दे कर बचाता है ॥ १३ ॥

महातिशयसम्पूर्णं कल्याणोद्दाममन्दिरम् ।
धर्मो ददाति निर्विघ्नं श्रीमत्सर्वज्ञवैभवम् ॥ १४ ॥

अर्थ—धर्म, महा अतिशयसे पूर्ण, कल्याणोंके उत्कट निवासस्थान और निर्विघ्न ऐसे लक्ष्मीसहित सर्वज्ञ भगवान्के वैभवको देता है अर्थात् तीर्थंकर-पदवीको प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

याति सार्धं तथा पाति करोति नियतं हितम् ।
जन्मपङ्कात्समुद्धृत्य स्थापयत्यमले पथि ॥ १५ ॥

अर्थ—धर्म, परलोकमें प्राणीके साथ जाता है, उसकी रक्षा करता है, नियमसे उसका हित करता है तथा संसाररूपी कर्दमसे उसे निकालकर निर्मल मोक्षमार्गमें स्थापन करता है ॥ १५ ॥

न धर्मसदृशः कश्चित्सर्वाभ्युदयसाधकः ।
आनन्दकुजकन्दश्च हितः पूज्यः शिवप्रदः ॥ १६ ॥

अर्थ—इस जगतमें धर्मके समान अन्य कोई समस्त प्रकारके अभ्युदयका साधक नहीं है । यह मनोवांछित सम्पदाका देनेवाला है । आनंदरूपी वृक्षका कन्द है अर्थात् आनंदके अंकुर इससे ही उत्पन्न होते हैं तथा हितरूप पूजनीय और मोक्षका देनेवाला भी यही है ॥ १६ ॥

व्यालानलोरगव्याघ्रद्विपशार्दूलराक्षसाः ।
नृपादयोऽपि द्रुह्यन्ति न धर्माधिष्ठितात्मने ॥ १७ ॥

अर्थ—जो धर्मसे अधिष्ठित (सहित) आत्मा है, उसके साथ सर्प, अग्नि, विष, व्याघ्र, हस्ती, सिंह, राक्षस तथा राजादिक भी द्रोह नहीं करते हैं अर्थात् यह धर्म इन सबसे रक्षा करता है अथवा धर्मात्माओंके ये सब रक्षक होते हैं ॥ १७ ॥

निःशेषं धर्मसामर्थ्यं न सम्यग्वक्तुमीश्वरः ।
स्फुरद्वक्त्रसहस्रेण भुजगेशोऽपि भूतले ॥ १८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, धर्मका समस्त सामर्थ्य भले प्रकार कहनेको स्फुरायमान सहस्र मुखवाला नागेन्द्र भी इस भूतलमें समर्थ नहीं है । फिर हम कैसे समर्थ हो सकते हैं ? ॥ १८॥

धर्मधर्मेति जल्पन्ति तत्त्वशून्याः कुदृष्टयः ।
वस्तुतत्त्वं न बुध्यन्ते तत्परीक्षाऽक्षमा यतः ॥ १९ ॥

अर्थ—तत्त्वके यथार्थ ज्ञानसे शून्य मिथ्यादृष्टि 'धर्म धर्म' ऐसा तो कहते हैं, परन्तु वस्तुके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते । क्योंकि वे उसकी परीक्षा करनेमें असमर्थ हैं । भावार्थ-नाममात्रको 'धर्म धर्म' ऐसा तो कहते हैं, परन्तु वस्तुका यथार्थ स्वरूप जाने विना सत्य परीक्षा कैसे हो ? यह परीक्षा जिनागमसे ही हो सकती है । अतः जिनागममें जो धर्म कहा है, उसे कहते हैं ॥ १९ ॥

तितिक्षा मार्दवं शौचमार्जवं सत्यसंयमौ ।
ब्रह्मचर्यं तपस्त्यागाकिंचन्यं धर्म उच्यते ॥ २० ॥

अर्थ—क्षमा १, मार्दव २, शौच ३, आर्जव ४, सत्य ५, संयम ६, ब्रह्मचर्य ७, तप ८, त्याग ९, और आकिंचन्य १०, ये दस प्रकारके धर्म हैं । इनका विशेष स्वरूप तत्त्वार्थ-सूत्रकी टीकाओंसे जानना चाहिये ॥ २० ॥

आर्या

यद्यत्स्वस्यानिष्टं तत्तद्वाक्चित्तकर्म्मभिः कार्यम् ।
स्वप्नेऽपि नो परेषामिति धर्मस्याग्रिमं लिङ्गम् ॥ २१ ॥

अर्थ—धर्मका मुख्य (प्रधान) चिह्न यह है कि, जो जो क्रियायें अपनेको अनिष्ट (बुरी) लगती हों, सो सो अन्यके लिये मनवचनकायसे स्वप्नमें भी नहीं करनी ॥ २१ ॥

अब धर्मभावनाका व्याख्यान पूर्ण करते हुए सामान्यतासे कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

धर्मः शर्म भुजङ्गपुङ्गवपुरीसारं विधातुं क्षमो
धर्मः प्रापितमर्त्यलोकविपुलप्रीतिस्तदाशंसिनां ।
धर्मः स्वर्नगरीनिरन्तरसुखास्वादोदयस्यास्पदम्
धर्मः किं न करोति मुक्तिललनासंभोगयोग्यं जनम् ॥ २२ ॥

अर्थ—यह धर्म धर्मात्मा पुरुषोंको धरणीन्द्रकी पुरीके सारसुखको करनेमें समर्थ है, तथा यह धर्म उस धर्मके वांछक और उसके पालनेवाले पुरुषोंको मनुष्यलोकमें विपुल प्रीति (सुख) प्राप्त करता है, और यह धर्म स्वर्गपुरीके निरन्तर सुखास्वादके उदयका स्थान है, तथा धर्म ही मनुष्यको मुक्तिस्त्रीसे संभोग करनेके योग्य करता है। धर्म और क्या २ नहीं कर सकता है ? ॥ २२ ॥

मालिनी ।

यदि नरकनिपातस्त्यक्तुमत्यन्तमिष्ट-
स्त्रिदशपतिमहर्द्धिं प्राप्तुमेकान्ततो वा ।
यदि चरमपुमर्थः प्रार्थनीयस्तदानीं
किमपरमभिधेयं नाम धर्मं विधत्त ॥ २३ ॥

अर्थ—हे आत्मन् । जो तुझे नरकनिपातका छोड़ना परम इष्ट है अथवा इन्द्रका महान विभव पाना एकान्त ही इष्ट है । यदि चारों पुरुषार्थोंमेंसे अन्तका पुरुषार्थ (मोक्ष) प्रार्थनीय ही है, तो और विशेष क्या कहा जावे, तू एक मात्र धर्मका सेवन कर । क्योंकि धर्मसे ही समस्त प्रकारके अनिष्ट नष्ट हो कर समस्त प्रकारके इष्टको प्राप्ति होती है । इस प्रकार धर्मभावनाका व्याख्यान पूर्ण किया ॥२३॥

इसका संक्षिप्त आशय यह है कि जिनागममें धर्म चार प्रकारका वर्णन किया है अर्थात् वस्तुस्वभावरूप १, उत्तमक्षमादि दशरूप २, रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) रूप ३, और दयामय ४, । निश्चय व्यवहाररूपनयसे साधन किया हुआ यह धर्म एकरूप, तथा अनेकरूप सधता है । यहां व्यवहारनयकी प्रधानतासे वर्णन किया गया है अर्थात् धर्मका स्वरूप महिमा तथा फल अनेक प्रकारसे वर्णन किया जाता है, सो उसको विचारके धर्मको भावना निरन्तर चित्तमें रखनी चाहिये ।

दोहा ।

वस्तु ज्ञानमय चेतना, आतमधर्म बखानि ।
दया-क्षमादिक रतन त्रय, यामें गर्भित आनि ॥ १० ॥

इति धर्मभावना ॥ १० ॥

अथ लोकभावना लिख्यते ।

अब लोकभावनाका व्याख्यान करते हैं । प्रथम लोकका स्वरूप कहते हैं—

यत्र भावा विलोक्यन्ते ज्ञानिभिश्चेतनेतराः ।
जीवादयः स लोकः स्यात्ततोऽलोको नभः स्मृतः ॥ १ ॥

अर्थ—जितने आकाशमें जीवादिक चेतन-अचेतन पदार्थ ज्ञानीपुरुषोंने देखे हैं, सो तो लोक है। उसके बाह्य जो केवल मात्र आकाश है, उसे अलोक वा अलोकाकाश कहते हैं ॥ १ ॥

वेष्टितः पवनैः प्रान्ते महावेगैर्महाबलैः ।
त्रिभिस्त्रिभुवनाकीर्णो लोकस्तालतरुस्थितिः ॥ २ ॥

अर्थ—तीन भुवनसहित यह लोक अन्तमें सब तरफसे अतिशय वेगवाले और अतिशय बलिष्ठ तीन वातवलयोंसे वेष्टित है और ताड़ वृक्षके आकार सरीखा है अर्थात् नीचेसे चौड़ा, बीचमें सरल तथा अन्तमें विस्ताररूप है ॥ २ ॥

निष्पादितः स केनापि नैव नैवोद्धृतस्तथा ।
न भग्नः किन्त्वनाधारो गगने स स्वयं स्थितः ॥ ३ ॥

अर्थ—यह लोक किसीके द्वारा बनाया नहीं गया है अर्थात् अनादि–निधन है । भिन्न धर्मीगण इसे ब्रह्मादिकका बनाया हुआ कहते हैं सो मिथ्या है । तथा किसीसे धारण किया हुआ वा थांभा हुआ हो, सो भी नहीं है । अन्यमती कच्छपकी पीठपर अथवा शेषनागके फन पर ठहरा हुआ कहते हैं, यह उनका भ्रम है । यदि कोई आशंका करे कि विना आधारके आकाशमें कैसे ठहरेगा, भग्न हो जायगा ! तो उत्तर देना चाहिये कि, निराधार होने पर भी भग्न नहीं होता अर्थात् आकाशमें वातवलयके आधार स्वयमेव स्थित है ॥ ३ ॥

अनादिनिधनः सोऽयं स्वयं सिद्धोऽप्यनश्वरः ।
अनीश्वरोऽपि जीवादिपदार्थैः संभृतो भृशम् ॥ ४ ॥

अर्थ—यद्यपि यह लोक अनादिनिधन है, स्वयंसिद्ध है, अविनाशी है औ इसका कोई ईश्वर स्वामी वा कर्त्ता नहीं है; तथापि जीवादिक पदार्थोंसे भरा हुआ है । अन्यमती लोक-रचनाकी अनेक प्रकारकी कल्पनायें करते हैं, वे सब ही सर्वथा मिथ्या हैं ॥ ४ ॥

अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः ।
मृदङ्गसदृशश्चाग्रे स्यादित्थं स त्रयात्मकः ॥

अर्थ—यह लोक नीचे तो वेत्रासन अर्थात् मोढेके आकारका है अर्थात् नीचेसे चौड़ा है, पीछे:

ऊपर ऊपर घटता आया है और बीचमें झालरके जैसा है तथा ऊपर मृदंगके समान अर्थात् दोनों तरफ सकरा और बीचमें चौड़ा है। इस प्रकार तीन स्वरूपात्मक यह लोक स्थित है ॥ ५ ॥

यत्रैते जन्तवः सर्वे नानागतिषु संस्थिताः ।
उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते कर्मपाशवशंगता ॥ ६ ॥

अर्थ—इस लोकमें ये सब प्राणी नाना गतियोंमें संस्थित अपने अपने कर्मरूप फाँसीके वशीभूत हो कर मरते तथा उपजते रहते है ॥ ६ ॥

अब लोकभावनाका व्याख्यान पूर्ण करते हुए सामान्यतासे कहते हैं—

मालिनी।

पवनवलयमध्ये संभृतोऽत्यन्तगाढं
स्थितिजननविनाशालिङ्गितैर्वस्तुजातैः ।
स्वयमिह परिपूर्णोऽनादिसिद्धः पुराणः
कृतिविलयविहीनः स्मर्यतामेष लोकः ॥ ७ ॥

अर्थ—इस लोकको ऐसा चिंतवन करना चाहिये कि, तीन वलयोंके मध्यमें स्थित है। पवनोंसे अतिशय गाढरूप घिरा हुआ है। इधर उधर चलायमान नहीं होता और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसहित वस्तु-समूहोंसे अनादि कालसे स्वयमेव भरा हुआ है अर्थात् अनादिसिद्ध है। किसीका रचा हुआ नहीं है, इसी कारण पुराण है तथा उत्पत्ति और प्रलयसे रहित है। इस प्रकार लोकको स्मरण करते रहो, यह लोकभावनाका उपदेश है। इसका विशेषस्वरूप त्रैलोकसारादि ग्रंथोंसे जानना चाहिये। किसीको लोकके अनादिनिधन होनेमें (अकर्तापनमें) संदेह हो, तो उसे परीक्षामुखको प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयकमलमार्तण्ड-टीका तथा अष्टसहस्री, श्लोकवार्तिकादि, ग्रंथोंको देखना चाहिये। इनमें कर्तृवादका विद्वानोंके देखने-योग्य विशेष प्रकारसे (युक्ति प्रमाणोंसे) निराकरण किया गया है ॥ ७ ॥

इस भावनाका संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि, यह लोक जीवादिक द्रव्योंकी रचना है। जो (समस्त-द्रव्य) अपने-अपने स्वभावको लिये हुए भिन्न भिन्न तिष्ठते हैं। उनमें आप एक आत्मद्रव्य है! उसका स्वरूप यथार्थ जान कर, अन्य पदार्थोंसे ममता छोड़के, आत्मभावना करना ही परमार्थ है। व्यवहारसे समस्त द्रव्योंका यथार्थ स्वरूप जानना चाहिये, जिससे मिथ्याश्रद्धान दूर हो जाता है, इस प्रकार लोकभावनाका चिंतवन करना चाहिये।

दोहा।

लोकस्वरूप विचारिकें, आतमरूप निहारि।
परमारथ व्यवहार [1]मुणि मिथ्याभाव निवारि ॥११॥

इति लोकभावना ॥ ११ ॥

---

1 (ज्ञात्वा) समझ कर।

अथ बोधिदुर्लभभावना लिख्यते ।

आगे बोधिदुर्लभभावनाका व्याख्यान करते है, जिसमें निगोदसे ले कर सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति-पर्यन्तकी उत्तरोत्तर दुर्लभता दिखाते हैं—

दुरन्तदुरितारातिपीडितस्य प्रतिक्षणम् ।
कृच्छ्रान्नरकपातालतलाज्जीवस्य निर्गमः ॥ १ ॥

अर्थ—बूरा है अन्त जिसका ऐसे पापरूपी वैरीसे निरन्तर पीड़ित इस जीवका प्रथम तो नरकोंके नीचे निगोदस्थान है, सो वहाँको नित्यनिगोदसे निकलना अत्यत कठिन है ॥ १ ॥

तस्माद्यदि विनिष्क्रान्तः स्थावरेषु प्रजायते ।
त्रसत्वमथवाप्नोति प्राणी केनापि कर्मणा ॥ २ ॥

अर्थ—उस नित्यनिगादसे निकला तो फिर पृथ्विकायादि स्थावर जीवोंमें उपजता है । और किसी पुण्यकर्मके उदयसे स्थावर कायसे त्रसगति पाता है ॥ २ ॥ और—

यत्पर्याप्तस्तथा संज्ञी पञ्चाक्षेऽवयवान्वितः ।
तिर्यक्ष्वपि भवत्यङ्गी तन्न स्वल्पाशुभक्षयात् ॥ ३ ॥

अर्थ—कदाचित् त्रसगति भी पावे, तो तिर्यञ्च योनिमें पर्याप्तता (पूर्णावयव संयुक्तत्व) पाना कुछ न्यून पापके क्षयसे नहीं होता है अर्थात् बहुत पापके क्षय होने पर पाता है । उसमें भी मनसहित पञ्चेंद्रिय पशुका शरीर पाना बहुत ही दुर्लभ है, तिस पर भी सपूर्ण अवयव पाना अतिशय दुर्लभ है ॥ ३ ॥

नरत्वं यद्गुणोपेतं देशजात्यादिलक्षितम् ।
प्राणिनः प्राप्नुवन्त्यत्र तन्मन्ये कर्मलाघवात् ॥ ४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते है कि, ये प्राणीगण ससारमें मनुष्यपन और उसमें गुणसहितपना तथा उत्तम देश, जाति, कुल आदि साहित्य उत्तरोत्तर कर्मोंके क्षयसे पाते हैं । ये बहुत दुर्लभ हैं, ऐसा मैं मानता हूं ॥ ४ ॥

आयुः सर्वाक्षसामग्री बुद्धिः साध्वी प्रशान्तता ।
यत्स्यात्तत्काकतालीयं मनुष्यत्वेऽपि देहिनाम् ॥ ५ ॥

अर्थ—जीवोंके देश, जाति, कुलादि सहित मनुष्यपन होते भी दीर्घायु, पाचों इन्द्रियोंकी पूर्ण सामग्री, विशिष्ट तथा उत्तम बुद्धि, शीतल मदकषायरूप परिणामोंका होना काकतालीयन्यायके समान दुर्लभ जानना चाहिये । जैसे किसी समय तालका फल पक कर गिरे और उस ही समय काकका आना हो एवं वह उस फलको आकाशमें ही पा कर खाने लगे । ऐसा योग मिलना अत्यन्त कठिन है ॥५॥

ततो निर्विषयं चेतो यमप्रशमवासितम् ।
यदि स्यात्पुण्ययोगेन न पुनस्तत्त्वनिश्चयः ॥ ६ ॥

अर्थ—कदाचित् पुण्यके योगसे उक्त सामग्री प्राप्त हो जावें तो विषयोंसे विरक्त वा व्रतरूप परिणाम तथा यम-प्रशमरूप शुद्ध भावोंसहित चित्तका होना बड़ा कठिन है। कदाचित् पुण्यके योगसे इसकी प्राप्ति हो जाय, तो तत्त्वनिर्णय होना अत्यंत दुर्लभ है ॥ ६ ॥

अत्यन्तदुर्लभेष्वेषु दैवाल्लब्धेष्वपि क्वचित् ।
प्रमादात्प्रच्यवन्तेऽत्र केचित्कामार्थलालसाः ॥ ७ ॥

अर्थ—यद्यपि पूर्वोक्त सामग्री अत्यंत दुर्लभ्य है तथापि यदि दैवयोगसे प्राप्त हो जाय, तो अनेक संसारी जीव प्रमादके वशीभूत हो, काम और अर्थमें लुब्ध हो कर सम्यग्मार्गसे च्युत हो जाते हैं। और विषयकषायमें लग जाते हैं। ॥ ७ ॥

मार्गमासाद्य केचिच्च सम्यग्रत्नत्रयात्मकम् ।
त्यजन्ति गुरुमिथ्यात्वविषव्यामूढचेतसः ॥ ८ ॥

अर्थ—कोइ २ सम्यक् रत्नत्रय मार्गको पा कर भी तीव्र-मिथ्यात्वरूप विषसे व्यामूढ चित्त होते हुए सम्यग्मार्गको छोड़ देते हैं। गृहीतमिथ्यात्व बड़ा बलवान् है, जो उत्तम मार्ग मिलें, तो उसको भी छुड़ा देता है ॥ ८ ॥

स्वयं नष्टो जनः कश्चित्कश्चिन्नष्टैश्च नाशितः ।
कश्चित्प्रच्यवते मार्गाच्चण्डपाषण्डशासनैः ॥ ९ ॥

अर्थ—कोई २ तो सम्यग्मार्गसे आप ही नष्ट हो जाते हैं। कोई अन्यमार्गसे च्युत हुए मनुष्योंके द्वारा नष्ट किये जाते हैं और कोई २ प्रचंड पाखंडियोंके उपदेशे हुए मतोंको देख कर मार्गसे च्युत हो जाते हैं ॥ ९ ॥

त्यक्त्वा विवेकमाणिक्यं सर्वाभिमतसिद्धिदम् ।
अविचारितरम्येषु पक्षेष्वज्ञः प्रवर्त्तते ॥ १० ॥

अर्थ—जो मार्गसे च्युत अज्ञानी है,वह समस्त मनोवांछित सिद्धिके देनेवाले विवेकरूपी चिन्तामणि रत्नको छोड़ कर विना विचारके रमणीक भासनेवाले पक्षोंमें(मतोंमें) प्रवृत्ति करने लग जाता है ॥१०॥

अविचारितरम्याणि शासनान्यसतां जनैः ।
अधमान्यपि सेव्यन्ते जिह्वोपस्थादिदण्डितैः ॥ ११ ॥

अर्थ—जो पुरुष जिह्वा तथा उपस्थादि इन्द्रियोंसे दंडित हैं, वे अविचारसे रमणीक भासनेवाले दुष्टोंके चलाये हुए अधम मतोंको भी सेवन करते हैं। विषयकषाय क्या क्या अनर्थ नहीं कराते ?॥११॥

सुप्रापं न पुनः पुंसां बोधिरत्नं भवार्णवे ।
हस्ताद्भ्रष्टं यथा रत्नं महामूल्यं महार्णवे ॥ १२ ॥

अर्थ—यह जो बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-स्वरूप रत्नत्रय है, संसाररूपी समुद्रमें प्राप्त होना सुगम नहीं है, किन्तु अत्यंत दुर्लभ्य है। इसको पा कर भी जो खो बैठते हैं, उनको हाथमें

रक्खे हुए रत्नको बड़े समुद्रमें डाल देने पर जैसे फिर मिलना कठिन है, उसी प्रकार सम्यग्रत्नत्रयका पाना दुर्लभ है ॥ १२ ॥

अब इस भावनाके कथनको पूर्ण करते हैं—

मालिनी ।

सुलभमिह समस्तं वस्तुजातं जगत्या-
उरगसुरनरेन्द्रैः प्रार्थितं चाधिपत्यम् ।
कुलबलसुभगत्वोद्दामरामादि चान्यत्
किमुत तदिदमेकं दुर्लभं बोधिरत्नम् ॥ १३ ॥

अर्थ—इस जगतमें (त्रैलोकमें) समस्त द्रव्योंका समूह सुलभ है तथा धरणीन्द्र नरेन्द्र सुरेन्द्रों द्वारा प्रार्थना करने योग्य अधिपतिपना भी सुलभ है, क्योंकि ये सब ही कर्मोंके उदयसे मिलते हैं। तथा उत्तम कुल, बल, सुभगता, सुन्दर स्त्री आदिक समस्त पदार्थ सुलभ हैं; किन्तु जगत्प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप बोधिरत्न अत्यंत दुर्लभ्य है। इस प्रकार बोधिदुर्लभभावनाका व्याख्यान पूर्ण किया ॥ १३ ॥

इसका संक्षिप्त आशय ऐसा है कि, यदि परमार्थसे (निश्चयसे) विचार किया जाय, तो पराधीन वस्तु होती है वह दुर्लभ है और स्वाधीन वस्तु सुलभ है। यह बोधि (रत्नत्रय) आत्माका स्वभाव है। स्वाधीन सम्पत्ति है। जब अपने स्वरूपको जाने तब अपने ही निकट है, इस लिये दुर्लभ नहीं है। परन्तु आत्मा जब तक अपने स्वरूपको नहीं जाने, तब तक कर्मके आधीन है। इस अपेक्षासे अपना बोधिस्वभाव पाना दुर्लभ है और कर्मकृत सब ही पदार्थ संसारमें सुलभ है। सो आचार्य महाराजने व्यवहारनयकी प्रधानतासे बोधिकी दुर्लभता वर्णन की है अर्थात् उत्तरोत्तर पर्यायें दुर्लभतासे पाते पाते बोधिके योग्य उत्तम पर्याय पाना दुर्लभ है। उसमें भी बोधिका पाना दुर्लभ है इस बोधिको प्राप्त हो कर प्रमादादिके वशीभूत हो कर नहीं खो देना चाहिये, ऐसा उपदेश है।

दोहा ।

बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं ।
भवमें प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं ॥ १२ ॥

इति बोधिदुर्लभभावना ॥ १२ ॥

अथोपसंहार ।

अब बारह भावनाओंका प्रकरण पूरा करते है और भावनाओंका फल तथा महिमा कहते हैं—

दीव्यन्नाभिरयं ज्ञानी भावनाभिर्निरन्तरम् ।
इहैवाप्नोत्यनातङ्कं सुखमत्यक्षमक्षयम् ॥ १ ॥

अर्थ— इन बारह भावनाओंसे निरन्तर रमते हुए ज्ञानी जन इसी लोकमें रोगादिककी बाधारहित अतीन्द्रिय अविनाशी सुखको पाते हैं अर्थात् केवलज्ञानानन्दको पाते हैं ॥ १ ॥

आर्या ।

विध्याति कषायाग्निर्विगलति रागो विलीयते ध्वान्तम् ।
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात् ॥ २ ॥

अर्थ—इन द्वादश भावनाओंके निरन्तर अभ्यास करनेसे पुरुषोंके हृदयमें कषायरूप अग्नि बुझ जाती है तथा परद्रव्यों प्रतिराग भाव गल जाता है और अज्ञानरूप अंधकारका विलय होकर ज्ञानरूप दीपकका प्रकाश होता है ॥ २ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

एता द्वादशभावनाः खलु सखे सख्योऽपवर्गश्रिय-
स्तस्याः सङ्गमलालसैर्घटयितुं मैत्रीं प्रयुक्ता बुधैः ।
एतासु प्रगुणीकृतासु नियतं मुक्त्यङ्गना जायते
सानन्दा प्रणयप्रसन्नहृदया योगीश्वराणां मुदे ॥ ३ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, मित्र ! ये बारह भावनायें निश्चयसे मुक्तिरूपी लक्ष्मीकी सखी हैं। इन्हें मुक्तिरूपी लक्ष्मीके संगमकी लालसा करनेवाले पंडितगणोंने मित्रता करनेके अर्थ प्रयोगरूप कही हैं। इन भावनाओंके अभ्यास करनेसे मुक्तिरूपी स्त्री आनन्दसहित स्नेहरूप प्रसन्न हृदय हो कर योगीश्वरोंको आनन्ददायिनी होती है। भावार्थ—पंडितोंने भावनाओंको मोक्षकी सखीके तुल्य कही हैं। योगीश्वर इनको भावते हैं, तो ये उन्हें मुक्तिरूपी स्त्रीसे मिला देती हैं। इस प्रकार भावनाओंका वर्णन किया ॥ ३ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि, इस ग्रन्थमें ध्यानका अधिकार है और ध्यान मोक्षका कारण है। जब तक जीवोंकी संसारमें प्रीति रहती है, तब तक उसका ध्यानके सन्मुख होना कठिन है। और बारह भावनायें संसारदेहभोगोंसे वैराग्य उपजानेके लिये निमित्त हैं, इस कारण इनका वर्णन पहिले ही किया गया है। प्रथम—तो यह प्राणी अनादि कालसे पर्यायबुद्धि है, इसे द्रव्यबुद्धि कभी भी नही हुई। इस कारण द्रव्यबुद्धि करनेके लिए पर्यायको अनित्य दिखलाई है क्योंकि इससे वैराग्य होकर ध्यानकी रुचि होती है। दूसरे—यह प्राणी जब लग अज्ञानसे परका शरण चाहता रहता है, तब तक इसके ध्यान नहीं होता, इस कारण परका शरण छुड़ा कर अपना ही शरण बताया है। तीसरे—संसारमें दुःख ही दुःख दिखाये हैं। चौथे—अपना अकेलापना दिखाया है। जगतमें कोई भी संगी साथी नहीं है। पांचवें—अन्यके संगसे मोह उत्पन्न होता है, अतः अपनेको सबसे भिन्न बताया है। छट्ठे—शरीरकी अशुचिका विचार करनेसे शरीरका मोह दूर हो कर आत्मसन्मुख वृत्ति होती है। सातवें—आस्रवसे कर्मबन्ध होना बताया है। आठवें—संसारसे कर्मोंका रुकना और ध्यानकी सिद्धि बताई है। नववें—

निर्जराका कारण ध्यान तथा निर्जरासे ध्यानकी वृद्धि होना बताया है । दसवें—लोकका स्वरूप जाननेसे मिथ्याश्रद्धान नष्ट होता है, इस कारण लोकका स्वरूप बताया है । ग्यारहवें – धर्म, ध्यानका स्वरूप है अतः धर्मका स्वरूप बताया है । बारहवें—बोधिदुर्लभता बताई है और इसके संयोग मिलनेसे प्रमादी नहीं होना चाहिये ऐसा उपदेश किया है । इस प्रकार बारह भावनाओंका स्वरूप जान कर इनकी निरन्तर भावना भावनेसे ध्यानकी रुचि होती है तथा ध्यानमें स्थिर होनेसे केवलज्ञान उत्पन्न हो कर मोक्ष प्राप्त होता है ।

दोहा ।

ऐसे भावे भावना, शुभ वैराग्य जु पाय ।
ध्यान करे निज रूपको, ते शिव पहुँचे धाय ॥ २ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते द्वादशभावनाप्रकरणम् ॥ २ ॥

अथ तृतीयः सर्गः ।

संक्षेपसे ध्यानका स्वरूप ।

अर्थ—आगे संक्षेपतः ध्यानका प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है, जिसमें प्रथम ध्यानके उद्यम करनेकी प्रेरणा करते हैं—

अस्मिन्ननादिसंसारे दुरन्ते सारवर्जिते ।
नरत्वमेव दुःप्राप्यं गुणोपेतं शरीरिभिः ॥ १ ॥

अर्थ—दुरन्त तथा सारवर्जित इस अनादि संसारमें गुणसहित मनुष्यपन ही जीवोंको दुष्प्राप्य है अर्थात् दुर्लभ है ॥ १ ॥

काकतालीयकन्यायेनोपलब्धं यदि त्वया ।
तत्तर्हि सफलं कार्यं कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम् ॥ २ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जो तूने यह मनुष्यपना काकतालीय न्यायसे पाया है, तो तुझे अपनेमें ही अपनेको निश्चय करके अपना कर्त्तव्य सफल करना चाहिये । इस मनुष्य जन्मके सिवाय अन्य किसी जन्ममें अपने स्वरूप का निश्चय नहीं होता, इस कारण यह उपदेश है ॥ २ ॥

नृजन्मनः फलं कैश्चित्पुरुषार्थः प्रकीर्तितः ।
धर्मादिकप्रभेदेन स पुनः स्याच्चतुर्विधः ॥ ३ ॥

अर्थ—अनेक विद्वानोंने इस मनुष्य जन्मका फल पुरुषार्थ करना ही कहा है । और वह पुरुषार्थ धर्मादिक भेदसे चार प्रकारका है ॥ ३ ॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चेति महर्षिभिः ।
पुरुषार्थोऽयमुद्दिष्टश्चतुर्भेदः पुरातनैः ॥ ४ ॥

अर्थ—प्राचीन महर्षियोंने धर्म १, अर्थ २, काम ३ और मोक्ष ४ यह चार प्रकारका पुरुषार्थ कहा है ॥ ४ ॥

अब इनमें विशेषता कहते है—

त्रिवर्गं तत्र सापायं जन्मजातङ्कदूषितम् ।
ज्ञात्वा तत्त्वविदः साक्षाद्यतन्ते मोक्षसाधने ॥ ५ ॥

अर्थ—इन चारो पुरुषार्थोंमेंसे पहिलेके तीन पुरुषार्थ नाशसहित और संसारके रोगोंसे दूषित हैं, ऐसा जान कर तत्त्वोंके जाननेवाले ज्ञानीपुरुष अन्तके परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्षके साधन करनेमें ही यत्न करते हैं, क्योंकि मोक्ष नाशरहित अविनाशी है ॥ ५ ॥

अब मोक्षका स्वरूप कहते है—

निःशेषकर्मसम्बन्धपरिविध्वंसलक्षणः ।
जन्मनः प्रतिपक्षो यः स मोक्षः परिकीर्तितः ॥ ६ ॥

अर्थ—प्रकृति, प्रदेश, स्थिति तथा अनुभागरूप समस्त कर्मोंके संबंधका सर्वथा नाशरूप लक्षणवाला तथा जो संसारका प्रतिपक्षी है, वही मोक्ष है। यह व्यतिरेक प्रधानतासे मोक्षका स्वरूप है ॥ ६ ॥

दृग्वीर्यादिगुणोपेतं जन्मक्लेशैः परिच्युतम् ।
चिदानन्दमयं साक्षान्मोक्षमात्यन्तिकं विदुः ॥ ७ ॥

अर्थ—दर्शन और वीर्यादि गुणसहित और संसारके क्लेशोसे रहित, चिदानन्दमयी आत्यन्तिकी अवस्थाको साक्षात् मोक्ष कहते है। यह अन्वय प्रधानतासे मोक्षका स्वरूप कहा है ॥७॥

अब सुखकी प्रधानतासे मोक्षका स्वरूप कहते है—

अत्यक्षं विषयातीतं निरोपम्यं स्वभावजम् ।
अविच्छिन्नं सुखं यत्र स मोक्षः परिपठ्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसमें अतीन्द्रिय (इन्द्रियोंसे अतिक्रान्त), विषयोंसे अतीत, उपमारहित, और स्वाभाविक (अपने स्वभावसे ही उत्पन्न हो ऐसा) विच्छेदरहित पारमार्थिक सुख हो, वही मोक्ष कहा जाता है ॥८॥

निर्मलो निष्कलः शान्तो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः ।
कृतार्थः साधुबोधात्मा यत्रात्मा तत्पदं शिवम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसमें यह आत्मा निर्मल (द्रव्यकर्म—नोकर्मरहित), शरीररहित, क्षोभरहित, शान्तस्वरूप निष्पन्न (सिद्धरूप), अत्यन्त अविनाशी, सुखरूप, कृतकृत्य (जिसको कुछ करना बाकी न हो ऐसा) तथा समीचीन सम्यग्ज्ञान स्वरूप हो जाता है, उस पदको (अवस्थाको) शिव अर्थात् मोक्ष कहते हैं ॥९॥

तस्यानन्तप्रभावस्य कृते त्यक्त्वाखिलभ्रमाः ।
तपश्चरन्त्यमी धीराः बन्धविध्वंसकारणम् ॥ १० ॥

अर्थ—धीरवीर पुरुष इस अनन्त प्रभाववाले मोक्षरूपी कार्यके निमित्त समस्त प्रकारके भ्रमोंको

छोड़ कर कर्मबंधके नष्ट करनेके कारणरूप तपको अंगीकार करते हैं। भावार्थ—सांसारिक समस्त कार्य छोड़ कर मुनिपद धारण करते हैं ॥ १० ॥

सम्यग्ज्ञानादिकं प्राहुर्जिना मुक्तेर्निबन्धनम् ।
तेनैव साध्यते सिद्धिर्यस्मात्तदर्थिभिः स्फुटम् ॥ ११ ॥

अर्थ- जिनेन्द्र भगवान् सर्वज्ञ है. वे सम्यग्दर्शन—ज्ञान और चारित्रको मुक्तिका कारण कहते हैं, अतएव जो मुक्तिकी इच्छा करते है वे इन सम्यग्दर्शन -ज्ञान—चारित्रसे ही मोक्षको प्रगटतया साधते हैं। भावार्थ--जिस कार्यका जो कारण होता है, उसको अंगीकार करनेसे ही वह कार्य सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

अब कहते है कि, मोक्षके साधन जो सम्यग्दर्शनादिक है, उनमें ही ध्यान गर्भित है इस कारण प्रगट करके ध्यानका उपदेश देते है

भवक्लेशविनाशाय पिब ज्ञानसुधारसम् ।
कुरु जन्माब्धिमत्येतुं ध्यानपोतावलम्बनम् ॥ १२ ॥

अर्थ --हे आत्मन् ! तू संसारके दुःखविनाशार्थ ज्ञानरूपी सुधारसको पी और संसाररूप समुद्रके पार होनेके लिये ध्यानरूपी जहाजका अवलम्बन कर। भावार्थ—एकताका होना ध्यान है, अतः जब प्रथम ही ज्ञानको अंगीकार करेगा तब उससे एकाग्रता होने पर कर्मोंको काटके संसारका परित्याग करके मोक्षको पावेगा ॥ १२ ॥

मोक्षः कर्मक्षयादेव स सम्यग्ज्ञानतः स्मृतः ।
ध्यानसाध्यं मतं तद्धि तस्मात्तद्धितमात्मनः ॥ १३ ॥

अर्थ—मोक्ष कर्मोंका क्षयसे ही होता है। कर्मोंका क्षय सम्यग्ज्ञानसे होता है और वह सम्यग्ज्ञान ध्यानसे सिद्ध होता है अर्थात् ध्यानसे ज्ञानका एकाग्रता होती है, इस कारण ध्यान ही आत्माका हित है । १३ ॥

अपास्य कल्पनाजालं मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः ।
प्रशमैकपरैर्नित्यं ध्यानमेवावलम्बितम् ॥ १४ ॥

अर्थ - आत्माका हित ध्यान ही है। इस कारण जो कर्मोंसे मुक्त होनेके इच्छुक मुनि हैं, उन्होंने प्रथम कषायोंकी मंदताके लिये तत्पर हो कर कल्पना समूहोका नाश करके नित्य ध्यानका ही अवलंबन किया है। भावार्थ—जब तक मुनिके चित्तकी स्थिरता रहैं, तब तक ध्यान करना ही प्रधान है। जब चित्तकी स्थिरता नहीं रहती, तब वे शास्त्रविचारादि अन्य क्रियाओंमें लगते हैं ॥ १४ ॥

आगे ध्यानप्रधानकी योग्यताका उपदेश करते है—

मोहं त्यज भज स्वास्थ्यं मुञ्च सङ्गान् स्थिरीभव ।
यतस्ते ध्यानसामग्री सविकल्पा निगद्यते ॥ १५ ॥

१ 'सम्यग्ज्ञानजः' इत्यपि पाठः ।

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, हे आत्मन् ! तू संसारके मोहको छोड़, स्वास्थ्यको भज और परिग्रहोंको छोड़ कर स्थिरीभूत हो । जिससे कि हम तेरे लिये ध्यानकी सामग्री भेदोंसहित कहैं ॥ १५ ॥

फिर भी कहते हैं—

> उत्तितीर्षुर्महापङ्काज्जन्मसंज्ञाद्दुरुत्तरात् ।
> यदि किं न तदा धत्से धैर्यं ध्याने निरन्तरम् ॥ १६ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यदि तू कष्टसे पार पाने योग्य संसार नामक महा पंक (कीचड़) से निकलनेकी इच्छा रखता है, तो ध्यानमें निरन्तर धैर्य क्यों नहीं धारण करता ? **भावार्थ**—ध्यानमें धैर्यावलंबन कर, क्योंकि संसाररूपी कर्दमसे पार होनेका कारण एक मात्र यही है । इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है ॥ १६ ॥

> चित्ते तव विवेकश्रीर्यद्यशङ्का स्थिरीभवेत् ।
> कीर्त्यते ते तदा ध्यानलक्षणं स्वान्तशुद्धिदम् ॥ १७ ॥

अर्थ—हे भव्य ! जो तेरे चित्तमें निःशङ्क विवेकरूप लक्ष्मी (सन्देहरहित) स्थिर होवे, तो तेरे मनको शुद्धता देनेवाले ध्यानका लक्षण हम कहते हैं । **भावार्थ**—जब चित्तको संदेहरहित स्थिर करके सुने, तब कहे हुए वचनका ग्रहण होता है अथवा उनको प्रतीति होती है , इस कारण ऐसा कहा गया है ॥ १७ ॥

> इयं मोहमहानिद्रा जगत्त्रयविसर्पिणी ।
> यदि क्षीणा तदा क्षिप्रं पिब ध्यानसुधारसं ॥ १८ ॥

अर्थ—हे भव्य ! तीन जगतमें फैलनेवाली यह अज्ञानरूपी महानिद्रा जो तेरे क्षीण हो गई हो—नष्ट हो गई हो, तो तू ध्यानरूपी अमृतरसका पान कर । क्योंकि सुषुप्त अवस्थामें पीना नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

> बाह्यान्तर्भूतनिःशेषसङ्गमूर्च्छा क्षयं गता ।
> यदि तत्त्वोपदेशेन ध्याने चेतस्तदार्पय ॥ १९ ॥

अर्थ—हे भव्य ! यदि तेरे तत्त्वोंके उपदेशसे बाह्य और अभ्यन्तरकी समस्त मूर्च्छा (ममत्व परिणाम) नष्ट हो गई हो, तो तू अपने चित्तको ध्यानमें हो लगा । **भावार्थ**—परिग्रहका ममत्व रहनेसे ध्यानमें चित्त नहीं लग सकता, इस कारण ऐसा उपदेश किया गया है ॥ १९ ॥

> प्रमादविषयग्राहदन्तयन्त्राद्यदि च्युतः ।
> त्वं तदा क्लेशसङ्घातघातकं ध्यानमाश्रय ॥ २० ॥

अर्थ—हे भव्य ! यदि तू प्रमाद और इन्द्रियोंके विषयरूपी पिशाच अथवा जलजन्तुओंके दांतरूपी यंत्रसे छूट गया है, तो क्लेशोंके समूहको घात तथा नष्ट करनेवाले ध्यानका आश्रय कर ।

भावार्थ—जब तक प्रमाद और इन्द्रियोंके विषयोंमें चित्तकी प्रवृत्ति रहती है, तब तक कोई ध्यानमें नहीं लग सकता, इस कारण ऐसा उपदेश है ॥ २० ॥

इमेऽनन्तभ्रमासारप्रसरैकपरायणाः ।
यदि रागादयः क्षीणास्तदा ध्यातुं विचेष्टयताम् ॥ २१ ॥

अर्थ—हे भव्य ! अनन्त भ्रमरूप निरन्तर वृष्टिके विस्तार करनेमें तत्पर ऐसे ये रागद्वेष मोहादिक भाव तेरे क्षीण हो गये हों, तो तुझे ध्यानकी चेष्टा करनी चाहिये, क्योंकि रागादिकका विस्तार रहते ध्यानमें प्रवर्त्तना नहीं हो सकतो ॥ २१ ॥

यदि संवेगनिर्वेदविवेकैर्वासितं मनः ।
तदा धीर स्थिरीभूय स्वस्मिन् स्वान्तं निरूपय ॥ २२ ॥

अर्थ—हे धीर पुरुष ! जो संवेग अर्थात् मोक्ष वा मोक्षमार्गसे अनुराग तथा निर्वेद अर्थात् संसारदेहभोगोंसे वैराग्य और विवेक अर्थात् स्वपरका भेदविज्ञान इससे तेरा मन वासित है, तो तू स्थिर हो कर आपमें ही अपने मनको देख, कि—कैसा है ? भावार्थ—संवेग, निर्वेद और भेदविज्ञानके विना चित्तकी वृत्ति परमें ही रहती है, अपने स्वरूपकी ओर नहीं आती है ॥ २२ ॥

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
निर्ममत्वं यदि प्राप्तस्तदा ध्यातासि नान्यथा ॥ २३ ॥

अर्थ—हे भव्य ! यदि तू कामभोगोंमें विरक्त हो कर तथा शरीरमें स्पृहाको छोड़ कर निर्ममताको प्राप्त हुआ है, तो ध्यान करनेवाला ध्याता हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता क्योंकि भोगोंकी इच्छा वा भोग-विलास करनेमें जब चित्त रहता है, तब ध्यानमें चित्त कैसे लगे ? तथा शरीरमें अनुराग होता है, तो उसको संवारने तथा पुष्ट करनेमें ही मन लगा रहता है, अथवा रोगादिक होने वा नाश होनेका भय निरन्तर बना रहता है, तब ध्यान करनेमें चित्त कैसे लगे ? इस कारण ध्याताको ध्यान करनेका पात्र बनानेसे ध्यान हो सकता है ॥ २३ ॥

निर्विण्णोऽसि यदा भ्रातर्दुरन्ताज्जन्मसंक्रमात् ।
तदा धीर परां ध्यानधुरां धैर्येण धारय ॥ २४ ॥

अर्थ—हे धीर पुरुष ! जो तू दुरन्त संसारके भ्रमणसे विरक्त है, तो उत्कृष्ट ध्यानकी धुराको धारण कर । क्योंकि संसारसे विरक्त हुए विना ध्यानमें चित्त नहीं ठहरता ॥ २४ ॥

पुनात्याकर्णितं चेतो दत्ते शिवमनुष्ठितम् ।
ध्यानतन्त्रमिदं धीर धन्येयोगीन्द्रगोचरम्[1] ॥ २५ ॥

अर्थ—हे धीर पुरुष ! यह ध्यानका तंत्र (शास्त्र) सुननेसे चित्तको पवित्र करता है । तीव्र रागादिकका अभाव करके चित्तको विशुद्ध करता है । तथा आचरण किया हुआ शिव अर्थात् मोक्षको देता

१ "धन्ययोगीन्द्रसेवितं" इत्यपि पाठः ।

है। योगीश्वरोंका जाना हुआ है, इस कारण इसको तु आस्वाद, धार वा सुन और ध्यानका आचरण कर ॥ २५ ॥

विस्तरेणैव तुष्यन्ति केऽप्यहो विस्तरप्रियाः ।
संक्षेपरुचयश्चान्ये विचित्राश्चित्तवृत्तयः ॥ २६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि, अनेक पुरुष तो विस्तारसे ही प्रसन्न होते हैं और अनेक संक्षेपसे रुचि रखनेवाले होते हैं। आश्चर्य है कि, चित्तकी वृत्तियां भी विचित्र अर्थात् अनेक प्रकारकी होती हैं। भावार्थ–जैसे वक्ता और श्रोता होते हैं, वैसा ही कहना और सुनना होता है, अतएव प्रथम ही प्रकरणमें संक्षिप्त रुचिवाले श्रोताओंके लिये ध्यानका संक्षिप्त स्वरूप कहते हैं ॥ २६ ॥

संक्षेपरुचिभिः सूत्रात्तन्निरूप्यात्मनिश्चयात् ।
त्रिधैवाभिमतं कैश्चिद्यतो जीवाशयस्त्रिधा ॥ २७ ॥

अर्थ—आत्माका है निश्चय जिसमें ऐसे सूत्रसे निरूपण करके कितने ही संक्षेप रुचिवालोंने तीन प्रकारका ही ध्यान माना है। क्योंकि जीवका आशय तीन प्रकारका ही है अर्थात् अध्यात्मशास्त्रकी अपेक्षा आत्माके उपयोगकी प्रवृत्ति संक्षेपसे तीन प्रकारकी ही मानी गई ॥ २७ ॥

उन तीन प्रकारके आशयोंका व्याख्यान करते हैं—

तत्र पुण्याशयः पूर्वस्तद्विपक्षोऽशुभाशयः ।
शुद्धोपयोगसंज्ञो यः स तृतीयः प्रकीर्त्तितः ॥ २८ ॥

अर्थ—उन तीनोंमें प्रथम पुण्यरूप शुभ आशय है और उसका विपक्षी दूसरा पापरूप अशुभ आशय है और तीसरा शुद्धोपयोगनामा आशय है ॥ २८ ॥

पुण्याशयवशाज्जातं शुद्धलेश्यावलम्बनात् ।
चिन्तनाद्वस्तुतत्त्वस्य प्रशस्तं ध्यानमुच्यते ॥ २९ ॥

अर्थ—पुण्यरूप आशयके वशसे तथा शुद्ध लेश्याके अवलंबनसे और वस्तुके यथार्थस्वरूप चिंतवनसे उत्पन्न हुआ ध्यान प्रशस्त कहाता है ॥ २९ ॥ और

पापाशयवशान्मोहान्मिथ्यात्वाद्वस्तुविभ्रमात् ।
कषायाज्जायतेऽजस्रमसद्ध्यानं शरीरिणाम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जीवोंके पापरूप आशयके वशसे तथा मोह-मिथ्यात्व-कषाय और तत्त्वोंके अयथार्थ विभ्रमसे अप्रशस्त अर्थात् असमीचीन ध्यान होता है ॥ ३० ॥

क्षीणे रागादिसन्ताने प्रसन्ने चान्तरात्मनि ।
यः स्वरूपोपलम्भः स्यात्स शुद्धाख्यः प्रकीर्तितः ॥ ३१ ॥

अर्थ—रागादिककी सन्तानके क्षीण होने पर अन्तरंग आत्माके प्रसन्न होनेसे जो अपने स्वरूपका उपलंभन अर्थात् प्राप्ति होती है, वह शुद्ध ध्यान है ॥ ३१ ॥

शुभध्यानफलोद्भूतां श्रियं त्रिदशसंभवाम् ।
निर्विशन्ति नरा नाके क्रमाद्यान्ति परं पदम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—मनुष्य शुभध्यानके फलसे उत्पन्न हुई स्वर्गकी लक्ष्मीको स्वर्गमें भोगते हैं और क्रमसे मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥

दुर्ध्यानाद्दुर्गतेर्बीजं जायते कर्म देहिनाम् ।
क्षीयते यन्न कष्टेन महतापि कथंचन ॥ ३३ ॥

अर्थ—दुर्ध्यानसे जीवोंकी दुर्गतिका कारणभूत अशुभ कर्म होता है, जो कि बड़े कष्टसे भी कभी क्षय नहीं होता ॥ ३३ ॥

निःशेषक्लेशनिर्मुक्तं स्वभावजमनश्वरम् ।
फलं शुद्धोपयोगस्य ज्ञानराज्यं शरीरिणाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—जीवोंके शुद्धोपयोगका फल समस्त दुःखोंसे रहित, स्वभावसे उत्पन्न, और अविनाशी ज्ञानरूपी राज्यका पाना है। भावार्थ—शुद्धोपयोगसे जीवोंको केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ ३४ ॥

इति संक्षेपतो ध्यानलक्षणं समुदाहृतम् ।
बन्धमोक्षफलोपेतं सङ्क्षेपरुचिरञ्जकम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—इस प्रकार संक्षेपसे संक्षेपरुचि पुरुषोंको रंजन करनेवाला बन्धमोक्षके फलसहित ध्यानका लक्षण कहा गया। भावार्थ—शुभ ध्यानसे पुण्य-बन्ध तथा अशुभ ध्यानसे पापबन्ध होता है और शुद्ध ध्यानसे पाप-पुण्यरूप बंधोंका नाश हो कर मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ३५ ॥

अब इस अधिकारको पूर्ण करते हुए कहते हैं—

शिखरिणी।

अविद्याविक्रान्तैश्चपलचरितैर्दुर्नयशतै-
र्जगल्लुप्तालोकं कृतमतिघनध्वान्तनिचितम् ।
त्वयोच्छेद्याशेषं परमततमोव्रातमतुलं ।
प्रणीतं भव्यानां शिवपदमथानन्दनिलयम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—अविद्या अर्थात् मिथ्याज्ञानसे विकाररूप हो कर अनिश्चयरूप तथा भ्रमात्मक आचरणवाले मिथ्यादृष्टियोंने सर्वथा एकान्तरूप सैकड़ों दुर्नीतियोंसे जगतको अति सघन अन्धकारके समूहसे लुप्तालोक (प्रकाशरहित) कर दिया है अर्थात् हिताहितके मार्गसे विभ्रमरूप कर दिया है। इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं कि, हे ज्ञानी आत्मन्! तू पर-मतरूप अतुल अंधकारके समस्त समूहोंको दूर करके भव्य जीवोंको आनंद देनेवाले मोक्षरूपी घरको प्राप्त कर। भावार्थ—अन्यमतावलंबी एकान्ती विद्वानोंने सर्वथा एकान्तरूप कुनयको ग्रहण करके जगतके जीवोंको मिथ्यामार्गमें लगा दिया है। अतः ज्ञानी पुरुषोंको चाहिये कि, स्याद्वादनयको प्रगट करके यथार्थ मार्गकी प्रवृत्ति करें, क्योंकि वस्तुका स्वरूप

सर्वथा एकान्तरूप नहीं है अर्थात् सर्वथा नित्यमें, सर्वथा अनित्यमें, सर्वथा एकमें, अनेकमें तथा सर्वथा शुद्धमें अथवा अशुद्धमें इत्यादि सर्वथा एकान्तनयसे आत्मामें ध्याता ध्यान ध्येय फलादि भेद-रूप परिणाम सिद्ध नहीं होते। इस लिये अन्यवादी जो ध्यानकी कथनी करते हैं, वह भ्रममात्र है और स्याद्वादसे अनेक धर्मस्वरूप वस्तुमें सब ही सिद्ध होते हैं। इस कारण स्याद्वाद मार्गका शरण ले कर ध्यानका साधन करना उचित है। ऐसा उपदेश है ॥ ३६ ॥

इस प्रकार संक्षेपसे अध्यात्मशास्त्रकी अपेक्षा शुभाशुभ शुद्ध परिणाम स्वरूप ध्यानके तीन प्रकारके स्वरूपोंका वर्णन किया।

दोहा।

अशुभ क्रोध आदिक तजो, दया क्षमा शुभ धारि।
शुद्धभावमें लीन है, कर्मपाश निरवारि ॥ ३ ॥

इति ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते संक्षेपतो ध्यानलक्षणम् ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः सर्गः।

ध्यानका वर्णन।

आगे विस्ताररूप ध्यानके प्रकारको प्रकरणमें प्रथम ही ध्यानका लक्षण चार प्रकारका है, उसे कहते हैं—

यच्चतुर्धा मतं तज्ज्ञैः क्षीणमोहैर्मुनीश्वरैः।
पूर्वप्रकीर्णकाङ्गेषु ध्यानलक्ष्म सविस्तरम् ॥ १ ॥

अर्थ—ध्यानके जाननेवाले क्षीणमोह मुनीश्वरोंने सविस्तर ध्यानका लक्षण पूर्वप्रकीर्णकसहित द्वादश अंगोंमें चार प्रकारका माना है ॥ १ ॥

शतांशमपि तस्याद्य न कश्चिद्वक्तुमीश्वरः।
तदेतत्सुप्रसिद्ध्यर्थं दिङ्मात्रमिह वर्ण्यते ॥ २ ॥

अर्थ—द्वादशांगसूत्रमें जो ध्यानका लक्षण विस्तारसहित कहा गया है, उसका शतांश (सौवां भाग) भी आज कोई कहनेको समर्थ नहीं है, तथापि उसकी प्रसिद्धिके लिये इस ग्रन्थमें दिग्दर्शनमात्र वर्णन किया जाता है ॥ २ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गुणदोषैः प्रपञ्चितम्।
हेयोपादेयभावेन सविकल्पं निगद्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—यह ध्यानका लक्षण गुण-दोष और अन्वय-व्यतिरेकसे जिस प्रकार विस्ताररूप है, उसी प्रकार हेयोपादेय भावोंसे भेदोंसहित कहा जाता है। अन्वयगुणोंसे अर्थात् ऐसे गुण हों तो वहाँ ध्यान होता है और व्यतिरेक दोषोंसे अर्थात् जहाँ ये दोष हों वहाँ ध्यान नहीं होता। तथा अप्रशस्तध्यान

तो हेय है और प्रशस्त ध्यान उपादेय है। आर्त्त रौद्र, धर्म और शुक्ल ऐसे चार भेद कहे गये हैं, सो इनके विशेष वर्णनसे विस्ताररूप ध्यानका स्वरूप कहा जावेगा ॥ ३ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

ध्याता ध्यानमितस्तदङ्गमखिलं दृग्बोधवृत्तान्वितं
ध्येयं तद्गुणदोषलक्षणयुतं नामानि कालः फलम् ।
एतत्सूत्रमहार्णवात्समुदितं यत्प्राक्प्रणीतं बुधैः
तत्सम्यक्परिभावयन्तु निपुणा अत्रोच्यमानं क्रमात् ॥ ४ ॥

अर्थ—पूर्व कालके ज्ञानी पुरुषोंने (पूर्वाचर्योंने) ध्यान करनेवाला ध्याता, ध्यान ध्यानके दर्शन ज्ञानचारित्रसहित समस्त अंगध्येय, तथा ध्येयके गुणदोष लक्षणसहित, ध्यानके नाम, ध्यानका समय, और ध्यानका फल ये सब ही जो सूत्ररूप महासमुद्रसे प्रगट हो के बुद्धिमानोंके द्वारा पूर्वमें प्रणीत किये गये हैं, वे ही सब इस ग्रन्थमें क्रमसे कहे जाते हैं। निपुण पुरुषोंको भले प्रकार इनका परिशीलन करना चाहिये ॥ ४ ॥

ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं फलं चेति चतुष्टयम् ।
इति सूत्रसमासेन सविकल्पं निगद्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—ध्याता, ध्यान, ध्येय और फल यह चतुष्टय सूत्ररूप संक्षेपसे भेदसहित कहा जाता है ॥ ५ ॥

प्रथम ध्याताका स्वरूप कहते हैं—

मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः शान्तिचित्तो वशी स्थिरः ।
जिताक्षः संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते ॥ ६ ॥

अर्थ—शास्त्रमें ऐसे ध्याताकी प्रशंसा की गई है कि मुमुक्षु हो अर्थात् मोक्षकी इच्छा रखनेवाला हो। क्योंकि यदि ऐसा नहीं हो, तो मोक्षके कारण ध्यानको क्यों करे? दूसरे संसारसे विरक्त हो। क्योंकि संसारसे विरक्त हुए बिना ध्यानमें चित्त किस लिये लगावें? तीसरे क्षोभरहित शान्त चित्त हो। क्योंकि व्याकुल चित्तके ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती। चौथे वशी कहिये जिसका मन अपने वशमें हो। क्योंकि मनके वश हुए बिना वह ध्यानमें कैसे लगे? पाचवें स्थिर हो, शरीरके सांगोपांग आसनमें दृढ हो। क्योंकि काय चलायमान रहनेसे ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। छट्ठे जिताक्ष (जितेन्द्रिय) हो। क्योंकि इन्द्रियोंके जीते बिना वे विषयोंमें प्रवृत्त करती हैं और ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती। सातवें संवृत कहिये संवरयुक्त हो। क्योंकि खानपानादिमें विकल हो जावें तो, ध्यानमें चित्त कैसे स्थिर हो? आठवें धीर हो। उपसर्ग आनेपर ध्यानसे च्युत न होवे तब ध्यानकी सिद्धि होती है। ऐसे आठ गुणसहित ध्याताके ध्यानकी सिद्धि हो सकती है, अन्यके नहीं होती ॥ ६ ॥

अब इसी कथनका विस्तार करते हैं और प्रथम गृहस्थावस्थामें उत्तम ध्यानका निषेध करते हैं—

उपजातिवृत्तम् ।

उदीर्णकर्मेन्धनसंभवेन दुःखानलेनातिकदर्थ्यमानम् ।
दन्दह्यते विश्वमिदं समन्तात्प्रमादमूढं च्युतसिद्धिमार्गम् ॥ ७ ॥

अर्थ—छोड़ दिया है मोक्षमार्ग जिसने ऐसा प्रमादसे मूढ हो कर यह जगत् उदयमें आये हुए कर्मरूपी ईंधनसे उत्पन्न दुःखरूपी अग्निसे पीड़ित होता हुआ चारों ओरसे जलता है ॥ ७ ॥

अब ऐसे जगतसे निकले हुए मुनिको उद्देश करके कहते हैं—

दह्यमाने जगत्यस्मिन्महता मोहवह्निना ।
प्रमादमदमुत्सृज्य निःक्रान्ता योगिनः परम् ॥ ८ ॥

अर्थ—महामोहरूपी अग्निसे जलते हुए इस जगतमें से केवल मुनिगण ही प्रमादको छोड़ कर निकलते हैं, अन्य कोई नहीं ॥ ८ ॥

न प्रमादजयं कर्तुं धीधनैरपि पार्यते ।
महाव्यसनसंकीर्णे गृहवासेऽतिनिन्दिते ॥ ९ ॥

अर्थ—अनेक कष्टोंसे भरे हुए अति निंदित गृहवासमें बड़े २ बुद्धिमान् भी प्रमादको पराजित करनेमें समर्थ नहीं हैं । इस कारण गृहस्थावस्थामें ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ९ ॥

शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः ।
अतश्चित्तप्रशान्त्यर्थं सद्भिस्त्यक्ता गृहे स्थितिः ॥ १० ॥

अर्थ—गृहस्थगण घरमें रहते हुए अपने चपल मनको वश करनेमें असमर्थ होते हैं, अतएव चित्तकी शान्तिके अर्थ सत्पुरुषोंने घरमें रहना छोड़ दिया है और वे एकान्त स्थानमें रहकर ध्यानस्थ होनेको उद्यमी हुए हैं ॥ १० ॥

वंशस्थम् ।

प्रतिक्षणं द्वन्द्वशतार्त्तचेतसां नृणां दुराशाग्रहपीडितात्मनाम् ।
नितम्बिनीलोचनचौरसङ्कटे गृहाश्रमे स्वात्महितं न सिद्ध्यति[1] ॥ ११ ॥

अर्थ—सैकड़ों प्रकारके कलहोंसे दुःखित चित्त, और धनादिकको दुराशारूपी पिशाचीसे पीड़ित मनुष्योंके प्रतिक्षण स्त्रियोंके नेत्ररूपी चौरोंका है उपद्रव जिसमें, ऐसे इस गृहस्थाश्रममें अपने आत्महितकी सिद्धि नहीं होती है ॥ ११ ॥

फिर भी कहते हैं—

निरन्तरार्त्तानलदाहदुर्गमे कुवासनाध्वान्तविलुप्तलोचने ।
अनेकचिन्ताज्वरजिह्मितात्मनां नृणां गृहे नात्महितं प्रसिद्ध्यति ॥ १२ ॥

---

1 "नश्यति स्वात्मनो हितं" इत्यपि पाठः ।

अर्थ—निरन्तर पीड़ारूप आर्त्तध्यानकी अग्निके दाहसे दुर्गम, बसनेके अयोग्य, तथा कामक्रोधादिकी कुवासनारूपी अंधकारसे विलुप्त हो गई है नेत्रोंकी दृष्टि जिसमें, ऐसे घरोंमें अनेक चिन्तारूपी ज्वरसे विकाररूप मनुष्योंके अपने आत्माका हित कदापि सिद्ध नहीं होता। ऐसे गृहस्थावासमें उत्तम ध्यान कैसे हो ? ॥ १२ ॥

आगे फिर भी कहते हैं—

विपन्महापङ्कनिमग्नबुद्धयः प्ररूढरागज्वरयन्त्रपीडिताः ।
परिग्रहव्यालविषाग्निमूर्च्छिता विवेकवीथ्यां गृहिणः स्खलन्त्यमी ॥ १३ ॥

अर्थ—गृहस्थावस्थाकी आपदारूपी महान् कीचड़में जिनकी बुद्धि फँसी हुई है, तथा जो प्रचुरतासे बढे हुये रागरूपी ज्वरके यन्त्रसे पीड़ित हैं, और जो परिग्रहरूपी सर्पके विषकी ज्वालासे मूर्च्छित हुए हैं, वे गृहस्थगण विवेकरूपी वीथीमें (गलीमें) चलते हुए स्खलित हो जाते हैं अर्थात् च्युत हो जाते हैं। अथवा समीचीन मार्गसे (मोक्षमार्गसे) भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ १३ ॥

हिताहितविमूढात्मा स्वं शश्वद्वेष्टयेद् गृही ।
अनेकारम्भजैः पापैः कोशकारः कृमिर्यथा ॥ १४ ॥

अर्थ—जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही मुखसे तारोंको निकाल कर अपनेको ही उसमें आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार हिताहितमें विचारशून्य होकर यह गृहस्थजन भी अनेक प्रकारके आरंभोंसे पापोपार्जन करके अपनेको शीघ्र ही पापजालमें फँसा लेते हैं ॥ १४ ॥

जेतुं जन्मशतेनापि रागाद्यरिपताकिनी ।
विना संयमशस्त्रेण न सद्भिरपि शक्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—रागादि शत्रुओंकी सेना संयमरूपी शस्त्रके विना बड़े २ सत्पुरुषोंसे (राजाओंसे) सैकड़ों जन्म ले कर भी जब जीती नहीं जा सकती है, तो अन्यकी कथा ही क्या है ? ॥ १५ ॥

प्रचण्डपवनैः प्रायश्चाल्यन्ते यत्र भूभृतः ।
तत्राङ्गनादिभिः स्वान्तं निसर्गतरलं न किम् ॥ १६ ॥

अर्थ—स्त्रियां प्रचंड पवनके समान हैं। प्रचंड पवन बड़े २ भूभृतों (पर्वतों) को उड़ा देता है और स्त्रियां बड़े २ भूभृतों (राजाओंको) चला देती हैं। ऐसी स्त्रियोंसे जो स्वभावसे ही चंचल है ऐसा मन क्या चलायमान नहीं होगा ? भावार्थ–स्त्रियोंके संसर्गमें ध्यानकी योग्यता कहां ! ॥ १६ ॥

खपुष्पमथवा शृङ्गं खरस्यापि प्रतीयते ।
न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥ १७ ॥

अर्थ—आकाशके पुष्प और गधेके सींग नहीं होते हैं। कदाचित् किसी देश वा कालमें इनके होनेकी प्रतीति हो सकती है, परन्तु गृहस्थाश्रममें ध्यानकी सिद्धि होनी तो किसी देश वा कालमें संभव नहीं है ॥ १७ ॥

इस प्रकार गृहस्थके ध्यानकी योग्यताका निषेध किया। शंका—यदि यहां कोई यह प्रश्न करे कि "सिद्धान्तमें अविरतसम्यग्दृष्टि तथा श्रावकके धर्मध्यानका होना सुना है, यहां गृहस्थके सर्वथा ध्यानका निषेध क्यों किया ?"—इसका समाधान....

इस ग्रंथमें मोक्षके साधनरूप ध्यानका अधिकार है इस लिये उनकी अपेक्षा मुनियोंके ही ध्यानकी प्रधानता कही गई है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थोंके धर्म-ध्यान जघन्यतासे होता है, सो यहां गौण है। स्याद्वाद मतमें प्राधान्य गौण कथनीमें विरोध नहीं होता।

अब मिथ्यादृष्टियोंके ध्यानकी सिद्धिका निषेध करते हैं—

दुर्दृशामपि न ध्यानसिद्धिः स्वप्नेऽपि जायते।
गृह्णतां दृष्टिवैकल्याद्वस्तुजातं यदृच्छया ॥ १८ ॥

अर्थ—दृष्टिकी विकलतासे वस्तुसमूहको अपनी इच्छानुसार ग्रहण करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंके ध्यानकी सिद्धि स्वप्नमें भी नहीं होती है ॥ १८ ॥

ध्यानसिद्धिर्मतित्वेऽपि न स्यात्पाषण्डिनां क्वचित्।
पूर्वापरविरुद्धार्थमतसत्तावलम्बिनाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिको (अन्यथा श्रद्धान करनेवाले अन्यमतीको) गृहस्थावस्था छोड़के मुनि होने पर भी ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। क्योंकि वे पूर्वापरविरुद्ध पदार्थोंके स्वरूपमें समीचीनता (सत्यता) माननेवाले हैं, अर्थात् अन्यमतमें सत्ता—यथार्थता नहीं है ॥ १९ ॥

सो ही कहते हैं—

किं च पाषण्डिनः सर्वे सर्वथैकान्तदूषिताः।
अनेकान्तात्मकं वस्तु प्रभवन्ति न वेदितुम् ॥ २० ॥

अर्थ—सब ही अन्यमती पाखंडी सर्वथा एकान्ततासे दूषित हैं, और वस्तुका स्वरूप अनेकान्तात्मक है अतः वे उनके यथार्थ स्वरूपको जाननेमें असमर्थ हैं। स्याद्वादके जाने विना विरोध आदि दूषणोंका परिहार उनसे नहीं किया जा सकता है ॥ २० ॥

नित्यतां केचिदाचख्युः केचिच्चानित्यतां खलाः।
मिथ्यात्वान्नैव पश्यन्ति नित्यानित्यात्मकं जगत् ॥ २१ ॥

अर्थ— कोई २ तो वस्तुके नित्यता ही कहते हैं और कोई २ अनित्यता ही सिद्ध करते हैं। परन्तु यह जगत् नित्य-अनित्य दोनों स्वरूप है ऐसा मिथ्यात्वके उदयसे नहीं देखते। भावार्थ—सांख्य, नैयायिक, वेदान्त और मीमांसक मतवाले तो आत्माको सर्वथा नित्य तथा जगतको अविद्यादिकके विलाससे विभ्रमरूप अनित्य मानते हैं और कहते हैं कि 'आत्माको अनित्य माननेसे आत्माका नाश हो कर नास्तिकताका मत आता है और नित्यानित्य दोनों स्वरूप माननेसे विरोधादिक दूषण आते हैं।' इस प्रकार अपनी कपोल कल्पना करके आत्माको सर्वथा नित्य ही मानते हैं और बौद्धमती वस्तुको क्षणिक

तथा अनित्यस्वरूप मानते हैं। नित्य माननेको अविद्या कहते हैं और नित्यानित्य माननेमें विरोधादि दूषण कहते हैं। किन्तु सबको जानना चाहिये कि वास्तवमें वस्तुका स्वरूप जो नित्यानित्यरूप है, वह स्याद्वादसे ही सिद्ध होता है। उसमें विरोध आदि कोई दूषण नहीं आते। शोक है कि ऐसा स्वरूप अन्यमती समझते नहीं है और अपनी बुद्धिसे कल्पना करके जिसतिस प्रकार सिद्धि करके सन्तुष्ट हो जाते हैं। परन्तु वास्तवमें विचार किया जावें, तो उनके ध्याता ध्यान ध्येयादिकी सिद्धि नहीं होती। इस कारण उनका कहना सब प्रलाप मात्र जानना चाहिये ॥२१॥

वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्कि ध्येयं क च भावना ।
ध्यानाभ्यासस्ततस्तेषां प्रयासायैव केवलम् ॥२२॥

अर्थ—उक्त मिथ्यादृष्टी अन्य मतावलम्बियोंके यथार्थ स्वरूपके ज्ञानके अभावसे ध्येय कहां और भावना कहां? इस कारण उनका ध्यानका करना केवल प्रयास मात्र ही है अर्थात् निष्फल खेद करना है ॥२२॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे—

"शतमाशीतं मथितं क्रियाविदां वादिनां प्रचण्डानाम् ।
चतुरधिकाशीतिरपि प्रसिद्धमहसां विपक्षाणाम् ॥१॥
षष्ठिर्विज्ञानविदां सप्तसमेता प्रसिद्धबोधानाम् ।
द्वात्रिंशद्वैनयिका भवन्ति सर्वे प्रवादविदः ॥२॥ (युग्मम्)

अर्थ—प्रचंड क्रियावादियोंके तो विस्ताररूप एक-सो अस्सी भेद हैं और उनके विपक्षी अक्रिया-वादियोंके चौरसी भेद प्रसिद्ध हैं। तथा प्रसिद्ध है ज्ञानवाद जिनका ऐसे ज्ञानवादियोंके सड़सठ भेद हैं और विनयवादियोंके बत्तीस भेद हैं। इस प्रकार तीन-सौ त्रेसठ प्रकारके मत आदिनाथस्वामीके समयमें ही थे और अब तो इनके प्रभेद अनगिनती हो गये और होते जाते हैं। इन मतोंका विशेष वर्णन गोम्मटसार ग्रंथसे जानना।"

ज्ञानादेवेष्टसिद्धिः स्यात्ततोऽन्यः शास्त्रविस्तरः ।
मुक्तेरुक्तमतो बीजं विज्ञानं ज्ञानवादिभिः ॥२३॥

अर्थ—ज्ञानवादियोंका मत तो ऐसा है कि एक मात्र ज्ञानसे ही इष्टसिद्धि होती है। इससे अन्य जो कुछ है सो सब शास्त्रका विस्तार मात्र है। इस कारण मुक्तिका बीजभूत विज्ञान ही है ॥२३॥

कैश्चिच्च कीर्त्तिता मुक्तिर्दर्शनादेव केवलम् ।
वादिनां खलु सर्वेषामपाकृत्य नयान्तरम् ॥२४॥

अर्थ—और कई वादियोंने अन्य समस्त वादियोंके अन्य नयपक्षोंका निराकरण करके केवल दर्शन (श्रद्धा) से ही मुक्ति होनी कही है ॥२४॥

अथान्यवृत्तमेवैकं मुक्त्यङ्गं परिकीर्तितम् ।
अपास्य दर्शनज्ञाने तत्कार्यविफलश्रमे ॥२५॥

अर्थ—अथवा अन्य कई वादियोंने चारित्रको (क्रियाको) ही मुक्तिका अंग माना है और ज्ञान-दर्शनको मुक्तिमार्गके कार्यमें व्यर्थ मान कर उसका खंडन किया है ॥२५॥

विज्ञानादित्रिवर्गेऽस्मिन्द्वे द्वे नष्टे तथा परैः ।
स्वसिद्धान्तावलेपेन जन्मसन्ततिशातने ॥२६॥

अर्थ—और कितने ही वादी अपने सिद्धान्तके गर्वसे संसारकी सन्ततिके नाशकी परिपाटीमें विज्ञान, दर्शन (श्रद्धान) और चारित्र इन तीनोंमेंसे दो दो को इष्ट कहते हैं, अर्थात् कोई तो दर्शन और ज्ञानको ही मानते हैं, किसीने दर्शन और चारित्र ही माना है और कोई २ ज्ञान और चारित्रको ही मानते हैं। इस प्रकारसे तीन प्रकारके वादी हैं ॥२६॥

एकैकं च त्रिभिर्नष्टं द्वे द्वे नष्टे तथाऽपरैः ।
त्रयं न रुच्यतेऽन्यस्य सप्तैते दुर्दृशः स्मृताः ॥२७॥

अर्थ—इन वादियोंमें तीन वादियोंने तो एक एकको नष्ट किया और तीन वादियोंने दो दो को नष्ट किया। इनके अतिरिक्त एकको ये तीनों ही नहीं रुचते, इस प्रकार मिथ्यामतियोंके सात भेद हुए।

भावार्थ—जिसने दर्शन और ज्ञान दो को ही मोक्षका मार्ग माना उसने तो एक चारित्रको नष्ट किया; जिसने ज्ञान और चारित्र माना, उसने एक दर्शनको नष्ट किया, और जिसने दर्शन और चारित्र ये दो माने उसने एकको नष्ट किया। इसी प्रकार जिसने एक दर्शनको ही माना उसने ज्ञान चारित्रको नष्ट किया और जिसने एक ज्ञानको ही माना उसने दर्शन और चारित्रको नष्ट किया और जिसने एक चारित्रको ही माना उसने दर्शन और ज्ञान पर पानी फेर दिया। इस प्रकार छह पक्ष तो ये हुए एक नास्तिकका पक्ष है, जो इन तीनोंमें किसीको नहीं मानता है। इस प्रकार सात पक्ष मिथ्यादृष्टियोंके हैं ॥२७॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे—

"ज्ञानहीने क्रिया ंसि परं नारभते फलम् ।
तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः ॥१॥
ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम् ।
ततो ज्ञानं क्रिया श्रद्धा त्रयं तत्पदकारणम् ॥२॥
हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया ।
धावन्नप्यन्धको नष्टःपश्यन्नपि च पङ्गुकः ॥३॥

अर्थ—ज्ञानहीन पुरुषको क्रिया फलदायक नहीं होती। जिसकी दृष्टि नष्ट हो गई है वह अन्धा पुरुष चलते २ जिस प्रकार वृक्षकी छायाको प्राप्त होता है, उसी प्रकार क्या उसके फलको भी पा

सकता है ? कदापि नहीं ! ॥१॥ पंगुमें तो वृक्षके फलका देख लेना प्रयोजनका नहीं साधता और अंधेमें फल जान कर तोड़नेरूप क्रिया प्रयोजनको नहीं साधती। श्रद्धारहितके ज्ञान और क्रिया दोनों ही (दवाईकी समान) प्रयोजनसाधक नहीं हैं, इस कारण ज्ञान क्रिया और श्रद्धा तीनों एकत्र हो कर ही वांछित अर्थकी साधक होती हैं ॥२॥ क्रियारहित तो ज्ञान नष्ट है, और अज्ञानीकी क्रिया नष्ट हुई। देखो दौड़ता २ तो अन्धा नष्ट हो गया और देखता २ पंगु (पांगला) नष्ट हुआ। भावार्थ—वनमें आग लगी; अंधेने इधर उधर दौड़नेकी क्रिया तो की, किन्तु दृष्टिके बिना आगमें गिर कर जल गया और पंगु (लंगड़ा) किधरको आग है और किधरको रस्ता है, सब देखता तो है, परन्तु दौड़ा नहीं गया इस कारण अग्निमें जल कर मर गया। इस कारण ज्ञान, श्रद्धा और क्रिया इनसे ही प्रयोजनकी सिद्धि होती है ॥३॥"

कारकादिक्रमो लोके व्यवहारश्च जायते ।
न पक्षेऽन्विष्यमाणोऽपि सर्वथैकान्तवादिनाम् ॥२८॥

अर्थ—सर्वथा एकान्तवादियोंके पक्षका विचार करनेसे उनके यहां कर्त्ता कर्म करण आदि कारकोंका क्रम (परिपाटी और व्यवहार) दृष्टिगोचर नहीं होता है ॥२८॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे—

पृथिवी ।

"इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेषः क्रमो
व्ययोऽयमनुषङ्गजं फलमिदं दशेयं मम ।
अयं सुहृदयं द्विषन्नियतदेशकालाविमा-
विति प्रतिवितर्कयन्प्रयतते बुधो नेतरः ॥१॥

अर्थ—जो विद्वान् हैं, वे ऐसा विचार करते हुए यत्न करते रहते हैं कि यह तो क्रिया है, यह करण है और यह इसका फल है, यह इसका क्रम है, यह इसमें व्यय है, यह अनुषंगसे उपजा हुआ फल है और यह मेरी दशा है। यह मित्र है, यह द्वेष करनेवाला शत्रु है और यह कार्यसंबंधी देश तथा काल है। इस प्रकारका विचार वस्तुका अनेकान्त स्वरूप बताता है, परन्तु मूढ जन इनका विचार नहीं करते हैं ॥१॥"

यस्य प्रज्ञा स्फुरत्युच्चैरनेकान्ते च्युतभ्रमा ।
ध्यानसिद्धिर्विनिश्चेया तस्य साध्वी महात्मनः ॥२९॥

अर्थ—जिस पुरुषकी बुद्धि अनेकान्तमें भ्रमरहित अतिशय स्फुरायमान है, उसी महात्माको उत्तम ध्यानकी सिद्धि निश्चयसे हो सकती है। सर्वथा एकान्तस्वरूप वस्तु ही सिद्ध न हो, तब ध्यानकी सिद्धि कैसे हो ? ॥२९॥

इस प्रकार मिथ्यादृष्टियोंके ध्यानकी योग्यताका निषेध किया। अब ऐसा कहते हैं कि जो जैन मतके मुनि हैं और जिनाज्ञाके प्रतिकूल हैं, उनको भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हैं—

ध्यानतन्त्रे निषिध्यन्ते नैते मिथ्यादृशः परं ।
मुनयोऽपि जिनेशाज्ञाप्रत्यनीकाश्चलाशयाः ॥३०॥

अर्थ—सिद्धान्तमें ध्यान केवल मात्र मिथ्यादृष्टियोंके ही नहीं निषेधते हैं, किन्तु जो जिनेन्द्र भगवान्की आज्ञासे प्रतिकूल हैं तथा जिनका चित्त चलित है और जैन साधु कहाते हैं, उनके भी ध्यानका निषेध किया जाता है। क्योंकि उनके ध्यानकी सिद्धि नहीं होती ॥३०॥

योग्यता न यतित्वेऽपि येषां ध्यातुमिह क्षणम् ।
अन्विष्य लिङ्गमेतेषां सूत्रसिद्धं निगद्यते ॥३१॥

अर्थ—इस लोकमें जिनके मुनि-अवस्थामें भी ध्यान करनेकी एक क्षणमात्रकी योग्यता नहीं है, उनकी पहिचान सूत्रसिद्ध (शास्त्रोक्त) कही जाती है ॥३१॥

यत्कर्मणि न तद्वाचि वाचि यत्तन्न चेतसि ।
यतेर्यस्य स किं ध्यानपदवीमधिरोहति ॥३२॥

अर्थ—जिस यतिके जो कर्म (क्रिया) में है, सो वचनमें नहीं है, वचनमें और ही कुछ है। तथा जो कुछ वचनमें है सो चित्तमें नहीं है। ऐसे मायाचारी यति क्या ध्यान पदवीको पा सकते हैं?॥३२॥

सङ्गेनापि महत्त्वं ये मन्यन्ते स्वस्य लाघवम् ।
परेषां संगवैकल्यात्ते स्वबुद्ध्यैव वञ्चिताः ॥३३॥

अर्थ—जो मुनि होकर भी परिग्रह रखते हैं और उस परिग्रहसे अपना महत्त्व मानते हैं तथा अन्य कि जिनके परिग्रह नहीं है उनकी लघुता समझते हैं, वे अपनी ही बुद्धिसे ठगे गये हैं: क्योंकि मुनिका महत्त्व तो निर्ग्रन्थतासे ही है ॥३३॥

सत्संयमधुरां धृत्वा तुच्छशीलैर्मदोद्धतैः ।
त्यक्ता यैः सा च्युतस्थैर्यैर्ध्यातुमीशं क तन्मनः ॥३४॥

अर्थ—जिन निःसारस्वभावी मदोद्धत मुनियोंने समीचीन संयमकी धुरा धारण करके छोड़ दी और जिनका धैर्य छूट गया, उनका मन क्या ध्यान करनेमें समर्थ हो सकता है? कदापि नहीं। क्योंकि हीन प्रकृति मदोद्धत धैर्य रहितके ध्यानकी योग्यता नहीं है ॥३४॥

कीर्तिपूजाभिमानार्तैर्लोकयात्रानुरञ्जितैः ।
बोधचक्षुर्विलुप्तं यैस्तेषां ध्याने न योग्यता ॥३५॥

अर्थ—जो मुनि कीर्ति प्रतिष्ठा और अभिमानके अर्थमें आसक्त हैं, दुःखित हैं तथा लोकयात्रासे प्रसन्न होते हैं अर्थात् हमारे पास बहुतसे लोग आवें जावें और हमको माने जो ऐसी वांछा रखते हैं, उन्होंने अपने ज्ञानरूपी नेत्रको नष्ट किया है, ऐसे मुनियोंके ध्यानकी योग्यता नहीं हो सकती है ॥३५॥

अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं मिथ्यात्वविषमुद्धतम् ।
निष्ठ्यूतं यैर्न निःशेषं न तैस्तत्त्वं प्रमीयते ॥३६॥

अर्थ—जिन मुनियोंने अपने अन्तःकरणकी शुद्धताके लिये उत्कट मिथ्यात्वरूपी समस्त विष नहीं वमन किया (नहीं उगला) वे तत्त्वोंको प्रमाणरूप नहीं जान सकते हैं । क्योंकि मिथ्यात्वरूपी विष ऐसा प्रबल है कि इसका लेशमात्र भी हृदयमें रहे, तो तत्त्वार्थका ज्ञान श्रद्धान प्रमाणरूप नहीं होता, तब ऐसी अवस्थामें ध्यानकी योग्यता कहां ? ॥३६॥

दुःषमत्वादयं कालः कार्यसिद्धेर्न साधकम् ।
इत्युक्त्वा स्वस्य चान्येषां कैश्चिद्ध्यानं निषिध्यते ॥३७॥

अर्थ—कोई २ साधु ऐसा कह कर अपने तथा परके ध्यानका निषेध करते हैं कि "यह काल दुःषमा (पंचम) है । इस कालमें ध्यानकी योग्यता किसीके भी नहीं है" इस प्रकार कहनेवालोंके ध्यान कैसे हो ? ॥३७॥

संदिह्यते मतिस्तत्त्वे यस्य कामार्थलालसा ।
विप्रलब्धाऽन्यसिद्धान्तैः स कथं ध्यातुमर्हति ॥३८॥

अर्थ—जिसकी बुद्धि अन्य मतके शास्त्रोंसे ठगी गई है तथा जो काम और अर्थमें लुब्ध हो कर वस्तुके यथार्थ स्वरूपमें संदिग्धरूप (संदेहसहित) है वह ध्यान करनेका पात्र कैसे हो ? क्योंकि जब तक तत्त्वोंमें (वस्तुस्वरूपमें) संदेह होता है, तब तक मन निश्चल नहीं हो सकता और जब मन ही निश्चल नहीं, तब ध्यान कैसे हो ? ॥३८॥

निसर्गचपलं चेतो नास्तिकैर्विप्रतारितम् ।
स्याद्यस्य स कथं ध्यानपरीक्षायां क्षमो भवेत् ॥३९॥

अर्थ—एक तो मन स्वभावसे ही चंचल है, तिस पर भी जिसका मन नास्तिक वादियोंद्वारा वंचित किया गया हो वह मुनि ध्यानकी परीक्षामें कैसे समर्थ हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता, क्योंकि नास्तिकमती खोटी २ युक्तियोंसे आत्माका नाश ही सिद्ध करते हैं । उनकी कुयुक्तियोंमें जिसका मन फँस जाता है, उसके ध्यानकी योग्यता कहाँसे हो सकती है ? ॥३९॥

कान्दर्पीप्रमुखाः पञ्च भावना रागरञ्जिताः ।
येषां हृदि पदं चक्रुः क तेषां वस्तुनिश्चयः ॥४०॥

अर्थ—जिनके मनमें रागसे रंजित कांदर्पी आदि पांच भावनाओंने निवास किया है, उनके वस्तुनिश्चय (तत्त्वार्थज्ञान) कैसे हो ? ॥४०॥

अब इन भावनाओंके नाम कहते हैं—

कान्दर्पी कैल्विषी चैव भावना चाभियोगिकी ।
दानवी चापि सम्मोही त्याज्या पञ्चतयी च सा ॥४१॥

अर्थ—कान्दर्पी (कामचेष्टा), कैल्विषी (क्लेशकारिणी), अभियोगिकी (युद्धभावना), आसुरी

(सर्वभक्षणी) और संमोहिनी (कुटुंबमोहनी): इस प्रकार ये पांच भावनायें पापरूप हैं सो पांचो ही त्यागने योग्य हैं ॥४१॥

मार्जाररसितप्रायं येषां वृत्तं त्रपाकरम् ।
तेषां स्वप्नेपि सद्ध्यानसिद्धिर्नैवोपजायते ॥४२॥

अर्थ—जिस मुनिका चारित्र बिलावके कहे हुए उपाख्यानके (कहानीके) समान लज्जाजनक है, उसके समीचीन ध्यानकी सिद्धि स्वप्नमें भी नहीं हो सकती। बिलावका उपाख्यान लोकप्रसिद्ध है कि एक बिलाव मूषकोंसे कहा करता था कि मैने तीर्थमें जा कर मूषक मारने वा खानेका त्याग कर दिया है, तुम हमारे पास आते हुए कदापि शंका न करो। जब मूषक निःशंक हो कर बिलावके पास आने लगे तब बिलावने क्रम २ से सब मूषकोंको खा डाला। इसी प्रकार जो पुरुष पहिले तो मुनिदीक्षा ले कर प्रतिज्ञायें ग्रहण कर लें और फिर भ्रष्ट हो जावें उनके ध्यानकी सिद्धिका निषेध है ॥४२॥

अनिरुद्धाक्षसन्ताना अजितोग्रपरीषहाः ।
अत्यक्तचित्तचापल्या प्रस्खलन्त्यात्मनिश्चये ॥४३॥

अर्थ—जिन्होंने इन्द्रियोंके विषयभोगनेकी प्रवृत्तिको नहीं रोका, उग्र परीषहें नहीं जीती, और मनकी चपलता नहीं छोड़ी वे मुनि आत्माके निश्चयसे च्युत हो जाते हैं। **भावार्थ**—जिनके इन्द्रिय वशमें नहीं हैं और परीषह आनेपर जो चिग जाते हैं वा जिनका मन चंचल है, उनको आत्माका निश्चय वा ध्यानकी स्थिरता नहीं रहती ॥४३॥

अनासादितनिर्वेदा अविद्याव्याधवञ्चिताः ।
असंवर्धितसंवेगा न विदन्ति परं पदम् ॥४४॥

अर्थ—जो विरागताको प्राप्त नहीं हुए हैं तथा मिथ्यात्वरूपी व्याधसे (शिकारीसे) वंचित किये गये हैं और जिनका मोक्ष और मोक्षमार्गमें अनुराग नहीं है, वे परमपद अर्थात् आत्माके स्वरूपकी प्राप्तिरूप मोक्षको नहीं जानते ॥४४॥

न चेतः करुणाक्रान्तं न च विज्ञानवासितम् ।
विरक्तं च न भोगेभ्यो यस्य ध्यातुं न स क्षमः ॥४५॥

अर्थ—जिसका मन करुणासे व्याप्त नहीं हुआ, तथा भेदविज्ञानसे वासित नहीं हुआ, विषय-भोगोंसे विरक्त नहीं हुआ, वह ध्यान करनेमें समर्थ नहीं है ॥४५॥

लोकानुरञ्जकैः पापैः कर्मभिर्गौरवं श्रिताः ।
अरञ्जितनिजस्वान्ता अक्षार्थगहने रताः ॥४६॥
अनुद्धृतमनःशल्या अकृताध्यात्मनिश्चयाः ।
अभिन्नभावदुर्लेश्या निषिद्धा ध्यानसाधने ॥४७॥

अर्थ—जो लोगोंको रंजित करनेवाला पापरूप कार्योंसे गुरुताको प्राप्त हैं, नहीं जित हुआ है।

आत्मामें चित्त जिनका ऐसे हैं, तथा इन्द्रियोंके विषयोंकी गहनतामें लीन हैं, जिनने मनके शल्यको दूर नहीं किया है तथा अध्यात्मका निश्चय नहीं किया है और अपने भावोंसे दुर्लेश्याको दूर नहीं किया है, ऐसे पुरुष ध्यान साधनमें निषेधित हैं। क्योंकि इनमें ध्यानकी योग्यता नहीं है ॥४६-४७॥

नर्मकौतुककौटिल्यपापसूत्रोपदेशकाः ।
अज्ञानज्वरशीर्णाङ्गा मोहनिद्रास्तचेतनाः ॥ ४८ ॥
अनुद्युक्तास्तपः कर्तुं विषयग्रासलालसाः ।
ससङ्गाः शङ्किता भीता मन्येऽमी दैववञ्चिताः ॥ ४९ ॥
एते तृणीकृतस्वार्था मुक्तिश्रीसङ्गनिःस्पृहाः ।
प्रभवन्ति न सद्ध्यानमन्वेषितुमपि क्षणं ॥ ५० ॥

अर्थ—जो हास्य, कौतूहल, कुटिलता तथा हिंसादि पाप प्रवृत्तिके शास्त्रोंका उपदेश करनेवाले हैं तथा मिथ्यात्वरूपी ज्वर रोगसे जिनकी आत्मा शीर्ण (रोगी) है, विकाररूप है, और मोहरूप निद्रासे जिनकी चेतना नष्ट हो गई है, जो तप करनेको उद्यमी नहीं हैं, विषयोंकी जिनके अतिशय लालसा है, जो परिग्रह और शंकासहित हैं, वस्तुका निर्णय जिनका नहीं है, तथा जो भयभीत हैं, मैं ऐसा मानता हूँ कि ऐसे पुरुष दैवके द्वारा ठगे गये है। फिर ऐसे पुरुषोंसे ध्यान कैसे हो सकता है? इन पुरुषोंने अपने हितको तृणके समान समझ लिया है तथा मुक्तिरूपी स्त्रीके संगम करनेमें निःस्पृह हो गये हैं। इस कारण ये समीचीन ध्यानके अन्वेषण करनेको क्षणमात्र भी समर्थ नहीं हो सकते हैं। भावार्थ—जिनके खोटी भावना लगी रहती है और जिनके अपने हिताहितका विचार नहीं होता, वे समीचीन ध्यानका अन्वेषण नहीं कर सकते ॥ ४८-४९-५० ॥

पापाभिचारकर्म्माणि सातर्द्धिरसलम्पटैः ।
यैः क्रियन्तेऽधमैर्मोहाद्धा हतं तैः स्वजीवितं ॥ ५१ ॥

अर्थ—जो सातावेदनीयजनित सुख और अणिमा-महिमादि तथा धनादिक ऋद्धि तथा रसीले भोजनादिकमें लंपट हैं, मोहसे पापाभिचार कर्म करते हैं, उनके लिये आचार्य महाराज खेदसहित कहते हैं कि हाय! हाय! इन्होंने अपने जीवनका नाश किया और अपनेको संसारसमुद्रमें डूबा दिया ॥५१॥

वे पापाभिचार कर्म कौन २ हैं, सो कहते हैं—

वश्याकर्षणविद्वेषं मारणोच्चाटनं तथा ।
जलानलविषस्तम्भो रसकर्म रसायनम् ॥ ५२ ॥
पुरक्षोभेन्द्रजालं च बलस्तम्भो जयाजयौ ।
विद्याच्छेदस्तथा वेधं ज्योतिर्ज्ञानं चिकित्सितम् ॥ ५३ ॥
यक्षिणीमन्त्रपातालसिद्धयः कालवञ्चना ।
पादुकाञ्जननिस्त्रिंशभूतभोगीन्द्रसाधनं ॥ ५४ ॥

इत्यादिविक्रियाकर्मरञ्जितैर्दुष्टचेष्टितैः ।
आत्मानमपि न ज्ञातुं नष्टं लोकद्वयच्युतैः ॥ ५५ ॥

अर्थ—वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, मारण, उच्चाटन तथा जल अग्नि विषका स्तंभन, रसकर्म रसायन ॥५२॥ नगरमें क्षोभ उत्पन्न करना, इन्द्रजालसाधना, सेनाका स्तंभन करना, जीतहारका विधान बताना, विद्याके छेदनेका विधान साधना, वेधना, ज्योतिषका ज्ञान, वैद्यकविद्यासाधन ।५३॥ यक्षिणी-मंत्र, पातालसिद्धिके विधानका अभ्यास करना, कालवंचना (मृत्यु जीतनेका मंत्र साधना), पादुकासाधन (खड़ाऊँ पहनकर आकाश वा जलमें विहार करनेको विद्याका साधन) करना, अदृश्य होने तथा गड़े हुए धन देखनेके अञ्जनका साधना, शस्त्रादिकका साधना, भूतसाधन, सर्पसाधन ॥५४॥ इत्यादि विक्रियारूप कार्योंमें अनुरक्त हो कर दुष्ट चेष्टा करनेवाले जो हैं, उन्होंने आत्मज्ञानसे भी हाथ धोया और अपने दोनों लोकका कार्य भी नष्ट किया । ऐसे पुरुषोंके ध्यानकी सिद्धि होनी कठिन है ॥५५॥

यतित्वं जीवनोपायं कुर्वन्तः किं न लज्जिताः ।
मातुः पण्यमिवालम्ब्य यथा केचिद्गतघृणाः ॥ ५६ ॥
निस्त्रपाः कर्म कुर्वन्ति यतित्वेऽप्यतिनिन्दितम् ।
ततो विराध्य सन्मार्गं विशन्ति नरकोदरे ॥ ५७ ॥

अर्थ—कई निर्दय, निर्लज्ज साधुपनमें भी अतिशय निंदा करनेयोग्य कार्य करते हैं। वे समीचीन हितरूप मार्गका विरोध कर नरकमें प्रवेश करते हैं । जैसे कोई अपनी माताको वेश्या बना कर उससे धनोपार्जन करते हैं, तैसे ही जो मुनि हो कर उस मुनि दीक्षाको जीवनका उपाय बनाते हैं और उसके द्वारा धनोपार्जन करते हैं , वे अतिशय निर्दय तथा निर्लज्ज हैं ॥५६—५७॥

अविद्याश्रयणं युक्तं प्राग्गृहावस्थितैर्वरम् ।
मुक्त्यङ्गं लिङ्गमादाय न श्लाघ्यं लोकदम्भनं ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो गृहस्थावस्थामें हैं, उनको तो ऐसी अविद्याका आश्रय करना कदाचित् युक्त भी कहा जा सकता है, परन्तु मुक्तिके अंगस्वरूप मुनिके भेषको धारण करके लोकका ठगना कदापि प्रशंसनीय नहीं है । भावार्थ—साधुका भेष धारण करके कुक्रिया करनेसे तो पहिली गृहस्थावस्था ही अच्छी है । क्योंकि ऐसी अवस्थामें उक्त कार्य करनेवालोंकी कोई विशेष निंदा नहीं करते । यतिका भेष धारण करके निंदा नहीं करानी चाहिये, ध्यान तो दूर रहा ॥५८॥

मनुष्यत्वं समासाद्य यतित्वं च जगन्नतुम् ।
हेयमेवाशुभं कार्यं विवेच्य सुहितं बुधैः ॥ ५९ ॥

अर्थ – मनुष्यपन पा कर उसमें फिर जगत्पूज्य मुनिदीक्षाको ग्रहण करके विद्वानोंको अपना हित विचार अशुभ कर्म अवश्य ही छोड़ना चाहिये ॥५९॥

अहो विभ्रान्तचित्तानां पश्य पुंसां विचेष्टितम् ।
यत्प्रपञ्चैर्यतित्वेऽपि नीयते जन्म निःफलम् ॥ ६० ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—देखो, भ्रमरूप चित्तवाले पुरुषोंकी चेष्टा साधुपनमें भी पाखंड प्रपंच करके जन्मको निष्फल कर देती है ॥६०॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे—

वसन्ततिलका ।

" भुक्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किम्
सन्तर्पिताः प्रणयिनः स्वधनैस्ततः किम् ।
न्यस्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥ १ ॥

अर्थ—इस जगतमें जीवोंको समस्त कामनाओंके पूर्ण करनेवाली लक्ष्मी हुई और वह भोगनेमें आई तो उससे क्या लाभ ? अथवा अपनी धनसम्पदादिकसे परिवार स्नेही मित्रोंको सन्तुष्ट किया तो क्या हुआ ? तथा शत्रुओंको जीत कर उनके मस्तक पर पांव रख दिये, तो इसमें भी कौनसी सिद्धि हुई ? तथा इसी प्रकार शरीर बहुत वर्षपर्यन्त स्थिर रहा तो उस शरीरसे क्या लाभ ? क्योंकि ये सब निःसार और विनश्वर हैं ॥१॥ तथा—

इत्थं न किंचिदपि साधनसाध्यमस्ति
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं परमार्थशून्यम् ।
तस्मादनन्तमजरं परमं विकाशि
तद्ब्रह्म वाञ्छत जना यदि चेतनास्ति ॥ २ ॥

अर्थ—उक्त प्रकारसे जगतमें कुछ भी साधने योग्य साध्य (कार्य) नहीं है। क्योंकि जगतका कार्य स्वप्न के समान अथवा इन्द्रजालके समान क्षणविनश्वर और परमार्थसे शून्य है। इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं कि, हे प्राणी जन ! यदि तुममें चेतना (बुद्धि) है तो ऐसे परम उत्कृष्ट प्रकाशरूप ज्ञानानंद स्वरूप अपने आत्माको वांछा करो, जो अन्त और जरारहित है, और अन्य समस्त प्रकारकी अभिलाषाओंका त्याग कर दो ॥२॥"

शार्दूलविक्रीडितम् ।

किं ते सन्ति न कोटिशोऽपि सुधियः स्फारैर्वचोभिः परम्
ये वार्ता प्रथयन्त्यमेयमहसां राशेः परब्रह्मणः ।
तत्रानन्दसुधासरस्वति पुनर्निर्मज्य मुञ्चन्ति ये
सन्तापं भवसम्भवं त्रिचतुरास्ते सन्ति वा नात्र वा ॥ ६१ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि इस जगतमें प्रचुर वचनोंसे (व्याख्यानोंसे) अमर्याद प्रतापकी राशिरूप परमात्माकी वार्ताको विस्तार करनेवाले करोड़ों विद्वान् क्या नहीं होते ? अवश्य होते

ही है। परन्तु इस परब्रह्मस्वरूप अमृतके समुद्रमें मग्न हो कर संसारसे उत्पन्न हुए सन्तापको नष्ट करनेवाले जगतमें तीन वा चार ही होते हैं अथवा नहीं भी होते। भावार्थ—परमात्माकी कथनीको विस्ताररूपसे कहनेवाले तो जगतमें अनेक विद्वान् होते हैं, परन्तु परमात्मस्वरूपमें लीन होनेवाले विरले ही होते हैं। यहां तीन चार कहनेसे विरलवचन जानना चाहिये, संख्याका नियम समझ लेना उचित नहीं है, क्योंकि थोड़े कहने हों, तो लौकिकमें भी ऐसे ही प्रायः कहा करते हैं ॥६१॥

अब इस अधिकारको पूर्ण करते हुए सामान्यरूपसे कहते हैं -

शार्दूलविक्रीडितम्।

एते पण्डितमानिनः शमदमस्वाध्यायचिन्ताच्युताः
रागादिग्रहवञ्चिता यतिगुणप्रध्वंसकृष्णाननाः।
व्याकृष्टा विषयैर्मदैः प्रमुदिताः शङ्काभिरङ्गीकृताः
न ध्यानं न विवेचनं न च तपः कर्तुं वराकाः क्षमाः ॥ ६२ ॥

अर्थ—जो पंडित तो नहीं हैं, किन्तु अपनेको पंडित मानते हैं, और शम, दम स्वाध्यायसे रहित तथा रागद्वेष मोहादि पिशाचोंसे वञ्चित हैं, एवं जो मुनिपनके गुण नष्ट करनेसे अपना मुँह काला करनेवाले, विषयोंसे आकर्षित, मदोंसे प्रसन्न, शंका संदेह शल्यभयादिकसे पकड़े गये हैं, ऐसे रंक पुरुष न ध्यान करनेको समर्थ हैं, न भेदज्ञान करनेमें समर्थ हैं और न तप ही कर सकते हैं ॥६२॥

इस प्रकार ध्याताके गुण दोष वर्णन किये। जिसमें गृहस्थ, मिथ्यादृष्टि, अन्यमती, भेषी, पाखंडियोंके तथा जो जैनके यति (साधु) कहा कर आचारसे भ्रष्ट हैं, वा जो यतिपनेको केवल आजीविकाके निमित्त खोनेवाले हैं, उनके ध्यान करनेकी योग्यताका निषेध किया है।

सोरठा

जो गृहत्यागी होय, सम्यग्रत्नत्रय विना।
ध्यानयोग्य नहीं सोय, गृहवासीकी का कथा ॥ ४ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते चतुर्थः सर्गः ॥४॥

अथ पञ्चमः सर्गः।

ध्याताकी प्रशंसा।

आगे ध्याता योगीश्वरोंकी प्रशंसा करते हैं—

अथ निर्णीततत्त्वार्था धन्याः संविग्नमानसाः।
कीर्त्यन्ते यमिनो जन्मसंभूतसुखनिःस्पृहाः ॥ १ ॥

अर्थ—अथानन्तर जो संयमी मुनि तत्त्वार्थका (वस्तुका) यथार्थ स्वरूप जानते हैं, मनमें संवेगरूप हैं, मोक्ष तथा उसके मार्गमें अनुरागी है और संसारजनित सुखोंमें निःस्पृह (वांछारहित) हैं वे मुनि धन्य हैं। उनका कीर्त्तन वा प्रशंसा की जाती है ॥१॥

भवभ्रमणनिर्विण्णा भावशुद्धिं समाश्रिताः ।
सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे योगिनः पुण्यचेष्टिताः ॥२॥

अर्थ—इस पृथ्वितल पर अनेक योगीश्वर संसारके चकसे विरक्त हैं, भावोंकी शुद्धतासहित हैं तथा पवित्र चेष्टावाले हैं। यहां कोई यह पूछे कि "इस कालमें तो ऐसे कोई साधु दीख नहीं पड़ते" तो इसका यह उत्तर है कि यह ग्रंथ जिस समय रचा गया था, उस समय ऐसे अनेक योगीश्वर थे और अब भी किसी दूर क्षेत्रमें हों तो क्या आश्चर्य है? ॥२॥

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते ॥३॥

अर्थ—जिस मुनिका चित्त कामभोगोंमें विरक्त हो कर और शरीरमें स्पृहाको छोड़के स्थिरीभूत हुआ है, निश्चय करके उसीको ध्याता कहा है। वही प्रशंसनीय ध्याता है ॥३॥

सत्संयमधुरा धीरैर्नहि प्राणात्ययेऽपि यैः ।
त्यक्ता महत्त्वमालम्ब्य ते हि ध्यानधनेश्वराः ॥४॥

अर्थ—जिन मुनियोंने महान् मुनिपनको अंगीकार करके प्राणोंका नाश होते भी समीचीन संयमकी धुराको नहीं छोड़ा है, वे ही ध्यानरूपी धनके ईश्वर (स्वामी) होते हैं। क्योंकि संयमसे च्युत होने पर ध्यान नहीं होता ॥४॥

परीषहमहाव्यालैर्ग्राम्यैर्वा कण्टकैर्दृढैः ।
मनागपि मनो येषां न स्वरूपात्परिच्युतम् ॥५॥

अर्थ—जिन मुनियोंका चित्त परीषहरूप दुष्ट हस्तियों अथवा सर्पोंसे तथा ग्रामीण मनुष्योंके दुर्वचनरूपी कांटोंसे किंचिन्मात्र भी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं हुआ ॥५॥ तथा—

क्रोधादिभीमभोगीन्द्रै रागादिरजनीचरैः ।
अजय्यैरपि विध्वस्तं न येषां यमजीवितम् ॥६॥

अर्थ—जिन मुनिजनोंका संयमरूपी जीवन क्रोधादि कषायरूप सर्पोंसे तथा अजेय रागादि निशाचरोंसे नष्ट नहीं हुआ ॥६॥ तथा—

मनः प्रीणयितुं येषां क्षमास्ता दिव्ययोषितः ।
मैत्र्यादयः सतां सेव्या ब्रह्मचर्येऽप्यनिन्दिते ॥७॥

अर्थ—जिन मुनियोंके अनिन्दित (प्रशंसनीय) ब्रह्मचर्यके होते हुए मनको तृप्त करनेवाली प्रसिद्ध मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ, ये ४ भावनारूपी सुंदर तथा समर्थ स्त्रियाँ हैं। अर्थात् इन भावनाओंके भावनेसे जिनके चित्तमें कामादि विकारभाव नहीं उपजते ॥७॥ तथा—

तपस्तरलतीव्रार्चिःप्रचये पातितः स्मरः ।
यै रागरिपुभिः सार्द्धं पतङ्गप्रतिमीकृतः ॥८॥

अर्थ—जिन मुनियोंने तपरूपी तीव्र अग्निकी ज्वालाके समूहमें रागादि शत्रुओंके साथ कामको डाल दिया और पतंगके समान भस्म कर दिया ॥८॥ तथा—

निःसङ्गत्वं समासाद्य ज्ञानराज्यं समीप्सितम्‌ ।
जगत्त्रयचमत्कारि चित्रभूतं विचेष्टितम्‌ ॥९॥

अर्थ—जिन्होंने निष्परिग्रहपनको अंगीकार करके तीन जगतमें चमत्कार करनेवाले तथा आश्चर्यरूप चेष्टावाले ज्ञानरूपी राज्यकी वांछा की ॥९॥ तथा—

अत्युग्रतपसाऽऽत्मानं पीडयन्तोऽपि निर्दयम्‌ ।
जगद्विध्यापयन्त्युच्चैर्ये मोहदहनक्षतम्‌ ॥१०॥

अर्थ—जो मुनि अपने आत्माको अति तीव्र तपसे निर्दयीके समान पीड़ा करते हैं, तो भी मोहरूपी अग्निसे जलते हुए जगतको अतिशयके साथ बुझाते हैं अर्थात्‌ शान्त करते हैं ॥१०॥ तथा—

स्वभावजनिरातङ्कनिर्भरानन्दनन्दिताः ।
तृष्णार्चिःशान्तये धन्या येऽकालजलदोद्गमाः ॥११॥

अर्थ—जो धन्य मुनि तृष्णारूपी अग्निकी ज्वालाको शान्त करनेके लिये अकालमें (ग्रीष्मकालमें) स्वभावसे उत्पन्न, दाहरहित, पूर्ण आनन्दसे आनन्दरूप मेघके उदयके समान हैं ॥११॥ तथा—

अशेषसंगसंन्यासवशाज्जितमनोद्विजाः ।
विषयोद्दाममातङ्गघटासंघट्टघातकाः ॥१२॥

अर्थ—जो मुनि समस्त परिग्रहके त्यागके कारण मनरूप चंचल पक्षीको जीतनेवाले हैं तथा विषयरूपी मदोन्मत्त हस्तियोंके संघट्टके (समूहके) घातक हैं ॥१२॥ तथा—

वाक्पथातीतमाहात्म्या विश्वविद्याविशारदाः ।
शरीराहारसंसारकामभोगेषु निःस्पृहाः ॥१३॥

अर्थ—जिनका वचनपथसे अगोचर माहात्म्य है, जो समस्त विद्याओंमें विशारद हैं और शरीर आहार-संसार-काम-भोगोंमें निःस्पृह (वांछारहित) हैं ॥१३॥ तथा—

विशुद्धबोधपीयूषपानपुण्यीकृताशयाः ।
स्थिरेतरजगज्जन्तुकरुणावारिवार्द्धयः ॥१४॥

अर्थ—जिनका चित्त निर्मल ज्ञानरूप अमृतके पानसे पवित्र है और जो स्थावर त्रस भेदयुक्त जगतके जीवोंके करुणारूपी जलके समुद्र हैं ॥१४॥ तथा—

स्वर्णाचल इवाकम्पा ज्योतिःपथ इवामलाः ।
समीर इव निःसङ्गा निर्ममत्वं समाश्रिताः ॥१५॥

अर्थ—मेरुपर्वतके समान अचल हैं, आकाशवत्‌ निर्मल हैं, पवनके समान निःसङ्ग हैं और निर्ममताको जिन्होंने आश्रय दिया है ॥१५॥ तथा—

हितोपदेशपर्जन्यैर्भव्यसारङ्गतर्पकाः ।
निरपेक्षाः शरीरेऽपि सापेक्षाः सिद्धिसङ्गमे ॥ १६ ॥

अर्थ—वे मुनि हितोपदेशरूप शब्दायमान मेघोंसे भव्य जीवरूपी चातक वा मयूरोंको तृप्त करनेवाले हैं तथा शरीरमें निरपेक्ष हैं, तो भी मुक्तिके संगम करनेमें सापेक्ष हैं ॥१६॥

इत्यादिपरमोदारपुण्याचरणलक्षिताः ।
ध्यानसिद्धेः समाख्याताः पात्रं मुनिमहेश्वराः ॥ १७ ॥

अर्थ—इत्यादिक परम उदार पवित्र आचरणोंसे चिह्नित, मुनियोंमें प्रधान, मुनीश्वर ध्यानकी सिद्धिके पात्र कहे गये हैं ॥१७॥

तवारोढुं प्रवृत्तस्य मुक्तेर्भवनमुन्नतम् ।
सोपानराजिकाऽमीषां पादच्छाया भविष्यति ॥ १८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि हे आत्मन् ! मुक्तिरूपी मंदिर पर चढ़नेकी प्रवृत्ति करते हुए तुझे पूर्वोक्त प्रकारके मुनियोंके चरणोंकी छाया ही सोपानकी पंक्तिसमान होवेगी । **भावार्थ**—जिनको ध्यानकी सिद्धि करनी हो, उन्हें ऐसे मुनियोंकी सेवा करनी चाहिये ॥१८॥

ध्यानसिद्धिर्मता सूत्रे मुनीनामेव केवलम् ।
इत्याद्यमलविख्यातगुणलीलावलम्बिनाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—सूत्रमें (सिद्धान्तमें) उपर्युक्त गुणोंको आदि ले कर निर्मल प्रसिद्ध गुणोंमें प्रवर्त्तनरूप क्रीडाके अवलम्बन करनेवाले केवल मुनियोंके ही ध्यानकी सिद्धि मानी है । अर्थात् मुक्तिके कारण-स्वरूप ध्यानकी सिद्धि अन्यके नहीं हो सकती ॥१९॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

निष्पन्दीकृतचित्तचण्डविहगाः पञ्चाक्षकक्षान्तकाः
ध्यानध्वस्तसमस्तकल्मषविषा विद्याम्बुधेः पारगाः ।
लीलोन्मूलितकर्मकन्दनिचयाः कारुण्यपुण्याशया
योगीन्द्रा भवभीमदैत्यदलनाः कुर्वन्तु ते निर्वृतिं ॥ २० ॥

अर्थ—पूर्वोक्त गुणोंके धारक योगीन्द्र गण हमारे तथा भव्य पुरुषोंके निर्वृति (सुख) रूप मोक्षको करो । कैसे हैं वे योगीन्द्र ? निश्चलरूप किया है चित्तरूपी प्रचंड पक्षी जिन्होंने, पंचेन्द्रियरूप वनके दग्ध करनेवाले हैं, ध्यानसे समस्त पापोंके नाश करनेवाले हैं, विद्यारूप समुद्रके पारगामी हैं, क्रीडामात्रसे कर्मोंके मूलको उखाड़नेवाले हैं, करुणाभावरूप पुण्यसे पवित्र चित्तवाले हैं और संसाररूप भयानक दैत्यको चूर्ण करनेवाले हैं ॥२०॥

विन्ध्याद्रिर्नगरं गुहा वसतिकाः शय्या शिला पार्वती
दीपाश्चन्द्रकरा मृगाः सहचरा मैत्री कुलीनाङ्गना ।

विज्ञानं सलिलं तपः सदशनं येषां प्रशान्तात्मनां
धन्यास्ते भवपङ्कनिर्गमपथप्रोदेशकाः सन्तु नः ॥ २१ ॥

अर्थ—जिन प्रशान्तात्मा मुनि महाराजाओंके विन्ध्याचल पर्वत नगर है, पर्वतकी गुफायें वसतिका (गृह) हैं, पर्वतकी शिला शय्यासमान हैं, चन्द्रमाकी किरणें दीपकवत् हैं, मृग सहचारी हैं, सर्वभूतमैत्री (दया) कुलीन स्त्री है, पीनेका जल विज्ञान और तप उत्तम भोजन है, वे ही धन्य हैं। ऐसे मुनिराज हमको संसाररूप कर्दमसे निकलके मार्गका उपदेश देनेवाले हों ॥२१॥

स्रग्धरा

रुद्धे प्राणप्रचारे वपुषि नियमिते संवृतेऽक्षप्रपञ्चे
नेत्रस्पन्दे निरस्ते प्रलयमुपगतेऽन्तर्विकल्पेन्द्रजाले ।
भिन्ने मोहान्धकारे प्रसरति महसि क्वापि विश्वप्रदीपे
धन्यो ध्यानावलम्बी कलयति परमानन्दसिन्धुप्रवेशं ॥ २२ ॥

अर्थ—श्वासोच्छ्वासके रुकते हुए, शरीरके निश्चल होते हुए, इन्द्रियोंके प्रचारका संवरण होते हुए, नेत्रोंकी चलनक्रियाके रहित होते हुए, समस्त विकल्परूप इन्द्रजालका प्रलय होते हुए, मोहान्धकारके दूर होते हुए, और समस्त वस्तुओंको प्रकाश करनेवाले तेजःपुंजको अपने हृदयमें विस्तारते हुए जो धन्य मुनि ध्यानावलंबी होते हैं, वे ही परमानन्दरूपी समुद्रमें प्रवेश करनेका अभ्यास करते हैं ॥२२

शिखरिणी

अहेयोपादेयं त्रिभुवनमपीदं व्यवसितः
शुभं वा पापं वा द्वयमपि दहन्कर्म महसा ।
निजानन्दास्वादव्यवधिविधुरीभूतविषयः
प्रतीत्योच्चैः कश्चिद्विगलितविकल्पं विहरति ॥ २३ ॥

अर्थ—अपने स्वाभाविक आनंदके स्वादसे दूर हैं इन्द्रियविषय जिसके ऐसा कोई मुनि अपने तेजसे शुभाशुभ कर्मोंका दहन करता हुआ, भले प्रकार प्रतीतिगोचर करके इस अहेयोपादेयरूप त्रिभुवनमें विकल्परहित भ्रमण करता है। भावार्थ—ध्यानस्थ हो तब तो निश्चल अवस्था है ही; परन्तु विहार करते हुए भी निश्चलके समान है। अर्थात् जगतमें जिसके त्याग करने वा ग्रहण करने योग्य कुछ भी नहीं है और विषयोंकी वांछा नहीं है वही निर्विकल्परूप हो कर कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ विचरता है ॥२३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

दुःप्रज्ञा बललुप्तवस्तुनिचया विज्ञानशून्याशयाः
विद्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोद्यता देहिनः ।
आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैर्निर्वाप्य जन्मज्वरं
ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपरास्ते सन्ति द्वित्रा यदि ॥ २४ ॥

अर्थ—बुद्धिके बल वस्तुसमूहको लोपनेवाले (नास्तिक), सत्यार्थ ज्ञानसे शून्य चित्तवाले तथा अपने विषयादिकके प्रयोजनमें उद्यमी ऐसे प्राणी तो घरघरमें विद्यमान हैं; परन्तु आनन्दरूप अमृतके समुद्रके कणसमूहसे संसाररूप ज्वरके दाहको (अग्निको) बुझा कर मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखरूपी चन्द्रमाके विलोकन करनेमें जो तत्पर हैं, वे यदि हैं तो दो तीन ही होंगे[1] ॥२४॥

यैः सुप्तं हिमशैलशृङ्गसुभगप्रासादगर्भान्तरे
पल्यङ्के परमोपधानरचिते दिव्याङ्गनाभिः सह ।
तैरेवाद्य निरस्तविश्वविषयैरन्तःस्फुरज्ज्योतिषि
क्षोणीरन्ध्रशिलादिकोटरगतैर्धन्यैर्निशा नीयते ॥ २५ ॥

अर्थ—जिन्होंने पूर्वावस्थामें हिमालयके शिखरसमान सुंदर महलोंमें उत्कृष्ट उपधान हंसतूलिकादिसे रची हुई शय्यामें सुंदर स्त्रियोंके साथ शयन किया था, वे ही समस्त संसारके विषयोंके निरस्त करनेवाले पुण्यशाली पुरुष अन्तरंगमें ज्ञानज्योतिके स्फुरण होनेसे पृथ्वीमें तथा पर्वतोंकी गुफाओंमें एवं शिलाओं पर अथवा वृक्षके कोटरोंमें प्राप्त हो कर रात्रि बिताते हैं, उन्हें धन्य है ॥२५॥

चित्ते निश्चलतां गते प्रशमिते रागाद्यविद्यामये
विद्राणेऽक्षकदम्बके विघटिते ध्वान्ते भ्रमारम्भके ।
आनन्दे प्रविजृम्भिते पुरपतेर्ज्ञाने समुन्मीलिते
त्वां द्रक्ष्यन्ति कदा वनस्थमभितः पुस्तेच्छया श्वापदाः ॥ २६ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तेरे मनमें निश्चलता होते हुए रागादि अविद्यारूप रोगोंमें उपशमता होते हुए, इन्द्रियोंके समूहको विषयोंमें नहीं प्रवर्तते हुए, भ्रमोत्पादन करनेवाले अज्ञानांधकारके नष्ट होते हुए, और आनंदको विस्तारते हुए आत्मज्ञानके प्रगट होने पर ऐसा कौनसा दिन होगा जब तुझे वनमें चारों ओरसे मृगादि पशु चित्रलिखित मूर्ति अथवा सूखे हुए वृक्षके ठूंठके समान देखेंगे । जिस समय तू ऐसी निश्चलमूर्तिमें ध्यानस्थ होगा, उसी समय धन्य होगा ॥२६॥

स्रग्धरा ।

आत्मन्यात्मप्रचारे कृतसकलबहिःसंगसन्यासवीर्या-
दन्तर्ज्योतिःप्रकाशाद्विलयगतमहामोहनिद्रातिरेकः ।
निर्णीते स्वस्वरूपे स्फुरति जगदिदं यस्य शून्यं जडं वा
तस्य श्रीबोधवार्धेर्दिशतु तव शिवं पादपङ्केरुहश्रीः ॥ २७ ॥

अर्थ—जिसकी आत्मामें अपना प्रवर्तन है, परद्रव्यमें नहीं है और बाह्यपरिग्रहके त्यागसे तथा अंतरंगविज्ञानज्योतिके प्रकाश होनेसे जिसका महामोहरूप निद्राका उत्कर्ष नष्ट हो गया है और जिसको

1 यहां दो तीनका अर्थ विरलवचन जानना, संख्याका कुछ नियम नहीं है ।

स्वरूपका निश्चय होनेसे यह जगत् शून्यवत् वा जड़वत् प्रतिभासता है, ऐसे श्रीज्ञानसमुद्र मुनिके चरण कमलकी लक्ष्मी (शोभा) मोक्षपद प्रदान करें, ऐसा आशीर्वादात्मक उपदेश है ॥२७॥

मन्दाक्रान्ता ।

आत्मायत्तं विषयविरसं तत्त्वचिन्तावलीनं
निर्व्यापारं स्वहितनिरतं निर्वृतानन्दपूर्णं ।
ज्ञानारूढं शमयमतपोध्यानलब्धावकाशं
कृत्वाऽऽत्मानं कलय सुमते दिव्यबोधाधिपत्यम् ॥ २८ ॥

अर्थ—हे सुबुद्धि! अपनेको प्रथम तो आत्मायत्त कहिये पराधीनतासे छुड़ा कर स्वाधीन कर। दूसरे—इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त कर। तीसरे—तत्त्वचिन्तामें मग्न (लीन) कर। चौथे—सांसारिक व्यापारसे रहित निश्चल कर। पांचवें-अपने हितमें लगा। छट्ठे—निर्वृत्त अर्थात् क्षोभरहित आनंदसे परिपूर्ण कर। सातवें-ज्ञानारूढ कर। आठवें—शम यम दम तपमें अवकाश मिलें ऐसा करके फिर दिव्यबोध कहिये केवल ज्ञानके अधिपतिपनेको प्राप्त कर। भावार्थ—उपर्युक्त आठ कार्योंसे केवल-ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥२८॥

अब इस अधिकारको पूर्ण करते हुए कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

दृश्यन्ते भुवि किं न ते कृतधियः संख्याव्यतीताश्चिरम्
ये लीलाः परमेष्ठिनः प्रतिदिनं तन्वन्ति वाग्भिः परम् ।
तं साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुराशिं पुन-
र्ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति पुरुषा धन्यास्तु ते दुर्लभाः ॥ २९ ॥

अर्थ—इस पृथ्वीपर परमेष्ठीकी नित्यप्रति केवल वचनोंसे बहुत कालपर्यन्त लीलास्तवनको विस्तृत करनेवाले कृतबुद्धि क्या गणनासे अतीत नहीं हैं? अपि तु असंख्येय देखनेमें आते हैं। परन्तु नित्यपरमानन्दामृतकी राशिरूप उस परमेष्ठीको साक्षात् अनुभवगोचर कर संसारके भ्रमको दूर करते हैं, ऐसे पुरुष दुर्लभ हैं और ऐसे ही पुरुष धन्य हैं ॥२९॥

इस प्रकार ध्यान करनेवाले योगीश्वरोंकी प्रशंसा की गई। यद्यपि इस पंचम कालमें ऐसे योगीश्वर देखनेमें नहीं आते, तो भी उनके गुणानुवाद सुन कर स्मरण करनेसे भव्यजीवोंका मन पवित्र होता है और अन्य कुलिंगियोंकी श्रद्धारूप मिथ्यात्वका नाश होता है।

दोहा।

रत्नत्रयको धार जे, शम दम यम चित्त देय ।
ध्यान करैं मन रोकिकै, धन ते मुनि शिव लेय ॥५॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते पञ्चमः सर्गः ॥५॥

अथ षष्ठः सर्गः

सम्यग्दर्शनवर्णन ।

आगे ध्याता ध्यानके अंगस्वरूप सम्यग्दर्शनादिकका व्याख्यान करते हैं—

सुप्रयुक्तैः स्वयं साक्षात्सम्यग्दृग्बोधसंयमैः ।
त्रिभिरेवापवर्गश्रीर्घनाश्लेषं प्रयच्छति ॥ १ ॥

अर्थ—भलेप्रकार प्रयुक्त किये हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंसे अर्थात् तीनोंकी एकता होनेसे मोक्षरूपी लक्ष्मी उस रत्नत्रययुक्त आत्माको स्वयं दृढालिंगन देती है। **भावार्थ**—तीनोंकी एकता ही मोक्षमार्ग है ॥१॥ क्योंकि—

तैरेव हि विशीर्यन्ते विचित्राणि बलीन्यपि ।
दृग्बोधसंयमैः कर्मनिगडानि शरीरिणाम् ॥ २ ॥

अर्थ—इस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रसे ही जीवोंको नानाप्रकारकी बलवान् कर्मरूपी बेड़ियां झरती हैं (टूटती हैं) ॥२॥

त्रिशुद्धिपूर्वकं ध्यानमामनन्ति मनीषिणः ।
व्यर्थं स्यात्तामनासाद्य तदेवात्र शरीरिणाम् ॥ ३ ॥

अर्थ—विद्वानोंने दर्शन ज्ञान चारित्रकी शुद्धतापूर्वक ही ध्यान कहा है। ऐसी आम्नाय है। इस कारण इन तीनोंकी शुद्धता पाये विना जीवोंका ध्यान करना व्यर्थ है। क्योंकि वह ध्यान मोक्षफलके अर्थ नहीं है ॥३॥

रत्नत्रयमनासाद्य यः साक्षाद्ध्यातुमिच्छति ।
खपुष्पैः कुरुते मूढः स वन्ध्यासुतशेखरम् ॥ ४ ॥

अर्थ—जो पुरुष साक्षात् रत्नत्रयको (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रको) प्राप्त न हो कर ध्यान करना चाहता है, वह मूर्ख आकाशके फूलोंसे वन्ध्याके पुत्रके लिये सेहरा (मौर) बनाना चाहता है। **भावार्थ**—रत्नत्रय पाये विना ध्यान होना असाध्य है ॥४॥

आर्या ।

तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्त्वप्रख्यापकं भवेज्ज्ञानम् ।
पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रमुक्तं जिनेन्द्रेण ॥ ५ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवानने तत्त्वोंकी रुचि अर्थात् श्रद्धाप्रतीतिको सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन), तत्त्वोंको प्रकटरूप कहने अर्थात् जाननेको सम्यग्ज्ञान और पापक्रियाओंसे निवृत्त होनेको सम्यक्चारित्र कहा है ॥५॥

इन सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रमेंसे प्रथम सम्यग्दर्शनका वर्णन करते हैं—

यज्जीवादिपदार्थानां श्रद्धानं तद्धि दर्शनम् ।
निसर्गेणाधिगत्या वा तद्भव्यस्यैव जायते ॥ ६ ॥

अर्थ—जो जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना है वही नियमसे दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन निसर्गसे (स्वभावसे) अथवा अधिगमसे (परोपदेशसे) भव्य जीवोंके ही उत्पन्न होता है। अभव्यके नहीं होता ॥६॥

क्षीणप्रशान्तमिश्रासु मोहप्रकृतिषु क्रमात् ।
तत् स्याद्द्रव्यादिसामग्र्या पुंसां सद्दर्शनं त्रिधा ॥ ७ ॥

अर्थ—यह सम्यग्दर्शन पुरुषोंके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्रीसे दर्शन मोह कर्मकी तीन प्रकृतियोंके क्षय, उपशम तथा क्षयोपशमरूप होनेसे क्रमशः तीन प्रकारका है १ क्षायिकसम्यक्त्व २ उपशमसम्यक्त्व और ३ क्षयोपशमसम्यक्त्व ॥७॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे—

"भव्यः पर्याप्तकः संज्ञी जीवः पञ्चेन्द्रियान्वितः ।
काललब्ध्यादिना युक्तः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ॥ १ ॥
सम्यक्त्वमथ तत्त्वार्थश्रद्धानं परिकीर्त्तितं ।
तस्यौपशमिको भेदः क्षायिको मिश्र इत्यपि ॥ २ ॥

अर्थ—जो भव्य हो, पर्याप्तक हो, मनसहित संज्ञी पंचेन्द्री हो और काललब्धि आदि सामग्री सहित हो, वही जीव सम्यक्त्वको प्राप्त होता है ॥१॥ सात तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा गया है। उसके उपशम, क्षायिक और मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिक ये तीन भेद हैं ॥२॥

सप्तानां प्रशमात्सम्यक् क्षयादुभयतोऽपि च ।
प्रकृतीनामिति प्राहुस्तत्त्रैविध्यं सुमेधसः ॥ ३ ॥

अर्थ—मोहकर्मकी मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ इन सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षायिक और क्षायोपशम तीन प्रकार सम्यक्त्व होना सम्यग्ज्ञानी पंडितोंने कहा है। **भावार्थ**—उपशमसे उपशमसम्यक्त्व और क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व और कुछ क्षय तथा कुछ उपशम होनेसे क्षयोपशमिक सम्यक्त्व होता है ॥३॥

एकं प्रशमसंवेगदयास्तिक्यादिलक्षणम् ।
आत्मनः शुद्धिमात्रं स्यादितरच्च समन्ततः ॥ ४ ॥

अर्थ—एक सम्यक्त्व तो प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य चिह्नसे चिह्नित है, जिसे सरागसम्यक्त्व कहते हैं। और दूसरा समस्त प्रकारतासे आत्माकी शुद्धिमात्र है, जिसे वीतरागसम्यक्त्व कहते हैं ॥४॥"

द्रव्यादिकमथासाद्य तज्जीवैः प्राप्यते क्वचित् ।
पञ्चविंशतिमुत्सृज्य दोषास्तच्छक्तिघातकम् ॥ ८ ॥

अर्थ—अथवा यह सम्यग्दर्शन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्रीको प्राप्त हो कर तथा सम्यग्दर्शनकी शक्तिके घात करनेवाले पच्चीस दोषोंको छोड़नेसे कचित् प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे—

"मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट् ।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥ १ ॥

अर्थ—तीन मूढता, आठ मद (गर्व), छः अनायतन और शंकादि आठ दोष इस प्रकार पचीस दोष सम्यग्दर्शनके कहे गये हैं, इनका नाम स्वरूप आदि शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं। यहां ग्रन्थविस्तारभयसे नहीं लिखा गया है॥ १ ॥

अब सम्यक्त्वके विषयभूत सप्त तत्त्वोंका व र्न करते हैं—

जीवाजीवास्रवा बन्धः संवरो निर्जरा तथा ।
मोक्षश्चैतानि सप्तैव तत्त्वान्यूचुर्मनीषिणः ॥ ९ ॥

अर्थ—पंडितोंने जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात ही तत्त्व कहे हैं॥ ९ ॥

अब इन सप्त तत्त्वोंका विशेष वर्णन करते हैं —

अनन्तः सर्वदा सर्वे जीवराशिर्द्विधा स्थितः ।
सिद्धेतरविकल्पेन त्रैलोक्यभुवनोदरे ॥ १० ॥

अर्थ—इस तीन लोकरूपी भुवनमें जीवराशि सदाकाल सर्व (अनन्त) है, और वह दो भेदरूप है- १ सिद्ध तथा २ संसारी ॥ १० ॥

सिद्धस्त्वेकस्वभावः स्याद्दृग्बोधानन्दशक्तिमान् ।
मृत्यूत्पादादिजन्मोत्थक्लेशप्रचयविच्युतः ॥ ११ ॥

अर्थ—उन दो भेदोंमेंसे जो सिद्ध है, सो तो दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य-सहित एक स्वभाव है, और मरण-जन्म-आदि सांसारिक क्लेशोंसे रहित है ॥ ११ ॥

चरस्थिरभवोद्भूतविकल्पैः कल्पिताः पृथक् ।
भवन्त्यनेकभेदास्ते जीवाः संसारवर्तिनः ॥ १२ ॥

अर्थ—और संसारी जोव त्रस और स्थावररूप संसारसे उत्पन्न हुए भेदोंसे भिन्न २ अनेक प्रकारके हैं ॥ १२ ॥

पृथिव्यादिविभेदेन स्थावराः पञ्चधा मताः ।
त्रसास्त्वनेकभेदास्ते नानायोनिसमाश्रिताः ॥ १३ ॥

अर्थ—संसारी जीवोंमें स्थावर जीव पृथ्वि, अप, तेज, वायु और वनस्पति भेदसे पाँच प्रकारके हैं और त्रस द्वीन्द्रियादिक भेदसे अनेक भेदों रूप हैं तथा अनेक प्रकारकी योनिके आश्रित हैं ॥ १३॥

चतुर्धा गतिभेदेन भिद्यन्ते प्राणिनः परम् ।
मनुष्यामरतिर्यञ्चो नारकाश्च यथायथम् ॥ १४ ॥

अर्थ—और संसारी जीव गतिके भेदसे मनुष्य देव, तिर्यंच और नारक चार प्रकारके हैं॥ १४।

भ्रमन्ति नियतं जन्मकान्तारे कल्मषाशयाः ।
दुरन्तकर्मसम्पातप्रपञ्चवशवर्तिनः ॥१५॥

अर्थ—ये पापाशयरूपी संसारी जीव दुरन्त कर्मके संपातके प्रपंचके वशवर्ती हो कर संसाररूपी वनमें निरन्तर भ्रमण करते हैं ॥ १५ ॥

किन्तु तिर्यग्गतावेव स्थावरा विकलेन्द्रियाः ।
असंज्ञिनश्च नान्यत्र प्रभवन्त्यङ्गिन क्वचित् ॥ १६ ॥

अर्थ—किन्तु स्थावर, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) और असंज्ञी (मनरहित पंचेन्द्रिय) ये तिर्यंचगतिमें ही होते हैं, अन्यत्र नहीं होते ॥ १६ ॥

उपसंहारविस्तारधर्मा दृग्बोधलाञ्छनः ।
कर्त्ता भोक्ता स्वयं जीवस्तनुमात्रोऽप्यमूर्त्तिमान् ॥ १७ ॥

अर्थ—जीव संकोच विस्तार धर्मसे युक्त और दर्शन ज्ञान लक्षण सहित है और स्वयं कर्त्ता, भोक्ता तथा शरीरप्रमाण हो कर अमूर्तिमान् है ॥ १७ ॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे-जीवव्युत्पत्तिः ।

"तत्र जीवत्यजीवच्च जीविष्यति सचेतनः ।
यस्मात्तस्माद्बुधैः प्रोक्तो जीवस्तत्त्वविदां वरैः ॥ १ ॥

अर्थ—उक्त सात तत्त्वोंमें जिससे चेतनासहित 'जीता है' 'जीता था' और 'जीवेगा' इसलिए तत्त्ववेत्ताओंमें जो श्रेष्ठ बुद्धिमान् है उन्होंने 'जीव' कहा है ॥ १ ॥

एको द्विधा त्रिधा जीवः चतुःसंक्रान्तिपञ्चमः ।
षट्कर्म सप्तभङ्गोऽष्टाश्रयो नवदशस्थितिः ॥ १८ ॥

अर्थ—जीव सामान्य चैतन्यरूपसे एक प्रकारके हैं। त्रस स्थावर भेदसे दो प्रकारके हैं । एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय, भेदसे तीन प्रकारके हैं। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी, भेदसे चार प्रकारके हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय भेदसे पांच प्रकारके हैं । पांच स्थावर और एक त्रस इस प्रकार भेद करनेसे छह प्रकारके हैं। पां स्थावर, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय, ऐसे भेद करनेसे सात प्रकारके हैं । पांच स्थावर, विकलेन्द्रिय, संज्ञी असंज्ञी, ऐसे आठ प्रकारके हैं । पांच स्थावर तीन विकलेन्द्रिय, एक सकलेन्द्रिय ऐसे नव प्रकार हैं, और पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय

और संज्ञी तथा असंज्ञी ऐसे भेद करनेसे दश प्रकार भी हैं। इस प्रकार सामान्य विशेषके भेदसे जीव संख्यात असंख्यात तथा अनन्त भेदरूप हैं ॥ १८ ॥

भव्याभव्यविकल्पोऽयं जीवराशिर्निसर्गजः ।
मतः पूर्वोऽपवर्गाय जन्मपङ्काय चेतरः ॥ १९ ॥

अर्थ—यह जीवराशि स्वभावसे भव्य और अभव्य भेद स्वरूप है। पहिला अपवर्ग अर्थात् मोक्षके लिये और इतर अर्थात् दूसरा अभव्य संसारके लिये माना गया है, अर्थात् भव्य मोक्षगामी होता है और अभव्यको कभी मोक्ष नहीं होता है ॥ १९ ॥

सम्यग्ज्ञानादिरूपेण ये भविष्यन्ति जन्तवः ।
प्राप्य द्रव्यादिसामग्रीं ते भव्या मुनिभिर्मताः ॥ २० ॥

अर्थ—जो जीव द्रव्यक्षेत्रकालभावरूप सामग्रीको पा कर सम्यग्ज्ञानादिरूप परिणमेंगे, उन्हींको आचार्योंने 'भव्य' कहा है ॥ २० ॥

अन्धपाषाणकल्पं स्यादभव्यत्वं शरीरिणाम् ।
यस्माज्जन्मशतेनापि नात्मतत्त्वं पृथग्भवेत् ॥ २१ ॥

अर्थ—जीवोंका अभव्यपन अन्धपाषाणके समान है, जिससे सैंकड़ों जन्मोंमें भी आत्मतत्त्व पृथक् नहीं होता ॥ २१ ॥

अभव्यानां स्वभावेन सर्वदा जन्मसंक्रमः ।
भव्यानां भाविनी मुक्तिर्निःशेषदुरितक्षयात् ॥ २२ ॥

अर्थ—अभव्यजीवोंका स्वभावसे संसारमें सर्वदा ही जन्म संक्रम अर्थात् भ्रमण होता है और भव्य जीवोंको समस्त कर्मोंके क्षयसे मुक्ति होती ही है ॥ २२ ॥

यथा धातोर्मलैः सार्द्धं सम्बन्धोऽनादिसंभवः ।
तथा कर्ममलैर्ज्ञेयः संश्लेषोऽनादिदेहिनाम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सुवर्णादि धातुओंका मलके साथ अनादि संबंध है, उसी प्रकार जीवोंका कर्ममलसे अनादिकालका संबंध है, ऐसे जानना चाहिये ॥ २३ ॥

द्वयोरनादिसंसारः सान्तः पर्यन्तवर्जितः ।
वस्तुस्वभावतो ज्ञेयो भव्याभव्याङ्गिनोः क्रमात् ॥ २४ ॥

अर्थ—भव्य अभव्य दोनोंको ही संसार आदिरहित है; परन्तु भव्यका संसार तो अन्तसहित है (क्योंकि इसको मुक्ति होती है) । और अभव्यका अन्तरहित है, (क्योंकि इसको मुक्ति नहीं होती) ऐसा वस्तुस्वभावसे ही जानना चाहिये। इसमें कोई अन्य हेतु नहीं है ॥ २४ ॥

चतुर्दशसमासेषु मार्गणासु गुणेषु च ।
ज्ञात्वा संसारिणो जीवाः श्रद्धेयाः शुद्धदृष्टिभिः ॥ २५ ॥

अर्थ—संसारी जीवोंको चौदह जीवसमास, चौदह मार्गणा और चौदह गुणस्थानोंमें जान करके सम्यग्दृष्टियोंको श्रद्धान करना चाहिये। **भावार्थ**—संसारी जीवोंके भेद बहुत हैं, वे कहां तक कहे जावें, इस कारण यहां संक्षेपमें ही कह दिया गया है कि जीवसमास, मार्गणा, गुणस्थानोंमें जीवोंका विशेष स्वरूप जानकर श्रद्धान करना चाहिये। जीव समासादिका विशेष स्वरूप गोमट्टसारादि अन्य ग्रन्थोंसे जानना चाहिये ॥ २५ ॥

संक्षेपसे जीवतत्त्वका वर्णन करके अजीव तत्त्वका वर्णन करते हैं—

धर्माधर्मनभःकालाः पुद्गलैः सह योगिभिः ।
द्रव्याणि षट् प्रणीतानि जीवपूर्वाण्यनुक्रमात् ॥ २६ ॥

अर्थ—जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश और काल योगीश्वरोंने ये छह द्रव्य अनुक्रमसे कहे हैं ॥ २६ ॥

तत्र जीवादयः पञ्च प्रदेशप्रचयात्मकाः ।
कायाः कालं विना ज्ञेया भिन्नप्रकृतयोऽप्यमी ॥ २७ ॥

अर्थ—उन छह द्रव्योंमें एक कालको छोड़कर जीवादिक पांच द्रव्य अनेक प्रदेशात्मक होनेके कारण 'काय' कहे जाते है। कालाणु एक ही प्रदेशस्वरूप हैं, अतः उसे 'काय' नहीं कहा। इन सब द्रव्योंको भिन्न २ स्वभाववाले जानना चाहिये ॥ २७ ॥

अचिद्रूपा विना जीवममूर्त्ताः पुद्गलं विना ।
पदार्था वस्तुतः सर्वे स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकाः ॥ २८ ॥

अर्थ—इन छह द्रव्योंमेंसे जीवके विना अन्य पांच अचिद्रूप हैं अर्थात् चेतनारहित अजीव द्रव्य हैं। और पुद्गल द्रव्यके विना अन्य पांच अमूर्त्त हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गुण इनमें नहीं है। पुद्गल इन गुणोंसहित मूर्त है। तथा इन द्रव्योंको पदार्थ भी कहते हैं, क्योंकि ये उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसहित हैं। पदार्थका स्वरूप द्रव्य पर्यायात्मक कहा गया है, इस कारण जो उत्पाद, व्यय ध्रौव्यरूप होता है, वही पर्यायरूप भी होता है ॥ २८ ॥

अणुस्कन्धविभेदेन भिन्नाः स्युः पुद्गला द्विधा ।
मूर्ता वर्णरसस्पर्शगुणोपेताश्च रूपिणः ॥ २९ ॥

अर्थ—अणुस्कन्ध भेद से यहां पुद्गल दो प्रकारका है और वर्ण, रस, स्पर्श, गुण सहित होनेसे रूपी (मूर्त) हैं ॥ २९ ॥

किन्त्वेकं पुद्गलद्रव्यं षड्विकल्पं बुधैर्मतम् ।
स्थूलस्थूलादिभेदेन सूक्ष्मसूक्ष्मेन च क्रमात् ॥ ३० ॥

अर्थ—किन्तु एक एक पुद्गल द्रव्यको विद्वानोंने स्थूलस्थूल और सूक्ष्मसूक्ष्मादि भेदोंके क्रमसे छह प्रकार ाक कहा है। यथा स्थूलस्थूल—तोपृथ्विः पर्वतादिक हैं। स्थूल—जल दुग्धादिक तरल पदाथ

हैं । स्थूलसूक्ष्म—छाया आतपादि नेत्र इन्द्रियगोचर हैं । सूक्ष्मस्थूल—नेत्रके विना अन्य चार इन्द्रियोंसे ग्रहणमें आनेवाले शब्द गन्धादिक हैं । सूक्ष्म—कर्मवर्गणा हैं । और सूक्ष्मसूक्ष्म—परमाणु हैं । इस प्रकार पुद्गलके छह भेद हैं ॥३०॥

प्रत्येकमेकद्रव्याणि धर्मादीनि यथायथम् ।
आकाशान्तान्यमूर्तानि निःक्रियाणि स्थिराणि च ॥ ३१ ॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य भिन्न २ एक एक द्रव्य हैं और तीनों ही अमूर्तिक, निष्क्रिय और स्थिर हैं ॥ ३१ ॥

सलोकगगनव्यापी धर्मः स्याद्गतिलक्षणः ।
तावन्मात्रोऽप्यधर्मोऽयं स्थितिलक्ष्मः प्रकीर्तितः ॥ ३२ ॥

अर्थ—धर्मद्रव्य लोकाकाशमें व्यापक है और गतिमें सहकारी होना उसका लक्षण वा स्वभाव है । और अधर्म द्रव्य भी लोकाकाश व्यापी है तथा स्थिति सहकारी उसका स्वभाव है ॥ ३२ ॥

स्वयं गन्तुं प्रवृत्तेषु जीवाजीवेषु सर्वदा ।
धर्मोऽयं सहकारी स्याज्जलं यादोऽङ्गिनामिव ॥ ३३ ॥

अर्थ—यह धर्मद्रव्य जीवपुद्गलका प्रेरक सहकारी नहीं है, किन्तु जीवपुद्गल स्वयं गमन करनेमें प्रवर्त्तें तो यह सर्व काल सहकारी (सहायक) है । जैसे जलमें रहनेवाले मत्स्यादिकको जल सहकारी है। जल प्रेरणा करके मत्स्यादिक जलचरोंको नहीं चलाता, किन्तु वे चलते हैं तो उनका सहायक होता है।३३।

दत्ते स्थितिं प्रपन्नानां जीवादीनामयं स्थितिं ।
अधर्मः सहकारित्वाद्यथा छायाऽध्ववर्त्तिनाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—अधर्म द्रव्य स्थितिको प्राप्त हुए जीवपुद्गलोंकी स्थिति करनेमें सहकारी है । जैसे मार्गमें चलते हुए पथिकोंको बैठनेके लिये छाया सहकारी है, उसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी जीवोंके ठहरानेमें सहकारी है, प्रेरक नहीं है ॥ ३४ ॥

अवकाशप्रदं व्योम सर्वगं स्वप्रतिष्ठितम् ।
लोकालोकविकल्पेन तस्य लक्ष्म प्रकीर्त्तितम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—आकाशद्रव्य अन्य पांच द्रव्योंको अवकाश देनेवाला और सर्वव्यापी है तथा स्वप्रतिष्ठित है । अर्थात् अपने आपके ही आधार है, अन्य कोई आधार (आश्रय) नहीं है । यह लोक अलोकके भेदसे दो प्रकारका है ॥३५॥

लोकाकाशप्रदेशेषु ये भिन्ना अणवः स्थिताः ।
परिवर्त्ताय भावानां मुख्यकालः स वर्णितः ॥ ३६ ॥

अर्थ—लोकाकाशके प्रदेशोंमें जो कालके भिन्न २ अणु द्रव्योंका परिवर्तन करनेके लिये स्थित हैं उन्हें मुख्य काल अर्थात् निश्चयकाल कहते हैं ॥ ३६ ॥

समयादिकृतं यस्य मानं ज्योतिर्गणाश्रितम् ।
व्यवहाराभिधः कालः स कालज्ञैः प्रपञ्चितः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिस कालका परिमाण ज्योतिषी देवोंके समूहके गमनागमनके आश्रयसे समय आदि भेदरूप किया गया है, उसे कालके जाननेवाले विद्वानोंने व्यवहारकाल कहा है ॥ ३७ ॥

यदमी परिवर्तन्ते पदार्था विश्ववर्तिनः ।
नवजीर्णादिरूपेण तत्कालस्यैव चेष्टितम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—लोकमें रहनेवाले ये समस्त पदार्थ जो नयेसे पुरानी अवस्थाको धारण करते हैं, सो सब कालकी चेष्टासे ही करते हैं । अर्थात् समस्त द्रव्योंके परिणमनेको कालकी वर्त्तना ही निमित्त है ॥३८॥

भाविनो वर्त्तमानत्वं वर्तमानास्त्वतीतताम् ।
पदार्थाः प्रतिपद्यन्ते कालकेलिकदर्थिताः ॥ ३९ ॥

अर्थ—पदार्थ कालकी ही लीलासे (वर्तना) से एक अवस्थासे अन्य अवस्थाको प्राप्त होते हैं । अर्थात् जो आगामी अवस्था होनेवाली है वह तो वर्त्तमानताको प्राप्त होती है और वर्त्तमान है वह अतीतपनको प्राप्त होती है । इस प्रकार समय समय अवस्था पलटती रहती है ॥ ३९ ॥

धर्माधर्मनभःकाला अर्थपर्यायगोचराः ।
व्यञ्जनाख्यस्य संबन्धौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ ॥ ४० ॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार पदार्थ तो अर्थपर्यायगोचर हैं, और अन्य दो अर्थात् जीव तथा पुद्गल व्यञ्जनपर्यायके संबंधरूप हैं । भावार्थ–धर्मादिक चार द्रव्योंके आकार पलटते नहीं, इस कारण हानिवृद्धिके परिणमनरूप अर्थपर्याय ही इनके मुख्य कहे हैं और जीव तथा पुद्गलोंके आकार पलटते रहते हैं । इस कारण इनके व्यञ्जनपर्याय मुख्य कहे गए हैं ॥४०॥

भावाः पञ्चैव जीवस्य द्वावन्त्यौ पुद्गलस्य च ।
धर्मादीनां तु शेषाणां स्याद्भावः पारिणामिकः ॥ ४१ ॥

अर्थ—जीवके औदयिकादि पांचो[1] ही भाव हैं और पुद्गलके अंतिम दो अर्थात् सूत्रपाठकी अपेक्षा अंतिम औदयिक और पारिणामिक हैं तथा शेष धर्मादिक चार द्रव्योंके एक पारिणामिक भाव ही है ॥ ४१ ॥

अन्योऽन्यसंक्रमोत्पन्नो भावः स्यात्सान्निपातिकः ।
षड्विंशद्भेदभिन्नात्मा स षष्ठो मुनिभिर्मतः ॥ ४२ ॥

अर्थ—जीवके इन पांच भावोंके परस्पर संयोगसे उत्पन्न हुआ सान्निपातिक नामका एक छठा भाव भी आचार्योंने माना है । वह छब्बीस प्रभेदोंसे भेदरूप है तथा छत्तीस भेदरूप और इकतालीस भेदरूप भी कहा है । 'तत्त्वार्थवार्तिक' नाम तत्त्वार्थसूत्रकी टीकामें भावोंका अच्छा विस्तार किया है ।

1 औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक (मिश्र) और पारिणामिक ये पांच भाव हैं ।

यहां यदि कोई प्रश्न करे कि जीवके पांच वा छह आदि भाव क्यों किये ? क्योंकि जीवका यथार्थ भाव एक पारिणामिक ही है। औदयिक आदिक भाव तो कर्मजन्य हैं, टीकामें उन्हें जीवके भाव कैसे कहते हो ? ।

उत्तर— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ये भाव यद्यपि कर्मजनित हैं, तथापि जीव ही इन भावोंके रूपमें परिणमता है। अनादि कर्मबन्धके निमित्तसे जीवकी ऐसी ही सामर्थ्य है कि जब जैसे कर्मका उदयादिक निमित्त हों, वैसा ही यह भावरूप परिणमता है। यदि ऐसा नहीं माना जायगा, तो जीव सांख्यमती तथा वेदांतमतावलम्बियोंके समान नित्य कूटस्थ ठहरेगा और उसके संसारका होना भी नहीं ठहरेगा और जब संसारअवस्था ही नहीं होगी तब फिर मोक्षका अभाव मानना पड़ेगा तथा मोक्षका अभाव माननेसे बड़ा ही दोष आवेगा। इस कारण जैनमतमें जीवके कर्मका बन्ध होना तथा कर्मके नाश होने पर मोक्ष कहा गया है और मोक्ष होनेका उपाय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रसहित ध्यान करना कहा हैं। स्याद्वाद न्यायसे सब संभवित होता है। वस्तुस्वरूप अनन्तधर्मी है, ऐसा प्रमाणसिद्ध है। इस कारण जैनियों का कहना सर्वथा निराबाध है और सर्वथा एकान्तीका कहना सर्वथा बाधासहित है। ऐसा निःसंदेह जान कर श्रद्धान करना उचित है ॥ ४२ ॥

धर्माधर्मैकजीवानां प्रदेशा गणनातिगाः ।
कियन्तोऽपि न कालस्य व्योम्नः पर्यन्तवर्जिताः ॥ ४३ ॥

अर्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीवद्रव्यके प्रदेश गणनासे अतीत अर्थात् असंख्यात हैं, और कालद्रव्यके एक ही अणु मात्र प्रदेश है। इस कारण कालके कितने प्रदेश हैं, ऐसी कथनी ही नही है और आकाशके अन्तवर्जित अनन्त प्रदेश हैं ॥ ४३ ॥

एकादयः प्रदेशाः स्युः पुद्गलानां यथायथम् ।
संख्यातीताश्च संख्येया अनन्ता योगिकल्पिताः ॥ ४४ ॥

अर्थ—योगीश्वरोंने पुद्गलद्रव्यके एक प्रदेशको आदि ले जैसे हैं तैसे संख्यात असंख्यात और अनन्त कहे हैं। भावार्थ—पुद्गलद्रव्य एक परमाणु है वह मिल कर दो परमाणुसे ले कर संख्यात परमाणु तकका स्कन्ध होता है तथा असंख्यात परमाणु मिल कर असंख्यात परमाणुका स्कन्ध होता है और अनन्त परमाणुओंका स्कन्ध भी होता है। इस कारण पुद्गलस्कन्धके संख्यात असंख्यात वा अनन्त प्रदेश कहे हैं ॥ ४४ ॥

मूर्तो व्यञ्जनपर्यायो वाग्गम्योऽनश्वरः स्थिरः ।
सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञिकः ॥ ४५ ॥

अर्थ—व्यञ्जनपर्याय मूर्तिक है, वचनके गोचर है, अनश्वर है, स्थिर है और अर्थपर्याय सूक्ष्म है तथा क्षणविध्वंसी है ॥ ४५ ॥

इस प्रकार अजीवतत्वका वर्णन किया, अब बन्ध तत्त्वका वर्णन करते हैं—

प्रकृत्यादिविकल्पेन ज्ञेयो बन्धश्चतुर्विधः ।
ज्ञानावृत्यादिभेदेन सोऽष्टधा प्रथमः स्मृतः ॥ ४६ ॥

अर्थ—प्रकृत्यादि भेदसे बन्ध चार प्रकारका है । उनमेंसे प्रथम प्रकृति बन्ध है, जो कि ज्ञानावरण दर्शनावरणादि भेदसे आठ प्रकारका है ॥ ४६ ॥

मिथ्यात्वाविरति योगः कषायाश्च यथाक्रमात् ।
प्रमादैः सह पञ्चैते विज्ञेया बन्धहेतवः ॥ ४७ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, योग, कषाय और प्रमाद यथाक्रमसे ये पांच बन्धके हेतु अर्थात् कारण जानने चाहिये । अतत्त्वश्रद्धानको मिथ्यात्व, अत्यागरूप परिणामोंको अविरति, निश्चय व्यवहार चारित्रमें असावधानरूप परिणामोंको प्रमाद क्रोध मान माया लोभ रूप परिणामोंको कषाय और मनवचनकायके निमित्तसे आत्माके चंचलरूप होनेको योग कहते हैं । इस प्रकार बन्धके हेतु कहे हैं ॥ ४७ ॥

उत्कर्षेणापकर्षेण स्थितिर्या कर्मणां मता ।
स्थितिबन्धः स विज्ञेय इतरस्तत्फलोदयः ॥ ४८ ॥

अर्थ—जो उत्कृष्ट, जघन्य तथा मध्यके भेदोंरूप बढती घटती कर्मोंकी स्थिति (कालकी मर्यादा कही गई है, उसे स्थितिबंध और कर्मके फलके उदय होनेके इतर अर्थात् अनुभागबंध जानना चाहिए ॥

परस्परप्रदेशानुप्रवेशो जीवकर्मणोः ।
यः संश्लेषः स निर्दिष्टो बन्धो विध्वस्तबन्धनैः ॥ ४९ ॥

अर्थ—जो जीव और कर्म इन दोनोंके प्रदेशोंका परस्पर अनुप्रवेश कहिये एक क्षेत्रावगाह होनेसे संबंध होता है, उसे बंधरहित सर्वज्ञदेवने प्रदेश बंध कहा है । इस प्रकार बंधतत्त्वका वर्णन किया है ॥४९।

प्रागेव भावनातन्त्रे निर्जरास्रवसंवराः ।
कथिताः कीर्तयिष्यामि मोक्षमार्गं सहेतुकम् ॥ ५० ॥

अर्थ—निर्जरा, आस्रव और संवरका वर्णन पहिले द्वादश भावनाके प्रकरणमें कर आये हैं, इस कारण यहां नहीं किया । आगे मोक्षतत्त्वका वर्णन हेतुसहित करते हैं ॥ ५० ॥

एवं द्रव्याणि तत्त्वानि पदार्थान् कायसंयुतान् ।
यः श्रद्धत्ते स्वसिद्धान्तात्स स्यान्मुक्तेः स्वयं वरः ॥ ५१ ॥

अर्थ—इस प्रकार छह द्रव्य, सप्त तत्त्व, नव पदार्थ, वा पंचास्तिकायका अपने सिद्धांतसे जो आत्मा श्रद्धान करता है, वह मुक्तिका स्वयं वर होता है अर्थात् मुक्तिरूपी कन्या उसे स्वयं वरण करती है । तात्पर्य यह कि उसे मुक्ति प्राप्त होती है ॥ ५१ ॥

इति जीवादयो भावादि क्रमात्रेणात्र वर्णिताः ।
विशेषरुचिभिः सम्यग्विज्ञेयाः परमागमात् ॥ ५२ ॥

अर्थ—इस प्रकार जीवादि पदार्थोंका दिग्दर्शनमात्र इस ग्रन्थमें किया गया। विशेष जाननेकी रुचि रखनेवाले पुरुषोंको परमागमसे अर्थात् तत्त्वार्थसूत्रकी टीका तथा गोम्मटसारादि अन्य शास्त्रोंसे जानना चाहिये ॥ ५२ ॥

सद्दर्शनमहारत्नं विश्वलोकैकभूषणम् ।
मुक्तिपर्यन्तकल्याणदानदक्षं प्रकीर्तितम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—यह सम्यग्दर्शन महारत्न समस्त लोकका आभूषण है और मोक्ष होने पर्यन्त आत्माको कल्याण देनेवालोंमें चतुर है ॥ ५३ ॥

चरणज्ञानयोर्बीजं यमप्रशमजीवितम् ।
तपःश्रुताद्यधिष्ठानं सद्भिः सद्दर्शनं मतम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—इस सम्यग्दर्शनको सत्पुरुषोंने चारित्र और ज्ञानका बीज अर्थात् उत्पन्न करनेका कारण माना है। क्योंकि इसके विना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता ही नहीं, तथा यम (महाव्रतादि) और प्रशम (विशुद्धभाव) का यह जीवनस्वरूप है। इस सम्यग्दर्शनके विना यम व प्रशम निर्जीवके समान हैं। इसी प्रकार तप और स्वाध्यायका आश्रय है। इसके विना ये निराश्रय हैं। इस प्रकार जितने शमदमबोधव्रततपादि कहे हैं, उनको यह सफल करता है। इसके विना वे मोक्षफलके दाता नहीं हो सकते हैं ॥ ५४ ॥

अप्येकं दर्शनं श्लाघ्यं चरणज्ञानविच्युतम् ।
न पुनः संयमज्ञाने मिथ्यात्वविषदूषिते ॥ ५५ ॥

अर्थ—यह सम्यग्दर्शन चारित्रज्ञानके न होने पर भी प्रशंसनीय कहलाता है और इसके विना संयम (चारित्र) और ज्ञान मिथ्यात्वरूपी विषसे दूषित होते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके विना ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र कुचारित्र कहाता है ॥ ५५ ॥

अत्यल्पमपि सूत्रज्ञैर्दृष्टिपूर्वं यमादिकम् ।
प्रणीतं भवसम्भूतक्लेशप्राग्भारभेषजम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनसहित यम नियम तपादिक थोड़े भी हों तो उन्हें सूत्रके ज्ञाता आचार्योंने संसारसे उत्पन्न हुए क्लेशदुःखोंके बड़े भारको भी औषधिके समान कहा है। भावार्थ—सम्यग्दर्शनके होते हुए व्रतादिक अल्प होवें, तो भी वे संसारजनित दुःखरूपी रोगोंको नष्ट करनेके लिये औषधके समान हैं ॥ ५६ ॥

मन्ये मुक्तः स पुण्यात्मा विशुद्धं यस्य दर्शनं ।
यतस्तदेव मुक्त्यङ्गमग्रिमं परिकीर्तितम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि जिसको निर्मल अतीचाररहित सम्यग्दर्शन है, वही पुण्यात्मा वा महाभाग्य मुक्त है, ऐसा मैं मानता हूं। क्योंकि सम्यग्दशन ही मोक्षका मुख्य अंग कहा गया है मोक्षमार्गके प्रकरणमें सम्यग्दर्शन ही मुख्य कहा गया है ॥ ५७ ॥

प्राप्नुवन्ति शिवं शश्वच्चरणज्ञानविश्रुताः ।
अपि जीवा जगत्यस्मिन्न पुनर्दर्शनं विना ॥ ५८ ॥

अर्थ—इस जगतमें जो जीव चारित्र और ज्ञानके कारण सदा जगतमें प्रसिद्ध हैं, वे भी सम्यग्दर्शनके विना मोक्षको नहीं पाते ॥ ५८ ॥

अब इस सम्यग्दर्शनके प्रकरणको पूर्ण करते हुए कहते हैं—

मालिनी

अतुलसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजं
जननजलधिपोतं भव्यसत्त्वैकपात्रम् ।
दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानं
पिबत जितविपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बुम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि हे भव्य जीवो! तुम सम्यग्दर्शन नामक अमृतका पान करो। क्योंकि यह सम्यग्दर्शन अतुल्य सुखका निधान (खजाना) है, समस्त कल्याणोंका बीज अर्थात् कारण है, संसाररूपी समुद्रसे तारनेके लिए जहाज है, तथा इसको धारण करनेवाले एक मात्र पात्र भव्य जीव ही हैं। अभव्य जोव इसके पात्र कदापि नही हो सकते। और यह सम्यग्दर्शन पापरूपी वृक्षको काटनेके लिए कुठार (कुल्हाड़े) के समान है, तथा पवित्र तीर्थोंमें यही प्रधान है, अर्थात् मुख्य है। और जीत लिया है अपने विपक्ष अर्थात् मिथ्यात्वरूपी शत्रुको जिसने ऐसा यह सम्यग्दर्शन है। अतः भव्यजीवोंको सबसे पहिले इसे ही अंगोकार करना चाहिये ॥ ५९ ॥

छप्पय ।

सप्त तत्त्व षट् द्रव्य, पदारथ नव मुनि भाखे ।
अस्तिकायसम्यक्त्व, विषय नीके मन राखे ॥
तिनको सांचें जान, आप परभेद पिछानहु ।
उपादेय हैं आप, आन सब हेय बखानहु ॥
यह सरधा सांची धारकै, मिथ्याभाव निवारिये ।
तब सम्यग्दर्शन पायकै, थिर ह्वै मोक्ष पधारिये ॥ ६ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते सम्यग्दर्शनप्रकरणम् ॥ ६ ॥

अथ सप्तमः सर्गः ।

सम्यग्ज्ञानका वर्णन ।

—०—

अब सम्यग्ज्ञानका वर्णन करते हैं—

त्रिकालगोचरानन्तगुणपर्यायसंयुताः ।
यत्र भावाः स्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञानं ज्ञानिनां मतम् ॥ १ ॥

अर्थ—जिसमें तीन कालके गोचर अनन्तगुणपर्यायसंयुक्त पदार्थ अतिशयताके साथ प्रतिभासित होते हैं, उनको ज्ञानी पुरुषोंने ज्ञान कहा है। यह सामान्यतासे पूर्ण ज्ञानका स्वरूप है। आकाशद्रव्य अनन्तानन्तप्रदेशी है। उसके मध्यमें असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश है। उसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये अनन्तद्रव्य हैं। उनके तीन काल संबंधी अनन्त २ भिन्न २ पर्याय है। उन सबको युगपत् (एक समयमें) जाननेवाला पूर्णज्ञान आत्माका निश्चय स्वभाव है। कर्मके निमित्तसे उसके भेद हो गये हैं ॥ १ ॥

ध्रौव्यादिकलितैर्भावैर्निर्भरं कलितं जगत् ।
चिन्तितं युगपद्यत्र तज्ज्ञानं योगिलोचनम् ॥ २॥

अर्थ—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-स्वभावी पदार्थोंसे अतिशय भरा हुआ यह जगत् जिस ज्ञानमें युगपत् प्रतिबिम्बित हो वही ज्ञान योगीश्वरोंके नेत्रके समान है। **भावार्थ**—अन्य मतावलम्बियोंमें योगिप्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं, वह यथार्थ नहीं है। उक्त ज्ञान ही सत्यार्थ है ॥ २ ॥

अब कर्मके निमित्तसे जो ज्ञानके भेद हो गये हैं, उनका वर्णन करते हैं—

मतिश्रुतावधिज्ञानं मनःपर्ययकेवलम् ।
तदित्थं सान्वयैर्भेदैः पञ्चधेति प्रकल्पितम् ॥ ३ ॥

अर्थ—यह ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन भेदोंसे पांच प्रकारका कल्पना किया गया है। **भावार्थ**—कर्मके निमित्तसे यह पांच प्रकारकी कल्पना की गई है। परमार्थसे ज्ञानमात्रमें कोई भेद नहीं है। केवल प्रत्यक्ष और परोक्षताका भेद मात्र है ॥ ३ ॥

अवग्रहादिभिर्भेदैर्बह्वाद्यन्तर्भवैः परैः ।
षट्त्रिंशत्त्रिशतं प्राहुर्मतिज्ञानं प्रपञ्चतः ॥ ४ ॥

अर्थ—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा तथा बहु, बहुविधि, आदि बारह भेदोंसे विस्तार करनेसे मतिज्ञानके तीनसें छत्तीस भेद होते हैं। सो तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाओंसे जानना चाहिये ॥ ४ ॥

प्रसृतं बहुधाऽनेकैरङ्गपूर्वैः प्रकीर्णकैः ।
स्याच्छब्दलाञ्छितं तद्धि श्रुतज्ञानमनेकधा ॥ ५ ॥

अर्थ—ग्यारह अंग, चौदह पूर्व और चौदह प्रकीर्णक इनसे बहुत प्रकारसे विस्तृत, स्यात् शब्दसे चिह्नित श्रुतज्ञान अनेक प्रकारका है। भावार्थ—शास्त्र सुननेके निमित्तसे उत्पन्न हुआ ज्ञान मुख्यतासे श्रुतज्ञान कहा जाता है। वह शास्त्र अंगपूर्वादिकसे अनेक भेदरूप है इस कारण ज्ञान भी अनेक प्रकारके हैं। और 'स्यात्' शब्द 'किसी प्रकारको' कहते हैं सो इस शब्दसे वह श्रुतज्ञान चिह्नित है। जिससे इसमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं आती, इस कारण जो निर्बाध है वही श्रुतज्ञान है ॥ ५ ॥

देवनारकयोर्ज्ञेयस्त्ववधिर्भवसम्भवः।
षट्विकल्पश्च शेषाणां क्षयोपशमलक्षणः ॥ ६ ॥

अर्थ—देव और नारकी जीवोंको तो अवधिज्ञान भवसे ही उत्पन्न होता है। उसका कारण नरकगति वा देवगति ही है, इस कारण उसे भवप्रत्यय अवधि कहते हैं। और मनुष्य तथा तिर्यञ्चोंको जो क्षयोपशमसे होता है सो छह प्रकारका होता है, जैसे-अनुगामि १, अननुगामि २, हीयमान ३, वर्द्धमान ४, अवस्थित ५, अनवस्थित ६, इस प्रकार छह भेद हैं ॥ ६ ॥

ऋजुर्विपुल इत्येवं स्यान्मनःपर्ययो द्विधा।
विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषोऽवगम्यताम् ॥ ७ ॥

अर्थ—मनःपर्ययज्ञान—ऋजुमति तथा विपुलमति भेदसे दो प्रकारका है। इन दोनोंमें विशुद्धता और अप्रतिपातकी विशेषता है ॥ ७ ॥

अशेषद्रव्यपर्यायविषयं विश्वलोचनम्।
अनन्तमेकमत्यक्षं केवलं कीर्तितं बुधैः ॥ ८ ॥

अर्थ—जो समस्त द्रव्योंके पर्यायोंको जाननेवाला है, सब जगतके देखने जाननेका नेत्र है तथा अनंत है, एक है और अतीन्द्रिय है अर्थात् मति श्रुत ज्ञानके समान इन्द्रियजनित नहीं है, केवल आत्मासे ही जानता है, उसको विद्वानोंने केवल ज्ञान कहा है ॥ ८ ॥

कल्पनातीतमभ्रान्तं स्वपरार्थावभासकम्।
जगज्ज्योतिरसंदिग्धमनन्तं सर्वदोदितम् ॥ ९ ॥

अर्थ—तथा केवलज्ञान कल्पनातीत है, विषयको जाननेमें किसी प्रकारकी कल्पना नहीं है, स्पष्ट जानता है तथा आपको और परको दोनोंको जानता है। जगतका प्रकाश करनेवाला, संदेहरहित, अनन्त और सदाकाल उदयरूप है तथा इसका किसी समयमें किसी प्रकारसे भी अभाव नहीं होता है ॥ ९ ॥

अनन्तानन्तभागेऽपि यस्य लोकश्चराचरः।
अलोकश्च स्फुरत्युच्चैस्तज्ज्योतिर्योगिनां मतम् ॥ १० ॥

अर्थ—जिस केवल ज्ञानके अनन्तानन्त भाग करने पर भी यह चराचर लोक प्रतिभासित होता है तथा अलोकाकाश अनन्तानन्त प्रदेशी है, यह भी प्रकट प्रतिभासता है इस प्रकार योगीश्वरोंके

ज्योतिप्रकाशरूप कहा है । भावार्थ—केवल ज्ञानमें समस्त लोकालोक प्रकाशमान है । और यह ज्ञान योगीश्वरोंको ही होता है ॥ १० ॥

इस प्रकार सामान्य ज्ञानकी अपेक्षा तो ये पांचों ही ज्ञान एक हैं, तथापि कर्मके निमित्तसे पांच प्रकारके भेद कहे गये । क्योंकि मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान कर्मोंके क्षयोपशमसे होते हैं और केवल ज्ञान आत्माका निजस्वभाव है, जो घातिया कर्मोंके सर्वथा क्षय होनेसे प्रकट होता है । यह ज्ञान अविनाशी और अनन्त है, सदा जैसाका तैसा रहता है और इसको फिर कभी कर्म-मल नहीं लगता है ।

अगम्यं यन्मृगाङ्कस्य दुर्भेद्यं यद्रवेरपि ।
तद्दुर्बोधोद्धतं ध्वान्तं ज्ञानभेद्यं प्रकीर्त्तितम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस मिथ्याज्ञानरूप उत्कट अन्धकारको चन्द्रमा तथा सूर्य भी नष्ट नहीं कर सकता ऐसा दुर्भेद्य है, वह मिथ्यात्वान्धकार ज्ञानसे ही नष्ट किया जाता है । अर्थात् ज्ञान ही उसको भेद सकता है ॥ ११ ॥

दुःखज्वलनतप्तानां संसारोग्रमरुस्थले ।
विज्ञानमेव जन्तूनां सुधाम्बुप्रीणनक्षमः ॥ १२ ॥

अर्थ—इस संसाररूपी उग्रमरुस्थलमें दुःखरूप अग्निसे तप्तायमान जीवोंको यह सत्यार्थ ज्ञान ही अमृतरूप जलसे तृप्त करनेको समर्थ है । भावार्थ-संसारके दुःख मिटानेको सम्यग्ज्ञान ही समर्थ है ॥ १२ ॥

निरालोकं जगत्सर्वमज्ञानतिमिराहतम् ।
तावदास्ते उदेत्युच्चैर्न यावज्ज्ञानभास्करः ॥ १३ ॥

अर्थ—जब तक ज्ञानरूपी सूर्यका उदय नहीं होता तभी तक यह समस्त जगत् अज्ञानरूपी अन्धकारसे आच्छादित है । अर्थात् ज्ञानरूपी सूर्यका उदय होते ही अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है ॥ १३ ॥

बोध एव दृढः पाशो हृषीकमृगबन्धने ।
गारुडश्च महामन्त्रः चित्तभोगिविनिग्रहे ॥ १४ ॥

अर्थ—इन्द्रियरूपी मृगोंको बांधनेके लिए ज्ञान ही एक दृढ फांसी है, अर्थात् ज्ञानके बिना इन्द्रियां वश नहीं होती तथा चित्तरूपी सर्पका निग्रह करनेके लिये ज्ञान ही एक गारुड महामन्त्र है । अर्थात् मन भी ज्ञानसे ही वशीभूत होता है ॥ १४ ॥

निशातं विद्धि निस्त्रिंशं भवारातिनिपातने ।
तृतीयमथवा नेत्रं विश्वतत्त्वप्रकाशने ॥ १५ ॥

अर्थ—ज्ञान ही तो संसाररूप शत्रुको निपात (नष्ट) करनेके लिये तीक्ष्ण खड्ग है और ज्ञान ही समस्त तत्त्वोंको प्रकाशित करनेके लिये तीसरा नेत्र है ॥ १५ ॥

क्षीणतन्द्रा जितक्लेशा वीतसङ्गाः स्थिराशयाः ।
तस्यार्थेऽमी तपस्यन्ति योगिनः कृतनिश्चयाः ॥ १६ ॥

अर्थ—प्रमादको क्षीण करनेवाले, क्लेशोंको जीतनेवाले, परिग्रहरहित, स्थिर आशयवाले ये योगिगण उस ज्ञानकी प्राप्तिके लिये यत्नपूर्वक तपस्या करते हैं। भावार्थ–ऐसे ज्ञानी मुनि ही इस ज्ञानको पाते हैं ॥ १६ ॥

वेष्टयत्याऽऽत्मनात्मानमज्ञानी कर्मबन्धनैः ।
विज्ञानी मोचयत्येव प्रबुद्धः समयान्तरे ॥ १७ ॥

अर्थ—अज्ञानी पुरुष आपको अपनेसे ही कर्मरूपी बन्धनोंसे वेष्टित कर लेता है। और जो भेदविज्ञानी है वह किसी कालमें सावधान हो कर अपनेको कर्मबन्धोंसे छुड़ा लेता है ॥ १७ ॥

यज्जन्मकोटिभिः पापं जयत्यज्ञस्तपोबलात् ।
तद्विज्ञानी क्षणार्द्धेन दहत्यतुलविक्रमः ॥ १८ ॥

अर्थ—जो अज्ञानी है वह तो करोड़ों जन्म ले कर तपके प्रभावसे पापको जीतता है। और उसी पापको अतुल्य पराक्रमवाला भेदविज्ञानी आधे क्षणमें ही भस्म कर देता है ॥ १८ ॥

अज्ञानपूर्विका चेष्टा यतेर्यस्यात्र भूतले ।
स बध्नात्यात्मनात्मानं कुर्वन्नपि तपश्चिरं ॥ १९ ॥

अर्थ—जिस यतिकी इस पृथ्वि पर अज्ञानपूर्वक चेष्टा (क्रिया) है वह चिरकाल तपस्या करता हुआ भी अपने आत्माको अपने ही कृत्यसे बांध लेता है। क्योंकि अज्ञानपूर्वक तप बन्धका ही कारण है ॥ १९ ॥

ज्ञानपूर्वमनुष्ठानं निःशेषं यस्य योगिनः ।
न तस्य बन्धमायाति कर्म कस्मिन्नपि क्षणे ॥ २० ॥

अर्थ—जिस मुनिके समस्त आचरण ज्ञानपूर्वक होते हैं उसको किसी कालमें भी कर्मबन्ध नहीं होता है। भावार्थ–अज्ञानीको तो बहुत काल तिष्ठनेवाला कर्मबंध होता है, किन्तु ज्ञानीको कभी नहीं होता है ॥ २० ॥

यत्र बालश्चरत्यस्मिन्पथि तत्रैव पण्डितः ।
बालः स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद् ध्रुवम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जिस मार्गमें अज्ञानी चलते हैं उसी मार्गमें विद्वज्जन चलते हैं, परन्तु अज्ञानी तो अपने आत्माको बांध लेता है और तत्त्वज्ञानी बन्धरहित हो जाता है। यह ज्ञानका माहात्म्य है ॥ २१ ॥

मालिनी ।

दुरिततिमिरहंसं मोक्षलक्ष्मीसरोजं मदनभुजगमन्त्रं चित्तमातङ्गसिंहं ।
व्यसनघनसमीरं विश्वतत्त्वैकदीपं विषयशफरजालं ज्ञानमाराधय त्वं ॥२२॥

अर्थ—हे भव्य जीव ! तू ज्ञानका अराधन कर । क्योंकि ज्ञान पापरूपी तिमिर (अंधकारको) नष्ट करनेके लिए सूर्यके समान है और मोक्षरूपी लक्ष्मीके निवास करनेके लिये कमलके समान है तथा कामरूपी सर्पके कीलनेको मन्त्रके समान और मनरूपी हस्तीको सिंहके समान है तथा व्यसन—आपदा कष्टरूपी मेघोंको उड़ानेके लिये पवनके समान और समस्त तत्वोंको प्रकाश करनेके लिये दीपकके समान है तथा विषयरूपी मत्स्योंको पकड़नेके लिये जालके समान है ॥ २२ ॥

अब ज्ञानके प्रकरणको पूर्ण करते हुए कहते हैं—

स्रग्धरा ।

अस्मिन्संसारकक्षे यमभुजगविषाक्रान्तनिःशेषसत्त्वे
क्रोधाद्युत्तुङ्गशैले कुटिलगतिसरित्पातसन्तानभीमे ।
मोहान्धाः संचरन्ति स्खलनविधुरिताः प्राणिनस्तावदेते
यावद्विज्ञानभानुर्भवभयदमिदं नोच्छिनत्त्यन्धकारम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जब तक इस संसाररूपी बनमें यह सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य संसाररूप भयके देनेवाले अज्ञान अन्धकारका उच्छेद नहीं करता तब तक ही मोहसे अंधे हुए प्राणी अपने स्वरूप उत्तम मार्गसे छूटने से गिरते पड़ते पीड़ित हुए चलते हैं। कैसा है संसाररूपी वन ? जिसमें कि पापरूपी सर्पके विषसे समस्त प्राणी व्याप्त हैं अर्थात् दबे हैं; तथा क्रोधादिक पापरूपी बड़े २ ऊंचे पर्वत हैं । और वक्र गमनवाली दुर्गतिरूपी नदियोंमें गिरनेसे उत्पन्न हुए सन्तापसे अतिशय भयानक है। ज्ञानरूप सूर्यके प्रकाश होनेसे किसी प्रकारका दुःख वा भय नहीं रहता । इस प्रकार सम्यग्ज्ञानका वर्णन किया ॥ २३ ॥

दोहा ।

सम्यक्दर्शन पाइकै, ज्ञानविशेष बढाय ॥
चारितकी विधि जानिकै लागौ ध्यान उपाय ॥ ७ ॥

इति श्री ज्ञानार्णवे श्रीशुभचंद्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे सम्यग्ज्ञानप्रकरणं नाम सप्तमः सर्गः ॥७॥

अथ अष्टमः सर्गः ।

अहिंसा महाव्रतका वर्णन

आगे सम्यक्चारित्रका वर्णन करते हैं—

यद्विशुद्धेः परं धाम यद्योगिजनजीवितम् ।
तद्वृत्तं सर्वसावद्यपर्युदासैकलक्षणम् ॥ १ ॥

अर्थ—जो विशुद्धताका उत्कृष्ट धाम है तथा योगीश्वरोंका जीवन है और समस्त प्रकारकी पापरूप प्रवृत्तियोंसे दूर रहनेका लक्षण है, उसको सम्यक्चारित्र कहते हैं । **भावार्थ**—जो चारित्र समस्त

पापोंसे निवृत्तिस्वरूप है वही दर्शनको शुद्ध करता है और मुनिजनोंका वही एक जीवनसर्वस्व है। उसके विना मुनिपदवी हो ही नहीं सकती है ॥ १ ॥

सामायिकादिभेदेन पञ्चधा परिकीर्तितम्।
ऋषभादिजिनैः पूर्वं चारित्रं सप्रपञ्चकम् ॥ २ ॥

अर्थ—यह चारित्र पूर्वकालमें श्रीऋषभदेव तीर्थंकर महाराजसे लेकर समस्त तीर्थंकरोंने सामायिक १, छेदोपस्थापना २, परिहारविशुद्धि ३, सूक्ष्मसांपराय ४ और यथाख्यातचारित्र ५, ऐसे पांच प्रकारका कहा है ॥ २ ॥

पञ्चमहाव्रतमूलं समितिप्रसरं नितान्तमनवद्यम्।
गुप्तिफलभारनम्रं सन्मतिना कीर्त्तितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

अर्थ—तथा वही चारित्र श्रीवर्द्धमानस्वामी तीर्थंकर भगवानने तेरह प्रकारका कहा है। पांच महाव्रत हैं मूल जिसका तथा पांच समिति हैं प्रसर (फैलाव) जिसका और अत्यन्त निर्दोष तीन गुप्तिरूप फलके भारसे नम्रीभूत ऐसा चरित्ररूपी वृक्ष है। भावार्थ—चारित्र तेरह प्रकारका है। वह वृक्षकी उपमाको धारण करता है। उसकी जड़ पांच महाव्रत हैं; उसकी विस्तृत शाखायें पांच समिति हैं और उसके फल तीन गुप्तियां हैं ॥ ३ ॥

पञ्च पञ्च त्रिभिर्भेदैर्यदुक्तं मुक्तसंशयैः।
भवभ्रमणभीतानां चरणं शरणं परम् ॥ ४ ॥

अर्थ—संशयरहित गणधरादिकोंने पांच पांच और तीन भेदसे जो चारित्र कहा है वह संसारके भ्रमणसे भयभीत पुरुषोंके हेतु एक उत्तम शरण है। अर्थात् जो मुनि संसारके भयसे भयभीत हैं वे इस चारित्रका पालन करनेसे भयरहित (अभय) हो जाते हैं ॥ ४ ॥

पञ्चव्रतं समित्पंच गुप्तित्रयपवित्रितम्।
श्रीवीरवदनोद्गीर्णं चरणं चन्द्रनिर्मलम् ॥ ५ ॥

अर्थ—पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकारका चारित्र जो श्रीवीर (वर्द्धमान) तीर्थंकर भगवान्के मुखसे प्रकट हुआ है वह चन्द्रमाके समान निर्मल है ॥ ५ ॥

हिंसायामनृते स्तेये मैथुने च परिग्रहे।
विरतिर्व्रतमित्युक्तं सर्वसत्त्वानुकम्पकैः ॥ ६ ॥

अर्थ—हिंसा, अनृत, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पापोंमें विरति कहिये त्यागभाव होना ही व्रत है। समस्त जीवों पर दयालु मुनियोंने ऐसा ही कहा है ॥ ६ ॥

इस प्रकार संक्षेपसे कह कर अब प्रथम ही अहिंसा महाव्रतका वर्णन करते हैं—

सत्याद्युत्तरनिःशेषयमजातनिबन्धनम्।
शीलैश्वर्याद्यधिष्ठानमहिंसाख्यं महाव्रतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—अहिंसा नामा महाव्रत सत्यादिक अगले ४ महाव्रतोंका तो कारण है, क्योंकि अचौर्यादि विना अहिंसाके नहीं हो सकते। और शीलादिसहित उत्तरगुणोंकी चर्याका स्थान भी अहिंसा ही है। अर्थात् समस्त उत्तर गुण भी इस अहिंसा महाव्रतके आश्रय हैं ॥ ७ ॥

वाक्चित्ततनुभिर्यत्र न स्वप्नेऽपि प्रवर्त्तते।
चरस्थिराङ्गिनां घातस्तदाद्यं व्रतमीरितम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसमें मनवचनकायसे त्रस और स्थावर जीवोंका घात स्वप्नमें भी न हो उसे आद्यव्रत (प्रथम महाव्रत–अहिंसा) कहते हैं ॥ ८ ॥

मृते वा जीविते वा स्याज्जन्तुजाते प्रमादिनाम्।
बन्ध एव न बन्धः स्याद्धिंसायाः संवृतात्मनाम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जीवोंके मरते वा जीते प्रमादी पुरुषोंको तो निरन्तर ही हिंसाका पापबन्ध होता ही रहता है। और जो संवरसहित अप्रमादी हैं उनको जीवोंकी हिंसा होते हुए भी हिंसारूप पापका बंध नहीं होता। **भावार्थ**—कर्मबन्ध होनेमें प्रधान कारण आत्माके परिणाम हैं, इस कारण जो प्रमादसहित विना यत्नके प्रवर्त्तते हैं उनको तो जीव मरे अथवा न मरे किन्तु कर्मबन्ध होता ही है, और जो प्रमादरहित यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं उनके दैवयोगसे जीव मरें तो कर्मबन्ध नहीं होता है ॥ ९ ॥

संरम्भादित्रिकं योगैः कषायैर्व्याहतं क्रमात्।
शतमष्टाधिकं ज्ञेयं हिंसाभेदैस्तु पिण्डितम् ॥ १० ॥

अर्थ—संरंभ, समारंभ और आरंभ इस त्रिकको मनवचनकायकी तीन २ प्रवृत्तियोंसे तथा क्रोध,

---

१ हिंसामें उद्यमरूप परिणामोंका होना तो **संरंभ** है, हिंसाके साधनोंमें अभ्यास करना (सामग्री मिलाना) **समारंभ** है और हिंसामें प्रवर्त्तन करना **आरंभ** है। इन तीनको मनवचनकायके योगसे गुणा करनेसे नव भेद होते हैं और कृत, कारित, अनुमोदनासे गुणा करनेसे २७ फिर इनको क्रोध, मान माया और लोभ इन चार कषायोंसे गुणनेसे १०८ हिंसाके भेद होते हैं। **कृत**—आप स्वाधीन हो कर करें, **कारित**—अन्यसे करवाये और अन्य कोई हिंसा करता हो उसको भला जाने उसे **अनुमोदना** वा अनुमत कहते हैं। जैसे—क्रोधकृतकायसंरंभ १ मानकृतकायसंरंभ २ मायाकृतकायसंरंभ ३ लोभकृतकायसंरंभ ४ क्रोधकारितकायसंरंभ ५ मानकारित कायसंरंभ ६ मायाकारित कायसंरंभ ७ लोभकारित कायसंरंभ ८ क्रोधानुमत कायसंरंभ ९ मानानुमत कायसंरंभ १० मायानुमत कायसंरंभ ११ लोभानुमत कायसंरंभ १२ इस प्रकार कायके संरंभके १२ भेद, इसी प्रकार वचनसंरंभके १२ भेद और मनसंरंभके १२ भेद मिल कर ३६ भेद संरंभके हुए और इसी प्रकार ३६ समारंभके और ३६ आरंभके सब मिल कर १०८ भेद हिंसाके होते हैं। और क्रोध, मान, माया, तथा लोभ इन चार कषायोंके अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन इन चार भेदोंसे गुणन करनेसे ४३२ भेद भी हिंसाके होते हैं। जप करनेको मालामें ३ दाने उपर और १०८ दाने मालामें होते हैं सो इसी संरंभ समारंभ आरंभके तीन दाने मूलमें रख कर उसके भेदरूप (शाखारूप) १०८ दाने डाले जाते हैं। अर्थात् सामायिक (संध्यावंदन जप्यादि) करते समय क्रमसे १०८ आरंभोंका (हिंसारूप पापकर्मोंका) परमेष्ठीके नामस्मरणपूर्वक त्याग करना चाहिये, तत्पश्चात् धर्मध्यानमें लगना चाहिये।

मान, माया, लोभ, इन चार कषायों और कृत, कारित, अनुमोदना (अनुमति वा सम्मति) से क्रमसे गुणन करने पर हिंसाके भेद (१०८) होते हैं, तथा अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषायोंके उत्तरभेदोंसे गुणन करनेसे ४३२ भेद भी हिंसाके होते हैं ॥ १० ॥

अतः प्रमादमुत्सृज्य भावशुद्ध्याङ्गिसन्ततिम् ।
यमप्रशमसिद्ध्यर्थं बंधुबुद्ध्या विलोकय ॥ ११ ॥

अर्थ—उपर्युक्त संरंभादिक हिंसापरिणामके १०८ अथवा ४३२ भेद हैं। अतः हे आत्मन् ! तू प्रमादको छोड़ कर भावोंकी शुद्धिके लिये जीवोंकी सन्ततिको (समूहको) बन्धु (भाई, हित, मित्र) की दृष्टिसे अवलोकन किया कर। अर्थात् प्राणीमात्रसे शत्रुभाव न रख कर सबसे मित्रभाव रख और सबकी रक्षामें मनवचनकायादिकसे प्रवृत्ति कर ॥ ११ ॥

यज्जन्तुवधसंजातकर्मपाकाच्छरीरिभिः ।
श्वभ्रादौ सह्यते दुःखं तद्वक्तुं केन पार्यते ॥ १२ ॥

अर्थ—जीवोंके घात (हिंसा) करनेसे पापकर्म उपार्जन होता है उसका जो फल अर्थात् दुःख नरकादिक गतिमें जीव भोगते हैं वह वचनके अगोचर है। अर्थात् वचनसे कहनेमें नहीं आ सकता ॥१२॥

हिंसैव नरकागारप्रतोली प्रांशुविग्रहा ।
कुठारीव द्विधा कर्तुं भेत्तुं शूलोऽतिनिर्दया ॥ १३ ॥

अर्थ—यह हिंसा ही नरकरूपी घरमें प्रवेश करनेके लिये प्रतोली (मुख्य दरवाजा) है तथा जीवोंको काटनेके लिये कुठार (कुल्हाड़ा) और विदारनेके लिये निर्दय शूली है ॥ १३ ॥

क्षमादिपरमोदारैर्यमैर्यो वर्द्धितश्चिरम् ।
हन्यते स क्षणादेव हिंसया धर्मपादपः ॥ १४ ॥

अर्थ—जो धर्मरूप वृक्ष उत्तम क्षमादिक परम उदार संयमोंसे बहुत कालसे बढ़ाया है वह इसी हिंसारूप कुठारसे क्षणमात्रमें नष्ट हो जाता है। भावार्थ—जहां हिंसा होती है वहां धर्मका लेश भी नहीं है ॥ १४ ॥

तपोयमसमाधीनां ध्यानाध्ययनकर्मणां ।
तनोत्यविरतं पीडां हृदि हिंसा क्षणस्थिता ॥ १५ ॥

अर्थ—हृदयमें क्षणभर भी स्थान पाई हुई यह हिंसा, तप, यम, समाधि और ध्यानाध्ययनादि कार्योंको निरंतर पीड़ा देती है। भावार्थ—क्रोधादि कषायरूप परिणाम (हिंसारूप परिणाम) किसी कारणसे एक वार उत्पन्न हो जाते हैं तो उनका संस्कार (स्मरण) लगा रहता है। वह तप, यम, समाधि और ध्यानाध्ययनकार्योंमें चित्तको नहीं ठहरने देता, इस कारण यह हिंसा महा अनर्थकारिणी है ॥ १५॥

अहो व्यसनविध्वस्तैर्लोकः पाखण्डिभिर्बलात् ।
नीयते नरकं घोरं हिंसाशास्त्रोपदेशकैः ॥ १६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज आश्चर्यके साथ कहते हैं कि देखो ! धर्म तो दयामयी जगतमें प्रसिद्ध है परन्तु विषयकषायसे पीड़ित पाखण्डी हिंसाका उपदेश देनेवाले (यज्ञादिकमें पशु होमने तथा देवी आदिके बलिदान करने आदि हिंसाविधान करनेवाले) शास्त्रोंको रच कर जगतके जीवोंको बलात्कार नरकादिकमें ले जाते हैं। यह बड़ा ही अनर्थ है ॥१६॥

रौरवादिषु घोरेषु विशन्ति पिशिताशनाः ।
तेष्वेव हि कदर्थ्यन्ते जन्तुघातकृतोद्यमाः ॥१७॥

अर्थ—जो मांसके खानेवाले हैं वे सातवें नरकके रौरवादि बिलोंमें प्रवेश करते हैं और वहीं पर जीवोंको घात करनेवाले शिकारी आदिक भी पीड़ित होते हैं। भावार्थ—जो जीवघातक मांसभक्षी पापी हैं, वे नरकमें ही जाते हैं। और जो जीवघातको हो धर्म मान करके उपदेश करते हैं वे अपने और परके दोनोंके घातक हैं; अतः वे भी नरकके ही पात्र हैं ॥१७॥

शान्त्यर्थं देवपूजार्थं यज्ञार्थमथवा नृभिः ।
कृतः प्राणभृतां घातः पातयत्यविलम्बितं ॥१८॥

अर्थ—अपनी शान्तिके अर्थ अथवा देवपूजाके तथा यज्ञके अर्थ जो मनुष्य जीवघात (जीवहिंसा) करते हैं वह घात भो जीवोंको शीघ्र ही नरकमें डालता है ॥१८॥

हिंसैव दुर्गतेर्द्वारं हिंसैव दुरितार्णवः ।
हिंसैव नरकं घोरं हिंसैव गहनं तमः ॥१९॥

अर्थ—हिंसा ही दुर्गतिका द्वार है, पापका समुद्र है तथा हिंसा ही घोर नरक और महा अन्धकार है। भावार्थ—समस्त पापोंमें मुख्य हिंसा ही है। जितनी खोटी उपमायें हैं सब हिंसाको लगती हैं ॥१९॥

निःस्पृहत्वं महत्त्वं च नैराश्यं दुष्करं तपः ।
कायक्लेशश्च दानं च हिंसकानामपार्थकम् ॥२०॥

अर्थ—जो हिंसक पुरुष है उनकी निःस्पृहता, महत्ता, आशारहितता, दुष्कर तप करना, कायक्लेश और दान करना आदि समस्त धर्मकार्य व्यर्थ हैं अर्थात् निष्फल हैं ॥२०॥

कुलक्रमागता हिंसा कुलनाशाय कीर्तिता ।
कृता च विघ्नशान्त्यर्थं विघ्नौघायैव जायते ॥२१॥

अर्थ—कुलक्रमसे जो हिंसा चली आई है वह उस कुलको नाश करनेके लिये ही कही गई है तथा विघ्नकी शान्तिके अर्थ जो हिंसा की जाती है वह विघ्नसमूहको बुलानेके लिये ही है। भावार्थ—कोई कहे कि हमारे कुलमें देवी आदिका पूजन चला आता है अतएव हम बकरे भैसेका घात करके देवोको चढ़ाते हैं और इसीसे कुलदेवीको सन्तुष्ट हुई मानते हैं तथा ऐसा करनेसे कुलदेवी कुलकी वृद्धि करती है। इस प्रकार श्रद्धान करके जो बकरे आदिकी हिंसा की जाती है वह कुलनाशके लिये

ही होती है, कुलवृद्धिके लिये कदापि नहीं। तथा कोई २ अज्ञानी विघ्नशान्त्यर्थ हिंसा करते हैं और यज्ञ कराते हैं उनको उलटा विघ्न ही होता है और उनका कभी कल्याण नहीं हो सकता है ॥२१॥

सौख्यार्थे दुःखसन्तानं मङ्गलार्थेऽप्यमङ्गलम् ।
जीवितार्थे ध्रुवं मृत्युं कृता हिंसा प्रयच्छति ॥२२॥

अर्थ—सुखके अर्थ की हुई हिंसा दुःखकी परिपाटी करती है, मंगलार्थ की हुई हिंसा अमङ्गल करती है तथा जीवनार्थ की हुई हिंसा मृत्युको प्राप्त करती है। इस बातको निश्चय जानना ॥२२॥

तितीर्षति ध्रुवं मूढः स शिलाभिर्नदीपतिम् ।
धर्मबुद्ध्याऽधमो यस्तु घातयत्यङ्गिसंचयम् ॥२३॥

अर्थ—जो मूढ अधम धर्मकी बुद्धिसे जीवोंको मारता है सो पाषाणकी शिलाओं पर बैठ कर समुद्रको तैरनेकी इच्छा करता है। क्योंकि वह नियमसे डूबेगा ॥२३॥

प्रमाणीकृत्य शास्त्राणि यैर्वधः क्रियतेऽधमैः ।
सह्यते परलोके तैः श्वभ्रे शूलाधिरोहणम् ॥२४॥

अर्थ—जो अधम शास्त्रोंका प्रमाण दे कर जीवोंका वध करना धर्म बताते हैं वे मृत्यु होने पर नरकमें शूली पर चढ़ाये जाते हैं। भावार्थ—अनेक अज्ञानी कहते हैं कि वेदशास्त्रमें यज्ञके समय जीववध करना कहा है, उसीको ईश्वरकृत प्रमाणभूत मान कर हम पशुवध करते हैं; परंतु ऐसा कहने वाले अधर्मी हैं। क्योंकि जिस शास्त्रमें जीववध धर्म कहा हो वह शास्त्र कदापि प्रमाणभूत नहीं कहा जा सकता। उसको जो अज्ञानी प्रमाण मान कर हिंसा करते हैं वे अवश्य ही नरकमें पड़ते है ॥२४॥

निर्दयेन हि किं तेन श्रुतेनाचरणेन च ।
यस्य स्वीकारमात्रेण जन्तवो यान्ति दुर्गतिम् ॥२५॥

अर्थ—जिसमें दया नहीं है ऐसे शास्त्र तथा आचरणसे क्या लाभ ? क्योंकि ऐसे शास्त्रके वा आचरणके अंगीकार मात्रसे ही जीव दुर्गतिको चले जाते है ॥२५॥

वरमेकाक्षरं ग्राह्यं सर्वसत्त्वानुकम्पनम् ।
न त्वक्षपोषकं पापं कुशास्त्रं धूर्तचर्चितम् ॥२६॥

अर्थ—सर्व प्राणियों पर दया करनेवाला तो एक अक्षर श्रेष्ठ है और ग्रहण करने योग्य है; परन्तु धूर्त तथा विषयकषायी पुरुषोंका रचा हुआ इन्द्रियोंको पोषनेवाला जो पापरूप कुशास्त्र है वह श्रेष्ठ नहीं है ॥२६॥

चरुमन्त्रौषधानां वा हेतोरन्यस्य वा क्वचित् ।
कृता सती नरैर्हिंसा पातयत्यविलम्बितम् ॥२७॥

अर्थ—देवताकी पूजाके लिये रचे हुए नैवेद्य तथा मंत्र और औषधके निमित्त अथवा अन्य किसी भी कार्यके लिये की हुई हिंसा जीवोंको नरकमें ले जाती हैं ॥२७॥

वंशस्थम् ।

विहाय धर्मं शमशीललाञ्छितं दयावहं भूतहितं गुणाकरम् ।
मदोद्धता अक्षकषायवञ्चिता दिशन्ति हिंसामपि दुःखशान्तये ॥२८॥

अर्थ—जो पुरुष गर्वसे उद्धत हैं और इन्द्रियोंके विषय तथा कषायोंसे ठगे गये हैं वे ही मन्दकषाय तथा उपशमरूप शीलसे चिह्नित दयामयी जीवोंके हित करनेवाले गुणोंकी खानि दयाधर्मको छोड़ कर दुःखकी शान्तिके लिये हिंसाको भी धर्म कह कर उपदेश करते हैं । **भावार्थ**—हिंसामें धर्म कहनेवाले विघातक गर्वमें मदोन्मत्त हो रहे हैं और वे विषयलम्पट और कषायी है ॥२८॥

धर्मबुद्ध्याऽधमैः पापं जन्तुघातादिलक्षणम् ।
क्रियते जीवितस्यार्थे पीयते विषमं विषं ॥२९॥

अर्थ—जो पापी धर्मकी बुद्धिसे जीवघातरूपी पापको करते हैं वे अपने जीवनकी इच्छासे हलाहल विषको पीते हैं ॥२९॥

एतत्समयसर्वस्वमेतत्सिद्धान्तजीवितम् ।
यज्जन्तुजातरक्षार्थं भावशुद्धया दृढं व्रतम् ॥३०॥

अर्थ—वही तो मतका सर्वस्व है और सिद्धान्तका रहस्य है जो जीवोंके समूहकी रक्षाके लिये है । एवं वही भावशुद्धिपूर्वक दृढ व्रत है ॥३०॥

श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च ।
"अहिंसालक्षणो धर्मस्तद्विपक्षश्च पातकम्" ॥३१॥

अर्थ— समस्त मतोंके समस्त शास्त्रोंमें यही सुना जाता है कि **अहिंसालक्षण तो धर्म है और** इसका प्रतिपक्षी हिंसा करना ही पाप है इस सिद्धान्तसे जो विपरीत वचन हो वह सब विषयाभिलाषी जिह्वालंपट जीवोंके दूरसे ही तजने योग्य जानना चाहिये ॥३१॥

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः ।
अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥३२॥

अर्थ— अहिंसा ही तो जगतकी माता है क्योंकि समस्त जीवोंकी प्रतिपालना करनेवाली है । अहिंसा ही आनन्दकी सन्तति अर्थात् परिपाटी है । अहिंसा ही उत्तम गति और शाश्वती लक्ष्मी है । जगतमें जितने उत्तमोत्तम गुण हैं वे सब इस अहिंसामें ही हैं ॥३२॥

अहिंसैव शिवं सूते दत्ते च त्रिदिवश्रियं ।
अहिंसैव हितं कुर्याद्व्यसनानि निरस्यति ॥३३॥

अर्थ—यह अहिंसा ही मुक्तिको करती है तथा स्वर्गकी लक्ष्मीको देती है और अहिंसा ही आत्माका हित करती है तथा समस्त कष्टरूप आपदाओंको नष्ट करती है ॥३३॥

सप्तद्वीपवतीं धात्रीं कुलाचलसमन्विताम् ।
नैकप्राणिवधोत्पन्नं दत्वा दोषं व्यपोहति ॥३४॥

अर्थ—यदि कुलाचल पर्वतोंके सहित सात द्वीपकी पृथ्वि भी दान कर दी जाय तो भी एक प्राणीको मारनेका पाप दूर नहीं हो सकता है। **भावार्थ**—समस्त दानोंमें अभयदान प्रधान है क्योंकि एक प्राणीके घातसे उत्पन्न हुआ पाप सात द्वीप और कुलाचलों सहित पृथ्वि दान करनेसे भी दूर नहीं होता ॥३४॥

सकलजलधिवेलावारिसीमां धरित्रीं
नगरनगसमग्रां स्वर्णरत्नादिपूर्णाम् ।
यदि मरणनिमित्ते कोऽपि दद्यात्कथंचित्
तदपि न मनुजानां जीविते त्यागबुद्धिः ॥३५॥

अर्थ—जो कोई किसी मनुष्यको मर जानेके बदलेमें नगर, पर्वत तथा सुवर्ण रत्न धन धान्यादिसे भरी हुई समुद्रपर्यन्तकी पृथ्विका दान करे तो भी अपने जीवनको त्याग करनेमें उसकी इच्छा नहीं होगी। **भावार्थ**—मनुष्योंको जीवन इतना प्यारा है कि मरनेके लिये जो कोई समस्त पृथ्विका राज्य दे तो भी मरना नहीं चाहता। इस कारण एक जीवको बचानेमें जो पुण्य होता है वह समस्त पृथ्विके दानसे भी अधिक होता है। ३५॥

आत्मैवोत्क्षिप्य तेनाशु प्रक्षिप्तः श्वभ्रसागरे ।
स्नेहभ्रमभयेनापि येन हिंसा समर्थिता ॥३६॥

अर्थ—जिस पुरुषने किसीकी प्रीतिके भ्रमसे अथवा किसीके भयसे हिंसाका समर्थन किया कि हिंसा करना बुरा नहीं है तो ऐसा समझो कि उसने अपनी आत्माको उसी समय नरकरूपी समुद्रमें डाल दिया ॥३६॥

शूलचक्रासिकोदण्डैरुद्युक्ताः सत्वखण्डने ।
येऽधमास्तेऽपि निस्त्रिंशैर्देवत्वेन प्रकल्पिताः ॥३७॥

अर्थ—जो पापी त्रिशूल, चक्र, तरवार और धनुष्य इत्यादि शस्त्रों से जीवोंको घात करनेमें उद्यत हैं ऐसे चंडी, काली, भैरवादिकोंको भी निर्दय पुरुष देवता मान कर उनकी स्थापना करते हैं। **भावार्थ**—जो जीवोंके घात करनेमें प्रवृत्ति करे वह काहेका देव ? परन्तु जो निर्दयी जन हैं उनको ऐसे निर्दयी देव ही इष्ट लगते हैं ॥ ७॥

बलिभिर्दुर्बलस्यात्र क्रियते यः पराभवः ।
परलोके स तैस्तस्मादनन्तः प्रविषह्यते ॥३८॥

अर्थ—जो बलवान् पुरुष इस लोकमें निर्बलका पराभव करता वा सताता है वह परलोकमें उससे अनन्तगुणा पराभव सहता है। **अर्थात्**—जो कोई बलवान् निर्बलको दुःख देता है तो उसका अनन्त गुणा दुःख वह स्वयं अगले जन्ममें भोगता है ॥३८॥

भयवेपितसर्वाङ्गाननाथान् जीवितप्रियान् ।
निघ्नद्भिः प्राणिनः किं तैः स्वं ज्ञातमजरामरं ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिनके सब अंग भयसे कंपित हैं, जिनका कोई रक्षक नहीं, जो अनाथ हैं, जिनको जीवन ही एक मात्र प्रिय वस्तु है, ऐसे प्राणियोंको जो मारते हैं उन्होंने क्या अपनेको अजरामर जान लिया; ! । **भावार्थ**—अपनेको भी कोई मारेगा यह उन्होंने नहीं जाना ॥ ३९ ॥

स्वपुत्रपौत्रसन्तानं वर्द्धयन्त्यादरैर्जनाः ।
व्यापादयन्ति चान्येषामत्र हेतुर्न बुद्ध्यते ॥ ४० ॥

अर्थ—यह बड़ा आश्चर्य है कि अपने पुत्रपौत्रादि सन्तानको तो बड़े यत्नसे पालते और बढाते हैं परन्तु दूसरोंकी सन्तानका घात करते हैं । न मालूम कि इसमें क्या हेतु है ! । **भावार्थ**—यह महामोहका (अज्ञानका) ही माहात्म्य है ॥ ४० ॥

परमाणोः परं नाल्पं न महद्गगनात्परं ।
यथा किञ्चित्तथा धर्मो नाहिंसालक्षणात्परः ॥ ४१ ॥

अर्थ—इस लोकमें जैसे परमाणुसे तो कोई छोटा वा अल्प नहीं है और आकाशसे कोई बड़ा नहीं है । इसी प्रकार अहिंसारूप धर्मसे बड़ा कोई धर्म नहीं है; यह जगत्प्रसिद्ध लोकोक्ति है । यथा— " अहिंसा परमो धर्मः हिंसा सर्वत्र गर्हिता" ॥ ४१ ॥

तपः श्रुतयमज्ञानध्यानदानादिकर्मणां ।
सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता ॥ ४२ ॥

अर्थ—तप, श्रुत (शास्त्रका ज्ञान,), यम (महाव्रत), ज्ञान (बहुत जानना) ध्यान और दान करना तथा सत्यशील व्रतादिक जितने उत्तम कार्य हैं उन सबकी माता एक अहिंसा ही है । अहिंसा-व्रतके पालन विना उपर्युक्त गुणोंमेंसे एक भी नहीं होता इस कारण अहिंसा ही समस्त धर्मकार्योंकी उत्पन्न करनेवाली माता है ॥ ४२ ॥

करुणार्द्रं च विज्ञानवासितं यस्य मानसम् ।
इन्द्रियार्थेषु निःसङ्गं तस्य सिद्धं समीहितम् ॥ ४३ ॥

अर्थ— जिस पुरुषका मन करुणासे आर्द्र (गीला) हो तथा विशिष्ट ज्ञानसहित हो और इन्द्रि-योंके विषयोंसे दूर हो उसीको मनोवांछित कार्यकी सिद्धि होती है ॥ ४३ ॥

निस्त्रिंश एव निस्त्रिंशं यस्य चेतोऽस्ति जन्तुषु ।
तपःश्रुताद्यनुष्ठानं तस्य क्लेशाय केवलम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—जिस पुरुषका चित्त जीवोंके लिए शस्त्रके समान निर्दय है उसका तप करना और शास्त्रका पढ़ना आदि कार्य केवल कष्टके लिये ही होता है किन्तु कुछ भलाईके लिये नहीं होता ॥ ४४ ॥

द्वयोरपि समं पापं निर्णीतं परमागमे ।
वधानुमोदयोः कर्त्रोरसत्संकल्पसंश्रयात् ॥ ४५ ॥

अर्थ—घात करनेवाला और घात करनेवालेकी प्रशंसा करनेवाला इन दोनोंका पाप परमागममें समान ही निर्णय किया गया है क्योंकि जैसे घातकरनेवालेको जो पाप हुआ सो भी अशुभ परिणामोंसे हुआ है, उसी प्रकार भले जाननेवालेके भी अशुभ संकल्प हुए बिना उसकी अनुमोदना नहीं हो सकती है, इस कारण हिंसा करने और उसको भला जाननेवालेको पाप बराबर लगता है ॥४५॥

संकल्पाच्छालिमत्स्योऽपि स्वयंभूरमणार्णवे ।
महामत्स्याशुभेन स्वं नियोज्य नरकं गतः ॥ ४६ ॥

अर्थ—देखो स्वयंभूरमणसमुद्रमें शालिमत्स्य महामत्स्यके परिणामोंसे अपने परिणाम मिला कर नरकको गया । यह अन्य कोई हिंसा करें उसका जो आप अनुमोदन करें तो उसके संकल्प मात्रसे उसीके समान पाप होनेका उदाहरण है ॥ ४६ ॥

अहिंसैकाऽपि यत्सौख्यं कल्याणमथवा शिवम् ।
दत्ते तद्देहिनां नायं तपःश्रुतयमोत्करः ॥ ४७ ॥

अर्थ—यह अहिंसा अकेली जीवोंको जो सुख, कल्याण वा अभ्युदय देती है वह तप, स्वाध्याय और यमनियमादि नहीं दे सकते हैं । क्योंकि धर्मके समस्त अङ्गोंमें अहिंसा ही एक मात्र प्रधान हैं ॥४७॥

दूयते यस्तृणेनापि स्वशरीरे कदर्थिते ।
स निर्दयः परस्याङ्गे कथं शस्त्रं निपातयेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने शरीरमें तिनका चुभने पर भी अपनेको दुःखी हुआ मानता है वह निर्दय हो कर परके शरीर पर शस्त्र कैसे चलाता है ? यह बड़ा अनर्थ हैं ॥ ४८ ॥

जन्मोग्रभयभीतानामहिंसैवौषधिः परा ।
तथाऽमरपुरीं गन्तुं पाथेयं पथि पुष्कलम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—इस संसाररूप तीव्र भयसे भयभीत होनेवाले जीवोंको यह अहिंसा ही एक परम औषधि है । क्योंकि यह सबका भय दूर करती है तथा स्वर्ग जानेके लिये अहिंसा ही मार्गमें अतिशय वा पुष्टिकारक पाथेयस्वरूप (भोजनादिकी सामग्री) है ॥ ४९ ॥

किन्त्वहिंसैव भूतानां मातेव हितकारिणी ।
तथा रमयितुं कान्ता विनेतुं च सरस्वती ॥ ५० ॥

अर्थ—यह अहिंसा इतनी ही नहीं है, किन्तु जीवोंके माताके समान रक्षा करनेवाली और स्त्रीके समान चित्तको आनन्द देनेवाली है तथा सदुपदेश देनेके लिये सरस्वती के समान है ॥ ५० ॥

स्वान्ययोरप्यनालोक्य सुखं दुःखं हिताहितम् ।
जन्तून् यः पातकी हन्यात्स नरत्वेऽपि राक्षसः ॥ ५१ ॥

अर्थ—जो पापी नर अपने और अन्यके सुख दुःख वा हित अहितको न विचार कर उ मारता है वह मनुष्यजन्ममें भी राक्षस है। क्योंकि मनुष्य होता तो अपना वा परका हिताहित विचारता॥ ५१॥

अभयं यच्छ भूतेषु कुरु मैत्रीमनिन्दिताम्।
पश्यात्मसदृशं विश्वं जीवलोकं चराचरम्॥ ५२॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे भव्य! तूं जीवोंके लिये अभयदान दे तथा उनसे प्रशंसनीय मित्रता कर और समस्त त्रस तथा स्थावर जीवोंको अपने समान देख॥ ५२॥

जायन्ते भूतयः पुंसां याः कृपाक्रान्तचेतसाम्।
चिरेणापि न ता वक्तुं शक्ता देव्यपि भारती॥ ५३॥

अर्थ—जिनका चित्त दयालु है उन पुरुषोंको जो सम्पदा होती हैं, उनका वर्णन सरस्वतीदेवी भी बहुत कालपर्यंत करे तो भी उससे नहीं हो सकता फिर अन्यसे तो किया ही कैसे जा सकता है॥५३

किं न तप्तं तपस्तेन किं न दत्तं महात्मना।
वितीर्णमभयं येन प्रीतिमालम्ब्य देहिनाम्॥ ५४॥

अर्थ—जिस महापुरुषने जीवोंको प्रीतिका आश्रय दे कर अभयदान दिया उस महात्माने कौनसा तप नहीं किया और कौनसा दान नहीं दिया! अर्थात् उस महापुरुषने समस्त तप, दान किया। क्योंकि अभयदानमें सब तप, दान आ जाते हैं॥ ५४॥

यथा यथा हृदि स्थैर्यं करोति करुणा नृणाम्।
तथा तथा विवेकश्रीः परां प्रीतिं प्रकाशते॥ ५५॥

अर्थ—पुरुषोंके हृदयमें जैसे जैसे करुणा भाव स्थिरताको प्राप्त करता है तैसे तैसे विवेकरूपी लक्ष्मी उससे परम प्रीति प्रगट करती रहती है। भावार्थ—करुणा (दया) विवेकको बढ़ाती है॥५५॥

अन्ययोगव्यवच्छेदादहिंसा श्रीजिनागमे।
परैश्च योगमात्रेण कीर्तिता सा यदृच्छया॥ ५६॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान्के मार्गमें तो अहिंसा अन्य योगव्यवच्छेदसे कही है अर्थात् अन्यमतोंमें ऐसी अहिंसाका योग ही नहीं है। इस जिनमतमें तो हिंसाका सर्वथा निषेध ही है और अन्यमतियोंने जो अहिंसा कही है सो योगमात्रसे ही कही है अर्थात् कहीं अहिंसा कही है और कहीं हिंसाका पोषण किया है, सो स्वेच्छापूर्वक उन्मत्तकी तरह कही है। भावार्थ—जिनागममें हिंसाका सर्वथा निषेध है किन्तु अन्यमतियोंने पागलके जैसे कहीं तो हिंसाका निषेध किया है और कहीं उसका पोषण किया है॥५६॥

आर्या।

तन्नास्ति जीवलोके जिनेन्द्रदेवेन्द्रचक्रकल्याणम्।
यत्प्राप्नुवन्ति मनुजा न जीवरक्षानुरागेण॥ ५७॥

अर्थ—इस जीवलोकमें (जगतमें) जीवरक्षाके अनुरागसे समस्त कल्याणरूप पदको प्राप्त होते हैं। ऐसा कोई भी तीर्थंकर देवेन्द्र चक्रवर्त्तित्वरूप कल्याणपद लोकमें नहीं है जो दयावान् नहीं पावें। अर्थात् अहिंसा (दया) सर्वोत्तम पदकी देनेवाली है ॥ ५७ ॥

यत्किंचित्संसारे शरीरिणां दुःखशोकभयबीजम् ।
दौर्भाग्यादि समस्तं तद्धिंसासंभवं ज्ञेयम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—संसारमें जीवोंके जो कुछ दुःख शोक भयका बीज कर्म है तथा दुर्भाग्यादिक हैं वे समस्त एक मात्र हिंसासे उत्पन्न हुए जानो। भावार्थ—समस्त पापकर्मोंका मूल हिंसा ही है ॥ ५८ ॥

अब अहिंसाका प्रकरण पूर्ण करते हुए कहते हैं—

स्रग्धरा ।

ज्योतिश्चक्रस्य चन्द्रो हरिरमृतभुजां चण्डरोचिर्ग्रहाणाम्
कल्पाङ्गं पादपानां सलिलनिधिरपां स्वर्णशैलो गिरीणाम् ।
देवः श्रीवीतरागस्त्रिदशमुनिगणस्यात्र नाथो यथाऽयम्
तद्वच्छीलव्रतानां शमयमतपसां विद्ध्यहिंसां प्रधानाम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—हे भव्य जीव! जिस प्रकार ज्योतिश्चक्रामें प्रधान स्वामी चन्द्रमा है तथा देवोंमें इन्द्र, ग्रहोंमें सूर्य, वृक्षोंमें कल्पवृक्ष, जलाशयोंमें समुद्र, पर्वतोंमें मेरु और देवोंमें मुनियोंके नाथ (स्वामी) श्रीवीतराग देव प्रधान है उसी प्रकार शील और व्रतोंमें तथा शमभाव, यम (महाव्रत) और तपोंमें अहिंसाको प्रधान जानो। ऐसे अहिंसा महाव्रतका वर्णन किया गया ॥ ५९ ॥

दोहा ।

रागादिक निश्चय कही व्यवहारै परघात ।
हिंसा त्यागैं जे जती मेटैं सब उत्पात ॥ ८ ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते अहिंसामहाव्रतप्रकरणं ॥ ७ ॥

अथ नवमः सर्गः ।

सत्यमहाव्रतस्वरूप ।

आगे सत्य महाव्रतका वर्णन करते हैं—

यः संयमधुरां धत्ते धैर्यमालम्ब्य संयमी ।
स पालयति यत्नेन वाग्वने सत्यपादपम्

अर्थ—जो संयमी मुनि धैर्यावलंबन करके संयमकी धुराको (मुनिदीक्षाको) धारण करता है वह मुनि वचनरूपी वनमें सत्यरूपी वृक्षको यत्नके साथ पालन करता है ॥ १ ॥

अहिंसाव्रतरक्षार्थं यमजातं जिनैर्मतम् ।
नारोहति परां कोटिं तदेवासत्यदूषितम् ॥ २ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवानने जो यमनियमादि व्रतोंका समूह कहा है वह एक मात्र अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिये ही कहा है। क्योंकि अहिंसाव्रत यदि असत्य वचनसे दूषित हो तो वह उत्कृष्ट पदको प्राप्त नहीं होता अर्थात् असत्य वचनके होनेसे अहिंसा व्रत पूर्ण नहीं होता ॥ २ ॥

असत्यमपि तत्सत्यं यत्सत्त्वाशंसकं वचः ।
सावद्यं यच्च पुष्णाति तत्सत्यमपि निन्दितम् ॥ ६ ॥

अर्थ—जो वचन जीवोंका इष्ट हित करनेवाला हो, वह असत्य हो तो भी सत्य है और जो वचन पापसहित हिंसारूप कार्य को पुष्ट करता हो, वह सत्य भी हो तो असत्य और निन्दनीय है ॥३॥

अनेकजन्मजक्लेशशुद्ध्यर्थं यस्तपस्यति ।
सर्वं सत्त्वहितं शश्वत्स ब्रूते सूनृतं वचः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो मुनि अनेक जन्ममें उत्पन्न क्लेशों (दुःखों) की शान्तिके लिये तपश्चरण करता है वह निरन्तर सत्य वचन ही बोलता है। क्योंकि असत्य वचन बोलनेसे मुनिपन नहीं संभवता है ॥४॥

सूनृतं करुणाक्रान्तमविरुद्धमनाकुलम् ।
अग्राम्यं गौरवाश्लिष्टं वचः शास्त्रे प्रशस्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—जो वचन सत्य हो, करुणासे व्याप्त हो, विरुद्ध न हो, आकुलतारहित हो, छोटे ग्रामों-कासा गँवारीवचन न हो और गौरवसहित हो अर्थात् जिसमें हलकापन नहीं हो वही वचन शास्त्रमें प्रशंसित किया गया है ॥ ५ ॥

मौनमेव हितं पुंसां शश्वत्सर्वार्थसिद्धये ।
वचो वाचि प्रियं तथ्यं सर्वसत्वोपकारि यत् ॥ ६ ॥

अर्थ—पुरुषोंको प्रथम तो समस्त प्रयोजनोंका सिद्ध करनेवाला निरंतर मौन ही अवलंबन करना हितकारी है। और यदि वचन कहना ही पडे तो ऐसा कहना चाहिये जो सबको प्यारा हो, सत्य हो और समस्त जनोंका हित करने वाला हो ॥६॥

यो जिनैर्जगतां मार्गः प्रणीतोऽत्यन्तशाश्वतः ।
असत्यबलतः सोऽपि निर्दयैः कथ्यतेऽन्यथा ॥ ७ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र सर्वज्ञ देवाधिदेवने निजमतके जीवोंको जो अन्तरहित शाश्वत (सनातन, ध्रुव) मार्ग कहा है, उस मार्गको भी निर्दय पुरुषोंने असत्यके बलसे अन्यथा वर्णन किया है। भावार्थ—विषयी तथा कषायी पुरुष अपने विषय कषाय पुष्ट करनेके लिये उत्तम मार्गका भी उत्थापन करके कुमार्ग को चलाते हैं। यह मिथ्यात्वका माहात्म्य है। संसारमें मिथ्यात्व बड़ा बलवान् है ॥७॥

विचर्च्यासत्यसंदोहं खलैर्लोकः खलीकृतः ।
कुशास्त्रैः स्वमुखोद्गीर्णैरुत्पाद्य गहनं तमः ॥ ८ ॥

अर्थ—दुष्ट निःसार पुरुषोंने असत्यके समूहका विशेष प्रकारसे आन्दोलन करके अपने कपोलकल्पित मिथ्या शास्त्रों द्वारा गहन अज्ञानान्धकारको उत्पन्न करके इस जगतको दुष्ट वा निःसार बना दिया है । सो ठीक है जो स्वार्थी होते हैं वे ऐसी ही दुष्टता करते हैं, किन्तु परके हिताहितमें कुछ भी विचार न करके जिस किसी प्रकार से अपना स्वार्थ साधन करते हैं ॥८॥

जयन्ति ते जगद्वन्द्या यैः सत्यकरुणामये ।
अवञ्चकेऽपि लोकोऽयं पथि शश्वत्प्रतिष्ठितः ॥ ९ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंने इस लोकको सत्यरूप, करुणामय तथा वंचनारहित मार्गमें निरंतर चलाया वे ही जयशाली हैं और वे ही जगतमें वन्दनीय व पूजनीय हैं ॥९॥

असद्वदनवल्मीके विशाला विषसर्पिणी
उद्वेजयति वागेव जगदन्तर्विषोल्वणा ॥ १० ॥

अर्थ—दुष्ट पुरुषोंके मुखरूपी बाँबीमें अन्तरंगमें विषसे उत्कृष्ट ऐसी विस्तीर्ण विषवाली जो असत्य वाणीरूपी सर्पिणी रहती है, वही जगतभरको दुःख देती है ॥१०॥

इन्द्रवंशा

न सास्ति काचिद्व्यवहारवर्तिनी न यत्र वाग्विस्फुरति प्रवर्तिका ।
ब्रुवन्नसत्यामिह तां हताशयः करोति विश्वव्यवहारविप्लवम् ॥ ११ ॥

अर्थ—इस जगतमें व्यवहारमें प्रवर्तनेवाली वाणी ऐसी नहीं है कि जिसमें समस्त व्यवहारोंको सिद्ध करनेवाली स्याद्वादरूप सत्यार्थ वाणी स्फुरायमान न हो, किन्तु ऐसी स्याद्वादरूप सत्यार्थ वाणीको भी मिथ्यादृष्टि नष्टचित्तपुरुष असत्य कहते हुए समस्त व्यवहारका लोप करते हैं । भावार्थ—मिथ्यादृष्टि [सर्वथा एकान्ती] स्याद्वादका निषेध करते हैं अतएव वह नष्टाशय हैं । क्योंकि सर्वथा एकान्त असत्य है । उस असत्य वचनसे न तो लोकव्यवहारकी सिद्धि होती और न धर्म व्यवहारकी ही सिद्धि होती है । ऐसे असत्य वचनों को कहते हुए मिथ्यादृष्टि समस्त व्यवहारोंका लोप करते हैं ॥११॥

पृष्टैरपि न वक्तव्यं न श्रोतव्यं कथंचन ।
वचः शङ्काकुलं पापं दोषाढ्यं चाभिसूयकम् ॥ १२ ॥

अर्थ—जो वचन सन्देहरूप हो तथा पापरूप हो और दोषोंसे संयुक्त हो एवं ईर्षाको उत्पन्न करनेवाला हो वह अन्यके पूछने पर भी नहीं कहना चाहिये तथा किसी प्रकार सुनना भी नहीं चाहिये । भावार्थ-निषिद्धवचनका प्रसंग भी नहीं करना चाहिये ॥१२॥

मर्मच्छेदि मनःशल्यं च्युतस्थैर्यं विरोधकम् ।
निर्दयं च वचस्त्याज्यं प्राणैःकण्ठगतैरपि ॥ १३ ॥

अर्थ—तथा मर्मका छेदनेवाला, मनमें शल्य उपजानेवाला, स्थिरतारहित (चंचलरूप), विरोध उपजानेवाला तथा दयारहित वचन कण्ठगत प्राण होने पर भी नहीं बोलना चाहिये ॥१३॥

धन्यास्ते हृदये येषामुदीर्णः करुणाम्बुधिः ।
वाग्वीचिसञ्चयोल्लासैर्निर्वापयति देहिनः ॥ १४ ॥

अर्थ—इस जगतमें वे पुरुष धन्य हैं, जिनके हृदयमें करुणारूप समुद्र उदय होकर वचनरूप लहरोंके समूहोंके उल्लासोंसे जीवोंको शान्तिप्रदान करता है। भावार्थ—करुणारूप वचनोंको सुन कर दुःखी जीव भी सुखी हो जाते हैं ॥१४॥

धर्मनाशे क्रियाध्वंसे सुसिद्धान्तार्थविप्लवे ।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपप्रकाशने ॥ १५ ॥

अर्थ—जहां धर्मका नाश हो, क्रिया बिगड़ती हो तथा समीचीन सिद्धान्तका लोप होता हो, उस जगह समीचीन धर्मक्रिया और सिद्धान्तके प्रकाशनार्थ बिना पूछे भी विद्वानोंको बोलना चाहिये। क्योंकि यह सत्पुरुषोंका कार्य है ॥१५॥

या मुहुर्मोहयत्येव विश्रान्ता कर्णयोर्जनम् ।
विषमं विषमुत्सृज्य साऽवश्यं पन्नगी न गीः ॥ १६ ॥

अर्थ—जो वाणी लोकके कानोंमें वारवार पड़ी हुई तथा विषम विषको उगलती हुई जीवोंको मोहरूप करती है और समीचीन मार्गको भुलाती है वह वाणी नहीं है किन्तु सर्पिणी है। भावार्थ—जिन वचनोंको सुनने हो संसारी प्राणी उत्तम मार्गको छोड़कर कुमार्गमें पड जाय वह वचन सर्पके समान हैं ॥१६॥

असत्येनैव विक्रम्य चार्वाकद्विजकौलिकैः ।
सर्वाक्षपोषकं धूर्तैः पश्य पक्षं प्रतिष्ठितम् ॥ १७ ॥

अर्थ—इस असत्य वचनके प्रभावसे ही चार्वाक (नास्तिकमती) और ब्राह्मणकुल (मीमांसक आदि) पाखण्डियोंने सत्यार्थ मार्गसे च्युत हो कर समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको पोषनेवाला अपना पक्ष (मत) स्थापन किया है ॥१७॥

मन्ये पुरजलावर्त्तप्रतिमं तन्मुखोदरम् ।
यतो वाचः प्रवर्त्तन्ते कश्मलाः कार्यनिष्फलाः ॥ १८ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि मैं ऐसा मानता हूँ कि चार्वाक आदि अन्यमती तथा अन्य अनेक असत्य वादियोंके मुखका जो छिद्र है वह नगरके जल निकलनेके पौनाले (मोरी) के समान है। क्योंकि जैसे नगरके पौनालेका जल मैला होता है तथा किसीके कामका नहीं होता, वैसे ही उनके मुखसे जो वचन निकलते हैं वे भी मलीन हैं व कार्यसे शून्य और निःसार हैं ॥१८॥

प्राप्नुवन्त्यतिघोरेषु रौरवादिषु संभवम् ।
निर्यक्ष्वथ निगोदेषु मृषावाक्येन देहिनः ॥ १९ ॥

अर्थ—इस असत्य वचनसे प्राणी अति तीव्र रौरवादि नरकोंके बिलोंमें तथा तिर्यग्योनि एवं निगोदमें उत्पन्न हुए दुःखोंको प्राप्त होते हैं ॥१९॥

न तथा चन्दनं चन्द्रो मणयो मालतीस्रजः ।
कुर्वन्ति निर्वृतिं पुंसां यथा वाणी श्रुतिप्रिया ॥ २० ॥

अर्थ—जीवोंको जिस प्रकार कर्णप्रिय वाणी सुखी करती है, उस प्रकार चन्दन, चंद्रमा चन्द्रमणि, मोती तथा मालतीके पुष्पोंकी माला आदि शीतल पदार्थ सुखी नहीं कर सकते हैं यह प्रसिद्ध लोकोक्ति है ॥२०॥

अपि दावानलप्लुष्टं शाड्वलं जायते वनम् ।
न लोकः सुचिरेणापि जिह्वानलकदर्थितः ॥ २१ ॥

अर्थ—दावानल अग्नि से दग्ध हुआ वन तो किसी कालमें हरित (हरा) हो भी जाता है परन्तु जिह्वारूपी अग्निसे (कठोर मर्मच्छेदी वचनोंसे) पीडित हुआ लोक बहुत काल बीत जाने पर भी हरित (प्रसन्नमुख) नहीं होता। भावार्थ—दुर्वचनका दाह मिटना कठिन है ॥२१॥

सर्वलोकप्रिये तथ्यं प्रसन्ने ललिताक्षरे ।
वाक्ये सत्यपि किं ब्रूते निकृष्टः परुषं वचः ॥२२ ॥

अर्थ—जो वचन सर्वलोकको प्रिय, सत्य तथा प्रसन्न करनेवाले व ललिताक्षरवाले हैं उनके होते हुए भी नीचपुरुष कठोर वचन किसलिये कहते हैं, सो मालूम नहीं होता है ॥२२॥

सतां विज्ञाततत्त्वानां सत्यशीलावलम्बिनाम् ।
चरणस्पर्शमात्रेण विशुद्ध्यति धरातलम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जो महापुरुष सत्यवचन बोलने वाले हैं; तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूप को जानते हैं और सत्य शीलादिके अवलंबी हैं उनके चरणोंके स्पर्शमात्र से यह धरातल पवित्र होता है। ऐसे ही लोग उत्तम पुरुष हैं और जो असत्य बोलते हैं, वे ही नीच हैं ॥२३॥

यमव्रतगुणोपेतं सत्यश्रुतसमन्वितम् ।
यैर्जन्म सफलं नीतं ते धन्या धीमतां मताः ॥ २४ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंने अपना जन्म यमव्रतादि गुणोंसे युक्त सत्यशास्त्रोंके अध्ययनपूर्वक सफल किया है, वे ही धन्य और विद्वानोंके द्वारा पूजनीय हैं ॥२४॥

नृजन्मन्यपि यः सत्यप्रतिज्ञाप्रच्युतोऽधमः ।
स केन कर्मणा पश्चाज्जन्मपङ्कात्तरिष्यति ॥ २५ ॥

अर्थ—जो अधम पापी नीचपुरुष मनुष्य जन्म पाकर भी सत्य प्रतिज्ञासे रहित है वह पापी

फिर संसाररूप कर्दमसे किस कार्यसे पार होगा ? । भावार्थ—तरनेका अवसर तो मनुष्य जन्म ही है । इसमें ही धर्माचरण तथा प्रतिज्ञादि बन सकते हैं । इसके चले जाने पर फिर तरनेका अवसर प्राप्त होना कठिन है, अतएव मनुष्यजन्मको सत्यशीलादिसे सफल करना चाहिये ॥२५॥

अदयैः संप्रयुक्तानि वाक्छस्त्राणीह भूतले ।
सद्यो मर्माणि कृन्तन्ति शितास्त्राणीव देहिनाम् ॥२६॥

अर्थ—निर्दय पुरुषोंके द्वारा चलाये हुए वचनरूप शस्त्र इस पृथ्वीतल पर जीवोंके मर्मको तीक्ष्ण शस्त्रोंके समान तत्काल छेदन करते हैं, क्योंकि असत्य वचनके समान दूसरा कोई भी शस्त्र नहीं है ॥२६॥

व्रतश्रुतयमस्थानं विद्याविनयभूषणम् ।
चरणज्ञानयोर्बीजं सत्यसंज्ञं व्रतं मतम् ॥२७॥

अर्थ—यह सत्यनामा व्रत, व्रत श्रुत और यमोंका तो स्थान है तथा विद्या और विनयका भूषण है । क्योंकि विद्या और विनय सत्य वचनसे ही शोभाको प्राप्त होते हैं । और सम्यक्चारित्र तथा सम्यग्ज्ञानका बीज उत्पन्न करनेका कारण सत्य वचन ही है ॥२७॥

न हि सत्यप्रतिज्ञस्य पुण्यकर्मावलम्बिनः ।
प्रत्यूहकरणे शक्ता अपि दैत्योरगादयः ॥२८॥

अर्थ—सत्य प्रतिज्ञावाले पुण्यकर्मावलंबी पुरुषका दुष्ट दैत्य तथा सर्पादिक कुछ भी बुरा करनेको समर्थ नहीं हो सकते हैं ॥२८॥

चन्द्रमूर्तिरिवानन्दं वर्द्धयन्ती जगत्त्रये ।
स्वर्गिभिर्ध्रियते मूर्ध्नि कीर्त्तिः सत्योत्थिता नृणां ॥२९॥

अर्थ—तीन लोकमें चन्द्रमाके समान आनंदको बढ़ानेवाली सत्य वचनसे उत्पन्न हुई मनुष्योंकी कीर्तिको देवता भी मस्तक पर धारण करते हैं ॥२९॥

खण्डितानां विरूपाणां दुर्विधानां च रोगिणाम् ।
कुलजात्यादिहीनानां सत्यमेकं विभूषणं ॥३०॥

अर्थ—जिनके हाथ नाक आदि अवयव कटे हों तथा जो विरूप हों, और जो दरिद्री तथा रोगी हों, वा कुलजात्यादिसे हीन हों उनका भूषण सत्यवचन बोलना ही है, अर्थात् यही उनकी शोभा करनेवाला है । क्योंकि जो उक्त समस्त बातोंसे हीन और सत्य वचन बोलता हो, उसकी सब कोई प्रशंसा करते हैं ॥३०॥

यस्तपस्वी जटी मुण्डो नग्नो वा चीवरावृतः ।
सोऽप्यसत्यं यदि ब्रूते निन्द्यः स्यादन्त्यजादपि ॥३१॥

अर्थ—जो तपस्वी हो, जटाधारी हो, मस्तक मुंडाये हो अथवा नग्न (दिगम्बर) हो, वा वस्त्रधारी हो और असत्य बोलता हो तो वह चंडालसे भी बुरा और अतिशय निंदनीय है ॥३१॥

कुटुम्बं जीवितं वित्तं यद्यसत्येन वर्द्धते ।
तथापि युज्यते वक्तुं नासत्यं शीलशालिभिः ॥३२॥

अर्थ यदि असत्य वचनसे अपने कुटुम्ब, जोवन और धनकी वृद्धि हो तो भी शीलसे शोभित पुरुषोंको असत्य वचन कहना उचित नहीं है ॥३२॥

एकतः सकलं पापं असत्योत्थं ततोऽन्यतः ।
साम्यमेव वदन्त्यार्यास्तुलायां धृतयोस्तयोः ॥३३॥

अर्थ—आर्य पुरुषोंने तराजूमें एक तरफ तो समस्त पापोंको रक्खा और एक तरफ असत्यसे उत्पन्न हुए पापको रख कर तौला तो दोनो समान हुए। भावार्थ—असत्य अकेला ही समस्त पापों-के बराबर है ॥३३॥

मूकता मतिवैकल्यं मूर्खता बोधविच्युतिः ।
बाधिर्यं मुखरोगित्वमसत्यादेव देहिनाम् ॥३४॥

अर्थ—गूंगापन, बुद्धिकी विकलता, मूर्खता, अज्ञानता, बधिरता तथा मुखमें रोग होना इत्यादि जो सब ही जीवोंके होते हैं, वे असत्य वचन बोलनेके पापसे ही होते हैं ॥३४॥

श्वपाकोलूकमार्जारवृकगोमायुमण्डलाः ।
स्वीक्रियन्ते क्वचिल्लोकैर्न सत्यच्युतचेतसः ॥३५॥

अर्थ—चण्डाल, उल्लू (घूघू), बिलाव, भेड़िया और कुत्ता आदि यद्यपि निंदित हैं तथापि इन्हें अनेक लोग अंगीकार करते हैं, परन्तु असत्यवादियोंको कोई अंगीकार नहीं करता, अतएव असत्यवादी इन सबसे भी अधिक निंदनीय है ॥३५॥

प्रसन्नोन्नतवृत्तानां गुणानां चन्द्ररोचिषां ।
सङ्घातं घातयत्येव सकृदप्युदितं मृषा ॥३६ ॥

अर्थ—एक बार बोला हुआ असत्य वचन चन्द्रमाकी किरणोंके समान प्रसन्न (निर्मल) तथा उन्नत गुणोंके समूहको नष्ट करता है। भावार्थ—असत्य वचन ऐसा मलिन है कि चंद्रवत् निर्मल गुणोंको भी मलिन कर देता है ॥३६॥

न हि स्वप्नेऽपि संसर्गमसत्यमलिनैः सह ।
कश्चित्करोति पुण्यात्मा दुरितोलुकशङ्कया ॥३७॥

अर्थ—जो असत्यसे मलिन पुरुष हैं, उनके साथ पापरूप कालिमाके भयसे कोई पुण्यात्मा पुरुष स्वप्नमें भी साक्षात् (मुलाकात) नहीं करते। भावार्थ—झूठेकी संगतसे सच्चेको भी कालिमा लगती है ॥३७॥

जगद्वन्द्ये सतां सेव्ये भव्यव्यसनशुद्धिदे ।
शुभे कर्मणि योग्यः स्यान्नासत्यमलिनो जनः ॥३८ ॥

अर्थ—जगतके वंदनीय, सत्पुरुषोंके पूजनीय, संसारके कष्ट आपदाओंसे शुद्धिके देनेवाले शुभ कार्योंमें असत्यसे मैले पुरुष योग्य नहीं गिने जाते। भावार्थ—शुभ कार्योंमें झूठेका अधिकार नहीं है ॥३८॥

महामतिभिर्निष्ठ्यूतं देवदेवैर्निषेधितम् ।
असत्यं पोषितं पापैर्दुःशीलाधमनास्तिकैः ॥३९॥

अर्थ—बड़े २ बुद्धिमानोंने तो असत्य वचनको त्याग दिया है और देवाधिदेव सर्वज्ञ वीतरागने इसका निषेध किया है, किन्तु खोटे स्वभाववाले नीच नास्तिक पापियोंने इसका पोषण किया है। ठीक ही है, पापियोंको पाप ही इष्ट होता है। महापुरुष जिसकी निंदा करते हैं, नीच उसकी प्रशंसा किया ही करते हैं ॥३९॥

सुतस्वजनदारादिवित्तबन्धुकृतेऽथवा ।
आत्मार्थे न वचोऽसत्यं वाच्यं प्राणात्ययेऽथवा ॥४०॥

अर्थ—पुत्र,स्वजन, स्त्री, धन, और मित्रोंके लिये अथवा अपने लिये प्राण जाने पर भी असत्य वचन नहीं बोलना चाहिये, यही उपदेश है ॥४०॥

वंशस्थम् ।

परोपरोधादतिनिन्दितं वचो ब्रुवन्नरो गच्छति नारकीं पुरीं ।
अनिन्द्यवृत्तोऽपि गुणी नरेश्वरो वसुर्यथाऽगादिति लोकविश्रुतिः ॥४१॥

अर्थ—मनुष्य अन्यके अनुरोधसे (प्रार्थनासे) अन्यके लिये अति निन्दनीय असत्य कह कर नरकपुरीको चला जाता है। जैसे वसु राजा अनिन्द्य आचरणवाला और गुणी था, परन्तु अपने सहाध्यायी गुरुपुत्र (पर्वत) के लिये झूठी साक्षी देनेसे नरकको गया। यह जगत्प्रसिद्ध वार्त्ता है (इसकी कथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है)। इस कारण परके लिये भी झूठ बोलना नरकको ले जाता है ॥४१॥

अब इस सत्य महाव्रतके प्रकरणको पूर्ण करते हुए कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

चञ्चन्मस्तकमौलिरत्नविकटज्योतिश्छटाडम्बरै-
र्देवाः पल्लवयन्ति यच्चरणयोः पीठे लुठन्तोऽप्यमी ।
कुर्वन्ति ग्रहलोकपालखचरा यत् प्रातिहार्यं नृणां
शाम्यन्ति ज्वलनादयश्च नियतं तत्सत्यवाचः फलम् ॥४२॥

अर्थ-जगत्प्रसिद्ध देव भी अपने देदीप्यमान (चमकते हुए) मस्तक परके मुकुटोंके रत्नोंकी उत्कट ज्योतिकी छटाके आडंबरोंसे जिन मनुष्योंके चरणयुगलोंके नीचेके सिंहासनके निकट लोटने हुए चरणोंकी शोभाको प्रफुल्लित करते हैं (बढ़ाते हैं) तथा सूर्यादिक ग्रह, लोकपाल और विद्याधर जिनके द्वार पर द्वारपाल होकर रहते हैं और अग्नि, जलादिक नियमसे उपशमरूप हो जाते हैं, उनके सत्य वचन बोलनेका ही यह फल है। भावार्थ—जिन मनुष्योंकी सेवा प्रसिद्ध देवादिक भी करते हैं, ऐसे

महान् पुरुष तीर्थंकर तथा चक्रवर्त्यादिक होते हैं। उनके अग्निमें प्रवेश करने पर और जलमें गिरने पर भी वे (अग्न्यादि) उनको सहायता करते हैं। यह सब सत्य वचनका ही फल है। इस प्रकार सत्य महाव्रतका वर्णन किया ॥४२॥

दोहा।

सत्यवचन संसारमें, करै सकल कल्यान।
मुनि पालै पूरण इसे, पावै मोक्षनिधान ॥९॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते सत्यमहाव्रतं नाम नवमं प्रकरणं ॥९॥

अथ दशमः सर्गः।

अस्तेय महाव्रत।

आगे अस्तेय महाव्रतका वर्णन करते हैं—

अनासाद्य व्रतं नाम तृतीयं गुणभूषणम्।
नापवर्गपथि प्रायः क्वचिद्धत्ते मुनिः स्थितिम् ॥१॥

अर्थ—मुनि गुणोंका भूषणस्वरूप तीसरे अस्तेयनामा महाव्रतको अंगीकार नहीं करें तो मोक्षमार्गमें प्रायः कहीं भी स्थिरताको प्राप्त नहीं होता ॥ १ ॥

यः समीप्सति जन्माब्धेः पारमाक्रमितुं सुधीः।
स त्रिशुद्ध्यातिनिःशङ्को नादत्ते कुरुते मतिं ॥ २ ॥

अर्थ-जो पुरुष संसारसमुद्रसे पार होनेकी इच्छा रखता है, वह सुबुद्धि निःशंक (निःशल्य) होकर मनवचनकायसे अदत्त (बिना दी हुई) वस्तुके ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं करता ॥२॥

वित्तमेव मतं सूत्रे प्राणा बाह्याः शरीरिणाम्।
तस्यापहारमात्रेण स्युस्ते प्रागेव घातिताः ॥३॥

अर्थ—धन शास्त्रोंमें जीवोंका बाह्यप्राण कहा गया है, इस कारण उस धनका हरण करनेसे जीवोंके प्राण घातित हो जाते हैं। भावार्थ–यदि किसीने किसीका धन हरण किया तो उसने उसके प्राण ही हरे, ऐसा समझना चाहिये। इस चोरीका करना भी हिंसा है ॥३ ॥

गुणा गौणत्वमायान्ति यान्ति विद्या विडम्बनाम्।
चौर्येणाकीर्तयः पुंसां शिरस्याददते पदं ॥४॥

अर्थ—चोरी करनेवालेके गुण तो गौणताको प्राप्त हो जाते हैं तथा विद्या विडंबनाको प्राप्त होती है और अकीर्तियें (निंदायें) मस्तक पर पग धरती है। भावार्थ–चोरी करनेवाले पुरुषके गुणको कोई भी नहीं गाता है तथा शास्त्र पढ़ना आदि विद्यायें विपरीत हो जाती हैं और अकीर्तिका टीका ललाट पर लगाना पड़ता है ॥४ ॥

पुण्यानुष्ठानजातानि प्रणश्यन्तीह देहिनाम् ।
परवित्तामिषग्रासलालसानां धरातले ॥ ५ ॥

अर्थ—इस पृथ्वीमें परधनरूपी मांसके ग्रासमें आसक्त जनोंके पुण्यरूपी आचरणोंके समूह इसी लोकमें नष्ट हो जाते हैं । भावार्थ—चोरी करनेवालेके आचरण उत्तम नहीं रहते ॥ ५ ॥

परद्रव्यग्रहार्तस्य तस्करस्येह निर्दया ।
गुरुबन्धुसुतान्हन्तुं प्रायः प्रज्ञा प्रवर्त्तते ॥ ६ ॥

अर्थ—परद्रव्यका ग्रह कहिये ग्रहण करना अथवा परद्रव्यरूपी पिशाचसे पीड़ित चोरके गुरु, भाई और पुत्रको मार डालनेकी निर्दय बुद्धि प्रायः हो जाया करती है । भावार्थ—चोरको किसीको मारनेमें दया नहीं होती ॥ ६ ॥

हृदि यस्य पदं धत्ते परवित्तामिषस्पृहा ।
करोति किं न किं तस्य कण्ठलग्नेव सर्पिणी ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस पुरुषके हृदयमें परधनरूप मांस भक्षणकी इच्छा स्थान पा लेती है, वह उसके कंठमें लगी हुई सर्पिणीके समान क्या क्या नहीं करती ? अर्थात् सब ही अनिष्ट करती है ॥७॥

चुराशीलं विनिश्चित्य परित्यजति शङ्किता ।
वित्तापहारदोषेण जनन्यपि सुतं निजम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसका स्वभाव चोरी करनेका हो जाता है, ऐसे अपने पुत्रको माता भी यह जान कर अपने धन हरे जानेके भयसे भयभीत होकर छोड़ देती है । अन्यकी तो कथा ही क्या ? ॥ ८ ॥

भ्रातरः पितरः पुत्राः स्वकुल्या मित्रबान्धवाः ।
संसर्गमपि नेच्छन्ति क्षणार्द्धमिह तस्करैः ॥ ९ ॥

अर्थ—भाई, पिता, पुत्र, कुटुम्बी—निज स्त्री, मित्र तथा हितू आदि कोई भी चोरका संसर्ग क्षणभरके लिये नहीं चाहते अर्थात् चोरका कोई भी सगा (संघाती) नहीं होता ॥ ९ ॥

न जने न वने चेतः स्वस्थं चौरस्य जायते ।
मृगस्येवोद्धतव्याधादाशङ्कय वधमात्मनः ॥ १० ॥

अर्थ—चोरका चित्त न तो मनुष्योंमें बैठने पर स्थिर रहता है और न बनमें ही निश्चिन्त रहता है, जैसे किसी मृगके पीछे शिकारी लग जाय तो अपना घात होनेके भयसे उसका चित्त ठिकाने नहीं रहता, उसी प्रकार चोरको भी अपने पकड़े जानेका भय निरंतर रहा करता है ॥ १० ॥

संत्रासोद्भ्रान्तचेतस्कश्चौरो जागर्त्यहर्निशम् ।
वध्येयात्र भ्रियेयात्र मार्येयात्रेति शङ्कितः ॥ ११ ॥

अर्थ—मैं यहां पकडा जाऊंगा या मारा जाऊंगा तथा यहां पर पीटा जाऊंगा इत्यादि आकुलतासे पागल-सा होकर चोर रातदिन जागता रहता है, अर्थात् सचेत रहता है, अतः कभी असावधान नहीं रहता ॥ ११ ॥

नात्मरक्षां न दाक्षिण्यं नोपकारं न धर्मतां ।
न सतां शंसितं कर्म चौरः स्वप्नेऽपि बुद्धयति ॥ १२ ॥

अर्थ—चोर अपनी रक्षाको नहीं जानता, सब चतुराई भूल जाता है, वह परोपकार तथा धर्मको भी नहीं जानता और न सत्पुरुषोंके करने योग्य कार्योंको भी स्वप्नमें याद करता है। **भावार्थ**—चोरका चित्त निरन्तर चोरी करनेमें और भयमें मग्न रहता है, उसे उत्तम कार्य करनेका अवसर कैसे मिले ? ॥ १२ ॥

गुरवो लाघवं नीता गुणिनोऽप्यत्र खण्डिताः ।
चौरसंश्रयदोषेण यतयो निधनं गताः ॥ १३ ॥

अर्थ—इस लोकमें चोरकी संगतिसे बड़े बड़े महापुरुष तो लघुताको प्राप्त हुए तथा गुणी पुरुष खंडित किये गये और मुनिगण भी मारे गये। **भावार्थ**—चोरका संसर्ग मात्र भी महा दुःखदायक है ॥ १३ ॥

तृणाङ्कुरमिवादाय घातयन्त्यविलम्बितम् ।
चौरं विज्ञाय निःशङ्कं धीमन्तोऽपि धरातले ॥ १४ ॥

अर्थ—इस पृथ्वितलमें चोर जानने पर बुद्धिमान् पुरुष भी तत्काल उसे तृणांकुरके समान पकड़ कर निःशंक हो मारने पीटने लग जाते हैं। **भावार्थ**—चोर पर कोई भी दया नहीं करता ॥ १४ ॥

विशन्ति नरकं घोरं दुःखज्वालाकरालितं ।
अमुत्र नियतं मूढाः प्राणिनश्चौर्यचर्विताः ॥ १५ ॥

अर्थ चोरी करनेवाले मूढ पुरुष परलोकमें दुःखरूपी ज्वालासे भयानक घोर नरकमें नियमपूर्वक प्रवेश करते हैं ॥ १५ ॥

सरित्पुरगिरिग्रामवनवेश्मजलादिषु ।
स्थापितं पतितं नष्टं परस्वं त्यज सर्वथा ॥ १६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन् ! नदी, नगर, पर्वत, ग्राम, वन, घर तथा जल इत्यादिमें रक्खे हुए, गिरे हुए तथा नष्ट हुए धनको मन-वचन कायसे ग्रहण करना छोड़ ॥ १६ ॥

चिदचिद्रूपतापन्नं यत्परस्वमनेकधा ।
तत्त्याज्यं संयमोद्दामसीमासंरक्षणोद्यमैः ॥ १७॥

अर्थ—परधनके दो भेद हैं; एक चेतन दूसरा अचेतन; चेतन तो दासी, दास, पुत्र, पौत्र, स्त्री, गौ, महिष तथा घोड़े आदि हैं; और अचेतन धन धान्य, सुवर्णादि हैं, वे अनेक प्रकारके हैं। अतः यदि संयमकी उत्तम मर्यादा (प्रतिज्ञा) की रक्षा करनी हो तो उनको अवश्य छोड़ना योग्य है अर्थात् परद्रव्य कुछ भी नहीं लेना चाहिये ॥ १७ ॥

आस्तां परधनादित्सां कर्तुं स्वप्नेऽपि धीमताम् ।
तृणमात्रमपि ग्राह्यं नादत्तं दन्तशुद्धये ॥ १८ ॥

अर्थ—बुद्धिमानोंको परधन ग्रहण करनेकी इच्छा करनी तो स्वप्नमें भी दूर रहें, किन्तु दन्त धोनेको तृण (दांतोन) भी विना दिया हुआ परका ग्रहण करना योग्य नहीं है ॥ १८ ॥

आर्या ।

अतुलसुखसिद्धिहेतो, र्धर्मयशश्चरणरक्षणार्थं च ।
इह परलोकहितार्थं, कलयत चित्तेऽपि मा चौर्यम् ॥ १९ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे भव्य जीवो! तुम इस चोरीको उपर्युक्त प्रकारसे निंद्य जान कर अतुल्य सुखकी सिद्धिके लिये एवं धर्म, यश और चारित्रकी रक्षाके लिए तथा उभय लोकमें हितके लिए चित्तमें भी इसे मत विचारो अर्थात् चोरी करना तो दूर रहा, इसको चित्तमें भी न लाओ ॥ १९ ॥

अब इस अधिकारको पूर्ण करते हुए कहते हैं—

मालिनी

विषयविरतिमूलं संयमोद्दामशाखम्
यमदलशमपुष्पं ज्ञानलीलाफलाढ्यम् ।
विबुधजनशकुन्तैः सेवितं धर्मवृक्षं
दहति मुनिरपीह स्तेयतीव्रानलेन ॥ २० ॥

अर्थ—जिस धर्मरूपी वृक्षकी जड़ विषयोंसे विरक्त होना है, जिसकी संयमरूपी बड़ी शाखायें हैं, यम नियमादि पत्र हैं उपशम-भाव पुष्प हैं, ज्ञानानन्दरूपी फलोंसे भरा है और जो पण्डित तथा देवतारूपी पक्षियोंसे सेवित है, ऐसे धर्मरूपी वृक्षको मुनि भी चोरीरूपी तीव्र अग्निसे जला देता है तो अन्य साधारणकी तो कथा ही क्या! इस कारण चोरीका संसर्ग करना भी महा पाप है। इस प्रकार अस्तेय महाव्रतका वर्णन किया गया ॥ २० ॥

सोरठा ।

जो अदत्त कुछ लेत, ताको सगो न कोइ है ।
गुणनि जलांजलि देत, नरकवास परभव लहै ॥ १० ॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे अस्तेय-महाव्रतप्रकरणम् ॥ १० ॥

अथ एकादशः सर्गः ।

ब्रह्मचर्य महाव्रत ।

—*—

आगे ब्रह्मचर्य महाव्रतका निरूपण करते हैं—

विदन्ति परमं ब्रह्म यत्समालम्ब्य योगिनः ।
तद्व्रतं ब्रह्मचर्यं स्याद्धीरधौरेयगोचरम् ॥ १ ॥

अर्थ—जिस व्रतका आलंबन करके योगीगण परब्रह्म परमात्माको जानते हैं अर्थात् उसे अनुभवते हैं और जिसको धोरवीर पुरुष हो धारण कर सकते हैं, किन्तु सामान्य मनुष्य धारण नहीं कर सकते, वह ब्रह्मचर्य नामक महाव्रत है ॥ १ ॥

सप्रपञ्चं प्रवक्ष्यामि ज्ञात्वेदं गहनं व्रतम् ।
स्वल्पोऽपि न सतां क्लेशः कार्योऽस्यालोक्य विस्तरम् ॥ २ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि मैं इस व्रतको गहन जानकर विस्तारके साथ कहूँगा; परन्तु सत्पुरुषोंको इसके विस्तारको देखकर स्वल्प भी क्लेश न करना चाहिए ॥ २ ॥

एकमेव व्रतं श्लाघ्यं ब्रह्मचर्यं जगत्त्रये ।
यद्विशुद्धिं समापन्नाः पूज्यन्ते पूजितैरपि ॥ ३ ॥

अर्थ—इन तीन जगतोंमें ब्रह्मचर्य नामका व्रत ही प्रशंसा करने योग्य है; क्योंकि जिन पुरुषों ने इस व्रतकी निर्मलता निरतिचारतापूर्वक प्राप्त की है, वे पूज्य पुरुषोंके द्वारा भी पूजे जाते हैं। **भावार्थ**—अर्हन्त भगवान् ब्रह्मचर्यकी पूर्णताको प्राप्त हुए हैं, अतः उनकी पूजा मुनि और गणधरादिक सब ही पूज्य पुरुष करते हैं ॥ ३ ॥

ब्रह्मव्रतमिदं जीयाच्चरणस्यैव जीवितम् ।
स्युः सन्तोऽपि गुणा येन विना क्लेशाय देहिनाम् ॥ ४ ॥

अर्थ —आचार्य महाराज आशोर्वादपूर्वक कहते हैं कि यह ब्रह्मचर्यनामा महाव्रत जयवन्त हो; क्योंकि यह चारित्रका तो एक मात्र जीवन है और इसके विना अन्य जितने गुण हैं, सब जीवोंको क्लेशके ही कारण होते हैं ॥ ४ ॥

नाल्पसत्त्वैर्न निःशीलैर्न दीनैर्नाक्षनिर्जितैः ।
स्वप्नेऽपि चरितुं शक्यं ब्रह्मचर्यमिदं नरैः ॥ ५ ॥

अर्थ—जो अल्पशक्ति पुरुष हैं, शीलरहित हैं, दीन हैं और इन्द्रियोंसे जोते गये हैं, वे इस ब्रह्मचर्यको धारण करनेको स्वप्नमें भी समर्थ नहीं हो सकते हैं अर्थात् बड़ी शक्तिके धारक पुरुष ही ऐसे कठिन व्रतके आचरण करनेके लिये समर्थ होते हैं ॥५॥

अब इस ब्रह्मचर्यको धारण करनेवालोंको त्यागने योग्य दश प्रकारके मैथुनको कहते हैं—

पर्यन्तविरसं विद्धि दशधान्यच्च मैथुनम् ।
योषित्संगाद्विरक्तेन त्याज्यमेव मनीषिणा ॥६॥

अर्थ—इस ब्रह्मचर्य व्रतका प्रतिपक्षी मैथुन (कामसेवन) है, सो दश प्रकारका है, और अन्तमें विरस है। इस कारण जो पुरुष स्त्रीसे विरक्त हैं तथा बुद्धिमान् हैं, उनको अवश्य ही त्यागना योग्य है ॥६॥

उन दश प्रकारके मैथुनोंके नाम तीन श्लोकोंसे कहते हैं—

आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृष्यसेवनम् ।
तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्संसर्गस्तुर्यमिष्यते ॥७॥
योषिद्विषयसंकल्पः पञ्चमं परिकीर्त्तितम् ।
तदङ्गवीक्षणं षष्ठं संस्कारः सप्तमं मतम् ॥८॥
पूर्वानुभोगसंभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम् ।
नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्तिमोक्षणम् ॥९॥

अर्थ—प्रथम तो शरीरका संस्कार करना (शृंगारादि करना) १, दूसरा—पुष्टरसका सेवन करना २, तीसरा—तौर्यत्रिक कहिये गीतनृत्यवादित्रका देखना सुनना ३, चौथा—स्त्रीका संसर्ग करना ४, पांचवां—स्त्रीमें किसी प्रकारका संकल्प वा विचार करना ५, छट्ठा—स्त्रीके अंग देखना ६, सातवां—उस देखनेका संस्कार (हृदयमें अंकित) रहना ७, आठवां—पूर्वमें किये हुए संगभोगका स्मरण करना ८, नववां-आगामी भोगनेकी चिन्ता करनी ९ और दशवां—शुक्रका क्षरण १०। इस प्रकार मैथुनके दश भेद हैं; इन्हे ब्रह्मचारीको सर्वथा त्यागना चाहिये ॥७-८-९॥

किम्पाकफलसंभोगसन्निभं तद्धि मैथुनम् ।
आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ॥१०॥

अर्थ—जिस प्रकार किंपाकफल (इन्द्रायणका फल) देखने, सूंघने और खानेमें रमणीय (सुस्वादु) है और विपाक होने पर हलाहल (विष) का काम करता है, उसी प्रकार यह मैथुन भी कुछ काल-पर्यन्त रमणीक वा सुखदायक मालूम होता है, परन्तु विपाक समयमें (अन्तमें) बहुत ही भयका देनेवाला है ॥१०॥

विरज्य कामभोगेषु ये ब्रह्म समुपासते ।
एते दश महादोषास्तैस्त्याज्या भावशुद्धये ॥११॥

अर्थ—जो पुरुष काम और भोगोंमें विरक्त हो कर ब्रह्मचर्यका सेवन करते हैं, उनको भावशुद्धिके लिए उपर्युक्त दश प्रकारके मैथुन त्याग देने चाहिये, क्योंकि इन दोषोंके त्यागे बिना भावोंकी शुद्धि नहीं होती ॥११॥

अब और भी विशेषतासे कहते हैं—

स्मरप्रकोपसंभूतान्स्त्रीकृतान्मैथुनोत्थितान् ।
संसर्गप्रभवान्ज्ञात्वा दोषान् स्त्रीषु विरज्यताम् ॥ १२ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! कामके प्रकोपसे उत्पन्न हुए दोषों तथा स्त्रीके किये दोषों और मैथुनकृत दोषों तथा संसर्गजन्य दोषोंको जान कर स्त्रियोंसे विरक्त हो ॥ १२॥

अब प्रथम ही कामका प्रकोप होनेसे जो दोष होते हैं, उनका वर्णन करते हैं—

सिक्तोऽप्यम्बुधरव्रातैः प्लावितोऽप्यम्बुराशिभिः ।
न हि त्यजति संतापं कामवह्निप्रदीपितः ॥ १३ ॥

अर्थ—कामरूपी अग्निका ताप ऐसा होता है कि वह प्रज्वलित होने पर मेघके समूहोंका सिंचन होने पर भी दूर नहीं होता अथवा कामाग्निसे प्रज्वलित पुरुषको समुद्रमें डुबा रक्खो तो भी सन्ताप दूर नहीं होता ॥ १३ ॥

मूले ज्येष्ठस्य मध्याह्ने व्यभ्रे नभसि भास्करः ।
न प्लोषति तथा लोकं यथा दीप्तः स्मरानलः ॥ १४ ॥

अर्थ—कामरूप अग्नि प्रज्वलित हो कर जिस प्रकार लोकको सन्तापित करती है, उस प्रकार जेठ महीनेके मूल नक्षत्रमें बादल रहित आकाशमें प्रकाशमान मध्याह्नका सूर्य भी नहीं कर सकता ॥ १४॥

हृदि ज्वलति कामाग्निः पूर्वमेव शरीरिणाम् ।
भस्मसात्कुरुते पश्चादङ्गोपाङ्गानि निर्दयः ॥ १५ ॥

अर्थ—कामरूपी निर्दय अग्नि प्रथम तो जीवोंके हृदयमें प्रज्वलित होती है, तत्पश्चात् जब वृद्धिको प्राप्त होती है, तब शरीरके अंग उपांगोंको भस्म कर देती है अर्थात् सुखा देती है ॥१५॥

अचिन्त्यकामभोगीन्द्रविषव्यापारमूर्छितम् ।
वीक्ष्य विश्वं विवेकाय यतन्ते योगिनः परं ॥ १६ ॥

अर्थ—जो परम योगी हैं, वे इस लोकको अचिन्त्य कामरूपी सर्पके विषकी क्रियासे मूर्छित हुआ देख कर ही अपने आत्मस्वरूपके भेदविज्ञानार्थ यत्न करते हैं। भावार्थ—इस कामसे योगीश्वर ही बचे हैं ॥ १६ ॥

स्मरव्यालविषोद्गारैर्वीक्ष्य विश्वं कदर्थितम् ।
यमिनः शरणं जग्मुर्विवेकविनतासुतम् ॥ १७ ॥

अर्थ—कामरूपी सर्पके विषोद्गारसे पीडित समस्त जगतको देख कर संयमी मुनिगण विवेकरूपी गरुडकी शरणमें प्राप्त हुए हैं। भावार्थ—कामसे बचनेका उपाय विवेक अर्थात् भेदज्ञान ही है ॥१७॥

एक एव स्मरो वीरः स चैकोऽचिन्त्यविक्रमः ।
अवज्ञयैव येनेदं पादपीठीकृतं जगत् ॥ १८ ॥

अर्थ—इस जगतमें वीर एक मात्र काम ही है और वह अद्वितीय है; क्योंकि जिसका अचिन्त्य पराक्रम है, जिसने अवज्ञा मात्रसे इस जगतको अपने पावों तले दबा लिया है अर्थात् वशीभूत कर लिया है। जैसे कोई किसीको तिरस्कार मात्र कर वश कर के, उसी प्रकार वश कर लिया है ॥ १८ ॥

एकाक्यपि नयत्येष जीवलोकं चराचरम् ।
मनोभूर्भङ्गमानीय स्वशक्त्याऽव्याहतक्रमः ॥ १९ ॥

अर्थ—जिसका पराक्रम अव्याहत अर्थात् अखण्डित है, ऐसा यह काम अकेला ही इस चराचर स्वरूप जगतको अपनी शक्तिसे भंगताको प्राप्त करता है अर्थात् भिन्न-भिन्न को अपने मार्गमें चलाता है ॥१९॥

पीडयत्येव निःशङ्को मनोभूर्भुवनत्रयम् ।
प्रतीकारशतेनापि यस्य भङ्गो न भूतले ॥ २० ॥

अर्थ—यह काम निर्भय हो कर इस तीन भुवनको पीड़ित (दुःखित) करता है और इस पृथ्वी पर सैंकड़ों उपाय करने पर भी इसका भंग (नाश) नहीं होता ॥ २० ॥

कालकूटादहं मन्ये स्मरसंज्ञं महाविषम् ।
स्यात्पूर्वं सप्रतीकारं निःप्रतीकारमुत्तरम् ॥ २१ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि इस कामस्वरूपी विषको मैं कालकूट (हलाहल) विषसे भी महाविष मानता हूँ; क्योंकि पहिला जो कालकूट विष है, वह तो उपाय करनेसे मिट जाता है, परन्तु दूसरा जो कामरूपी विष है, वह उपायरहित है अर्थात् इलाज करनेसे भी नहीं मिटता है ॥२१॥

जन्तुजातमिदं मन्ये स्मरवह्निप्रदीपितम् ।
मज्जत्यगाधमध्यास्य पुरन्ध्रीकायकर्दमम् ॥ २२ ॥

अर्थ—फिर भी कहते हैं कि मैं इस जीवोंके समूहको कामरूपी अग्निसे जलता हुआ मानता हूं। क्योंकि यह प्राणिसमूह स्त्रीके शरीररूपी कीचड़में प्रवेश करके डूबता है। भावार्थ—कामी पुरुष कामरूप अग्निके तापसे संतप्त हो स्त्रीके शरीररूपी कीचड़में प्रवेश करके शीतल होना चाहता है ॥२२॥

अनन्तव्यसनासारदुर्गे भवमरुस्थले ।
स्मरज्वरपिपासार्ता विपद्यन्ते शरीरिणः ॥ २३ ॥

अर्थ—ये संसारी जीव कामज्वरके दाहसे उत्पन्न हुई तृषासे पीड़ित हो कर अनन्त कष्टोंके समूहस्वरूप दुर्गम संसाररूपी मरुस्थलमें दुःख सहन करते हैं ॥ २३ ॥

घृणास्पदमतिक्रूरं पापाढ्यं योगिदूषितम् ।
जनोऽयं कुरुते कर्म स्मरशार्दूलचर्वितः ॥ २४ ॥

अर्थ—कामरूपी सिंहसे चर्वित हुआ यह मनुष्य योगियोंसे निन्दित, पापसे भरे, अतिशय क्रूरतारूप तथा घृणास्पद कार्यको भी करता है ॥ २४ ॥

दिग्मूढमथ विभ्रान्तमुन्मत्तं शङ्कितागयम् ।
विलक्ष्यं कुरुते लोकं स्मरवैरिविजृम्भितः ॥ २५ ॥

अर्थ—यह कामरूपी वैरी लोगोंको दिशामूढ अथवा विभ्रमरूप करता है तथा उन्मत्त और भय-भीत करता है; एवं विलक्ष्य कहिए लक्ष्यभ्रष्ट (इष्ट कार्यसे विमुख) करता है । भावार्थ जब कामोद्दीपन होता है तब समस्त समीचीन कार्योंको भूल कर एक मात्र उसका ही चितवन-स्मरणका ध्यान रहता है ॥ २५ ॥

न हि क्षणमपि स्वस्थं चेतः स्वप्नेऽपि जायते ।
मनोभवशरव्रातैर्भिद्यमानं शरीरिणाम् ॥ २६ ॥

अर्थ—कामके बाणोंके समूहसे भिदता हुआ जीवोंका चित्त क्षणभरके लिये स्वप्नमें भी स्वस्थताको प्राप्त नहीं होता ॥ २६ ॥

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ।
लोकः कामानलज्वालाकलापकवलीकृतः ॥ २७ ॥

अर्थ—यह लोक है सो कामरूपी अग्निकी ज्वालाके समूहसे ग्रसा हुआ जानता हुआ भी कुछ नहीं जानता और देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता । इस प्रकार अचेत (बेखबर)हो जाता है ॥२७॥

भोगिदष्टस्य जायन्ते वेगाः सप्तैव देहिनः ।
स्मरभोगीन्द्रदष्टानां दश स्युस्ते भयानकाः ॥ २८ ॥

अर्थ—सर्पसे काटे हुए प्राणीके तो सात ही वेग होते है; परन्तु कामरूपी सर्पके डसे हुए जीवोंके दश वेग होते हैं, जो बड़े भयानक हैं ॥ २८ ॥

प्रथमे जायते चिन्ता द्वितीये द्रष्टुमिच्छति ।
तृतीये दीर्घनिश्वासाश्चतुर्थे भजते ज्वरम् ॥ २९ ॥
पञ्चमे दह्यते गात्रं षष्ठे भुक्तं न रोचते ।
सप्तमे स्यान्महामूर्च्छा उन्मत्तत्वमथाष्टमे ॥ ३० ॥
नवमे प्राणसन्देहो दशमे मुच्यतेऽसुभिः ।
एतैर्वेगैः समाक्रान्तो जीवस्तत्त्वं न पश्यति ॥ ३१ ॥

अर्थ—कामसे उद्दीपन होने पर प्रथम ही तो चिन्ता होती है कि स्त्रीका संपर्क कैसे हो, दूसरे वेगमें उसके देखने की इच्छा होती है, तीसरे वेगमें दीर्घ निःश्वास लेता है और कहता है कि हाय देखना नहीं हुआ, चौथे वेगमें ज्वर होता है अर्थात् बुखार (ताप) चढ आता है, पांचवें वेगमें शरीर दग्ध होने लगता है, छठे वेगमें किया हुआ भोजन नहीं रुचता, सातवें वेगमें महामूर्च्छा हो जाती है अर्थात् अचेत (बेहोश) हो जाता है, आठवें वेगमें उन्मत्त (पागल) हो जाता है तथा यद्वा तद्वा प्रलाप करने (बकने) लग जाता है, नववें वेगमें प्राणोंका संदेह हो जाता है कि अब मैं जीवित नहीं रहूंगा और

दशवां वेग ऐसा आता है कि जिससे मरण हो जाता है । इस प्रकार कामके दश वेग होते हैं । इन वेगोंसे व्याप्त हुआ जीव यथार्थ तत्त्व अर्थात् वस्तुस्वरूपको नहीं देखता । जब लोकव्यवहारका ही ज्ञान नहीं रहे तब परमार्थका ज्ञान कैसे हो ॥२९-३०-३१॥

संकल्पवशतस्तीव्रा वेगा मन्दाश्च मध्यमाः ।
कामज्वरप्रकोपेन प्रभवन्तीह देहिनाम् ॥३२॥

अर्थ—संकल्पके वशसे और कामज्वरके प्रकोपके तीव्र, मन्द, मध्यम होनेसे ये दश वेग तीव्र, मध्यम और मंद भी होते हैं । सब ही एकसे नहीं होते ॥३२॥

अपि मानसमुत्तुङ्गनगशृङ्गाग्रवर्तिनाम् ।
स्मरवीरः क्षणार्द्धेन विधत्ते मानखण्डनम् ॥३३॥

अर्थ—जो पुरुष मानरूपी ऊंचे पर्वतके शिखरके अग्र भाग पर चढ़े हुए हैं अर्थात् बड़के बड़े अभिमानी हैं, उनका भी मान यह स्मरवीर क्षणभरमें खंडित कर देता है । भावार्थ—कामकी ज्वालाके सामने किसीका मान नहीं रहता । यह काम नीचसे नीच काम करा कर उसके मानरूपी पहाड़को धूलिमें मिला देता है ॥३३॥

शीलशालमतिक्रम्य धीधनैरपि तन्यते ।
दासत्वमन्त्यजस्त्रीणां संभोगाय स्मराज्ञया ॥३४॥

अर्थ—जो बड़े २ बुद्धिमान् हैं, वे भी कामदेवकी आज्ञासे अपने शीलरूपी कोटका उल्लंघन कर संभोगके लिए चांडालकी स्त्रीका दासत्व स्वीकार कर लेते हैं । भावार्थ—कामके वशीभूत हो कर बड़े २ बुद्धिमान् चांडालकी स्त्रियों तकके दास हो जाते हैं और वे जो जो नाच नचाती हैं वे सब ही उनको नाचने पड़ते हैं ॥३४॥

प्रवृद्धमपि चारित्रं ध्वंसयत्याशु देहिनाम् ।
निरुणद्धि श्रुतं सत्यं धैर्यं च मदनव्यथा ॥३५॥

अर्थ—मदनकी व्यथा जब उठती है, तब वह जीवोंके बहुत दिनसे बढ़ाये तथा पाले हुए चारित्रको ध्वंस कर देती है । एवं शास्त्राध्ययन, धैर्य और सत्य भाषणादिको भी बंद कर देती है । भावार्थ-जब कामकी पीड़ा व्यापती है, तब चारित्र बिगड़ जाता है । शास्त्र पढ़ना, सत्य बोलना और धैर्य रखना आदि सब ही भूल जाते हैं ॥३५॥

नासने शयने याने स्वजने भोजने स्थितिम् ।
क्षणमात्रमपि प्राणी प्राप्नोति स्मरशल्यतः ॥३६॥

अर्थ—जिसको कामरूपी कांटा चुभता रहता है, वह प्राणी बैठने, सोने, चलने, भोजन करनेमें तथा स्वजनोंमें क्षणभर भी स्थिरताको प्राप्त नहीं होता, अर्थात् सर्वत्र डामाडोल रहता है ॥३६॥

विसवृत्तबलस्यान्तं स्वकुलस्य च लाञ्छनम् ।
मरणं वा समीपस्थं न स्मरार्त्तः प्रपश्यति ॥३७॥

अर्थ—कामपीड़ित पुरुष अपने धन, चारित्र और बलके नाश होनेको तथा अपने कुल पर कलंक लगनेको, वा मरण भी निकट आ जाय तो उसको भी नहीं देखता है, अर्थात् उसके चित्तमें हिताहितका कुछ भी विचार नहीं रहता ॥३७॥

न पिशाचोरगा रोगा न दैत्यग्रहराक्षसाः ।
पीडयन्ति तथा लोकं यथाऽयं मदनज्वरः ॥३८॥

अर्थ—जैसा कष्ट यह कामज्वर जगतको देता है, वैसा पिशाच, सर्प, रोग आदि नहीं देते और न दैत्य-ग्रह राक्षसादिक ही देते हैं। **भावार्थ**—कामकी पीड़ा सबसे अधिक है ॥३८॥

अनासाद्य जनः कामो कामिनीं हृदयप्रियाम् ।
विषशस्त्रानलोपायैः सद्यः स्वं हन्तुमिच्छति ॥३९॥

अर्थ—कामी पुरुष यदि अपनी मनकी प्यारी कामिनीको नहीं प्राप्त होता है तो विष, शस्त्र, अग्नि आदिसे त्वरित ही अपना आपघात करनेको तैयार हो जाता है। **भावार्थ**—जिस स्त्रीसे कामीका मन आकर्षित होता है, वह प्राप्त नहीं होती तो कामी अपना मरना विचार लेता है ॥३९॥

दक्षो मूढः क्षमी क्षुद्रः शूरो भीरुर्गुरुर्लघुः ।
तीक्ष्णः कुण्ठो वशी भ्रष्टो जनः स्यात्स्मरवञ्चितः ॥४०॥

अर्थ—कामसे ठगा हुआ मनुष्य चतुर भी मूर्ख हो जाता है, क्षमावान् क्रोधी हो जाता है, शूरवीर कायर हो जाता है, गुरु लघु हो जाता है, उद्यमी आलसी हो जाता है और जितेन्द्रिय भ्रष्ट हो जाता है। काम ऐसा प्रबल है ॥४०॥

कुर्वन्ति वनिताहेतोरचिन्त्यमपि साहसम् ।
नराः कामहठात्कारविधुरीकृतमानसाः ॥४१॥

अर्थ—कामके बलात्कार (जबरदस्ती) से जिनका चित्त दुःखित है, वे स्त्रीकी प्राप्तिके लिये ऐसे काम करनेका भी साहस करते हैं, जो चिन्तवनमें भी न आवें ॥४१॥

उन्मूलयत्यविश्रान्तं पूज्यं श्रीधर्मपादपम् ।
मनोभवमहादन्ती मनुष्याणां निरङ्कुशः ॥४२॥

अर्थ—कामरूपी हस्ती निरंकुश है, इस कारण वह मनुष्योंके निरन्तर पूजने योग्य धर्मरूपी वृक्षको जड़से उखाड़ डालता है ॥४२॥

प्रकुप्यति नरः कामी बहुलं ब्रह्मचारिणे ।
जनाय जाग्रते चौरो रजन्यां संचरन्निव ॥४३॥

अर्थ- -जिस प्रकार रात्रिमें धनार्थ फिरते हुए चौर जागनेवाले मनुष्य पर कोप करते हैं, उसी प्रकार कामी पुरुष भी बहुधा ब्रह्मचारी पुरुषों पर कोप किया करता है, यह स्वाभाविक नियमहै॥ ४३॥

स्नुषां श्वश्रूं सुतां धात्रीं गुरुपत्नीं तपस्विनीम् ।
तिरश्चीमपि कामार्तो नरः स्त्रीं भोक्तुमिच्छति ॥ ४४ ॥

अर्थ—कामसे पीड़ित पुरुष पुत्रवधू, सास, पुत्री, दुग्ध पिलानेवाली धाय अथवा माता, गुरुकी स्त्री, तपस्विनी और तिरश्ची (परजातिकी स्त्री) को भी भोगनेकी इच्छा करता है, क्योंकि कामी पुरुषके योग्य अयोग्यका कुछ भी विचार नहीं होता ॥ ४४ ॥

किं च कामशरव्रातजर्जरे मनसि स्थितिम् ।
निमेषमपि बध्नाति न विवेकसुधारसः ॥ ४५ ॥

अर्थ—हिताहितका विचार न होनेका कारण यह है कि कामके बाणोंके समूहसे जर्जरित हुए मनमें निमेष मात्र भी विवेकरूपी अमृतकी बूंद नहीं ठहर सकती है । भावार्थ-जैसे फूटे घड़ेमें पानी नहीं ठहरता, उसी प्रकार कामके बाणोंसे छिद्र किये हुए चित्तरूपी घड़ेमें विवेकरूपी अमृत-जल नहीं ठहरता ॥ ४५ ॥

आर्या

हरिहरपितामहाद्या बलिनोऽपि तथा स्मरेण विध्वस्ताः ।
त्यक्तत्रपा यथैते स्वाङ्कानारीं न मुञ्चन्ति ॥ ४६ ॥

अर्थ—जैसे ये निर्लज्ज जन अपनी गोदमें स्थित स्त्रीको नहीं छोड़ते वैसे ही हरि, हर और ब्रह्मादिक बलिष्ठोंको कामने नष्ट कर दिया है अर्थात् वे भी स्त्रीको गोदसे कभी बाहर नहीं करते ॥४६॥

यदि प्राप्तं त्वया मूढ नृत्वं जन्मोग्रसंक्रमात् ।
तदा तत्कुरु येनेयं स्मरज्वाला विलीयते ॥ ४७ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी ! जो तूने संसारमें भ्रमण करते २ इस मनुष्यभवको पाया है, तो तू वह काम कर, जिससे कि तेरी कामरूपी ज्वाला नष्ट हो जाय ॥ ४७ ॥

अब इस प्रकरणको पूर्ण करते हुए कहते हैं—

मालिनी ।

स्मरदहनसुतीव्रानन्तसन्तापविद्धं
भुवनमिति समस्तं वीक्ष्य योगिप्रवीराः ।
विगतविषयसङ्गाः प्रत्यहं संश्रयन्ते
प्रशमजलधितीरं संयमारामरम्यम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—विषयसंग रहित योगिप्रवीर (श्रेष्ठ योगिजन) इस संसारको कामाग्निके प्रचण्ड और

अनंत संतापोंसे पीड़ित देख कर प्रतिदिन संयमरूप बगीचेसे शोभायमान ऐसे शान्तिसागरके तटका आश्रय लेते हैं ॥ ४८ ॥

दोहा

कामसुभटके कोपतैं ब्रह्मचर्यका घात ।
ताकूं जीते यती भट अन्तर करि भवदात ॥११॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते कामप्रकोपप्रकरणम् ॥ ११ ॥

अथ द्वादशः सर्गः

स्त्रीस्वरूप वर्णन ।

आगे इस ब्रह्मचर्य महाव्रतके वर्णनमें स्त्रीस्वरूपका निरूपण करते हैं—

कुर्वन्ति यन्मदोद्रेकदर्पिता भुवि योषितः ।
शतांशमपि तस्येह न वक्तुं कश्चिदीश्वरः ॥ १ ॥

अर्थ—इस पृथ्वितलमें मदके आधिक्यसे गर्वित स्त्रियां जो कर डालती हैं, उसका शतांश कहनेके लिये भी कोई समर्थ नहीं है ॥ १ ॥

धारयन्त्यमृतं वाचि हृदि हालाहलं विषम् ।
निसर्गकुटिला नार्यो न विद्मः केन निर्मिताः ॥ २ ॥

अर्थ—जो वाणीमें तो अमृतको और हृदयमें विषको धारण करती हैं इस प्रकार स्वभावसे ही कुटिल इन स्त्रियोंको किसने बनाया है, यह हम नहीं जानते । भावार्थ—जिनका बोल तो अमृतके समान मीठा है, और हृदयमें जहर भरा हुआ है इस प्रकार क्रूर स्वभाववाली स्त्रियोंको किसने बनाया यह हम नहीं जान सकते ॥ २ ॥

वज्रज्वलनलेखेव भोगिदंष्ट्रेव केवलम् ।
वनितेयं मनुष्याणां संतापभयदायिनी ॥ ३ ॥

अर्थ—यह स्त्री मनुष्योंको वज्राग्निकी ज्वालाके समान और सांपकी डाढ़के समान भय तथा संताप देनेवाली है । भावार्थ—जैसे वज्रपातजनित अग्निज्वाला और सांपकी डाढ़ मनुष्योंको कष्ट और भय उपजानेवाली है, वैसे ही यह स्त्री भी है । इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ ३ ॥

उद्वासयति निश्शङ्का जगत्पूज्यं गुणव्रजम् ।
बध्नती वसतिं चित्ते सतामपि नितम्बिनी ॥ ४ ॥

अर्थ—मनमें स्थान (अड्डा) जमाती हुई शंका रहित स्त्री सज्जनोंके भी जगतमें पूजने योग्य गुणसमूहको दूर भगा देती है । भावार्थ—साधारण मनुष्योंकी क्या कथा ! किंतु यदि निडर स्त्रीने मनमें

डेरा कर लिया तो सत्पुरुषोंके भी विश्ववन्द्य गुणोंको दूर हटा देती है, अर्थात् मनसे स्त्रीका ध्यान मात्र करनेसे ही वंदनीय पुरुष भी निंदनीय हो जाते हैं ॥ ४ ॥

वरमालिङ्गिता क्रुद्धा चलल्लोलाऽत्र सर्पिणी ।
न पुनः कौतुकेनापि नारी नरकपद्धतिः ॥ ५ ॥

अर्थ—क्रोधसे फुंकार मारती चलती हुई सर्पिणीका आलिंगन करना श्रेष्ठ है, किन्तु स्त्रीको कौतुक मात्रसे भी आलिंगन करना श्रेष्ठ नहीं, क्योंकि सर्पिणी यदि दंश करे (काटे) तो एक बार ही मरण होता है और स्त्री तो नरककी पद्धतिस्वरूप है अर्थात् यह बारबार मरण करा कर नरकमें के जानेवाली है ॥ ५ ॥

हृदि दत्ते तथा दाहं न स्पृष्टा हुतभुक्शिखा ।
वनितेयं यथा पुंसामिन्द्रियार्थप्रकोपिना ॥ ६ ॥

अर्थ—यह स्त्री इन्द्रियोंके कोपको बढ़ानेवाली है, सो स्पर्श की हुई ऐसा दाह उत्पन्न करती है कि जैसा स्पर्श की हुई अग्निकी शिखा भी नहीं करती ॥ ६ ॥

सन्ध्येव क्षणरागाढ्या निम्नगेवाधरप्रिया ।
वक्रा बालेन्दुलेखेव भवन्ति नियतं स्त्रियः ॥ ७ ॥

अर्थ—ये स्त्रियाँ सन्ध्याके समान क्षणभर राग सहित रहनेवाली (क्षणभर प्रीति रखनेवाली) हैं और नदीके समान अधरप्रिया हैं अर्थात् जैसे नदी नीचो भूमिकी तरफ जाती है उसी प्रकार स्त्रियाँ भी प्रायः नीच पुरुषसे रमण करनेवाली होती हैं तथा द्वितीयाके चन्द्रमाके समान वक्र (टेढ़ी) रहती हैं, अर्थात् स्त्रियाँ हृदयमें कपटभाव अवश्य रखती हैं ॥ ७ ॥

धूमावल्य इवाशङ्काः कुर्वन्ति मलिनं क्षणात् ।
मदनोन्मादसंभ्रान्ता योषितः स्वकुलं गृहम् ॥ ८ ॥

अर्थ—मदनके वेगसे उन्मादयुक्त हो कर स्त्रियाँ अपने कुल और घरको क्षणभरमें मलिन (कलंकित) कर देती हैं, इस कारण धूमावलीके समान आशंका करनेयोग्य हैं, अर्थात् जिस प्रकार धूमावलीसे घर काला होनेकी शंका है, इसी प्रकार स्त्रियोंकी तरफसे भी शंका रहनी चाहिये ॥ ८ ॥

निर्दयत्वमनार्यत्वं मूर्खत्वमतिचापलम् ।
वञ्चकत्वं कुशीलत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥ ९ ॥

अर्थ—निर्दयता, अनार्यता (अपवित्रता), मूर्खता, अतिचपलता, वंचकता और कुशीलता इतने दोष प्रायः स्त्रियोंके स्वाभाविक होते हैं, अर्थात् विना शिखाये ही आ जाते हैं ॥ ९ ॥

विचरन्ति कुशीलेषु लङ्घयन्ति कुलक्रमम् ।
न स्मरन्ति गुरुं मित्रं पतिं पुत्रं च योषितः ॥ १० ॥

अर्थ—ये स्त्रियां व्यभिचारी पुरुषोंमें विचरने लग जाती हैं और अपने कुलक्रमका उल्लंघन कर देती हैं तथा अपने गुरु मित्र (हितैषी) पति पुत्रका स्मरण तक नहीं करतीं ॥१०॥

वश्याञ्जनादितन्त्राणि मन्त्रयन्त्राद्यनेकधा ।
व्यर्थीभवन्ति सर्वाणि वनिताराधनं प्रति ॥११॥

अर्थ—स्त्रीकी आराधनाके लिये (प्रसन्न करनेके लिये) वशीकरण, अञ्जनादि तथा अनेक प्रकारके यन्त्र-मन्त्र तंत्रादि समस्त व्यर्थ हो जाते हैं ॥११॥

अगाधक्रोधवेगान्धाः कर्म कुर्वन्ति तत्स्त्रियः ।
सद्यः पतति येनैतद्भुवनं दुःखसागरे ॥१२॥

अर्थ—ये स्त्रियां अगाध क्रोधके वेगसे ऐसा काम करती हैं कि जिससे शीघ्र ही यह जगत् दुःखसागरमें पड़ जाता है ॥१२॥

स्वातन्त्र्यमभिवाञ्छन्त्यः कुलकल्पमहीरुहम् ।
अविचार्यैव निघ्नन्ति स्त्रियोभीष्टफलप्रदम् ॥१३॥

अर्थ—स्वतन्त्रताकी वांछा करती हुई स्त्रियाँ अभीष्ट (मनोवांछित) फल देनेवाले अपने कुलरूपी कल्पवृक्षको विना विचारे ही मूर्खतासे काट डालती हैं ॥१३॥

न दानं न च सौजन्यं न प्रतिष्ठां न गौरवम् ।
न च पश्यन्ति कामान्धा योषितः स्वान्ययोर्हितम् ॥१४॥

अर्थ—कामान्ध स्त्रियां न तो दान सुजनताको देखतीं हैं, न अपने गौरव और प्रतिष्ठाका विचार करती हैं और न अपना वा पराया हित ही देखती हैं; किन्तु जो चित्तमें आया सो विना विचारे ही कर बैठती हैं ॥१४॥

न तत् क्रुद्धा हरिव्याघ्रव्यालानलनरेश्वराः ।
कुर्वन्ति यत्करोत्येका नरी नारी निरङ्कुशा ॥१५॥

अर्थ—एक निरंकुश स्त्री ही नर (मनुष्य) के लिये वह काम करती है कि जिसको क्रोधित हुए सिंह, व्याघ्र, सर्प, अग्नि और राजा भी नहीं कर सकते। भावार्थ-पुरुषोंको स्वतंत्र स्त्री जैसा कष्ट देती है, वैसा कोई भी नहीं दे सकता ॥१५॥

यामासाद्य त्वया कान्तां सोढव्या नारकी व्यथा ।
तस्य वार्त्तापि न श्लाघ्या कथमालिङ्गनादिकम् ॥१६॥

अर्थ—आचार्य महाराज समझाते हैं कि हे आत्मन्! जिस स्त्रीको संगतिसे तुझे नरकके दुःख सहने पड़ें, ऐसी स्त्रीकी चर्चा करना भी तेरे लिये प्रशंसनीय नहीं है, तो उससे आलिंगनादि करना कैसे प्रशंसनीय हो सकता है? ॥१६॥

स कोऽपि स्मर्यतां देवो मन्त्रो वाऽऽलम्ब्य साहसम् ।
यतोऽङ्गनापिशाचीयं ग्रसितुं नोपसर्पति ॥१७॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन्! तू ऐसे किसी देव वा मंत्रको स्मरण कर अथवा ऐसा कोई साहस कर, जिससे यह स्त्रीरूपी पिशाचिनी तुझे भक्षण करनेको निकट न आवे ॥१७॥

एकैव वनिताव्याली दुर्विचिन्त्यपराक्रमा ।
लीलयैव यया मूढ खण्डितं जगतां त्रयम् ॥१८॥

अर्थ—हे मूढ आत्मन्! यह स्त्रीरूपी सर्पिणी ऐसी है जिसका पराक्रम अचिन्त्य है अर्थात् चिन्तवनमें नहीं आ सकता। क्योंकि जिस अकेलीने ही इन तीनों भुवनोंको खण्डित कर दिया है, सो तू देख ॥१८॥

न तद्दृष्टं श्रुतं ज्ञातं न तच्छास्त्रेषु चर्चितम् ।
यत्कुर्वन्ति महापापं स्त्रियः कामकलङ्किताः ॥१९॥

अर्थ—ये स्त्रियाँ कामसे कलंकित हो ऐसा भी कोई महापाप कर बैठती हैं कि जिसको न तो किसीने देखा, न सुना तथा न शास्त्रोंमें ही जिसकी चर्चा आई हो ॥१९॥

यमजिह्वानलज्वालावज्रविद्युद्विषाङ्कुरान् ।
समाहृत्य कृता मन्ये वेधसेयं विलासिनी ॥२०॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा करते हैं कि मैं ऐसा मानता हूं कि विधाताने यमराजकी जीभ, अग्निकी ज्वाला, बिजली तथा विष इनके अंकूर (सार भाग) इन सबका संग्रह करके यह विलासिनी (स्त्री) बनाई है, क्योंकि इससे कोई भी नहीं बचता ॥२०॥

मनस्यन्यद्वचस्यन्यद्वपुष्यन्यद्विचेष्टितम् ।
यासां प्रकृतिदोषेण प्रेम तासां कियद्दरम् ॥२१॥

अर्थ—जिन स्त्रियोंके स्वभावसे ही मनमें तो कुछ, वचनमें कुछ और शरीरसे कुछ और ही चेष्टा है, उनका प्रेम कब तक स्थिर रह सकता है? अर्थात् बहुत समय तक नहीं ठहरता ॥२१॥

अप्युत्तुङ्गाः पतिष्यन्ति नरा नार्यङ्गसंगताः ।
यथा वामिति लोकस्य स्तनाभ्यां प्रकटीकृतम् ॥२२॥

अर्थ—स्त्रियोंके दोनों स्तन प्रगट करते हैं अर्थात् परस्पर कहते हैं कि देखो, भाई! स्त्रीके अंगसंगसे जिस प्रकार हमारा अधःपतन हुआ है, इसी प्रकार जगतके बड़े २ पुरुष स्त्रीके अंगसंगसे नीचे गिरेंगे, अर्थात् नीची अवस्थाको प्राप्त होंगे ॥२२॥

यदीन्दुस्तीव्रतां धत्ते चण्डरोचिश्च शीतताम् ।
दैवात्तथापि नो धत्ते नारी स्थिरं मनः ॥२३॥

अर्थ—कदाचित् दैवयोगसे चन्द्रमा उष्ण स्वाभावो और सूर्य शीतल भले ही हो जाय परन्तु स्त्रीका मन किसी एक पुरुषमें स्थिर नहीं हो सकता, अर्थात् उसे अन्य २ पुरुषकी कामना बनी ही रहती है ॥२३॥

देवदैत्योरगव्यालग्रहचन्द्रार्कचेष्टितम् ।
विदन्ति ये महाप्राज्ञास्तेऽपि वृत्तं न योषिताम् ॥२४॥

अर्थ—जो महाविद्वान् देव, दैत्य, नाग, हस्ती, ग्रह, चन्द्रमा और सूर्य इन सबकी चेष्टाओंको जानते हैं, वे भी स्त्रियोंके चरित्रको नहीं जान सकते, क्योंकि स्त्रीचरित्र अगाध है, यह जगत्प्रसिद्ध उक्ति है ॥२४॥

सुखदुःखजयपराजयजीवितमरणानि ये विजानन्ति ।
मुह्यन्ति तेऽपि नूनं तत्त्वविदश्चेष्टिते स्त्रीणाम् ॥२५॥

अर्थ—जो तत्त्वज्ञानी सुख-दुःख, जय-पराजय और जीवित-मरण आदिकको निमित्तज्ञानके बलसे जानते हैं, वे भी स्त्रियोंकी चेष्टा जाननेमें मोहको प्राप्त होते हैं अर्थात् स्त्रियोंके चरित्र जाननेके लिये अज्ञानमूढ हो जाते हैं ॥२५॥

जलधेर्यानपात्राणि ग्रहाद्या गगनस्य च ।
यान्ति पारं न तु स्त्रीणां दुश्चरित्रस्य केचन ॥२६॥

अर्थ—यद्यपि समुद्र और आकाश अपार है, तथापि जहाज पर बैठनेवाले समुद्रके और ग्रहादिक आकाशके अन्तको पा सकते हैं परन्तु स्त्रियोंके दुश्चरित्रका पार कोई भी नहीं पा सकता ॥२६॥

आरोपयन्ति संदेहतुलायामतिनिर्दयाः ।
नार्यः पतिं च पुत्रं च पितरं च क्षणादपि ॥२७॥

अर्थ—स्त्रियाँ ऐसी निर्दय हैं कि क्षणमात्रमें अपने पति पुत्र पितादिको संदेहको तुला पर चढा देती हैं। भावार्थ–स्त्रियाँ जो दुश्चरित्र करें और पति पितादिकको ज्ञात हो जाय तो तत्काल ऐसी चेष्टा करती हैं कि जिससे उनको ऐसा संदेह हो जाता है कि इसने यह दुश्चरित्र नहीं किया होगा, मुझे व्यर्थ ही भ्रम हो गया है ॥२७॥

गृह्णन्ति विपिने व्याघ्रं शकुन्तं गगने स्थितम् ।
सरिद्ध्रदगतं मीनं न स्त्रीणां चपलं मनः ॥२८॥

अर्थ—कई पुरुष बनमेंसे व्याघ्रको पकड़ते हैं, आकाशगामी पक्षीको पकड़ते हैं तथा नदी वा तड़ागमेंसे मछलीको पकड़ते हैं, परन्तु स्त्रियोंके मनको कोई भी पकड़ नहीं सकता अर्थात् वशीभूत नहीं कर सकता ॥२८॥

न तदस्ति जगत्यस्मिन् मणिमन्त्रौषधाञ्जनम् ।
विद्याश्च येन सद्भावं प्रयास्यन्तीह योषितः ॥२९॥

अर्थ—इस जगतमें ऐसा कोई भी मणि, मंत्र, औषध, अंजन अथवा विद्या नहीं है कि जिससे स्त्रियाँ सद्भावको प्राप्त हो अर्थात् कुटिलता रहित हो जायें ॥२९॥

मनोभवसमं शूरं कुलीनं भुवनेश्वरम् ।
हत्वा पतिं स्त्रियः सद्यो रमन्ते चेटिकासुतैः ॥३०॥

अर्थ—स्त्रियां ऐसी दुष्टा हैं कि अपना पति कामदेवके समान सुन्दर, शूरवीर, कुलीन और राजा ही क्यों न हों, तो भी उसे मार कर तत्काल दासीके पुत्रसे रमने लग जाती हैं ॥३०॥

स्मरोत्सङ्गमपि प्राप्य वाञ्छन्ति पुरुषान्तरम् ।
नार्यः सर्वाः स्वभावेन वदन्तीत्यमलाशयाः ॥३१॥

अर्थ—निर्मलाशय विद्वज्जन ऐसा कहते हैं कि सब ही स्त्रियां कामदेव सरीखे पतिको पा कर भी अन्य पुरुषकी वांछा करती हैं ॥३१॥

विनाञ्जनेन तन्त्रेण मन्त्रेण विनयेन च ।
वञ्चयन्ति नरं नार्यः प्रज्ञाधनमपि क्षणात् ॥३२॥

अर्थ—स्त्रियोंमें कोई ऐसी ही मोहिनी विद्या है कि विना मंत्र तंत्र अंजनके अथवा विना प्रार्थनाके भी क्षणमात्रमें पंडित पुरुषको भी ठग लेती हैं, अर्थात् अपने प्रेममें फँसा लेती हैं ॥३२॥

कुलजातिगुणभ्रष्टं निकृष्टं दुष्टचेष्टितम् ।
अस्पृश्यमधमं प्रायो मन्ये स्त्रीणां प्रियं नरम् ॥३३॥

अर्थ—मैं ऐसा मानता हूं कि कुल जाति-गुणसे भ्रष्ट, निकृष्ट, दुश्चरित्र, अस्पृश्य, और नीच पुरुष ही स्त्रियोंको प्रिय होता है, क्योंकि प्रायः ऐसा ही देखनेमें आता है कि स्त्रियाँ उत्तम पुरुषको छोड़ नीचसे ही प्रीति कर लेती हैं ॥३३॥

वैरिवारणदन्ताग्रे समारुह्य स्थिरीकृता ।
वीरश्रीर्यैर्महासत्त्वैर्योषिद्भिस्तेऽपि खण्डिताः ॥३४॥

अर्थ—जिन महापराक्रमी वीर पुरुषोंने युद्धमें शत्रुके हस्तोके दातों पर चढ़ कर वीरश्रीको दृढ किया है, अर्थात् विजय प्राप्त किया है, ऐसे शूरवीर योद्धा भी स्त्रियोंकि द्वारा खण्डित (भूपतित) हो जाते हैं, अर्थात् स्त्रीके सामने किसीका भी पराक्रम नहीं चलता ॥३४॥

गौरवेषु प्रतिष्ठासु गुणेष्वाराध्यकोटिषु ।
धृता अपि निमज्जन्ति दोषपङ्के स्वयं स्त्रियः ॥३५॥

अर्थ—गौरव, प्रतिष्ठा और आराधना करनेयोग्य गुणोंसे भूषित कर रक्खी हुई भी स्त्रियाँ अपने दुश्चरित्ररूपी कीचड़में फँस जाती हैं, अर्थात् स्त्रियाँ किसीके भी वशमें नहीं रहतीं, किंतु स्वच्छन्दतया वर्तने लग जाती हैं ॥३५॥

दोषान्गुणेषु पश्यन्ति प्रिये कुर्वन्ति विप्रियम् ।
सन्मानिताः प्रकुप्यन्ति निसर्गकुटिलाः स्त्रियः ॥३६॥

अर्थ—कुटिल स्त्रियोंका स्वभाव ऐसा है कि वे गुणोंमें तो दोष देखती हैं और जो प्यार करें उसमें अप्रियताका आचरण करतीं हैं और सन्मान करनेसे कुपित होती हैं ॥३६॥

कृत्वाऽपकार्यलक्षाणि प्रत्यक्षमपि योषितः ।
छादयन्त्येव निःशङ्का विश्ववञ्चनपण्डिताः ॥३७॥

अर्थ—ये स्त्रियाँ लाखों बुरे कार्य प्रत्यक्षमें करके भी निःशंक हो कर उन्हें छिपा लेती हैं, क्योंकि ये स्त्रियाँ जगतको ठगनेके लिये अतिशय चतुर हैं। इनको मायाचातुरीका कोई भी पार नहीं पा सकता ॥३७॥

दानसन्मानसंभोगप्रणतिप्रतिपत्तिभिः ।
अपि सेवापरं नाथं घ्नन्ति नार्योऽतिनिर्दयाः ॥ ३८ ॥

अर्थ—ये स्त्रियाँ ऐसी निर्दय होती हैं कि दान, सन्मान, संभोग, नमस्कार करने, आदर करने आदि खुशामदके कार्योंसे सेवा करनेमें तत्पर ऐसे पतिको भी मार डालती हैं ॥३८॥

विषमध्ये सुधास्यन्दं सस्यजातं शिलोच्चये ।
संभाव्यं न तु संभाव्यं चेतः स्त्रीणामकश्मलम् ॥३९॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि विषमें कदाचित् अमृतका झरना अथवा पर्वत पर (शिलाओंके समूह पर) धान्यका उत्पन्न होना संभव है, परन्तु स्त्रियोंका चित्त निष्पाप कदापि न समझना, अर्थात् ये स्त्रियाँ निष्पाप (उज्ज्वल) कभी नहीं होतीं ॥३९॥

वन्ध्याङ्गजस्य राज्यश्रीः पुष्पश्रीर्गगनस्य च ।
स्याद्दैवान्न तु नारीणां मनःशुद्धिर्मनागपि ॥४०॥

अर्थ—दैवात् वन्ध्यापुत्रको राज्यलक्ष्मी और आकाशमें पुष्पोंकी शोभा होना संभव है, परन्तु स्त्रियोंके मनकी शुद्धि किंचिन्मात्र भी नहीं होती ॥४०॥

कुलद्वयमहाकक्षं भस्मसात्कुरुते क्षणात् ।
दुश्चरित्रसमीरालीप्रदीप्तो वनितानलः ॥४१॥

अर्थ—दुश्चरित्ररूपी पवनसे प्रदीप्त हुई वनितारूपी अग्नि क्षणमात्रमें अपने उभय कुलरूपी वनको भस्म कर देती है ॥४१॥

सुराचल इवाकम्पा अगाधा वार्द्धिवद्भृशम् ।
नीयन्तेऽत्र नराः स्त्रीभिरवधूर्तिं क्षणान्तरे ॥४२॥

अर्थ—जो पुरुष सुमेरु पर्वतके समान अचल (अकंप) हैं तथा समुद्रके समान अतिशय अगाध

अर्थात् गंभीर प्रकृति हैं, वे भी इस जगतमें स्त्रियोंके द्वारा क्षणमात्रमें चलायमान वा तिरस्कृत किये जाते हैं, तो अन्य सामान्य पुरुषोंकी तो कथा ही क्या ! ॥४२॥

वित्तहीनो जरी रोगी दुर्बलः स्थानविच्युतः ।
कुलीनाभिरपि स्त्रीभिः सद्यो भर्ता विमुच्यते ॥ ४३॥

अर्थ--स्त्रियोंका पति यदि धनरहित (दरिद्री) हों, वृद्ध हों, रोगी अथवा निर्बल हों तथा स्थानभ्रष्ट हों, तो भले कुलकी स्त्रियें भी अपने भरतारको शीघ्र ही छोड़ देती है और किसी अन्यसे रमण करने लग जाती है ॥४३॥

भेत्तुं शूलमसिं छेत्तुं कर्तितुं क्रकचं दृढम् ।
नरान्पीडयितुं यन्त्रं वेधसा विहिताः स्त्रियः ॥ ४४ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा करते हैं कि कहिये ब्रह्माने जो स्त्रियाँ बनाई हैं, वे मनुष्योंके बेधनेके लिये शूली, काटनेके लिये तरवार, कतरनेके लिये दृढ करोत (आरा), अथवा पेलनेके लिये मानों यंत्र ही बनाये है ॥४४॥

विधुर्वधूभिर्मन्येऽहं नभस्थोऽपि प्रतारितः ।
अन्यथा क्षीयते कस्मात्कलङ्काऽपहतप्रभः ॥ ४५ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज फिर भी उत्प्रेक्षा करते हैं कि आकाशमें रहनेवाला यह चन्द्रमा भी स्त्रियोंसे वंचित किया गया है, अर्थात् मोहित किया गया हैं, क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो यह कलंकसे प्रभासहित हो कर प्रतिदिन क्षीण क्यों होता है ? ॥ ४५ ॥

आचार्य महाराज फिर भी उत्प्रेक्षा करते हैं—

यद्रागं सन्ध्ययोर्धत्ते यद्भ्रमत्यविलम्बितम् ।
तन्मन्ये वनितासार्थैर्विप्रलब्धः खरद्युतिः ॥ ४६ ॥

अर्थ--यह सूर्य जो दोनों सन्ध्याओंके समय ललाईको धारण करता है और निरन्तर भ्रमण करता रहता है, सो मैं ऐसा मानता हूं कि यह भी स्त्रियोंके समूहोंसे ठगा गया है ॥ ४६ ॥

फिर भी उत्प्रेक्षा करते हैं—

अन्तःशून्यो भृशं रौति वेलाव्याजेन वेपते ।
धीरोऽपि मथितो बद्धः स्त्रीनिमित्ते सरित्पतिः ॥ ४७ ॥

अर्थ – यह समुद्र स्त्रीके निमित्त ही नारायणसे मथा गया और रामचन्द्रजीसे बांधा गया, इस कारण अन्तःशून्य अर्थात् रत्नोंसे रहित हो कर गर्जनाके बहानेसे (मिससे) तो रोता है और धीर होते हुए भी लहरोंके बहानेसे मानों कम्पायमान होता है ॥ ४७ ॥

सुरेन्द्रप्रतिमा धीरा अप्यचिन्त्यपराक्रमाः ।
दशग्रीवादयो याताः कृते स्त्रीणां रसातलम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—देखो, इन्द्रके समान धोर,वीर, अचिन्त्य पराक्रमी रावण आदिक बड़े २ छत्रधारी राजा भी स्त्रियोंके निमित्त रसातलको (नरकको) चले गये तो अन्य सामान्य जनोंका तो कहना ही क्या ॥४८॥

दुःखखानिरगाधेयं कलेर्मूलं भयस्य च ।
पापबीजं शुचां कन्दः श्वभ्रभूमिर्नितम्बिनी ॥ ४९ ॥

अर्थ—यह स्त्री दुःखोंकी तो अगाध खानि है, जिसमेंसे कि दुःख ही दुःख निकलते रहते हैं और कलह तथा भयकी जड़ है, पाप का बीज और चिन्ताओंका कंद (मूल) है तथा नरककी पृथ्वी है ॥ ४९ ॥

यदि मूर्त्ताः प्रजायन्ते स्त्रीणां दोषाः कथंचन ।
पूरयेयुस्तदा नूनं निःशेषं भुवनोदरम् ॥ ५० ॥

अर्थ--आचार्य महाराज उत्प्रेक्षासे कहते हैं कि स्त्रियोंके दोष यदि किसी प्रकारसे मूर्तिमान् हो जायें तो मैं समझता हूं कि उन दोषोंसे निश्चय करके समस्त त्रिलोकी परिपूर्ण भर जायगी ॥५०॥

कौतुकेन समाहर्तुं विश्ववर्त्त्यङ्गिसंचयम् ।
वेधसेयं कृता मन्ये नारी व्यसनवागुरा ॥ ५१ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षासे कहते हैं कि ब्रह्माने जो स्त्रि बनाई है, सो मानों, उसने कौतूहलसे जगतके समस्त जीवोंका संग्रह करनेके वास्ते आकर्षण करनेके लिये कष्टरूपी फांसी ही बनाई है ॥ ५१ ॥

एकं दृशा परं भावैर्वाग्भिरन्यं तथेङ्गितैः ।
संज्ञयाऽन्यं रतैश्चान्यं रमयन्त्यङ्गना जनम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—स्त्रियां किसी एकको तो दृष्टिसे ही प्रसन्न कर देती हैं, किसी दूसरेको भावोंसे ही रमाती है, और अन्य किसी एकको वचनमात्रसे तृप्त करके किसीको इशारोंसे ही प्रसन्न कर देती हैं, और शरीरके संकेत किसी औरसे ही करती हैं और रतिसे किसी औरसे ही रमण करती हैं। इस प्रकार अनेक पुरुषोंके चित्तको प्रसन्न करके अपने वश कर लेते हैं ॥ ५२ ॥

धीरैर्धैर्यं समालम्ब्य विवेकामललोचनैः ।
त्यक्ताः स्वप्नेऽपि निःसङ्गैर्नार्यः श्रीसूरिपुङ्गवैः ॥ ५३ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि जो धीर, वीर और आचार्योंमें प्रधान है, उन्होंके धीरजका अवलंबन करके स्वप्नमें भी स्त्रियोंका त्याग कर दिया है, ऐसे महापुरुष ही धन्य हैं ॥ ५३ ॥

अब इस कथनको पूर्ण करनेके लिये संकोचते हुए उपदेश करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम्

यद्वक्तुं न बृहस्पतिः शतमखः श्रोतुं न साक्षात्क्षमः
तत्स्त्रीणामगुणव्रजं निगदितुं मन्ये न कोऽपि प्रभुः ।

आलोक्य स्वमनीषया कतिपयैर्वर्णैर्यदुक्तं मया
तच्छ्रुत्वा गुणिनस्त्यजन्तु वनितासंभोगपापग्रहं ॥५४॥

अर्थ--आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि स्त्रियोंके दोषसमूहको कहनेके लिये तो बृहस्पति समर्थ नहीं और सुननेके लिये इन्द्र समर्थ नहीं, इस कारण मैं ऐसा मानता हूं कि और कोई भी स्त्रियोंके दोषोंका वर्णन नहीं कर सकता। तिस पर भी मैंने स्त्रियोंके अवगुण देख कर कितने ही अक्षरोंमें जो कहे हैं, सो इनको सुन कर जो गुणी पुरुष हैं, वे वनिताके संभोगरूपी पापके आग्रहको छोड़ो, यह हमारा उपदेश है ॥५४॥

मालिनी ।

परिभवफलवल्लीं दुःखदावानलालीम्
विषयजलधिवेलां श्वभ्रसौधप्रतोलीम् ।
मदनभुजगदंष्ट्रां मोहतन्द्रासवित्रीम्
परिहर परिणामैर्धैर्यमालम्ब्य नारीं ॥५५॥

अर्थ—हे आत्मन्! तूं धैर्यके अवलम्बनपूर्वक चित्तसे स्त्रीका प्रसंग छोड़, क्योंकि यह स्त्री अपमानरूपी फलको उत्पन्न करनेके लिये तो वेल (लता) है और दुःखरूपी दावाग्निकी पंक्ति है तथा विषयरूपी समुद्रकी लहर और नरकरूपी महलमें प्रवेश करनेके लिए प्रतोली है अर्थात् प्रवेशद्वार वा घर हैं तथा कामरूपी सर्पकी दाढ़ और मोह वा तंद्रा (आलस्य) की माता है ॥५५॥

इस प्रकार दोषोंके आश्रय स्त्रीका निषेध किया। अब यह कहते हैं कि समस्त स्त्रियाँ दोषयुक्त ही हैं, ऐसा एकान्त नहीं हैं; किन्तु जिनमें शीलसंयमादि गुण होते हैं, वे प्रशंसा करनेयोग्य भी हैं—

यमिभिर्जन्मनिर्विण्णैर्दूषिता यद्यपि स्त्रियः ।
तथाप्येकान्ततस्तासां विद्यते नाघसंभवः ॥५६॥

अर्थ—यद्यपि संसारसे विरक्त हुए संयमी मुनियोंने स्त्रियोंको दूषित ही किया है अर्थात् दोषयुक्त ही वर्णन किया है, तथापि उनमें एकान्ततासे पापका ही संभव नहीं हैं; किन्तु उनमेंसे किसी २ स्त्रीमें गुण भी होते हैं, सो ही कहते हैं ॥५६॥

आर्या

ननु सन्ति जीवलोके काश्चिच्छमशीलसंयमोपेताः ।
निजवंशतिलकभूताः श्रुतसत्यसमन्विता नार्यः ॥५७॥

अर्थ--अहो! इस जगतमें अनेक स्त्रियाँ ऐसी भी हैं कि जो शमभाव (मन्दकषायरूप परिणाम) और शीलसंयमसे भूषित हैं तथा अपने वंशमें तिलकभूत हैं अर्थात् अपने वंशको शोभायमान करती है और शास्त्राध्ययन तथा सत्य वचन करके सहित भी हैं ॥५७॥

सतीत्वेन महत्त्वेन वृत्तेन विनयेन च ।
विवेकेन स्त्रियः काश्चिद् भूषयन्ति धरातलम् ॥५८॥

अर्थ —अनेक स्त्रियाँ ऐसी हैं, जो अपने पतिव्रतपनसे, महत्त्वसे, चारित्रसे (सदाचरणोंसे), विनयसे और विवेकसे इस पृथ्वितलको भूषित (शोभायुक्त) करती है ॥५८॥

शार्दूलविक्रीडितम्

निर्विण्णैर्भवसंक्रमाच्छ्रुतधरैरेकान्ततो निस्पृहै-
र्नार्यो यद्यपि दूषिताः शमधनैर्ब्रह्मव्रतालम्बिभिः ।
निन्द्यन्ते न तथापि निर्मलयमस्वाध्यायवृत्ताङ्किता
निर्वेदप्रशमादिपुण्यचरितैर्याः शुद्धिभूता भुवि ॥५९॥

अर्थ—जो संसारके भ्रमणसे विरक्त हैं, शास्त्रोंके पारगामी और स्त्रियोंसे सर्वथा निःस्पृह हैं तथा उपशमभाव ही है धन जिनके, ब्रह्मचर्यावलंबी मुनिगणोंने यद्यपि स्त्रियोंकी निन्दा की है, तथापि जो स्त्रियाँ निर्मल और पवित्र यमनियमस्वाध्यायचारित्रादिसे भूषित हैं और वैराग्य-उपशमादि पवित्राचरणोंसे पवित्र हैं, वे निंदा करनेयोग्य नहीं हैं । क्योंकि निंदा दोषोंकी ही की जाती है, किंतु गुणोंकी निंदा नहीं होती ॥ ५९ ॥

इस प्रकार स्त्रियोंकी दोषोंके आश्रय निंदा और गुणोंके आश्रय निंदा नहीं ऐसा वर्णन किया ।

कवित्त

जे प्रमदाजन हैं जगमें तिनके गुण दोष कहे लखि नैनन ।
कामकलंकित हैं तिनके कुचरित्र अनेक बसैं तनुसैनन ॥
वर्णन कौन सके करने कछु देखि सुने बरने बच पेनन ।
शील क्षमाव्रतवान सुयोषित हैं तिनकी महिमा जिनवैनन ॥ १२॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते स्त्रीस्वरूपवर्णनरूपो द्वादशः सर्गः॥१२॥

अथ त्रयोदशः सर्गः ।

मैथुनत्यागोपदेश ।

*

अब मैथुन (कामसेवन) का वर्णन करते हैं —

स्मरज्वलनसंभ्रान्तो यः प्रतीकारमिच्छति ।
मैथुनेन स दुर्बुद्धिराज्येनाग्निं निषेधति ॥ १ ॥

अर्थ—जो पुरुष कामरूपी अग्निसे पीड़ित हो कर मैथुनसे उस पीड़ाको शान्त करनेकी इच्छा करता है, वह दुर्बुद्धि घृतसे अग्निको बुझाना चाहता है ॥ १ ॥

वरमाज्यच्छटासिक्तः परिरब्धो हुताशनः ।
न पुनर्दुर्गतेद्वारं योषितां जघनस्थलम् ॥ २ ॥

१ "निद्रताः" इत्यपि पाठः

अर्थ—घृतकी छटाओंसे सिंचन किये हुए अग्निका आलिंगन करना श्रेष्ठ है; परन्तु स्त्रीके जघनस्थलका आलिंगन करना कदापि श्रेष्ठ नहीं; क्योंकि वह दुर्गतिका द्वार है, अर्थात् अग्निसे जला हुआ तो इस जन्ममें ही किंचित् कष्ट पाता है, किन्तु स्त्रीका आलिंगन करनेसे दुर्गतिमें नाना प्रकारके कष्ट सहने पड़ते हैं ॥२॥

स्मरशीतज्वरातङ्कशङ्किताः क्षीणबुद्धयः ।
विशन्ति वनितापङ्के तत्प्रतीकारवाञ्छया ॥३॥

अर्थ—कामरूपी शीतज्वरके भयसे नष्टबुद्धि पुरुष उसके प्रतिकारकी वांछा करके स्त्रीरूपी कर्दममें (कीचड़में) प्रवेश करते हैं, परन्तु यह समीचीन उपाय नहीं है ॥३॥

वासनाजनितं मन्ये सौख्यं स्त्रीसङ्गसंभवम् ।
सेव्यमानं यदन्ते स्याद्वैरस्यायैव केवलम् ॥४॥

अर्थ--स्त्रीके संगसे उत्पन्न हुए सुखका सेवन करना अन्तमें केवल विरसताका ही कारण है। इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं कि इस प्राणीकी पूर्व वासना ऐसी ही है, उसीसे ऐसा होता है, किन्तु परमार्थसे विचार किया जाय तो यह सुख दुःख ही है ॥४॥

प्रपश्यति यथोन्मत्तः शश्वल्लोष्टेऽपि काञ्चनम् ।
मैथुनेऽपि तथा सौख्यं प्राणी रागान्धमानसः ॥५॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष धतूरा खानेसे उन्मत्त हो कर मिट्टीके ढेलेमें सोना समझता है, उसी प्रकार रागसे अन्ध हो गया है चित्त जिसका, ऐसा यह प्राणी मैथुनमें भी (दुःखमें भी) सुखानुभव करता है, किन्तु वास्तवमें सुख नहीं है ॥५॥

अपथ्यानि यथा रोगी पथ्यबुद्ध्या निषेवते ।
सुखबुद्ध्या तथाङ्गानि स्त्रीणां कामी गतत्रपः ॥६॥

अर्थ—जैसे रोगी पथ्यकी इच्छासे अपथ्य सेवन करता है उसी प्रकार कामी पुरुष निर्लज्ज हो कर सुखकी इच्छासे स्त्रियोंके अंगोंका दर्शनस्पर्शनादि करता है; परंतु उसकी बड़ी भूल है ॥६॥

कश्चिद्ब्रूते यथा दीपं निर्वाणमपि नन्दितम् ।
स्मरमूढः सुखं तद्वद्दुःखमप्यत्र मैथुने ॥७॥

अर्थ— जिस प्रकार दीपकके बुझ जाने पर अनेक जन कहा करते हैं कि 'दिपक बढ़ गया' इसी प्रकार काममूढ पुरुष भी मैथुनमें दुःख ही दुःख है, तो भी उसमें सुखकी कल्पना कर लेता है ॥७॥

किम्पाकफलसमानं वनितासंभोगसंभवं सौख्यम् ।
आपाते रमणीयं प्रजायते विरसमवसाने ॥८॥

अर्थ—स्त्रीके संभोगसे उत्पन्न हुआ सुख किम्पाक फल (इन्द्रायणके फल) के समान सेवन

करते समय तो रमणीय भासता है; परन्तु अन्तमें विरस है। भावार्थ—जैसे इन्द्रायणका फल देखनेमें सुन्दर सुगन्धित और खानेमें मिष्ट होता है, परन्तु उदरमें जा कर हलाहल विषकासा काम करता है, इसी प्रकार स्त्रीजनित सुख भी सेवन करते रमणीय हैं, परन्तु तज्जन्य पापसे नरक निगोदादि दुर्गतियोंके दुःख सहने पड़ते हैं ॥८॥

मैथुनाचरणे कर्म निर्घृणैः क्रियतेऽधमम्‌ ।
पीयते वदनं स्त्रीणां लालाम्बुकलुषीकृतम्‌ ॥९॥

अर्थ—निर्दय अथवा ग्लानिरहित पुरुष मैथुनावस्थामें कैसा नीच कर्म करते हैं, कि स्त्रियोंके मुखसे निकली हुई लारोंसे मैले किये हुए मुखका पान करते है, अर्थात्‌ चुंबन करते हैं हा! इन मूर्खोंको ग्लानि भी नहीं आती ॥९॥

कण्डूयनतनुस्वेदाद्देषि कुष्ठी यथा सुखम्‌ ।
तीव्रस्मररुजातङ्कपीडितो मैथुनं तथा ॥१०॥

अर्थ—जैसे कोढ़ी पुरुष शरीरको खुजाने तथा तपानेसे सुख मानता है, उसी प्रकार तीव्र काम-रूपी रोगसे दुःखित हुआ पुरुष भी मैथुनकर्मको सुख मानता है, यह बड़ा विपर्यय है; क्योंकि जैसे खुजानेसे खाज बढ़ती है और अन्तमें कष्टदायक जलनको पैदा करती है, इसी प्रकार स्त्रिका सेवन भी कामसेवनेच्छाको उत्तरोत्तर बढाता है और अन्तमें कष्टदायक होता है ॥१०॥

अशुचीन्यङ्गनाङ्गानि स्मराशीविषमूर्छिताः ।
जिह्वाभिर्विलिहन्त्युच्चैः शुनीनामिव कुक्कुराः ॥११॥

अर्थ—यद्यपि स्त्रियोंके अंग अशुचि हैं अर्थात्‌ अपवित्र हैं परन्तु उन्हें कामरूपी सर्पसे काटे हुए अचेत पुरुष अतिशय आसक्त हो जैसे कुत्ते कुतियाके अंगोंको चाटते हैं, उसी प्रकार चाटते हैं। हा! इन निर्लज्जोंको ग्लानि भी नहीं आती ॥११॥

ग्लानिर्मूर्च्छा भ्रमः कम्पः श्रमः स्वेदोऽङ्गविक्रिया ।
क्षयरोगादयो दोषा मैथुनोत्थाः शरीरिणाम्‌ ॥१२॥

अर्थ—जीवोंके यद्यपि ग्लानि, क्षीणता, मूर्च्छा, अचेतना भ्रम, कंपन, खेद, स्वेद (पसेव), अंग-विकार और क्षयरोग इत्यादि दोष मैथुनसे हो उपजते हैं, तो भी यह मूर्ख प्राणी उसको सेवता ही है ॥१२॥

अनेकदुःखसन्ताननिदानं विद्धि मैथुनम्‌ ।
कथं तदपि सेवन्ते हन्त रागान्धबुद्धयः ॥१३॥

अर्थ—हे आत्मन्‌! इस मैथुनकर्मको अनेक दुःखोंका कारण जान। आचार्य महाराज खेदपूर्वक कहते हैं, प्रत्यक्ष दुःखदायक जान कर भी रागान्ध पुरुष इसका सेवन करते हैं, सो बड़ा खेद है ॥१३॥

कुष्ठव्रणमिवाजस्रं वाति स्रवति पूतिकम्‌ ।
यत्स्त्रीणां जघनद्वारं रतये तद्धि रागिणाम्‌ ॥१४॥

अर्थ—स्त्रियोंका जघनद्वार जो कुष्ठके (कोढ़के) घावके समान निरन्तर झरता है तथा दुर्गन्धसे बासता है, वह भी रागी पुरुषोंकी रति (प्रीति) के लिये है, यह आश्चर्य है ॥१४॥

काकः कृमिकुलाकीर्णे करङ्के कुरुते रतिं ।
यथा तद्वद्वराकोऽयं कामी स्त्रीगुह्यमन्थने ॥१५॥

अर्थ—जैसे काक कीड़ोंके समूहसे भरे हाड़ वा फलविशेषमें रति (प्रीति) करता है, उसी प्रकार यह पामर प्राणी भी स्त्रीके गुह्यस्थानके मंथन करनेमें प्रीति करता है ॥१५॥

आर्या

वक्तुमपि लज्जनीये दुर्गन्धे मूत्रशोणितद्वारे ।
जघनबिले वनितानां रमते बालो न तत्त्वज्ञः ॥१६॥

अर्थ—स्त्रियोंके योनिछिद्रका नाम लेते ही लज्जा आती है, फिर दुर्गन्धमय और मूत्र तथा रुधिरके झरनेका द्वार है। ऐसेमें अज्ञानी ही रमता है, तत्त्वज्ञानी तो कभी नहीं रमता ॥१६॥

वंशस्थः ।

स्वतालुरक्तं किल कुक्कुराधमैः प्रपीयते यद्वदिहास्थिचर्वणात् ।
तथा विटैर्विद्धि वपुर्विडम्बनैर्निषेव्यते मैथुनसंभवं सुखम् ॥१७॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू ऐसा जान कि जैसे नीच कुत्ते हाड़के चर्वण करनेसे अपने ही तालुसे निकलनेवाले रक्तका पान करके प्रसन्न होते हैं कि यह रुधिर हाडमेंसे ही निकलता है, इसी प्रकार व्यभिचारी जन अपने और स्त्रीके शरीरकी विडंबनासे उत्पन्न हुए सुखका सेवन करते हैं ॥१७॥

अशुचिष्वङ्गनाङ्गेषु संगताः पश्य रागिणः ।
जुगुप्सां जनयन्त्येते लोलन्तः कृमयो यथा ॥१८॥

अर्थ—देखो, जिस प्रकार अपवित्र मलादिकमें कीड़े कलबलाहट करते हैं, उसी प्रकार ये चपल कामी जन स्त्रियोंके अपवित्र अंगोंकी संगति करते हुए ग्लानिको उत्पन्न करते हैं ॥१८॥

योनिरन्ध्रमिदं स्त्रीणां दुर्गतेर्द्वारमग्रिमम् ।
तत्त्यजन्ति ध्रुवं धन्या न दीना दैववञ्चिताः ॥१९॥

अर्थ—स्त्रियोंका योनिरन्ध्र दुर्गतिका प्रथम (मुख्य) द्वार है, इस कारण उसे जो धन्य पुरुष हैं, वे तो अवश्य ही त्यागते हैं; किन्तु जो दीन हैं अर्थात् नीच हैं, वे नहीं छोड़ते, क्योंकि वे दैवसे ठगे हुए अर्थात् अभागी हैं ॥१९॥

मालतीव मृदून्यासां विद्धि चाङ्गानि योषितां ।
दारयिष्यन्ति मर्माणि विपाके ज्ञास्यसि स्वयम् ॥२०॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू इन स्त्रियोंके अंगोंको मालती पुष्पके समान कोमल जानता है, परन्तु अन्तमें जब ये तेरे मर्मोंका विदारण करेंगे तब तुझे आप मालूम हो जायगा। **भावार्थ**—तू स्त्रियोंके अंगोंको कोमल समझ स्पर्शनादि करता है, परन्तु इनके फल (दुर्गतियां) बहुत ही कष्टकर होंगे ॥२०

मैथुनाचरणे मूढ म्रियन्ते जन्तुकोटयः ।
योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिंगसंघप्रपीडिताः ॥२१॥

अर्थ—हे मूढ ! योनिरंध्रमें असंख्य जीवोंकी कोटिको (समूहको) उत्पत्ति होती है सो मैथुनाचरणसे वे सब जीव घाते जाते हैं, उनकी हिंसासे ही दुर्गतिमें दुःख सहने पड़ते हैं ॥२१॥

बीभत्सानेकदुर्गन्धमलाक्तं स्वकलेवरम् ।
यत्र तत्र वपुः स्त्रीणां कस्यास्तु रतये शुचि ॥२२॥

अर्थ—इस पृथ्विमें जब अपना ही शरीर जहां तहां बीभत्स अनेक दुर्गन्धियों तथा मलोंसे भरा है, तो फिर स्त्रियोंका शरीर किसके रति करने योग्य हो, अर्थात् किसीको प्रीतिके अर्थ नहीं हो सकता ॥२२॥

उत्तानोच्छूनमण्डूकदारितोदरसन्निभे ।
चर्मरन्ध्रे मनुष्याणामपूर्वः कोऽप्यसद्ग्रहः ॥२३॥

अर्थ—स्त्रियोंका योनिरन्ध्र उत्तान कहिये, उलटे किये और अच्छून कहिये सूझे हुए मेंडकके बिदारे फाड़े हुए शरीरकी आकृतिके समान घृणास्पद है। सो ही कवि कहता है कि ऐसे घृणास्पद अपवित्र स्थानमें कोई अपूर्व असमीचीन दुराग्रह है जो मनुष्य मलिनाचरण करते हैं ॥२३॥

सर्वाशुचिमये काये दुर्गन्धामेध्यसंभृते ।
रमन्ते रागिणः स्त्रीणां विरमन्ति तपस्विनः ॥२४॥

अर्थ—दुर्गन्ध विष्टादिकसे भरे और सर्वत्र अशुचिमय स्त्रियोंके शरीरमें रागी जन ही रमते हैं, किन्तु तपस्वी उससे विरक्त ही रहते हैं ॥२४॥

मालिनी ।

कुथितकुणपगन्धं योषितां योनिरन्ध्रं
कृमिकुलशतपूर्णं निर्झरत्क्षारवारि ।
त्यजति मुनिनिकायः क्षीणजन्मप्रबन्धो
भजति मदनवीरप्रेरितोऽङ्गी वराकः ॥२५॥

अर्थ—स्त्रियोंका योनिरन्ध्र बिगड़े हुए वा सड़े मुर्देकीसी दुर्गंधवाला है, कीड़ोंके सैंकड़ों समूहोंसे भरा हुआ है और क्षारजल (मूत्र) झरता रहता है, जो जिनके संसारका अन्त आ गया है, ऐसे मुनिगण तो इसे छोड़ते हैं और जो रंक कामरूपी सुभटकरके प्रेरित हैं, वे सेवन करते हैं ॥२५॥

सोरठा

कामीके रति होय, अशुचि मलिनतियतनविषै ।
पावै दुर्गति सोय, मुनि त्यागै दिव शिव लहै ॥१३॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते मैथुनप्रकरणं नाम त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

अथ चतुर्दशः सर्गः ।

स्त्रीसंसर्ग निषेध ।

आगे स्त्रियोंके संसर्गसे ब्रह्मचर्य भङ्ग होता है, इस कारण उसके निषेधका वर्णन करते हैं—

विरज्याशेषसंगेभ्यो यो वृणीते शिवश्रियम् ।
स क्रुद्धाहेरिव स्त्रीणां संसर्गाद्विनिवर्त्तते ॥१॥

अर्थ—जो पुरुष समस्त परिग्रहोंसे विरक्त हो कुपित सर्पसे कोई जिस प्रकार दूर रहता है, उसी प्रकार स्त्रियोंके संसर्गसे दूर रहता है, वही मुक्तिरूपी लक्ष्मीको वरता है, अर्थात् प्राप्त होता है ॥१॥

यथा सद्यो विलीयन्ते गिरयो वज्रताडिताः ।
तथा मत्ताङ्गनापाङ्गप्रहारेणाल्पचेतसः ॥२॥

अर्थ—जैसे वज्रपातसे ताड़े हुए पर्वत शीघ्र ही खंड २ हो जाते हैं, वैसे यौवनसे मदोन्मत्त स्त्रियोंके नेत्रकटाक्षोंके प्रहारसे अल्पज्ञानी खंड २ हो स्त्रियोंमें तन्मय हो जाते हैं अथवा स्त्रियोंका संसर्ग अल्पज्ञोंको खराब करता है ॥२॥

यस्तपस्वी व्रती मौनी संवृतात्मा जितेन्द्रियः ।
कलङ्कयति निःशङ्कं स्त्रीसखः सोऽपि संयमं ॥३॥

अर्थ—जो मुनि, तपस्वी, व्रती, मौनी, संवरस्वरूप तथा जितेन्द्रिय हो और स्त्रीकी संगति करता हो, वह अपने संयमको कलंक ही लगावें ॥३॥

मासे मासे व्यतिक्रान्ते यः पिबत्यम्बु केवलम् ।
विमुह्यति नरः सोऽपि संगमासाद्य सुभ्रुवः ॥४॥

अर्थ—जो मुनि महीने २ का उपवास करके केवल मात्र जल ही ग्रहण करता है, ऐसा तपस्वी भी स्त्रीकी संगति पा मोहित हो जाता है ॥४॥

सर्वत्राप्युपचीयन्ते संयमाद्यास्तपस्विनाम् ।
गुणाः किन्त्वङ्गनासङ्गं प्राप्य यान्ति क्षयं क्षणात् ॥५॥

अर्थ—तपस्वियोंके संयमादि गुण सब जगह वृद्धिको प्राप्त होते हैं, किन्तु अंगनाके संसर्गको प्राप्त हो कर, वे गुण क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं ॥५॥

संचरन्ति जगत्यस्मिन्स्वेच्छया यमिनां गुणाः ।
विलीयन्ते पुनर्नारीवदनेन्दुविलोकनात् ॥६॥

अर्थ—संयमी गणोके गुण इस जगतमें स्वेच्छासे यत्र तत्र विस्तारको प्राप्त होते हैं, परन्तु स्त्रियोंके मुखरूपी चंद्रमाके देखनेसे विलीन हो जाते हैं ॥६॥

तावद्धत्ते मुनिः स्थैर्यं श्रुतं शीलं कुलक्रमं ।
यावन्मत्ताङ्गनानेत्रवागुराभिर्न रुद्ध्यते ॥७॥

अर्थ—मुनि है सो स्थिरता, शास्त्राध्ययन, शील और कुलक्रम (गुरु आम्नायको) तब तक ही धारण करता है, जब तक यौवन-मदोन्मत्त स्त्रीके नेत्ररूपी फांसीसे नहीं बँधता अर्थात् स्त्रियोंके नेत्र-कटाक्षपात होते ही शास्त्राध्ययनादि सब नष्ट हो जाते हैं ॥७॥

नवनीतनिभं पुंसां मनः सद्यो विलीयते ।
वनितावह्निसंतप्तं सतामपि न संशयः ॥८॥

अर्थ—पुरुषोंका मन नवनीत (मक्खन) सदृश है, सो स्त्रीरूपी अग्निका संयोग होने पर सत्पुरुषोंका चित्त भी चलायमान हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं ॥८॥

अन्तःसुप्तोऽपि जागर्त्ति स्मरः संगेन योषिताम् ।
रोगव्रज इवापथ्यसेवासंभावितात्मनाम् ॥९॥

अर्थ—जैसे अपथ्य सेवन करनेवाले मनुष्योंके रोगोंका समूह उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही काम है सो अन्तरंग (मन में) सोता है, तो भी स्त्रीके संगममात्रसे जागता है ॥९॥

क्रियते यैर्मनः स्वस्थं श्रुतप्रशमसंयमैः ।
तेऽपि संसर्गमासाद्य वनितानां क्षयं गताः ॥१०॥

अर्थ—जिन पुरुषोंने शास्त्राध्ययन, प्रशम भाव और संयमसे अपने मनको स्वस्थ (वशीभूत) कर लिया है, वे भी स्त्रियोंके संसर्गको प्राप्त हो कर नष्ट हो गये हैं ॥१०॥

स्थिरीकृत्य मनस्तत्त्वे तावत्तिष्ठति संयमी ।
यावन्नितम्बिनीभोगिभ्रुकुटिं न समीक्षते ॥११॥

अर्थ—संयमी पुरुष तब तक ही मनको तत्त्वमें स्थिर करके रहता है जब तक कि स्त्रीरूपी सर्पकी भ्रूकुटीको नहीं देखता है ॥११॥

यासां संकल्पलेशोऽपि तनोति मदनज्वरम् ।
प्रत्यासत्तिर्न किं तासां रुणद्धि चरणश्रियम् ॥१२॥

अर्थ—जिन स्त्रियोंके संकल्पका लेश मात्र भी मनमें हो तो वह मदनज्वरको बढ़ा देता है, तो उनकी निकटता क्या चारित्ररूपी लक्ष्मीको नष्ट भ्रष्ट नहीं करेगी ? ॥१२॥

यस्याः संसर्गमात्रेण यतिभावः कलङ्क्यते ।
तस्याः किं न कथालापैर्भ्रूभङ्गैश्चारुविभ्रमैः ॥१३॥

अर्थ—जिस स्त्रीके संसर्ग मात्रसे ही मुनिपन कलंकित होता है, उसके साथ वार्तालाप करने, भौंहके टेढ़ेपन और सुंदर विभ्रम विलासोंके देखनेसे क्या यतिपन नष्ट नहीं होता ! अर्थात् होता ही है ॥१३॥

सुचिरं सुष्ठु निर्णीतं लब्धं वा वृद्धसंनिधौ ।
लुप्यते स्त्रीमुखालोकाद्व्रतरत्नं शरीरिणाम् ॥१४॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि हमने बहुत काल बड़ोंकी संगतिमें रह कर भले प्रकार निर्णय कर लिया है तथा यह सिद्धान्त प्राप्त किया है कि स्त्रीके मुखावलोकन करनेसे जीवोंका संयमरूपी रत्न अवश्य ही नष्ट हो जाता है ॥१४॥

पुस्तोपलविनिष्पन्नं दारुचित्रादिकल्पितम् ।
अपि वीक्ष्य वपुः स्त्रीणां मुह्यत्यङ्गी न संशयः ॥१५।

अर्थ—स्त्रियोंके शरीरकी आकृति पुस्त[1] (मिट्टी आदिसे) व पाषाण से रची हुई तथा काष्ठ चित्रादिसे रची हुईको देख कर भी प्राणी मोहको प्राप्त होता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। फिर साक्षात् स्त्रीको देखनेसे क्यों नहीं मोहित होगा? अर्थात् अवश्य ही होगा ॥१५॥

यहां स्त्रीका संसर्ग होने पर क्या क्या अवस्था होती हैं, सो कहते हैं—

दृष्टिपातो भवेत्पूर्वं व्यामुह्यति ततो मनः ।
प्रणिधत्ते जनः पश्चात्तत्कथागुणकीर्त्तने ॥१६॥

अर्थ—प्रथम तो स्त्री पर दृष्टि पड़ती है, तत्पश्चात् चित्त मोहित होता है, तत्पश्चात् उस स्त्रीकी कथा और गुणकीर्तनमें मन लगाता है ॥१६॥

ततः प्रेमानुबन्धः स्यादुभयोरपि निर्भरम् ।
उत्कण्ठते ततश्चेतः प्रेमकाष्ठप्रतिष्ठितम् ॥१७॥

अर्थ—गुणकीर्तनके पश्चात् दोनोंके परस्पर प्रेमस्नेहकी अतिशयतासे प्रेमग्रंथि पड़ जाती है, तत्पश्चात् चित्त स्नेहकी सीमा पर स्थित हो उत्कंठित रहता है कि कब मिलाप हो ॥१७॥

दानदाक्षिण्यविश्वासैरुभयोर्वर्धते स्मरः ।
ततः शाखोपशाखाभिः प्रीतिवल्ली विसर्पति ॥१८॥

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे तथा दान-दाक्षिण्य-विश्वासादिसे दोनोंके शरीरमें काम वृद्धि होती है, तत्पश्चात् शाखा उपशाखाओंसे वह प्रीतिरूपी लता (वेल) विस्तृत हो जाती है ॥१८॥

मनो मिलति चान्योऽन्यं निःशङ्कं संगलालसं ।
प्रणश्यति ततो लज्जा प्रेमप्रसरपीडिता ॥१९॥

अर्थ—तत्पश्चात् निःशंक संगमका लोलुप दोनोंका मन परस्पर एक हो जाता है। तत्पश्चात् प्रेमके प्रसर (वेग) से पीड़ित हो कर लज्जा नष्ट हो जाती है। अर्थात् दोनों ऐसे निर्लज्ज हो जाते हैं, कि बड़ोंके निकट रहने पर भी परस्पर वचनालाप दृष्टिसाम्यतादि निर्लज्जताके कार्य होने लगते हैं ॥१९॥

---

१. "मृदा वा दारुणा वापि वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा । लोहरत्नैः कृतं वापि पुस्तमित्यभिधीयते" ॥१॥
अर्थ—मिट्टी, काष्ठ, कपड़ा, चमड़ा लोह और रत्न इनसे निर्माण किये हुये पदार्थको पुस्त कहते हैं ॥१॥

निःशङ्कं कुरुते नर्म रहोजल्पावलम्बितम् ।
वीक्षणादीन्धनोद्भूतः कामाग्निः प्रविजृम्भते ॥२०॥

अर्थ—तत्पश्चात् दोनों एकान्तस्थान पाते ही निःशंक हो हास्यरूप वार्तालाप करते रहते हैं। तत्पश्चाद्दर्शन स्पर्शनादि ईंधनसे उत्पन्न हुई कामाग्नि प्रज्वलित (तीव्र) हो जाती है ॥२०॥

बहिरन्तस्ततस्तेन दह्यमानोऽग्निना भृशम् ।
अविचार्य जनः शीघ्रं ततः पापे प्रवर्त्तते ॥२१॥

अर्थ—तत्पश्चात् यह मनुष्य उस कामरूपी अग्निसे बाह्यमें तो शरीर और अन्तरंगमें चित्तके अतिशय दाहरूप होनेसे बिना विचारे ही पापकार्यमें प्रवर्त्तने लग जाता है। इस प्रकार अनुक्रमसे स्त्रीके संसर्गसे मनुष्यकी पापाचरणमें प्रवृत्ति हो जाती है ॥२१॥

श्रुतं सत्यं तपः शीलं विज्ञानं वृत्तमुत्तमम् ।
इन्धनीकुरुते मूढः प्रविश्य वनितानले ॥२२॥

अर्थ—इस प्रकार यह मूढ प्राणी स्त्रीरूपी अग्निमें प्रवेश करके शास्त्राध्ययन, सत्य व्रत, तप, शील (ब्रह्मचर्य), विज्ञान और उत्तम चारित्र इनको ईंधनकी समान जला देता है, अर्थात् स्त्रीके संसर्गसे समस्त धर्म कर्म नष्ट कर देता है ॥२२॥

स्फुरन्ति हृदि संकल्पा ये स्त्रीव्यासक्तचेतसां ।
रागिणां तानि हे भ्रातर्न कोऽपि गदितुं क्षमः ॥२३॥

अर्थ—हे भाई ! जिन पुरुषोंका चित्त स्त्रियोंमें आसक्त है, उन रागियोंके मनमें जो जो संकल्प होते हैं, उन्हे कहनेको कोई भी समर्थ है ? कदापि नहीं। क्योंकि कामीके मनमें क्षणक्षणमें अनेक संकल्प होते रहते हैं ॥२३॥

संसर्गप्रभवा नूनं गुणा दोषाश्च देहिनाम् ।
एकान्ततः स दोषाय स्त्रीभिः सार्द्धं कृतः क्षणम् ॥२४॥

अर्थ—सामान्यतासे संसर्गसे जीवोंके गुण दोष दोनों ही होते हैं; परन्तु स्त्रियोंके साथ जो संसर्ग क्षणभरके लिये भी किया जाय तो वह केवल दोषोंके लिये ही होता है ॥२४॥

पुण्यानुष्ठानसम्भूतं महत्त्वं क्षीयते नृणाम् ।
सद्यः कलङ्क्यते वृत्तं साहचर्येण योषिताम् ॥२५॥

अर्थ—स्त्रियोंके साथ संसर्ग रहनेसे मनुष्योंका अनेक पुण्यकार्योंसे प्राप्त हुआ महत्त्व (बड़प्पन) तत्काल नष्ट हो जाता है और जो व्रत चारित्र हैं, वे कलंकित हो जाते हैं ॥२५॥

अपवादमहापङ्के निमज्जन्ति न संशयः ।
यमिनोऽपि जगद्वन्द्यवृत्ता रामास्पदं श्रिताः ॥२६॥

अर्थ—जो संयमी मुनि जगतसे वंदनयोग्य चारित्रवाले हैं, वे भी स्त्रीके संसर्गसे अपवादीरूपी

महाकर्दममें निःसंदेह डूब जाते हैं अर्थात् फँस जाते हैं ॥२६॥

अनन्तमहिमाकीर्णं प्रोत्तुङ्गं वृत्तपादपम् ।
वामा कुठारधारेव विच्छिनत्त्याशु देहिनाम् ॥२७॥

अर्थ—जीवोंके अनन्त महिमायुक्त, बहुत ऊंचा चरित्ररूपी जो वृक्ष है, उसे स्त्री कुल्हाडेके समान तत्काल काट डालती है ॥२७॥

लोचनेषु मृगाक्षीणां क्षिप्तं किंचित्तदञ्जनम् ।
येनापाङ्गैः क्षणादेव मुह्यत्यासां जगत्त्रयम् ॥२८॥

अर्थ—आचार्य महाराज उत्प्रेक्षासे कहते हैं कि स्त्रियोंके नेत्रोंमें विधाताने कोई ऐसा ही मोहोनी अंजन डाल दिया है कि जिससे इनके कटाक्षोंको देखनेसे क्षणभरमें यह तीनों लोक मोहित हो जाते हैं ॥

कौतुकेन भ्रमेणापि दृष्टिर्लग्नाङ्गनामुखे ।
क्रष्टुं न शक्यते लोकैः पङ्कमग्नेव हस्तिनी ॥२९॥

अर्थ—जैसे हस्तिनी कर्दममें फँस जाती है तो उसको निकालना बड़ा कठिन होता है, उसी प्रकार मनुष्योंकि दृष्टि कौतुक वा भ्रमसे भी स्त्रीके मुख पर पड़ जाती है तो वे उसे खींचनेको असमर्थ होते हैं ॥२९॥

एकत्र वसतिः साध्वी वरं व्याघ्रोरगैः सह ।
पिशाचैर्वा न नारीभिर्निमेषमपि शस्यते ॥३०॥

अर्थ—व्याघ्र, सर्प तथा पिशाचोंके साथ एकत्र रहना तो श्रेष्ठ है, परन्तु स्त्रियोंके साथ निमेषमात्र भी रहना श्रेष्ठ नहीं है ॥३०॥

भ्रूलताचलनैर्येषां स्खलत्यमरमण्डली ।
तेऽपि संसर्गमात्रेण वनितानां विडम्बिताः ॥३१॥

अर्थ—जिनकी भौंहरूपी लताके हिलने मात्रसे देवोंका समूह स्खलित (भयभीत वा क्षुभित) हो जाता है, ऐसे चक्रवर्त्यादिक बडे २ महापुरुष भी स्त्रियोंके संसर्ग मात्रसे विडंबनारूप हो जाते हैं; फिर सामान्य मनुष्यका तो कहना ही क्या ? ॥३१॥

त्यजन्ति वनिताचौररुद्धाश्चारित्रमौक्तिकम् ।
यतयोऽपि तपोभङ्गकलङ्कमलिनाननाः ॥३२॥

अर्थ—स्त्रीरूपी चोरके रोकनेसे (ललकारने पर)तप भंग करनेके कलंकसे मलिन है मुख जिनका ऐसे मुनिगण भी अपना चारित्ररूपी मोतियोंका हार उसके सामने डाल देते हैं, अन्यकी तो कथा ही क्या ? ॥३२॥

ब्रह्मचर्यच्युतः सद्यो महानप्यवमन्यते ।
सर्वैरपि जनैर्लोके विध्यात इव पावकः ॥३३॥

अर्थ—जो कोई बड़ा प्रतिष्ठित हो और ब्रह्मचर्यसे च्युत हो जाय तो वह भी सबके द्वारा अपमानित किया जाता है, क्योंकि जैसा अग्निके बुझ जाने पर उससे किसीको भी भय नहीं रहता, उसी प्रकार ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट होने पर बड़े पुरुषका भी किसीको भय नहीं रहता, अर्थात् उसका अपमान हर कोई कर सकता है ॥३३॥

विशुद्ध्यति जगद्येषां स्वीकृतं पादपांसुभिः ।
वञ्चिता बहुवस्तेऽपि वनितापाङ्गवीक्षणात् ॥३४॥

अर्थ—जिन महापुरुषोंके चरणोंकी रजसे यह जगत् पवित्र हो जाता है, वे भी प्रायः स्त्रियोंके किये हुए कटाक्षोंके देखनेसे वञ्चित (नष्ट) हो गये हैं। ऐसे महापुरुषोंकी कथा जगतमें तथा शास्त्रोंमें बहुत हैं ॥३४॥

तपःश्रुतकृताभ्यासा ध्यानधैर्यावलम्बिनः ।
श्रूयन्ते यमिनः पूर्वे योषाभिः कश्मलीकृताः ॥३५॥

अर्थ—जिनके तप और शास्त्रोंका अभ्यास है तथा जो ध्यानमें धैर्य (दृढता) का अवलंबन करनेवाले हैं, ऐसे मुनि भी स्त्रियोंसे कलंकित हुए सुने जाते हैं, अन्य क्षुद्र पुरुषोंका तो कहना ही क्या ! ॥३५॥

उह्यते यत्र मातङ्गैर्नगोत्तुङ्गैर्जलप्लवे ।
तत्र व्यूढा न संदेहः प्रागेव मृगशावकाः ॥३६॥

अर्थ—क्योंकि जिस जलके प्रवाहमें पर्वतसरीखे बड़े २ हाथी भी बह जाते हैं, उसमें यदि पहिले मृगोंके बच्चे बह गये तो इसमें क्या संदेह है ? ॥३६॥

मालिनी ।

इह हि वदनकञ्जं हावभावालसाढ्यं
मृगमदललिताङ्कं विस्फुरद्भ्रूविलासम् ।
क्षणमपि रमणीनां लोचनैर्वीक्ष्यमाणं
जनयति हृदि कम्पं धैर्यनाशं च पुंसाम् ॥३७॥

अर्थ—इस जगतमें हावभाव आदि विलासोंसे भरे हुए, कस्तूरीकी सुन्दर बिन्दीवाले तथा विशेषताके साथ चंचल हैं भौंहके विलास जिसमें ऐसे स्त्रियोंके मुखरूपी कमलको क्षणभर भी नेत्रोंसे देखने पर वह पुरुषोंके हृदयमें कम्प उत्पन्न करके धैर्यको नष्ट कर देता है ॥३७॥

स्रग्धरा ।

यांसां सीमन्तिनीनां कुरवकतिलकाशोकमाकन्दवृक्षाः
प्राप्योच्चैर्विक्रियन्ते ललितभुजलतालिङ्गनादीन्विलासान् ।
तासां पूर्णेन्दुगौरं मुखकमलमलं वीक्ष्य लीलारसाढ्यं
को योगी यस्तदानीं कलयति कुशलो मानसं निर्विकारम् ॥३८॥

अर्थ—जिन स्त्रियोंके सुन्दर भुजलताओंके आलिंगनादि विलासोंको प्राप्त हो कर कुरबक, तिलक, अशोक और आम्रवृक्ष भी अतिशय विकारको प्राप्त होते हैं अर्थात् फलते फूलते हैं, तो उन स्त्रियोंके पूर्ण चन्द्रमाके समान गौर लीला रसयुक्त मुखकमलोंको देखकर ऐसा कौनसा योगी यति प्रवीण है, जो अपने मनको उस समय निर्विकार रख सके ? अर्थात् कोई भी नहीं ॥३८॥

फिर भी विशेषताके साथ कहते हैं—

> तावद्धत्ते प्रतिष्ठां परिहरति मनश्चापलं चैष तावत्
> तावत्सिद्धान्तसूत्रं स्फुरति हृदि परं विश्वतत्त्वैकदीपम् ।
> क्षीराकूपारवेलावलयविलसितैर्मानिनीनां कटाक्षै-
> र्यावन्नो हन्यमानं कलयति हृदयं दीर्घदोलायितानि ॥३९॥

अर्थ—यह पुरुष जब तक क्षीरसमुद्रकी लहरोंके वलयसरीखे विलासरूप मानिनी स्त्रियोंके कटाक्षोंसे हननेमें आये हुए हृदयके दीर्घ दोलायमान चंचलभावको प्राप्त नहीं होता, तब तक ही यह मनुष्य प्रतिष्ठाको धारण करता और मनकी चंचलताको छोड़कर स्थिरता रख सकता है और तब तक ही समस्त तत्त्वोंका प्रकाश करनेके लिये दीपकके समान सिद्धान्तसूत्र हृदयमें स्फुरित होते हैं, अर्थात् स्त्रियोंके सुन्दर कटाक्षोंको देखनेसे किसका मन स्थिर रह सकता है ? ॥३९॥

> संसर्गाद्दुर्बलां दीनां संत्रस्तामप्यनिच्छतीम् ।
> कुष्ठिनीं रोगिणीं जीर्णा दुःखितां क्षीणविग्रहाम् ॥४०॥
> निन्दितां निन्द्यजातीयां स्वजातीयां तपस्विनीम् ।
> बालामपि तिरश्चीं स्त्रीं कामी भोक्तुं प्रवर्तते ॥४१॥

अर्थ—स्त्रीके संसर्गसे भ्रष्ट हुए कामी पुरुष दुर्बल, दीन (भिखारिनी), भयभीत, विना इच्छती, कोढ़नी, रोगिणी, बुढिया, दुःखिनी क्षीण शरीरवाली, निंदित (वेश्यादिक) तथा निन्द्य जातिकी चंडालनी आदि तथा स्वजातीया, तपस्विनी, बालिका और तो क्या तिर्यंचनीसे भी व्यभिचार करने लग जाते हैं। इस कारण ब्रह्मचारियोंको स्त्रीका संसर्ग सर्वथा छोड़ना चाहिये ॥४०-४१॥

> अङ्गनापाङ्गबाणालीं प्रपतन्तीं निवारय ।
> विधाय हृदयं धीर दृढं वैराग्यवर्मितम् ॥४२॥

अर्थ—अब आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे धीर, वीर, अपने हृदयको वैराग्यरूपी दृढ कवचसे वेष्टित करके स्त्रियोंके कटाक्ष बाणोंकी पड़ती हुई पंक्तिको निवारण कर ॥४२॥

> ब्रह्मचर्यविशुद्ध्यर्थं सङ्गः स्त्रीणां न केवलम् ।
> त्याज्यः पुंसामपि प्रायो विटविद्यावलम्बिनाम् ॥४३॥

अर्थ—हे भाई ! ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिए केवल स्त्रियोंके संसर्गका ही निषेध नहीं किया है, किन्तु विटविद्यावलम्बी व्यभिचारी स्त्रीपुरुषोंका संग भी त्यागने योग्य कहा है ॥४३॥

मदान्धैः कामुकैः पापैर्वञ्चकैर्मार्गविच्युतैः ।
स्तब्धलुब्धाधमैः सार्द्धं संगो लोकद्वयान्तकः ॥४४॥

अर्थ—जो मदसे अंधे हैं, कामी हैं, पापी हैं, ठग हैं, कुमार्गी हैं, स्तब्ध हैं, मानी हैं, अधम हैं तथा नीच हैं, इनमेंसे किसीकेभी साथ संसर्ग करना दोनों लोकोंका बिगाड़नेवाला है, इस कारण इनकी संगति करना सर्वथा त्याज्य है ॥४४॥

अब इस प्रकरणको पूर्ण करते हुए कहते हैं—

स्रग्धरा ।

सूत्रे दत्तावधानाः प्रशमयमतपोध्यानलब्धावकाशाः
शश्वत्संन्यस्तसंगा विमलगुणमणिग्रामभाजः स्वयं ये ।
श्रूयन्ते कामिनीनां स्तनजघनमुखालोकनात्तेऽपि भग्ना
मज्जन्तो मोहवार्धौ जिनपतियतयः प्राक् प्रसिद्धाः कथासु ॥४५॥

अर्थ—सिद्धान्तसूत्रोंमें दिया है चित्त जिन्होंने, ऐसे तथा प्रशमभाव और यम-नियम-तप-ध्यानादिमें समस्त काल बिताने वाले, निरन्तर परिग्रहके त्यागी, निर्मल गुणरूपी मणियोंके समूहको धारण करनेवाले ऐसे जैन यति (रुद्रादिक) स्त्रियोंके स्तन,जघन व मुखके देखनेसे भ्रष्ट होकर मोहरूपी समुद्रमें डूबे हुए कथाओंमें प्रसिद्ध हैं अर्थात् सुने जाते हैं। **भावार्थ**—स्त्रीका संसर्ग ही ऐसा है कि जिससे कोई भी नहीं बचते, और जो धीर, वीर महापुरुष इसके संसर्गसे बचते हैं, वे धन्य हैं॥४५॥

इस प्रकार स्त्रीके संसर्गका निषेध वर्णन किया।

दोहा

तपसी मौनी संयमी, श्रुतपाठी युत मान
तरुणीके संसर्गतैं, बिगड़ैं तजहु सुजान। १४॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते ब्रह्मचर्यमहाव्रतान्तर्गतस्त्रीसंसर्गनिषेधवर्णनं नाम चतुर्दशं प्रकरणम्॥ १४॥

अथ पञ्चदशः सर्गः ।

वृद्धसेवाकी प्रशंसा

आगे इस ब्रह्मचर्य महाव्रतके वर्णनमें वृद्धसेवाका वर्णन करके इस महाव्रतका व्याख्यान पूर्ण करते हैं-

लोकद्वयविशुद्ध्यर्थं भावशुद्ध्यर्थमञ्जसा ।
विद्याविनयवृद्ध्यर्थं वृद्धसेवैव शस्यते ॥१॥

अर्थ—अनायास दोनों लोकोंकी सिद्धिके लिये, भावोंकी शुद्धताके लिये तथा विद्याविनयकी

१ 'परां शुद्धिं' इत्यपि पाठः ।

वृद्धिके लिये वृद्धपुरुषोंकी (गुरुजनोंकी) सेवाकी ही प्रशंसा की गई है। भावार्थ—गुरुजनोंके (बड़ोंके) निकट रहने तथा उनकी सेवा करनेसे यह लोक परलोक सुधरता है, अपने परिणाम शुद्ध रहते हैं, विद्या विनयादिक बढते हैं और मानकषायकी हानि इत्यादि गुण होते हैं ॥१॥

कषायदहनः शान्तिं याति रागादिभिः समम्।
चेतः प्रसत्तिमाधत्ते वृद्धसेवावलम्बिनाम् ॥२॥

अर्थ—जो पुरुष वृद्धसेवा करनेवाले हैं, उनकी कषायरूपी अग्नि रागादि सहित शान्त हो जाती है और चित्त प्रसन्न वा निर्मल हो जाता है। बड़ोंकी सेवासे ही ये गुण होते हैं ॥२॥

निर्मलीकुरु वैराग्यं चित्तदैत्यं नियन्त्रय।
आसादय वरां बुद्धिं दुर्बुद्धे वृद्धसाक्षिकम् ॥३॥

अर्थ—आचार्य महाराज यहां उपदेश करते हैं कि हे दुर्बुद्धि आत्मा! गुरुजनोंकी साक्षीपूर्वक अर्थात् गुरुजनोंके निकट रह कर तू अपने वैराग्यको तो निर्मल कर और संसार देहभोगोंसे लेशमात्र भी राग मत कर तथा चित्तरूपी दैत्य (राक्षस) जो कि स्वेच्छासे प्रवर्तता है, उसे वशमें कर और उत्कृष्ट बुद्धिको (विवेकिताको) अंगीकार कर, क्योंकि ये गुण गुरुजनोंकी सेवा करनेसे ही प्राप्त होते हैं ॥३॥

अब वृद्धोंका स्वरूप कहते हैं—

स्वतत्त्वनिकषोद्भूतं विवेकालोकवर्धितम्।
येषां बोधमयं चक्षुस्ते वृद्धा विदुषां मताः ॥४॥

अर्थ—जिनके आत्मतत्त्वरूप कसोटीसे उत्पन्न भेदज्ञानरूप आलोकसे बढ़ाया हुआ ज्ञानरूपी नेत्र है, उनको ही विद्वानोंने वृद्ध कहा है। भावार्थ—स्वपर पदार्थोंको जाननेवाला जिनका ज्ञान है, ऐसे ज्ञानी ही वृद्ध कहाते हैं, केवल अवस्थासे ही वृद्ध नहीं होते ॥४॥

तपःश्रुतधृतिध्यानविवेकयमसंयमैः।
ये वृद्धास्तेऽत्र शस्यन्ते न पुनः पलिताङ्कुरैः ॥५॥

अर्थ—जो मुनि तप, शास्त्राध्ययन, ध्यान, विवेक (भेदज्ञान), यम तथा संयमादिकसे वृद्ध (बढे हुए) अर्थात् बड़े हैं, वे ही वृद्ध होते हैं। केवल अवस्था (उमर) मात्र अधिक होनेसे वा केश सफेद होनेसे ही वृद्ध नहीं होते ॥५॥

प्रत्यासत्तिं समायातैर्विषयैः स्वान्तरञ्जकैः।
न धैर्यं स्खलितं येषां ते वृद्धा विबुधैर्मताः ॥६॥

अर्थ—जिनके निकट मनको रंजन करनेवाले विषयोंके प्राप्त होने पर भी चित्तसे धीरता स्खलित (नष्ट) नहीं होती, उनको ही विद्वानोंने वृद्ध माना है, अर्थात् विषयोंसे चलायमान हो जांय वे बड़े काहेके? ॥६॥

न हि स्वप्नेऽपि संजाता येषां सद्वृत्तवाच्यता ।
यौवनेऽपि मता वृद्धास्ते धन्याः शीलशालिभिः ॥७॥

अर्थ—जिनके सदाचरण स्वप्नमें भी कभी कलंकित (मैले) नहीं हुए, वे यौवनावस्थामें भी वृद्ध हैं और वे ही धन्य पुरुष हैं, ऐसा ब्रह्मचारी महात्माओंने माना है ॥७॥

यहां विशेष कहते हैं—

प्रायःशरीरशैथिल्यात्स्यात्स्वस्था मतिरङ्गिनाम् ।
यौवने तु कचित्कुर्याद्दृष्टतत्त्वोऽपि विक्रियाम् ॥८॥

अर्थ—यद्यपि शरीरके शिथिल होनेसे (वृद्धावस्था होनेसे) जीवोंकी बुद्धि भी स्वस्थ (निश्चित) हो जाती है, परन्तु यौवनावस्थामें तो जिसने तत्त्वोंका स्वरूप जाना है, वह भी कुछ विक्रियाको धारण करता है। **भावार्थ**—युवावस्थामें जो चलायमान नहीं होते, वे ही धन्य पुरुष हैं ॥८॥

वार्धक्येन वपुर्धत्ते शैथिल्यं च यथा यथा ।
तथा तथा मनुष्याणां विषयाशा निवर्त्तते ॥९॥

अर्थ—मनुष्योंका शरीर जैसे जैसे शिथिलताको धारण करता है वैसे वैसे ही विषयोंकी आशा घटती है। परन्तु युवावस्थामें जिनके आशाका नाश हो, यही अधिकता है ॥९॥

हीनाचरणसंभ्रान्तो वृद्धोऽपि तरुणायते ।
तरुणोऽपि सतां धत्ते श्रियं सत्संगवासितः ॥१०॥

अर्थ—जो वृद्ध हो कर हीनाचरणोंसे व्याकुल हो भ्रमता फिरे, वह वृद्ध होने पर भी तरुण है और जो सत्संगतिसे रहता है, वह तरुण होने पर भी सत्पुरुषोंकीसी प्रतिष्ठा पाता है, अर्थात् वास्तविक वृद्ध कहा जाता है ॥१०॥

साक्षाद्वृद्धानुसेवेयं मातेव हितकारिणी ।
विनेत्री वागिवाप्तानां दीपिकेवार्थदर्शिनी ॥११॥

अर्थ—यह वृद्धसेवा साक्षात् माताकी समान तो हित करनेवाली है और आप्तवाणी (जिनवाणी) के समान समीचीन शिक्षा देनेवाली है तथा दीपकके समान पदार्थोंको दिखानेवाली है ॥११॥

कदाचिद्दैववैमुख्यान्मातापि विकृतिं भजेत् ।
न देशकालयोः क्वापि वृद्धसेवा कृता सती ॥१२॥

अर्थ—दैवके विमुख होनेसे माता तो कदाचित् पुत्रकी अहितैषिणी हो भी जाय तो आश्चर्य नहीं, किन्तु की हुई वृद्धसेवा किसी भी देश वा कालमें हानिकारक नहीं होती। **भावार्थ**—यह वृद्धसेवा निरन्तर जीवोंका हित ही करती है ॥१२॥

अन्ध एव वराकोऽसौ न सतां यस्य भारती ।
श्रुतिरन्ध्रं समासाद्य प्रस्फुरत्यधिकं हृदि ॥१३॥

अर्थ—सत्पुरुषोंकी पवित्र वाणी जिसके कानोंमें प्राप्त हो कर हृदयमें प्रकाशमान नहीं हुई वह रंक अन्धा ही हैं, क्योंकि सत्पुरुषोंकी वाणी मनुष्यके हृदयनेत्रको खोल देती है । सो जिसके हृदयमें सत्पुरुषोंकी वाणीने प्रवेश नहीं किया, वह वास्तवमें अंधा ही है ॥१३॥

सत्संसर्गसुधास्यन्दैः पुंसां हृदि पवित्रिते ।
ज्ञानलक्ष्मीः पदं धत्ते विवेकमुदिता सती ॥१४॥

अर्थ—सत्पुरुषोंके सत्संसर्गरूपी अमृतके झरनेसे पुरुषोंका हृदय पवित्र हो कर उसमें विवेकसे प्रसन्न हुई ज्ञानलक्ष्मी निवास करती है । भावार्थ–सत्पुरुषोंकी संगतिसे समीचीन ज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥१४॥

वृद्धोपदेशघर्मांशुं प्राप्य चित्तकुशेशयम् ।
न प्राबोधि कथं तत्र संयमश्रीः स्थितिं दधे ॥१५॥

अर्थ—मनुष्योंका चित्तरूपी कमल यदि वृद्ध पुरुषोंके उपदेशरूपी सूर्यको प्राप्त हो कर प्रफुल्लित हो जाय तो उसमें संयमरूप लक्ष्मी क्यों नहीं निवास करे ? अर्थात् सत्पुरुषोंके वचन जब चित्तमें रहें तब ही संयम दृढ रहता है ॥१५॥

अनुपास्यैव यो वृद्धमण्डलीं मन्दविक्रमः ।
जगत्तत्त्वस्थितिं वेत्ति स मिमीते नभः करैः ॥१६॥

अर्थ—जो पुरुष अल्प शक्तिवाला है और सत्पुरुषोंकी मंडलीमें रहे बिना ही जगत्के तत्त्वस्वरूप की अवस्थाको जानना चाहता है, वह आकाशको हाथोंसे मापता है । भावार्थ–सत्पुरुषोंकी सेवाके बिना अल्प शक्तिवालेको जगतकी रीतिनीतिका ज्ञान नहीं हो सकता ॥१६॥

शीतांशुरश्मिसंपर्काद्विसर्पति यथाम्बुधिः ।
तथा सद्वृत्तसंसर्गान्नृणां प्रज्ञापयोनिधिः ॥१७॥

अर्थ—जिस प्रकार चन्द्रमाकी किरणोंसे समुद्र बढ़ता है, उसी प्रकार समीचीन वृत्तोंके धारण करनेवाले सत्पुरुषोंकी संगतिसे मनुष्योंका प्रज्ञारूपी समुद्र बढ़ता है ॥१७॥

नैराश्यमनुबध्नाति विध्याप्याशाहविर्भुजं ।
आसाद्य यमिनां योगी वाक्पथातीतसंयमम् ॥१८॥

अर्थ— योगी (मुनि) संयमी पुरुषोंके महान् वचन मार्गसे अगोचर संयमको प्राप्त हो, आशारूप अग्निको बुझा कर, निराशाका अवलंबन करता है । भावार्थ–संयमी मुनियोंकी संगतिसे आशा नष्ट हो कर चित्त शान्तिको प्राप्त होता है ॥१८॥

वृद्धानुजीविनामेव स्युश्चारित्रादिसम्पदः ।
भवत्यपि च निर्लेपं मनः क्रोधादिकश्मलम् ॥१९॥

अर्थ—वृद्धों (सत्पुरुषों) की सेवा करनेवाले पुरुषोंके ही चारित्र आदि सम्पदा होती हैं और क्रोधादि कषायोंसे मैला मन निर्लेप (निर्मल) हो जाता है ॥१९॥

सुलभेष्वपि भोगेषु नृणां तृष्णा निवर्तते ।
सत्संसर्गसुधास्यन्दैः शश्वदार्द्रीकृतात्मनाम् ॥२०॥

अर्थ—जिनका आत्मा सत्पुरुषोंके संसर्गरूपी अमृतके झरनेसे आर्द्र (भीजा हुआ-गीला) रहता है, उन पुरुषोंके ही भोग सुलभ होते हैं और उनके ही उन प्राप्त हुए भोगोंमें तृष्णाकी निवृत्ति (निःस्पृहता) होती है ॥२०॥

कातरत्वं परित्यज्य धैर्यमेवावलम्बते ।
सत्संगजपरिज्ञानरञ्जितात्मा जनः स्वयम् ॥२१॥

अर्थ—सत्पुरुषोंकी संगतिसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे रंजायमान हो गया है आत्मा जिसका ऐसा पुरुष अपने आप ही कायरताको छोड़ धैर्यावलंबन करता है । भावार्थ—सत्पुरुषोंकी संगतिसे ज्ञान होता है और कायरता नष्ट हो कर धीरता आती है, कष्ट आनेपर पुरुष समीचीन मार्गसे च्युत नहीं होता ॥२१॥

पुण्यात्मना गुणग्रामसीमासंसक्तमानसैः ।
तीर्यते यमिभिः किं न कुविद्यारागसागरः ॥२२॥

अर्थ—पुण्यपुरुषोंके गुणग्रामकी सीमामें जिनका मन लगा हुआ है, वे मुनि क्या कुविद्यारूपी समुद्रको नहीं तिरेंगे ? अवश्य तिरेंगे । क्योंकि जब सत्पुरुषोंके गुणोंमें मन लग जाता है, तब अन्य पदार्थोंसे प्रीति हट जाती है ॥२२॥

तत्त्वे तपसि वैराग्ये परां प्रीतिं समश्नुते ।
हृदि स्फुरति यस्योच्चैर्वृद्धवाग्दीपसन्ततिः ॥२३॥

अर्थ—जिस मनुष्यके हृदयमें सत्पुरुषोंके वचनरूपी दीपकको सन्तति (परिपाटी) प्रकाशमान है, उसकी तत्त्वोंमें, तपमें तथा वैराग्यमें अतिशय उत्कृष्ट प्रीति हो जाती है ॥२३॥

मिथ्यात्वादिनगोत्तुङ्गशृङ्गभङ्गाय कल्पितः ।
विवेकः साधुसंगोत्थो वज्रादप्यजयो नृणाम् ॥२४॥

अर्थ—सत्पुरुषोंकी संगतिसे उत्पन्न हुआ मनुष्योंका विवेक मिथ्यात्वादि पर्वतोंके ऊंचे शिखरों को (विचारमें आये मिथ्यात्वादि भावोंको) खंड खंड करनेके लिये वज्रसे अधिक अजेय है ॥२४॥

अप्यनादिसमुद्भूतं क्षीयते निबिडं तमः ।
वृद्धानुयायिनां च स्याद्विश्वतत्त्वैकनिश्चयः ॥

अर्थ—जो वृद्ध पुरुषोंके (सत्पुरुषोंके) अनुयायी हैं, उनका अनादिकालका उत्पन्न निबिड़ अज्ञानरूप अन्धकार नष्ट हो जाता है और समस्त तत्त्वोंका अद्वितीय निश्चय हो जाता है अर्थात् अज्ञानका लेशमात्र भी नहीं रहता ॥२५॥

अन्तःकरणजं कर्म यः स्फोटयितुमिच्छति ।
स योगिवृन्दमाराध्य करोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥२६॥

अर्थ—जो पुरुष अन्तःकरणसे (मनसे) उपजे कर्मको दूर करनेकी इच्छा करता है, वह पुरुष योगीश्वरोंके समूहकी सेवा करता है और वही अपनी आत्मामें तिष्ठता है अर्थात्, योगीश्वरोंको सत्संगतिमें रहनेसे ही आत्मानुभवकी प्राप्ति और कर्मोंका नाश होता है ॥ २६ ॥

एकैव महतां सेवा स्याज्जेत्री भुवनत्रये ।
ययैव यमिनामुच्चैरन्तर्ज्योतिर्विजम्भते ॥२७॥

अर्थ—इस त्रिभुवनमें सत्पुरुषोंकी सेवा ही एकमात्र जयनशील (कर्मोंको जितनेवाली)है। इससे ही मुनियोंके अन्तःकरणमें ज्ञानरूप ज्योतिका प्रकाश विस्तृत होता है ॥ २७ ॥

दृष्ट्वा श्रुत्वा यमी योगिपुण्यानुष्ठानमूर्जितम् ।
आक्रामति निरातङ्कः पदवीं तैरुपासिताम् ॥२८॥

अर्थ—संयमी मुनि योगीश्वरोंके महापवित्र आचरणके अनुष्ठानको देखकर वा सुनकर उन योगीश्वरोंकी सेई हुई पदवीको निरूपद्रव प्राप्त करता है। भावार्थ—जब बड़ोंका बड़ा पवित्र आचरण देखे, सुनें तब आप भी वैसा होनेका यत्न करता है ॥ २८ ॥

विश्वविद्यासु चातुर्यं विनयेष्वतिकौशलम् ।
भावशुद्धिः स्वसिद्धान्ते सत्संगादेव देहिनाम् ॥२९॥

अर्थ—जीवोंको समस्त विद्याओंमें चतुरता और विनयमें अतिप्रवीणता तथा अपने सिद्धान्तमें भावोंकी शुद्धि अर्थात् निःसंदेहता आदि गुण सत्पुरुषोंकी संगतिसे ही प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥

यथात्र शुद्धिमाधत्ते स्वर्णमत्यन्तमग्निना ।
मनःसिद्धिं तथा ध्यानी योगिसंसर्गवह्निना ॥३०॥

अर्थ—जैसे इस जगतमें सुवर्ण अग्निके संयोगसे अत्यन्त शुद्ध(निर्मल)हो जाता है, उसी प्रकार योगीश्वरोंकी संगतिरूपी अग्निसे ध्यानी मुनि अपने मनकी शुद्धिको प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

भयलज्जाभिमानेन धैर्यमेवावलम्बते ।
साहचर्यं समासाद्य संयमी पुण्यकर्मणाम् ॥३१॥

अर्थ—संयमी मुनि पवित्राचरणवाले सत्पुरुषोंकी संगतिको प्राप्त हो, उनके भयसे वा लज्जा तथा अभिमानसे धैर्यका ही अवलंबन करता है। भावार्थ—कर्मोंके उदयसे परिणाम बिगड़ने लग जायँ तो महापुरुषोंकी संगतिमें रहनेसे भय, लज्जा वा अपने अभिमानसे ही वह मुनि मार्गसे च्युत नहीं होता इसी कारण ही सत्पुरुषोंमें रहना अतिशय श्रेष्ठ है। ३१ ॥

शरीराहारसंसारकामभोगेष्वपि स्फुटम् ।
विरज्यति नरः क्षिप्रं सद्भिः सूत्रे प्रतिष्ठितः ॥३२॥

अर्थ—सत्पुरुषोंके द्वारा सूत्रमें शिक्षित किया हुआ पुरुष शरीर, आहार, संसार, काम व भोगादिकमें तत्काल ही विरक्त हो जाता है। सत्पुरुषोंकी शिक्षाका फल ऐसा होता है, शरीरादिकमें वैराग्य होनेके कारण मोक्षमार्गसे च्युत नहीं होता। यह स्पष्टतया जानो ॥ ३२

यथा यथा मुनिर्धत्ते चेतः सत्संगवासितम् ।
तथा तथा तपोलक्ष्मीः परां प्रीतिं प्रकाशयेत् ॥३३॥

अर्थ—जैसे जैसे मुनि अपने चित्तको सत्पुरुषोंकी संगतिमें लगाता है वैसे वैसे ही उससे तपरूपी लक्ष्मी उत्तम प्रीतिको प्रकाश करती है ॥३३॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे-

आर्या।

नहि भवति निर्विगोपक्रमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम् ।
प्रकटितपश्चिमभागं पश्यत नृत्यं मयूरस्य ॥३४॥

अर्थ—जिसने गुरुकुलकी (सत्पुरुषोंके समूहकी) उपासना नहीं की, उसका विज्ञान (भेदज्ञान, कला, चतुराई) प्रशंसा करने योग्य नहीं है; किन्तु निंदासहित होता है। देखो! मयूर नृत्य करते समय अपना पृष्ठभाग(मलद्वार) उघाड़ कर नृत्य करता है। भावार्थ— मयूर नाचता है सो अपनी बुद्धिसे नाचता है, नृत्य करनेका विधान सुन्दर श्रृंगारसहित होता है, सो मयूरने किसीसे सीखा नहीं, इसी कारण वह नाच करते समय अपने पृष्ठ भागको(गुदाको)उघाड़ देता है;सो ऐसा नृत्य प्रशंसनीय नहीं होता। इसी प्रकार तपस्वी गुरुजनोंके निकट सीखे विना जो क्रिया की जाय वह यथावत् नहीं होती, इस कारण बड़े योगीश्वरादि महापुरुषोंकी संगतिमें रह कर ही उनकी आज्ञानुसार प्रवर्तना चाहिये ॥३४॥

तपः कुर्वन्तु वा मा वा चेद्वृद्धान्समुपासते ।
तीर्त्वा व्यसनकान्तारं यान्ति पुण्यां गतिं नराः ॥३५॥

अर्थ—जो पुरुष सत्पुरुषोंको उपासना (सेवा) करते हैं, वे तप करें अथवा मत करें किन्तु दुःखरूपी वनको पार करके अवश्य ही पवित्र (उत्तम) गतिको प्राप्त होते हैं। भावार्थ—तप तो शक्त्यनुसार करना कहा है, यदि तप करनेकी शक्ति नहीं और सत्पुरुषोंकी संगतिमें रह कर उनकी उपासना करता रहे तो उसको भी उत्तम गति प्राप्त हो ॥ ३५ ॥

कुर्वन्नपि तपस्तीव्रं विदन्नपि श्रुतार्णवम् ।
नासादयति कल्याणं चेद्वृद्धानवमन्यते ॥३६॥

अर्थ – तीव्र तप करता हुआ भी तथा शास्त्ररूपी समुद्रका अवगाहन करता हुआ भी यदि वृद्धसेवा नहीं करता है अर्थात् सत्पुरुषोंकी आज्ञामें नहीं रहता है तो उसका कदापि कल्याण नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

मनोऽभिमतनिःशेषफलसंपादनक्षमं ।
कल्पवृक्षमिवोदारं साहचर्यं महात्मनाम् ॥३७॥

अर्थ—महापुरुषोंका संग करना कल्पवृक्षकी समान समस्त प्रकारके मनोवांछित फलको देनेमें समर्थ है; अत एव सत्पुरुषोंकी संगति अवश्य करनी चाहिये ॥३७॥

जायते यत्समासाद्य न हि स्वप्नेऽपि दुर्मतिः ।
मुक्तिबीजं तदेकं स्यादुपदेशाक्षरं सताम् ॥३८॥

अर्थ—सत्पुरुषोंके उपदेशका एक अक्षर ही मुक्तिका बीज होता है, क्योंकि सदुपदेशके प्राप्त होनेसे स्वप्नमें भी मनुष्यके कुबुद्धिका प्रादुर्भाव नहीं होता। भावार्थ–सत्पुरुषोंके उपदेशसे दुर्मति नष्ट होती है और सुमतिकी प्राप्ति होती है ॥३८॥

तन्न लोके परं धाम न तत्कल्याणमग्रिमं ।
यद्योगिपदराजीवसंश्रितैर्नाधिगम्यते ॥३९॥

अर्थ—जगतमें न तो ऐसा कोई उत्कृष्ट स्थान (मंदिर) है और न कोई ऐसा कल्याण है, जो योगीश्वरोंके चरणकमलोंकी सेवा करनेवालोंको प्राप्त न हो, अर्थात् योगीश्वरोंकी सेवा करनेवालोंको समस्त प्रकारके कल्याणकी प्राप्ति होती है ॥३९॥

अन्तर्लीनमपि ध्वान्तमनादिप्रभवं नृणाम् ।
क्षीयते साधुसंसर्गप्रदीपप्रसराहतम् ॥४०॥

अर्थ— अनादिकालसे उत्पन्न हुआ पुरुषोंके अन्तरंगका अज्ञानरूप अन्धकार भी साधु महात्माओंके संसर्गरूपी प्रदीपके प्रकाशसे नष्ट हो जाता है, अर्थात् साधुओंकी संगतिसे अज्ञान नहीं रहता ॥४०॥

मालिनी ।

दहति दुरितकक्षं कर्मबन्धं लुनीते
वितरति यमसिद्धिं भावशुद्धिं तनोति ।
नयति जननतीरं ज्ञानराज्यं च दत्ते
ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी ॥४१॥

अर्थ— मनुष्योंको वृद्धोंकी (सत्पुरुषोंकी) सेवा ही करना उत्तम है, क्योंकि यह वृद्धसेवा पापरूपी वनको दग्ध करती है, कर्मके बंधोंको काटती है, चारित्रकी सिद्धिको देती है और भावोंकी शुद्धताका विस्तार करके संसारसे पार कर ज्ञानराज्यको (केवलज्ञान वा श्रुतज्ञानकी पूर्णताको) देती है ॥४१॥

इस प्रकार वृद्धसेवाका (सत्संगतिका) वर्णन किया। इस वृद्धसेवासे मनुष्यके समस्त दोष विलाय जाते हैं और समस्त गुणोंकी प्राप्ति होती है।

अब ब्रह्मचर्य महाव्रतके कथनको समाप्त करते हुए कहते हैं—

विरम विरम संगान्मुञ्च मुञ्च प्रपंचं
विसृज विसृज मोहं विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम् ।

कलय कलय वृत्तं पश्य पश्य स्वरूपं
कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्दहेतोः ॥४२॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन्! तू परिग्रहसे विरक्त हो विरक्त हो प्रपंच मायाशल्यको छोड़ छोड़, और जगतके मोहको दूर कर दूर कर, निज तत्त्वको जान जान, चारित्रका अभ्यास कर कर अपने स्वरूपको देख देख, और मोक्षके सुखार्थ पुरुषार्थ कर कर। इस प्रकार दो दो बार कहनेसे आचार्य महाराजने अत्यन्त प्रेरणा की है, क्योंकि श्रीगुरु महाराज बड़े दयालु हैं सो बारंबार हितके लिये प्रेरणा करते हैं ॥४२॥

अतुलसुखनिधानं ज्ञानविज्ञानबीजं
विलयगतकलङ्कं शान्तविश्वप्रचारम्।
गलितसकलशङ्कं विश्वरूपं विशालं
भज विगतविकारं स्वात्मनात्मानमेव ॥४३॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू अपने आत्माको आप ही कर भज अर्थात् सेव। तेरा आत्मा कैसा है कि अतुल्य (अतीन्द्रिय) सुखका निधान है, ज्ञान और विज्ञान (भेदज्ञान) का बीज है, जिसके मिथ्यात्व-भावरूपी कलंक नष्ट हो गये हैं, जिसमें नानाप्रकारके विकल्पोंका विस्तार शान्त हो गया है, अर्थात् जो निर्विकल्प स्वरूप है तथा जिसकी समस्त शंकायें नष्ट होगई हैं, जो समस्त ज्ञेयोंके आकारस्वरूप विश्वमय है, विशाल है, अपने गुण पर्यायोंमें फैला हुआ है और समस्त प्रकारके विकारोंसे रहित हो गया है। इस प्रकारके अपने आत्माको भजना, उसीमें लीन रहना, इसीको परम ब्रह्मचर्य कहते हैं। ब्रह्म कहिये आत्मामें चरना (लीन होना) यही ब्रह्मचर्य है ॥४३॥

शार्दूलविक्रीडितम्।

धन्यास्ते मुनिमण्डलस्य गुरुतां प्राप्ताः स्वयं योगिनः
शुद्ध्यत्येव जगत्त्रयी शमवतां श्रीपादरागाङ्किता।
तेषां संयमसिद्धयः सुकृतिनां स्वप्नेऽपि येषां मनो
नालीढं विषयैर्न कालविशिखैर्नैवाङ्गनालोचनैः ॥४४॥

अर्थ—जिन मुनियोंका मन विषयोंसे स्वप्नमें भी अलीढ (बिद्ध) नहीं हुआ और कामके बाण तथा स्त्रियोंके नेत्रकटाक्षोंसे स्पृष्ट नहीं हुआ, वे ही सुकृती धन्य हैं। उनको ही संयमकी सिद्धियाँ होती हैं और वे ही मुनि योगीश्वरोंके समूहमें प्रधानताको (आचार्यपदको) प्राप्त होते हैं तथा उन्हीं शान्तभावयुक्त योगीश्वरोंके शोभायमान चरणोंके रागसे अङ्कित ये तीन भुवन निश्चय करके पवित्र होते हैं ॥४४॥

येषां वाग्भुवनोपकारचतुरा प्रज्ञा विवेकास्पदम्
ध्यानं ध्वस्तसमस्तकर्मकवचं वृत्तं कलङ्कोज्झितम्।

सम्यग्ज्ञानसुधातरङ्गनिचयैश्चेतश्च निर्वापितं

धन्यास्ते शमयन्त्वनङ्गविशिखव्यापारजाता रुजः ॥४५॥

अर्थ—जिन योगीश्वरोंके वचन तो लोकोपकारमें चतुर हैं और प्रज्ञा (बुद्धि) विवेकका स्थान है और जिनके ध्यानने कर्मबन्धरूपी कवचको (बकतरको) नष्ट कर दिया है तथा जिनका चारित्र कलंकरहित (निर्मल) है, व जिनका चित्त सम्यग्ज्ञान :पी अमृतकी तरंगोंके समूहसे शान्त हो गया है, वे ही योगी मुनि धन्य हैं । वे हो हमारे कामबाणके व्यापारसे उत्पन्न हुई पीड़ाका शमन करो ॥४५॥

चञ्चच्चिश्चिरमप्यनङ्गपरशुप्रख्यैर्वधूलोचनै-

र्येषामिष्टफलप्रदः कृतधियां नाच्छेदि शीलद्रुमः ।

धन्यास्ते शमयन्तु सन्ततमिलद्दुर्वारकामानल-

ज्वालाजालकरालमानसमिदं विश्वं विवेकाम्बुभिः ॥४६॥

अर्थ—जिन मुनियोंका इष्ट फलका देनेवाला शीलरूपी वृक्ष चंचल तथा चमकते हुए कामके कुठारसमान स्त्रियोंके नेत्रोंसे चिरकालसे नहीं छेदा गया, वे महाभाग्य कृतबुद्धि धन्य हैं । वे मुनिमहाराज निरन्तर प्राप्त होनेवाली दुर्निवार कामरूपी अग्निकी ज्वालाओंके समूहसे जलते हुए इस जगतको विवेक रूपी जलसे शीतल करो ॥४६॥

मालिनी

यदि विषयपिशाची निर्गता देहगेहात्

सपदि यदि विशीर्णो मोहनिद्रातिरेकः ।

यदि युवतिकरङ्के निर्ममत्वं प्रपन्नो

झगिति ननु विधेहि ब्रह्मवीथीविहारम् ॥४७॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जो तेरे देहरूपी घरसे विषयरूपी पिशाची निकल गई हो तथा मोहरूपी निद्राकी तीव्रता क्षीण हो गई हो, और स्त्रीके शरीरमें तू निर्ममत्व (निःस्पृहता) को प्राप्त हुआ हो तो तू शीघ्र ही ब्रह्मचर्यरूपी गलीमें विहार कर (सैर कर) अर्थात् उक्त प्रकारका हो गया है तो ब्रह्मचर्य अंगीकार करनेमें ढील मत कर ऐसा उपदेश है ॥४७॥

स्मरभोगीन्द्रदुर्वारविषानलकरालितम् ।

जगद्यैः शान्तिमानीतं ते जिनाः सन्तु शान्तये ॥४८॥

अर्थ—कामरूपी सर्पके दुर्निवार विषरूपी अग्निकी ज्वालासे प्रज्वलित इस जगतको जिन महात्माओंने शान्तरूपी किया, ऐसे सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ भगवान् जगतको शान्तरूप करनेवाले हों ऐसा आशीर्वाद दिया है ॥४८॥

इस प्रकार ब्रह्मचर्यनामा महाव्रतका वर्णन किया । जिसमें कामका प्रकोप, मैथुन, स्त्रीका स्वरूप और संसर्ग इनका वर्णन किया, सो इनका त्याग करके जब मुनिमहाराजोंके निकट रहें और उनकी

सेवा करें तब ही ब्रह्मचर्य दृढ रहें और तब ही परमार्थरूप ब्रह्मचर्य (आत्मामें लीन होनेरूप ध्यान) को सिद्धि होती है। इस कारण इस व्रतका वर्णन कुछ विस्तारसे किया है। यहां बारंबार कहनेमें पुनरुक्ति दोष न समझना, किंतु अतिस्पष्टता जाननी।

छप्पय।

कामकोप मैथुन निवारि, पियछार निरंतर।
वामसंग साधन बिसारि गुरु धारि सुअन्तर।
सैय बढ़निका संग विषयआशा जु गिरावहु।
ब्रह्मचर्यको धारि शुद्ध आतम लय लावहु॥
इमि ध्यानसिद्धिकरि घाति हति केवलबोध उपायकै।
संबोध्य भव्य सब कर्म हरि, दुःख हरो शिव पायकै॥१५॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते ब्रह्मचर्यमहाव्रतवर्णनं नाम पञ्चदशं प्रकरणम्॥१५॥

अथ षोडशः सर्गः।

परिग्रहत्याग महाव्रत।

अब परिग्रहत्याग महाव्रतका वर्णन करते हैं सो प्रथम ही परिग्रहके दोष दिखाते हैं--

यानपात्रमिवाम्भोधौ गुणवानपि मज्जति।
परिग्रहगुरुत्वेन संयमी जन्मसागरे॥१॥

अर्थ—जिस प्रकार नावमें पाषाणादिका बोझ बढ़नेसे गुणवान् अर्थात् रस्सीसे बँधी हुई भी नाव समुद्रमें डूब जाती है, उसी प्रकार संयमी मुनि यदि गुणवान् है तो भी परिग्रहके भारसे संसाररूपी सागरमें डूब जाता है॥१॥

बाह्यान्तर्भूतभेदेन द्विधा ते स्युः परिग्रहाः।
चिदचिद्रूपिणो बाह्या अन्तरङ्गास्तु चेतनाः॥२॥

अर्थ—बाह्य अन्तरंगके भेदसे परिग्रह दो प्रकारके हैं। बाह्य परिग्रह तो चेतन और अचेतन दो प्रकारके हैं और अन्तरंग प्ररिग्रह केवल चेतनरूप ही हैं। क्योंकि वे सब आत्माके परिणाम हैं॥२॥

दश ग्रन्था मता बाह्या अन्तरङ्गाश्चतुर्दश।
तान्मुक्त्वा भव निःसंगो भावशुद्ध्या भृशं मुने॥३॥

अर्थ—बाहरके परिग्रह तो दश हैं और अन्तरंगके परिग्रह चौदह हैं, सो हे मुने! इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंको छोड़ कर अत्यन्त निःसंग (निष्परिग्रहरूप) हो, यह उपदेश है॥३॥

वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं द्विपदाश्च चतुष्पदाः ।
शयनासनयानं च कुप्यं भाण्डममी दश ॥ ४ ॥

अर्थ—वास्तु (घर), क्षेत्र (खेत), धन, धान्य, द्विपद (मनुष्य), चतुष्पद (पशु, हाथी, घोड़े), शयनासन, यान, कुप्य और भांड ये बाहरके दश परिग्रह हैं ॥४॥

निःसङ्गोऽपि मुनिर्न स्यात्सम्मूर्च्छः संगवर्जितः ।
यतो मूर्च्छैव तत्त्वज्ञैः संगसूतिः प्रकीर्तिता ॥ ५ ॥

अर्थ—जो मुनि निःसंग हो अर्थात् बाह्य परिग्रहसे रहित हो और ममत्व करता हो वह निःपरिग्रही नहीं हो सकता, क्योंकि तत्त्वज्ञानी विद्वानोंने मूर्च्छाको (ममत्वरूप परिणामोंको) ही परिग्रहकी उत्पत्तिका स्थान माना है ॥५॥

आर्या ।

स्वजनधनधान्यदाराः पशुपुत्रपुराकरा गृहं भृत्याः ।
मणिकनकरचितशय्या वस्त्राभरणादि बाह्यार्थाः ॥ ६ ॥

अर्थ—स्वजन, धन, धान्य, स्त्री, पशु, पुत्र, पुर, खानि, घर, नौकर, माणिक, रत्न, सोना, रूपा, शय्या, वस्त्र, आभरण इत्यादि सब ही पदार्थ बाह्य परिग्रह हैं ॥६॥

उक्तं च ।

"मिथ्यात्ववेदरागा दोषा हास्यादयोऽपि षट् चैव ।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥ १ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व १ वेदराग ३ हास्यादिक (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) ६ और क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय, इस प्रकार अन्तरंगके चौदह परिग्रह हैं ॥१॥"

संवृतस्य सुवृत्तस्य जिताक्षस्यापि योगिनः ।
व्यामुह्यति मनः क्षिप्रं धनाशाव्यालविप्लुतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो मुनि संवर सहित हो उत्तम चरित्र सहित हो तथा जितेन्द्रिय हो उसका भी मन धनाशारूपी सर्पसे पीड़ित होता हुआ तत्काल ही मोहको प्राप्त होता है; इस कारण धनकी आशा अवश्य छोड़नी चाहिये ॥७॥

त्याज्य एवाखिलः संगो मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः ।
स चेत्त्यक्तुं न शक्नोति कार्यस्तर्ह्यात्मदर्शिभिः ॥ ८ ॥

अर्थ—मुक्त होनेके इच्छक मुनियोंको समस्त प्रकारका परिग्रह अर्थात् सर्व पदार्थोंका संग छोड़ना चाहिये । कदाचित् अन्तरंगके परिग्रहमेंसे कोई परिग्रह विद्यमान रहें तो जो आत्मदर्शी बड़े मुनि हों उनकी संगतिमें रहें क्योंकि मुनिको समस्त संग त्याग कर ध्यानस्थ रहना कहा है । यदि ध्यानस्थ नहीं रहा जाय तो आचार्योंके साथ संघमें रहें ॥८॥

नाणवोऽपि गुणा लोके दोषा शैलेन्द्रसन्निभाः ।
भवन्त्यत्र न सन्देहः संगमासाद्य देहिनाम् ॥ ९ ॥

अर्थ—इस लोकमें जीवोंके परिग्रहके प्राप्त होनेसे गुण तो अणुमात्र भी नहीं होते किन्तु दोष सुमेरु पर्वतसरीखे बड़े २ होते हैं, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥९॥

अन्तर्बाह्यभुवोः शुद्ध्योर्योगाद्योगी विशुद्ध्यति ।
नह्येकं पत्रमालम्ब्य व्योम्नि पत्री विसर्पति ॥ १० ॥

अर्थ—योगी बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारकी शुद्धियोंका योग होनेसे हो विशुद्ध होता है, किन्तु एक प्रकारकी विशुद्धिसे ही नहीं होता; जैसे पक्षी एक ही पंखके आलम्बनसे आकाशमें नहीं उड़ सकता, किन्तु दोनों पंखोंके होनेसे ही उड़ सकता है। इसी प्रकार दोनों प्रकारकी शुद्धि होनेसे ही मुनि निर्मल हो सकता है ॥१०॥

साध्वीयं स्याद्बहिःशुद्धिरन्तःशुध्याऽत्र देहिनाम् ।
फल्गुभावं भजत्येव बाह्या त्वाध्यात्मिकीं विना ॥ ११ ॥

अर्थ —जीवोंके बाह्यकी शुद्धता अन्तरंगकी शुद्धतासे उत्तम होती है और फलदायक है। क्योंकि अन्तरंगकी आध्यात्मिकी शुद्धिके बिना बाह्यशुद्धि व्यर्थ ही रहती है अर्थात् निष्फल है ॥११॥

संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्धिंसा तयाऽशुभम् ।
तेन श्वाभ्री गतिस्तस्यां दुःखं वाचामगोचरम् ॥ १२ ॥

अर्थ—परिग्रहसे काम (वांछा) होती है, कामसे क्रोध, क्रोधसे हिंसा, हिंसासे पाप और पापसे नरकगति होती है, उस नरकगतिमें वचनोंके अगोचर अति दुःख होता है। इस प्रकार दुःखका मूल परिग्रह है ॥१२॥

संग एव मतः सूत्रे निःशेषानर्थमन्दिरं ।
येनासन्तोऽपि सूयन्ते रागाद्या रिपवः क्षणे ॥१३ ॥

अर्थ—सूत्र-सिद्धान्तमें परिग्रह ही समस्त अनर्थोंका मूल माना गया है, क्योंकि जिसके होनेसे रागादिक शत्रु न हों तो भी क्षणमात्रमें उत्पन्न हो जाते हैं ॥१३॥

रागादिविजयः सत्यं क्षमा शौचं वितृष्णता ।
मुनेः प्रच्याव्यते नूनं संगैर्व्यामोहितात्मनः ॥१४॥

अर्थ—परिग्रहोंसे मोहित मुनिके रागादिकोंका जीतना, सत्य, क्षमा, शौच और तृष्णारहितपना आदि गुण नष्ट हो जाते हैं ॥१४॥

संगाः शरीरमासाद्य स्वीक्रियन्ते शरीरिभिः ।
तत्प्रागेव मुनिःसारं योगिभिः परिकीर्तितम् ॥ १५ ॥

अर्थ—संसारी जीव शरीरको प्राप्त हो कर ही परिग्रहोंको ग्रहण करते हैं, सो योगी महात्माओंने

शरीरको पहिले ही निःसार कह दिया है ॥१५॥

हृषीकराक्षसानीकं कषायभुजगव्रजम् ।
वित्तामिषमुपादाय धत्ते काममुदीर्णताम् ॥१६॥

अर्थ—इन्द्रियरूपी राक्षसोंकी सेना और कषायरूपी सर्पोंका समूह धनरूपी मांसको ग्रहण करके कोई ऐसी उत्कटता धारण करते हैं, जो कि चिन्तवनमें ही नहीं आती ॥१६॥

उन्मूलयति निर्वेदविवेकद्रुममञ्जरीः ।
प्रत्यासत्तिं समायातः सतामपि परिग्रहः ॥१७॥

अर्थ—यह परिग्रह निकट प्राप्त होने पर सत्पुरुषोंके भी वैराग्य विवेकरूपी वृक्षकी मंजरियोंका उन्मूलन कर देता है ॥१७॥

लुप्यते विषयव्यालैर्भिद्यते मारमार्गणैः ।
रुध्यते वनिताव्याधैर्नरः सङ्गैरभिद्रुतः ॥१८॥

अर्थ—यह मनुष्य परिग्रहोंसे पीड़ित हो कर विषयरूपी सर्पोंसे तो काटा जाता है, कामके बाणोंसे चीरा जाता है और स्त्रीरूप व्याधसे (शिकारीसे) रोका जाता है, अर्थात् बांधा जाता है ॥१८॥

यः संगपङ्कनिर्मग्नोऽप्यपवर्गाय चेष्टते ।
स मूढः पुष्पनाराचैर्विभिन्द्यात्रिदशाचलम् ॥१९॥

अर्थ—जो प्राणी परिग्रहरूपी कीचड़में फँसा हुआ भी मोक्षप्राप्तिके लिये चेष्टा (उपाय) करता है, वह मूढ फूलोंके बाणसे मेरु पर्वतको तोड़ना चाहता है। भावार्थ—परिग्रह धारण करनेवालोंको मोक्षकी प्राप्ति होना असंभव है ॥१९॥

अणुमात्रादपि ग्रन्थान्मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत् ।
विसर्पति ततस्तृष्णा यस्यां विश्वं न शान्तये ॥२०॥

अर्थ—अणुमात्र परिग्रहके रखनेसे मोहकर्मकी ग्रन्थि (गांठ) दृढ होती है और इससे तृष्णाकी ऐसी वृद्धि हो जाती है कि उसकी शान्तिके लिये समस्त लोकके राज्यसे भी पूरा नहीं पड़ता ॥२०॥

परीषहरिपुव्रातं तुच्छवृत्तैकभीतिदम् ।
वीक्ष्य धैर्यं विमुञ्चन्ति यतयः सङ्गसङ्गताः ॥२१॥

अर्थ—परिग्रह रखनेवाले यती तुच्छवृत्तवालोंको ही भयके देनेवाले परीषहरूपी शत्रुओंके समूहको देखते ही धैर्यको छोड़ देते हैं अर्थात् परिग्रही मुनि परिषहोंके आने पर दृढ नहीं रह सकता, किन्तु मार्गसे हट जाता है ॥२१॥

सर्वसंगपरित्यागः कीर्त्यते श्रीजिनागमे ।
यस्तमेवान्यथा ब्रूते स हीनः स्वान्यघातकः ॥२२॥

अर्थ—श्रीमज्जिनेन्द्र भगवानके परमागममें समस्त परिग्रहोंका त्याग ही महाव्रत कहा है, उसको जो कोई अन्यथा कहता है, वह नीच है तथा अपना और दूसरोंका घातक है ॥२२॥

यमप्रशमजं राज्यं तपः श्रुतपरिग्रहं ।
योगिनोऽपि विमुञ्चन्ति वित्तवेतालपीडिताः ॥२३॥

अर्थ—जो धनरूपी पिशाचसे पीड़ित हैं ऐसे योगी मुनि भी यम, नियम वा शान्त भावोंसे उत्पन्न राज्यको तप और शास्त्रस्वाध्यायादिके ग्रहणको छोड़ देते हैं ॥२३॥

पुण्यानुष्ठानजातेषु निःशेषाभीष्टसिद्धिषु ।
कुर्वन्ति नियतं पुंसां प्रत्यूहं धनसंग्रहाः ॥२४॥

अर्थ—धनका संग्रह पुरुषों के पुण्य कार्योंसे उत्पन्न हुई समस्त मनोवांछितकी देनेवाली सिद्धियों में विघ्न करता है ॥२४॥

अत्यक्तसंगसन्तानो मोक्तुमात्मानमुद्यतः ।
बध्नन्नपि न जानाति स्वं धनैः कर्मबन्धनैः ॥२५॥

अर्थ—नहीं तजी है परिग्रहकी वासना जिसने ऐसा पुरुष अपनेको मुक्त करनेके लिये उद्यमी है, परन्तु अपना आत्मा परिग्रहके कारण कर्मोंके दृढ बंधनोंसे बँधता है तो भी उसे नहीं जानता, क्योंकि, परिग्रहलोलुप प्रायः अंधेकी समान होता है ॥२५॥

अपि सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्वं वा सुराचलः ।
न पुनः संगसंकीर्णो मुनिः स्यात्संवृतेन्द्रियः ॥२६॥

अर्थ—कदाचित् सूर्य तो अपना प्रकाश छोड़ दे और सुमेरु पर्वत स्थिरता (अचलता) छोड़ दे तो संभव है; परन्तु परिग्रह सहित मुनि कदापि जितेन्द्रिय नहीं हो सकता ॥२६॥

बाह्यानपि च यः सङ्गान्परित्यक्तुमनीश्वरः ।
स क्लीबः कर्मणां सैन्यं कथमग्रे हनिष्यति ॥२७॥

अर्थ—जो पुरुष बाह्यके परिग्रहको भी छोड़नेमें असमर्थ हैं वह नपुंसक (नामर्द वा कायर) आगे कर्मोंकी सेनाको कैसे हनेगा ? ॥२७॥

स्मरभोगीन्द्रवल्मीकं रागाद्यरिनिकेतनं ।
क्रीडास्पदमविद्यानां बुधैर्वित्तं प्रकीर्तितम् ॥२८॥

अर्थ—विद्वानोंने (ज्ञानी पुरुषोंने) धनको कामरूपी सर्पकी बांबी तथा रागादि दुश्मनोंके रहने का घर और अविद्याओंके क्रीडा करनेका स्थानस्वरूप कहा है ॥२८॥

अत्यल्पे धनजम्बाले निमग्नो गुणवानपि ।
जगत्यस्मिन् जनः क्षिप्रं दोषलक्षैः कलङ्कयते ॥२९॥

अर्थ—थोड़ेसे धनरूपी कांचड़-सेवालमें फँसा हुआ गुणवान् पुरुष भी इस जगतमें तत्काल लक्षावधि दोषोंसे कलंकित होता हैं । भावार्थ—थोड़ेसे भी धनसे कालिमा लगती है ॥२९॥

संन्यस्तसर्वसंगेभ्यो गुरुभ्योऽप्यतिशंक्यते ।
धनिभिर्धनरक्षार्थं रात्रावपि न सुप्यते ॥३०॥

अर्थ—धनाढ्य पुरुष समस्त परिग्रहके त्यागनेवाले अपने गुरुसे भी शंकायुक्त रहता है तथा धनकी रक्षाके लिये रात्रिको सोता भी नहीं। भावार्थ—कोई मेरा धन न ले जाय ऐसी शंका उसे निरन्तर रहती है ॥३०॥

सुतस्वजनभूपालदुष्टचौरारिविड्वरात् ।
बन्धुमित्रकलत्रेभ्यो धनिभिः शङ्क्यते भृशं ॥३१॥

अर्थ—जो धनवान् होते हैं वे पुत्र, स्वजन, राजा, दुष्ट, चोर, बन्धु, स्त्री, मित्र अथवा परचक्र आदिसे निरन्तर शंकित रहते हैं ॥३१॥

कर्म बध्नाति यज्जीवो धनाशाकश्मलीकृतः ।
तस्य शान्तिर्यदि क्लेशाद्बहुभिर्जन्मकोटिभिः ॥३२॥

अर्थ—यह जीव धनकी आशासे मलिन हो कर जो कर्म बांधता है, उस कर्मकी शान्ति बहुत ही करोड़ों जन्मसे और बड़े कष्टसे होती है, क्योंकि एक जन्मका बांधा हुआ कर्म अनेक जन्मोंमें क्लेश भोगने पर ही छूटता है ॥३२॥

सर्वसंगविनिर्मुक्तः संवृताक्षः स्थिराशयः ।
धत्ते ध्यानधुरां धीरः संयमी वीरवर्णितां ॥३३॥

अर्थ—समस्त परिग्रहोंसे तो रहित हो और इन्द्रियोंको संवररूप करनेवाला हो ऐसा स्थिरचित्त संयमी मुनि ही श्रीवर्धमान भगवानकी कही हुई ध्यानकी धुराको धारण कर सकता है, क्योंकि ऐसे हुए विना ध्यानकी सिद्धि नहीं होती ॥३३॥

संगपङ्कात्समुत्तीर्णो नैराश्यमवलम्बते ।
ततो नाक्रम्यते दुःखैः पारतन्त्र्यैः क्वचिन्मुनिः ॥३४॥

अर्थ—जो मुनि परिग्रहरूपी कर्दमसे निकल गया हो वही निराशताका (निःस्पृहताका) अवलंबन कर सकता है और उस निराशताके होने पर वह मुनि परतन्त्रता स्वरूप दुःखोंसे कदापि नहीं घेरा वा दबाया जाता; सो ठीक ही है, आशा रहित होने पर फिर पराधीनताका दुःख क्यों हो? ॥३४॥

विजने जनसंकीर्णे सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा ।
सर्वत्राप्रतिबद्धः स्यात्संयमी संगवर्जितः ॥३५॥

अर्थ—जो परिग्रह रहित संयमी है, वह चाहे तो निर्जन वनमें रहो, चाहे बसतीमें रहो, चाहे सुखसे रहो चाहे दुःखसे रहो, उसको कहीं भी प्रतिबद्धता नहीं है; अर्थात् वह सब जगह सम्बन्ध रहित निर्मोही रहता है ॥३५॥

दुःखमेव धनव्यालविषविध्वस्तचेतसां ।
अर्जने रक्षणे नाशे पुंसां तस्य परिक्षये ॥३६॥

अर्थ—धनरूपी सर्पके विषसे जिनका चित्त बिगड़ गया है, उन पुरुषोंको धनोपार्जनमें, रक्षा करनेमें अथवा नाश होने वा व्यय (खर्च) करनेमें सदैव दुःख ही होता है ॥३६॥

स्वजातीयैरपि प्राणी सद्योऽभिद्रूयेते धनी ।
यथात्र सामिषः पक्षी पक्षिभिर्बद्धमण्डलैः ॥३७॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी पक्षीके पास मांसका खंड हो तो वह अन्यान्य मांसभक्षी पक्षियोंसे पीड़ित वा दुःखित किया जाता है, उसी प्रकार धनाढ्य पुरुष भी अपनी जातिवालोंसे दुःखित वा पीड़ित किया जाता है ॥३७॥

आरम्भो जन्तुघातश्च कषायाश्च परिग्रहात् ।
जायन्तेऽत्र ततः पातः प्राणिनां श्वभ्रसागरे ॥३८॥

अर्थ—जीवोंके परिग्रहसे इस लोकमें तो आरंभ होता है, हिंसा होती है और कषाय होते हैं; उससे फिर नरकरूपी सागरमें पतन होता है ॥३८॥

न स्याद्ध्यातुं प्रवृत्तस्य चेतः स्वप्नेऽपि निश्चलं ।
मुनेः परिग्रहग्राहैर्भिद्यमानमनेकधा ॥३९॥

अर्थ—जिस मुनिका चित्त परिग्रहरूपी पिशाचोंसे अनेक प्रकार पीड़ित है, उसका चित्त ध्यान करते समय कदापि स्वप्नमें भी स्थिर (निश्चल) नहीं रह सकता ॥३९॥

मालिनी ।

सकलविषयबीजं सर्वसावद्यमूलं
नरकनगरकेतुं वित्तजातं विहाय ।
अनुसर मुनिवृन्दानन्दि सन्तोषराज्य--
मभिलषसि यदि त्वं जन्मबन्धव्यपायम् ॥४०॥

अर्थ—अब आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन् ! यदि तू संसारके बंधका नाश करना चाहता है तो धनके समूहको छोड़ कर मुनियोंके समूहको आनंद देनेवाले सन्तोषरूपी राज्यको अंगीकार कर, क्योंकि धनका समूह समस्त इन्द्रियोंके विषयका तो बीज है तथा समस्त पापोंका मूल है और नरकनगरको ध्वजा है, सो ऐसे अनर्थकारी धनको छोड़ कर संतोषको अंगीकार कर, जिससे संसारका फंद कटता है ॥४०॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

एनः किं न धनप्रसक्तमनसां नासादि हिंसादिना
कस्तस्यार्जनरक्षणक्षयकृतैर्नादाहि दुःखानलैः ।

१ 'अभिभूयते' इत्यपि पाठः ।

तत्प्रागेव विचार्य वर्जय वरं व्यामूढ वित्तस्पृहां
येनैकास्पदतां न यासि विषयैः पापस्य तापस्य च ॥४१॥

अर्थ—हे व्यामूढ आत्मन्! जिनका मन धनमें लवलीन है उन्होंने क्या हिंसादिक कार्योंसे पापार्जन नहीं किया ? तथा उस धनके उपार्जन, रक्षण वा व्यय करनेसे दुःखरूपी अग्निसे कौन नहीं जला ? इस कारण पहिले ही विचार कर इस धनकी स्पृहाको (इच्छाको) छोड़; जिससे तू विषयों सहित पाप तापकी एकताको प्राप्त न हो अर्थात् विषयों और पापतापोंका संगी न हो ॥४१॥

पुनश्च ।

एवं तावदहं लभेय विभवं रक्षेयमेवं तत-
स्तद्वृद्धिं गमयेयमेवमनिशं भुञ्जीय चैवं पुनः ।
द्रव्याशारसरुद्धमानस भृशं नात्मानमुत्पश्यसि
क्रुद्धयत्क्रूरकृतान्तदन्तपटलीयन्त्रान्तरालस्थितम् ॥४२॥

अर्थ—हे आत्मन्! धनकी आशारूपी रससे मन रुक जानेसे तू ऐसा विचारता है कि 'प्रथम तो मैं धनोपार्जन कर सम्पदाको प्राप्त होऊंगा, फिर ऐसे उसकी रक्षा करूंगा, इस प्रकार उसकी वृद्धि करूंगा तथा अमुक प्रकारसे उसको भोग कर व्यय करूंगा' इत्यादि विचार करता रहता है; परन्तु क्रोधायमान यमके दांतोंकी दोनो पंक्तिरूपी चक्कीके बीचमें अपनेको आया हुआ नहीं देखता, सो यह तेरा बड़ा अज्ञान है ॥४२॥

इस प्रकार परिग्रहत्याग महाव्रतके वर्णनमें परिग्रहदोष वर्णन किये ।

दोहा ।

सर्व पापको मूल यह, ग्रहण परिग्रह जानि ।
त्यागै सो मुनि ध्यानमें, थिरता पावै मानि ॥१६॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते षोडशं प्रकरणम् ॥१६॥

---

१७. अथ सप्तदशः सर्गः ।

आशाकी निन्दा ।

आगे इस परिग्रहके वर्णनमें आशाके निषेधका वर्णन करते हैं—

बाह्यान्तर्भूतनिःशेषसंगसंन्याससिद्धये ।
आशां सद्भिर्निराकृत्य नैराश्यमवलंब्यते ॥१॥

अर्थ—जो सत्पुरुष हैं वे बाह्याभ्यन्तरके समस्त परिग्रहोंके त्यागकी सिद्धिके लिये प्रथम ही आशाको छोड़ कर निराशताका आलंबन करते हैं, क्योंकि आशाके छूटनेसे ही परिग्रहका त्याग होता है ॥१॥

यावद्यावच्छरीराशा धनाशा वा विसर्पति ।
तावत्तावन्मनुष्याणां मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत् ॥२॥

अर्थ—मनुष्योंके जैसे जैसे शरीर तथा धनमें आशा फैलती है, वैसे २ उनके मोहकर्मकी गांठ दृढ होती जाती है ॥२॥

अनिरुद्धा सती शश्वदाशा विश्वं प्रसर्पति ।
ततो निरूढमूलाऽसौ पुनश्छेत्तुं न शक्यते ॥३॥

अर्थ—इस आशाको रोका नहीं जाय तो यह निरन्तर समस्त लोकपर्यन्त विस्तरती रहती है और उससे इसका मूल दृढ होता जाता है, फिर इसका काटना अशक्य हो जाता है, इस कारण इसका रोकना श्रेष्ठ है ॥३॥

यद्याशा शान्तिमायाता तदा सिद्धं समीहितम् ।
अन्यथा भवसंभूतो दुःखवार्धिर्दुरुत्तरः ॥४॥

अर्थ—यदि आशा शान्तिको प्राप्त हो जाती है तो फिर उसी समय सर्व मनोवांछितकी सिद्धि हो जाती है, यदि शान्त न हुई तो फिर संसारसे उत्पन्न हुआ दुःखरूपी समुद्र दुस्तर हो जाता है। भावार्थ—फिर संसारका दुःख नहीं मिटेगा ॥४॥

यमप्रशमराज्यस्य सद्बोधार्कोदयस्य च ।
विवेकस्यापि लोकानामाशैव प्रतिषेधिका ॥५॥

अर्थ—लोगोंके यम, नियम वा प्रशम भावोंके राज्यका तथा सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्यके उदयका प्रतिषेध (निषेध) करनेवाली और विवेकको रोकनेवाली एक मात्र यह आशा ही है; आशाके नष्ट होनेसे ही सर्व सिद्धि है ॥५॥

आशामपि न सर्पन्तीं यः क्षणं रक्षितुं क्षमः ।
तस्यापवर्गसिद्ध्यर्थं वृथा मन्ये परिश्रमम् ॥६॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि जो पुरुष बढ़ती हुई आशाको क्षणभर भी रोकनेको असमर्थ है उसका मोक्षकी सिद्धिके लिये परिश्रम करना व्यर्थ है, ऐसा मैं मानता हूं ॥६॥

आशैव मदिराऽक्षाणामाशैव विषमञ्जरी ।
आशामूलानि दुःखानि प्रभवन्तीह देहिनाम् ॥७॥

अर्थ—संसारी जीवोंके आशा ही तो इन्द्रियोंको उन्मत्त करनेवाली मदिरा है और आशा ही विषको बढ़ानेवाली मंजरी है तथ संसारमें जितने दुःख होते हैं, उनकी एक मात्र यह आशा ही मूल कारण है ॥७॥

त एव सुखिनो धीरा यैराशाराक्षसी हता ।
महाव्यसनसंकीर्णश्चोत्तीर्णः क्लेशसागरः ॥८॥

अर्थ—जिन पुरुषोंने आशारूपी राक्षसीको नष्ट किया, वे ही पुरुष धीर, वीर और सुखी हैं तथा वे ही अनेक आपदा वा कष्टोंके भरे हुए दुःखरूपी संसारसमुद्रसे पार हुए हैं ॥८॥

येषामाशा कुतस्तेषां मनःशुद्धिः शरीरिणाम् ।
अतो नैराश्यमालंब्य शिवीभूता मनीषिणः ॥९॥

अर्थ—जिन पुरुषोंको आशा लगी है, उनके मनकी शुद्धि कैसे हो ? इस कारण जो बुद्धिमान् पुरुष हैं उन्होंने निराशताका अवलंबन करके ही अपना कल्याण साधन किया है। भावार्थ—जो जो निराश हुए उन्होंने ही अपना कल्याण किया है ॥९॥

सर्वाशां यो निराकृत्य नैराश्यमवलम्बते ।
तस्य क्वचिदपि स्वान्तं संगपङ्केन लिप्यते ॥१०॥

अर्थ—जो पुरुष समस्त आशाओंका निराकरण करके निराशाका अवलंबन करता है, उसका मन किसी कालमें भी परिग्रहरूपी कर्दमसे नहीं लिपता। भावार्थ—जो आशा छोड़े उसको परिग्रहरूपी मल काहेको लगे ? ॥१०॥

तस्य सत्यं श्रुतं वृत्तं विवेकस्तत्त्वनिश्चयः ।
निर्ममत्वं च यस्याशापिशाची निधनं गता ॥११॥

अर्थ—जिस पुरुषके आशारूपी पिशाची नष्टताको प्राप्त हुई उसका शास्त्राध्ययन करना, चारित्र पालना, विवेक, तत्त्वोंका निश्चय और निर्ममता आदि सत्यार्थ (सच्चे) हैं वा सार्थक हैं ॥११॥

यावदाशानलश्चित्ते जाज्वलीति विशृङ्खलः ।
तावत्तव महादुःखदाहशान्तिः कुतस्तनी ॥१२॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जब तक तेरे चित्तमें आशारूपी अग्नि स्वतंत्रतासे नितान्त प्रज्वलित हो रही है तब तक तेरे महा दुःखरूपी दाहकी शान्ति कहांसे हो ? ॥१२॥

निराशतासुधापूरैर्यस्य चेतः पवित्रितम् ।
तमालिङ्गति सोत्कण्ठं शमश्रीर्बद्धसौहृदा ॥१३॥

अर्थ—जिसका चित्त निराशतारूपी अमृतके प्रवाहोंसे पवित्र हो चुका है, उस पुरुषको प्रीतिसे बँधी हुई उपशम भावरूपी लक्ष्मी उत्कंठापूर्वक आलिंगन करती है। भावार्थ—आशासे मैले हुए चित्तमें उपशम भाव नहीं आ सकते ॥१३॥

न मज्जति मनो येषामाशाम्भसि दुरुत्तरे ।
तेषामेव जगत्यस्मिन्फलितो ज्ञानपादपः ॥१४॥

अर्थ—इस जगतमें जिनका मन दुस्तर आशारूपी जलमें नहीं डूबता, उनके ही ज्ञानरूपी वृक्ष फलता है। भावार्थ—आशारूपी दुस्तर जलमें ज्ञानरूपी वृक्ष गल जाता है, इस कारण फल नहीं लगता ॥१४॥

शक्रोऽपि न सुखी स्वर्गे स्यादाशानलदीपितः ।
विध्याप्याशानलज्वालां श्रयन्ति यमिनः शिवम् ॥१५॥

अर्थ--स्वर्गका इन्द्र भी आशारूपी अग्निसे जलता हुआ सुखी नहीं है और मुनीगण तो आशा-रूपी अग्निकी ज्वालाको बुझा कर मोक्षका आश्रय कर लेते हैं अर्थात् मुनिगण निराशताका अवलंबन करके सर्वथा सुखी हो जाते हैं ॥१५॥

चरस्थिरार्थजातेषु यस्याशा प्रलयं गता ।
किं किं न तस्य लोकेऽस्मिन्मन्ये सिद्धं समीहितं ॥१६॥

अर्थ--आचार्य महाराज कहते है कि जिस पुरुषकी चराचर (चित् अचित्) पदार्थोंमें आशा नष्ट हो गई है, उसके इस लोकमें क्या क्या मनोवाछित सिद्ध नही हुए ? अर्थात् सबै मनोवांछित सिद्ध हुए, ऐसा मैं मानता हू ॥१६॥

चापलं त्यजति स्वान्तं विक्रियाश्चाक्षदन्तिनः ।
प्रशाम्यति कषायाग्निर्नैराश्याधिष्ठितात्मनाम् ॥१७॥

अर्थ--जिनकी आत्माने निराशताको स्वीकृत किया है, उनका मन तो चपलताको छोड़ देता है और इन्द्रियरूपी हस्ती विषयविस्तारको छोड़ दते हे तथा कषायरूपी अग्नि शान्त हो जाती है ॥१७॥

किमत्र बहुनोक्तेन यस्याशा निधनं गता ।
स एव महतां सेव्यो लोकद्वयविशुद्धये ॥१८॥

अर्थ--आचार्य महाराज कहते हैं कि बहुत कहां तक कहे ? इतना ही बहुत है कि जिसकी आशा नष्ट हो गई वही पुरुष उभय लोकको विशुद्धताके लिये महापुरुषोंके द्वारा सेवा करने योग्य है। भावार्थ--आशारहित मुनिकी बडे २ सत्पुरुष सेवा करते है ॥१८॥

आशा जन्मोग्रपङ्काय शिवायाशाविपर्ययः ।
इति सम्यक्समालोच्य यद्धितं तत्समाचर ॥१९॥

अर्थ--आशा है सो ससाररूपी कर्दममें फँसानेवाली है और उसके विपर्यय अर्थात् आशाका अभाव मोक्षका करनेवाला है। अब तू इन दोनोंका भले प्रकार विचार कर, जिसमें अपना हित समझे उसीका आचरण कर, यह उपदेश है। १९॥

न स्याद्विक्षिप्तचित्तानां स्वेष्टसिद्धिः क्वचिन्नृणाम् ।
कथं प्रक्षीणविक्षेपा भवन्त्याशाग्रहक्षताः ॥२०॥

अर्थ--जो आशारूपी पिशाचसे क्षत अर्थात् पीड़ित हैं, वे विक्षिप्त चित्त हैं, सो जिनका चित्त विक्षिप्त है, उन मनुष्योंकी इष्टसिद्ध कहीं भी नहीं है, उनकी विक्षिप्तता कैसे नष्ट होगी सो नहीं कहा जा सकता ॥२०॥

अब इस प्रकरणको पूरा करते हुए कहते हैं--

मालिनी

विषयविपिनवीथीसंकटे पर्यटन्ती
झटितिघटितवृद्धिः क्वापि लब्धावकाशा ।
अपि नियमिनरेन्द्रानाकुलत्वं नयन्ती
छलयति खलु कं वा नेयमाशापिशाची ॥ २१ ॥

अर्थ—विषयरूपी वनकी गलियोंमें फिरती हुई, तत्काल बढती जहां तहां स्वतंत्र(बे रोकटोक) विचरनेवाली, प्रयमी मुनियोंको आकुलित करनेवाली यह आशारूपी पिशाची किस २ को नहीं छलती ? अर्थात् सबको छलती फिरती है ॥२१॥

इस प्रकार आशापिशाचीका वर्णन किया ।

दोहा

आशा माता कर्मकी, आतमसों प्रतिकूल ।
जेते घट बरतै यही, ध्यान न शिवसुखमूल ॥ १७॥

इति श्रीज्ञानार्णवे शुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे आशापिशाचीवर्णनं नाम सप्तदशं प्रकरणम् ॥ १७॥

१८. अथाष्टादशः सर्गः

पंच समिति आदिका वर्णन ।

उक्त प्रकारसे सम्यक्चारित्रके वर्णनमें पाच महाव्रतोंका वर्णन किया गया । अब महाव्रत शब्दका अर्थ कह कर इनके दृढ करनेवाली पच्चीस भावनाओंको तथा पाच समिति, व तीन गुप्तियोंको सक्षेपसे कह कर रत्नत्रयके प्रकरणको पूर्ण करेंगे; अतएव प्रथम ही महाव्रत शब्दका अक्षरार्थ कहते हैं—

उपेन्द्रवज्रा ।

महत्त्वहेतोर्गुणिभिः श्रितानि महान्ति मत्वा त्रिदशैर्नुतानि ।
महासुखज्ञाननिबन्धनानि महाव्रतानीति सतां मतानि ॥ १ ॥

अर्थ—प्रथम तो ये महाव्रत महत्ताके कारण है, इस कारण इनका गुणी पुरुषोंने आश्रय किया है अर्थात् धारण करते हैं । दूसरे—ये स्वयं महान् है इस कारण देवताओंने भी इन्हें नमस्कार किया है । तीसरे-महान् अतीन्द्रिय सुख और ज्ञानके कारण है,इस कारण ही सत्पुरुषोने इनको महाव्रत माना है॥ १॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे—

आर्या

"आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्तं प्रसाधयन्त्यर्थम् ।
स्वयमपि महान्ति यस्मान्महाव्रतानीत्यतस्तानि ॥१॥

अर्थ—अन्य ग्रन्थमें भी कहा है कि इन पाच महाव्रतोंको महापुरुषोंने आचरण किया है तथा

महान् पदार्थ कहिये मोक्षको साधते हैं तथा स्वयं भी बड़े हैं अर्थात् निर्दोष हैं, इस कारण इनका महाव्रत ऐसा नाम कहा गया है ॥ १ ॥

महाव्रतविशुद्ध्यर्थं भावनाः पञ्चविंशतिः ।
परमासाद्य निर्वेदपदवीं भव्य भावय ॥ २ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि हे भव्य ! ये पांच महाव्रत कहे उनकी शुद्धताके लिये (निर्मलताके लिये) पच्चीस भावना कही हैं, उन्हें अंगीकार करके वैराग्य पदवीकी भावना कर ॥२॥

इन २५ भावनाओंके नाम तत्त्वार्थसूत्रादिकी टीकामें प्रसिद्ध हैं, इस कारण यहां नहीं कहे। अब पांच समितियोंको कहते हैं—

ईर्य्या भाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञकाः ।
सद्भिः समितयः पञ्च निर्दिष्टाः संयतात्मभिः ॥ ३ ॥

अर्थ—संयम सहित है आत्मा जिनका ऐसे सत्पुरुषोंने ईर्य्या, भाषा, एषणा, आदान—निक्षेपण और उत्सर्ग ये हैं नाम जिनके ऐसी पांच समितियें कही हैं ॥ ३ ॥

वाक्कायचित्तजानेकसावद्यप्रतिषेधकं ।
त्रियोगरोधनं वा स्याद्यत्तद्गुप्तित्रयं मतम् ॥ ४ ॥

अर्थ—मन वचन कायसे उत्पन्न अनेक पापसहित प्रवृत्तियोंका प्रतिषेध करने वाला प्रवर्तन अथवा तीनों योग (मनवचनकायकी क्रिया) का रोकना ये तीन गुप्तियें कही गई हैं ॥४॥

अब इन पांच समिति और तीन गुप्तियोंका भिन्न २ स्वरूप कहते हैं—

सिद्धक्षेत्राणि सिद्धानि जिनबिम्बानि वन्दितुम् ।
गुर्वाचार्यतपोवृद्धान्सेवितुं व्रजतोऽथवा ॥ ५ ॥
दिवा सूर्यकरैः स्पष्टं मार्गं लोकातिवाहितम् ।
दयार्द्रस्याङ्गिरक्षार्थं शनैः संश्रयतो मुनेः ॥ ६ ॥
प्रागेवालोक्य यत्नेन युगमात्राहितेऽक्षिणः ।
प्रमादरहितस्यास्य समितीर्या प्रकीर्तिता ॥ ७ ॥

अर्थ—जो मुनि प्रसिद्ध सिद्धक्षेत्रोंको तथा जिनप्रतिमाओंको वन्दनेके लिये तथा गुरु आचार्य वा जो तपसे बड़े हों उनकी सेवा करनेके लिये गमन करता हो उसके ॥५॥ तथा दिनमें सूर्यकी किरणोंसे स्पष्ट दीखनेवाले, बहुत लोग जिसमें गमन करते हों ऐसे मार्गमें दयासे आर्द्रचित्त हो कर जीवोंकी रक्षा करता हुआ धीरे २ गमन करें उस मुनिके ॥६॥ तथा चलनेसे पहिले ही जिसने युग(जुड़े) परिमाण (चार हाथ) मार्गको भले प्रकार देख लिया हो और प्रमाद रहित हो ऐसे मुनिके ईर्य्या समिति कही गई है ॥ ७ ॥

धूर्तकामुककव्यादचौरचार्वाकसेविता ।
शङ्कासङ्केतपापाढ्या त्याज्या भाषा मनीषिभिः ॥८॥
दशदोषविनिर्मुक्तां सूत्रोक्तां साधुसम्मताम् ।
गदतोऽस्य मुनेर्भाषां स्याद्भाषासमितिः परा ॥९॥

अर्थ—धूर्त (मायावी), कामी, मांसभक्षी, चौर, नास्तिकमती चार्वाकादिके व्यवहारमें आई हुई भाषा तथा संदेह उपजानेवाली, वा पापसंयुक्त हो ऐसी भाषा बुद्धिमानोंको त्यागनी चाहिये ॥८॥ तथा वचनोंके दश दोष रहित सूत्रानुसार साधुपुरुषोंको मान्य हो ऐसी भाषाको कहनेवाले मुनिके उत्कृष्ट भाषासमिति होती है ॥९॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे ।

"कर्कशा परुषा कट्वी निष्ठुरा परकोपिनी ।
छेद्याङ्कुरा मध्यकृशाऽतिमानिनी[1] भयंकरी ॥१॥
भूतहिंसाकरी चेति दुर्भाषां दशधा त्यजेत् ।
हितं मितमसंदिग्धं स्याद्भाषासमितिर्मुनेः ॥२॥

अर्थ—कर्कश, परुष, कटु, निष्ठुर, परकोपी, छेद्यांकुरा, मध्यकृशा, अतिमानिनी, भयंकरी और जीवों की हिंसा करानेवाली, ये दश दुर्भाषा हैं; इनको छोड़े तथा हितकारी, मर्यादा सहित असंदिग्ध वचन बोले उसी मुनिके भाषासमिति होती है ॥ १–२ ॥"

उद्गमोत्पादसंज्ञैस्तैर्धूमाङ्गारादिगैस्तथा ।
दोषैर्मलैर्विनिर्मुक्तं विघ्नशङ्कादिवर्जितम् ॥१०॥
शुद्धं काले परैर्दत्तमनुद्दिष्टमयाचितम् ।
अदतोऽन्नं मुनेर्ज्ञेया एषणासमितिः परा ॥११॥

अर्थ—जो उद्गमदोष १६, उत्पादनदोष १६, एषणादोष १०, धुआं अंगार प्रमाण संयोजन ये ४ चार मिलाकर ४६ दोषरहित तथा मांसादिक १४ मलदोष और अन्तराय शंकादिसे रहित, शुद्ध, कालमें परके द्वारा दिया हुआ बिना उद्देशा हुआ और याचना रहित आहार करें उस मुनिके उत्तम एषणासमिति कही गई है । इन दोषादिकोंका स्वरूप (आचारवृत्ति) आदिक ग्रन्थोंसे जानना ॥१०-११॥

शय्यासनोपधानानि शास्त्रोपकरणानि च ।
पूर्वं सम्यक्समालोच्य प्रतिलिख्य पुनः पुनः ॥१२॥
गृह्णतोऽस्य प्रयत्नेन क्षिपतो वा धरातले ।
भवत्यविकला साधोरादानसमितिः स्फुटं ॥१३॥

अर्थ—जो मुनि, शय्या, आसन, उपाधान, शास्त्र और उपकरण आदिको पहिले भले प्रकार देख

[1] 'मानिन्यतिभयंकरी" इति पाठः समीचीन इति मामकीनमतम् ।

कर फिर उठावें अथवा रक्खे उसके तथा बड़े यत्नसे ग्रहण करते हुएके तथा पृथ्वि पर धरते हुए साधुके अविकल (पूर्ण) आदान निक्षेपणसमिति स्पष्टतया पलती है॥ १२-१३ ॥

विजन्तुकधरापृष्ठे मूत्रश्लेष्ममलादिकम् ।
क्षिपतोऽतिप्रयत्नेन व्युत्सर्गसमितिर्भवेत् ॥१४॥

अर्थ—जीव रहित पृथ्वि पर मल, मूत्र, श्लेष्मादिकको बड़े यत्नसे (प्रमाद रहिततासे) क्षेपण करनेवाले मुनिके उत्सर्गसमिति होती है ॥१४॥

विहाय सर्वसंकल्पान् रागद्वेषावलम्बितान् ।
स्वाधीनं कुरुते चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ॥१५॥
सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शश्वत्प्रेरयतोऽथवा ।
भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिणः ॥१६॥

अर्थ—रागद्वेषसे अवलंबित समस्त संकल्पोंको छोड़ कर जो मुनि अपने मनको स्वाधीन करता है और समताभावोंमे स्थिर करता है तथा सिद्धान्तके सूत्रकी रचनामे निरन्तर प्रेरणारूप करता है उस बुद्धिमान् मुनिके सम्पूर्ण मनोगुप्ति होती है ॥ १५-१६ ॥

साधुसंवृतवाग्वृत्तेर्मौनारूढस्य वा मुनेः ।
सञ्ज्ञादिपरिहारेण वाग्गुप्तिः स्यान्महामुनेः ॥१७॥

अर्थ—भले प्रकार संवररूप (वश) करी है वचनोकी प्रवृत्ति जिसने ऐसे मुनिके तथा समस्यादिका त्याग कर मौनारूढ होनेवाले महामुनिके वचन गुप्ति होती है ॥१७॥

स्थिरीकृतशरीरस्य पर्यङ्कसंस्थितस्य वा ।
परीषहप्रपातेऽपि कायगुप्तिर्मता मुनेः ॥१८॥

अर्थ—स्थिर किया है शरीर जिसने तथा परीषह आ जाय तो भी अपने पर्यंकासनसे ही स्थिर रहै, किंतु डिगें नहीं, उस मुनिके ही कायगुप्ति मानी गई है ॥१८॥

जनन्यो यमिनामष्टौ रत्नत्रयविशुद्धिदाः ।
एताभी रक्षितं दोषैर्मुनिवृन्दं न लिप्यते ॥१९॥

अर्थ—पांच समिति और तीन गुप्ति ये आठों संयमी पुरुषोंकी रक्षा करनेवाली माता है तथा रत्नत्रयको विशुद्धता देनेवाली हैं, इनसे रक्षा किया हुआ मुनियोंका समूह दोषोंसे लिप्त नहीं होता ॥१९॥

अब सम्यक्चारित्रके कथनको पूर्ण करते हुए कहते हैं—

मालिनी ।

इति कतिपयवर्णैश्चर्चितं चित्ररूपं चरणमनघमुच्चैश्चेतसां शुद्धिधाम ।
अविदितपरमार्थैर्यन्न साध्यं विपक्षैस्तदिदमनुसरन्तु ज्ञानिनः शान्तदोषाः ॥२०॥

अर्थ—उक्त प्रकारसे कितने ही अक्षरोंद्वारा वर्णन किया जो अनेकरूप निर्दोष चारित्र सो अतिशय ऊंचे चित्तवालोंको तो शुद्धताका मन्दिर है और नहीं जाना है परमार्थ जिन्होंने ऐसे विपक्षियोंद्वारा जो असाध्य है अर्थात् धारण नहीं किया जा सकता, ऐसे इस चारित्रको शांतदोषी ज्ञानी पुरुष धारण करो ऐसा उपदेश है ॥ २० ॥

अब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप रत्नत्रयके कथनको (जो अब तक हुआ उसको) पूर्ण करते हुए कहते हैं—

सम्यगेतत्समासाद्य त्रयं त्रिभुवनार्चितम् ।
द्रव्यक्षेत्रादिसामग्र्या भव्यः सपदि मुच्यते ॥ २१ ॥

अर्थ—इस त्रिभुवनकरके पूजित सम्यक्‌रत्नत्रयको द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप सामग्रीके अनुसार अंगीकार करके भव्य पुरुष शीघ्र ही कर्मोंसे छूटता है अर्थात् मुक्त होता है ॥२१॥

एतत्समयसर्वस्वं मुक्तेश्चैतन्निबन्धनम् ।
हितमेतद्धि जीवानामेतदेवाग्रिमं पदम् ॥२२॥

अर्थ—यह रत्नत्रय ही सिद्धान्तका सर्वस्व है और यही मुक्तिका कारण है तथा यही जीवोंका हित और प्रधान पद है ॥२२॥

ये याता यान्ति यास्यन्ति यमिनः पदमव्ययम् ।
समाराध्यैव ते नूनं रत्नत्रयमखण्डितम् ॥२३॥

अर्थ—निश्चयकरके इस रत्नत्रयको अखंडित (परिपूर्ण) आराध करके ही संयमी मुनि आज तक पूर्वकालमें मोक्ष गये हैं और वर्तमानमें जाते है तथा भविष्यत्में जायेंगे ॥२३॥

साक्षादिदमनासाद्य जन्मकोटिशतैरपि ।
दृश्यते न हि केनापि मुक्तिश्रीमुखपङ्कजम् ॥२४॥

अर्थ—इस रत्नत्रयको प्राप्त न होकर करोड़ो जन्म धारण करने पर भी कोई मुक्तिरूपी लक्ष्मी के मुखरूपी कमलको साक्षात् नहीं देख सकता ॥२४॥

अब अध्यात्मभावना करके शुद्ध निश्चयनयकी प्रधानतासे रत्नत्रयका वर्णन करते हैं—

दृग्बोधचरणान्याहुः स्वमेवाध्यात्मवेदिनः ।
यतस्तन्मय एवासौ शरीरी वस्तुतः स्थितः ॥ २५ ॥

अर्थ—जो अध्यात्मके जाननेवाले हैं वे दर्शन ज्ञान और चारित्र तीनोंको एक आत्मा ही कहते है, क्योंकि परमार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो यह शरीरी आत्मा उन तीनों से तन्मय ही है, कुछ भी पृथक अर्थात् अन्य नहीं है; यद्यपि भावा-भाववान्‌के भेदसे तीन भेद किये गये है, तथापि वास्तवमें एकही हैं ॥ २५ ॥

निर्णीतेऽस्मिन्स्वयं साक्षान्नापरः कोऽपि मृग्यते ।
यतो रत्नत्रयस्यैषः प्रसूतेरग्रिमं पदम् ॥ २६ ॥

अर्थ—इस आत्माको स्वयं आप से ही साक्षात् निर्णय करनेसे और कोई भी अन्य नहीं पाया जाता; केवल मात्र आत्मा ही रत्नत्रयकी उत्पत्तिका मुख्य पद है ॥ २६ ॥

जानाति यः स्वयं स्वस्मिन्स्वस्वरूपं गतभ्रमः ।
तदेव तस्य विज्ञानं तद्वृत्तं तच्च दर्शनम् ॥ २७ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपनेमें अपनेसे ही अपने निजरूपको भ्रम रहित होकर जानता है, वही उसके विज्ञानविशिष्ट ज्ञान है और वही सम्यक्चारित्र तथा सम्यग्दर्शन है, अन्य कुछ भी नहीं है ॥ २७॥

स्वज्ञानादेव मुक्तिः स्याज्जन्मबन्धस्ततोऽन्यथा ।
एतदेव जिनोद्दिष्टं सर्वस्वं बन्धमोक्षयोः ॥ २८ ॥

अर्थ—आत्मज्ञानसे ही मोक्ष होता है, आत्मज्ञानके विना अन्य प्रकारसे संसारका बंध होता है, यही जिनेन्द्र भगवानका कहा हुआ बंध मोक्षका सर्वस्व है ॥२८॥

आत्मैव मम विज्ञानं दृग्वृत्तं चेति निश्चयः ।
मत्तः सर्वेऽप्यमी भावा बाह्याः संयोगलक्षणाः ॥ २९ ॥

अर्थ—मेरे आत्मा ही विज्ञान है आत्मा ही दर्शन और चारित्र है ऐसा निश्चय है। इससे अन्य सब ही पदार्थ मुझसे बाह्य और संयोगस्वरूप हैं। इस प्रकार अनुभव करनेसे रत्नत्रयमें और आत्मामें कुछ भी भेद नहीं रहता ॥ २९ ॥

अयमात्मैव सिद्धात्मा स्वशक्त्याऽपेक्षया स्वयम् ।
व्यक्तीभवति सद्ध्यानवह्निनाऽत्यन्तसाधितः ॥ ३० ॥

अर्थ—यह आत्मा संसारअवस्थामें भी अपनी शक्तिकी अपेक्षासे सिद्धस्वरूप है और समीचीन ध्यानरूपी अग्निसे अत्यन्त साधनेसे व्यक्तरूप सिद्ध होता है अर्थात् अष्टकर्मका नाश होने पर सिद्ध-स्वरूप व्यक्त (प्रगट) होता है ॥३०॥

एतदेव परं तत्त्वं ज्ञानमेतद्धि शाश्वतम् ।
अतोऽन्यो यः श्रुतस्कन्धः स तदर्थं प्रपञ्चितः ॥ ३१॥

अर्थ—यह आत्मा ही परम तत्त्व है और यही शाश्वत ज्ञान है अतएव अन्य श्रुत-स्कन्ध द्वादशांग शास्त्ररूप रचना इस आत्माको ही जाननेके लिए विस्तृत हुआ है ॥३१॥

अपास्य कल्पनाजालं चिदानन्दमये स्वयम् ।
यः स्वरूपे लयं प्राप्तः सः स्याद्रत्नत्रयास्पदम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—जो मुनि कल्पनाके जालको दूर करके अपने चैतन्य और आनन्दमय स्वरूपमें लयको प्राप्त हो, वही निश्चय रत्नत्रयका स्थान (पात्र) होता है ॥३२॥

सुप्तेष्वक्षेषु जागर्ति पश्यत्यात्मानमात्मनि ।
वीतविश्वविकल्पोऽसौ सः स्वदर्शी बुधैर्मतः ॥३३॥

अर्थ—जो मुनि इन्द्रियोंके सोते हुए तो जागता है तथा आत्मामें ही आत्माको देखता है और समस्त विकल्पोंसे रहित है वही विद्वानोंके द्वारा आत्मदर्शी माना गया है ॥३३॥

निःशेषक्लेशनिर्मुक्तममूर्त्तं परमाक्षरम् ।
निष्प्रपञ्चं व्यतीताक्षं पश्य स्वं स्वात्मनि स्थितम् ॥३४॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तू अपने आत्मामें ही रहता हुआ अपनेको समस्त क्लेशोंसे रहित, अमूर्तीक, परम उत्कृष्ट अविनाशी, विकल्पोंसे और इन्द्रियोंसे रहित तथा अतीन्द्रिय स्वरूप देख ॥३४॥

नित्यानन्दमयं शुद्धं चित्स्वरूपं सनातनम् ।
पश्यात्मनि परं ज्योतिरद्वितीयमनव्ययम् ॥३५॥

अर्थ—फिर भी कहते हैं कि तू अपने आत्मामें ही अपनेको इस प्रकार टिका हुआ देख कि मैं नित्य आनन्दमय हूं, शुद्ध हूं, चैतन्यस्वरूप हू और सनातन हूं, अविनश्वर हू, परमज्योति–ज्ञानप्रकाशरूप हूं, अद्वितीय हूं और अनव्यय कहिये व्यय विना नहीं हूं अर्थात् पूर्व पर्यायके व्यय सहित हूं ॥३५॥

यस्यां निशि जगत्सुप्तं तस्यां जागर्ति संयमी ।
निष्पन्नं कल्पनातीतं स वेत्त्यात्मानमात्मनि । ३६॥

अर्थ—जिस रात्रिमें जगत् सोता है उस रात्रिमें सयमी मुनि जागता है और अपने आत्मामें ही अपनेको निष्पन्न, स्वयंसिद्ध तथा कल्पना रहित जानता है। भावार्थ—जगत् अज्ञानरूपी रात्रिमें सोता है और संयमी ज्ञानरूप सूर्यके उदय होनेसे जागता है ॥३६॥

या निशा सर्वभूतेषु तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥३७॥

अर्थ—जो समस्त प्राणियोंमें रात्रि मानी जाती है उसमें तो सयमी जागता है और जिस रात्रिमें समस्त प्राणी जागते हैं वह अपने स्वरूपावलोकन करनेवाले मुनिकी रात्रि है। भावार्थ—जगतके जीवोंको अपने स्वरूपका प्रतिभास नहीं है इस कारण इनको यही रात्रि है, इसमें सब जीव सोतेहुए हैं और संयमी मुनिजनोंको अपने स्वरूपका प्रतिभास है इस कारण वे इसमें जागते है और जगतके प्राणी अज्ञानमें जागते हैं, यह अज्ञान ही मुनिकी रात्रि है, तात्पर्य यह कि मुनियोंके अज्ञान है ही नहीं ॥३७॥

यस्य हेयं न वाऽऽदेयं निःशेषं भुवनत्रयम् ।
उन्मीलयति विज्ञानं तस्य स्वान्यप्रकाशकम् ॥३८॥

अर्थ—जिस मुनिके समस्त त्रिभुवन हेय अथवा आदेय नहीं हैं उस मुनिके स्वपरप्रकाशक ज्ञानका उदय होता है, क्योंकि जब तक हेय उपादेय बुद्धिमें रहे तब तक ज्ञान निर्मलतासे नहीं फैलता (बढ़ता) ॥३८॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

दृश्यन्ते भुवि किं न तेऽल्पमतयः संख्याव्यतीताश्चिरम्
ये लीलां परमेष्ठिनो निजनिजैस्तन्वन्ति वाग्भिः परम् ।
तं साक्षादनुभूय नित्यपरमानन्दाम्बुराशिं पुन
र्ये जन्मभ्रममुत्सृजन्ति सहसा धन्यास्तु ते दुर्लभाः ॥३९॥

अर्थ—जो पुरुष अपने वचनोंसे केवल परमेष्ठीकी बहुत काल पर्यन्त लीला-गुणानुवाद विस्तार करते हैं, ऐसे अल्पमती संसारमें क्या प्रायः संख्या रहित देखनेमें नहीं आते ? अर्थात् ऐसे जीव असंख्य हैं, परन्तु जो पुरुष नित्य परमानन्दके समुद्रको साक्षात् अनुभवगोचर करके संसारके भ्रमको तत्काल ही दूर-कर देते हैं, वे महाभाग्य इस पृथिव पर दुर्लभ है ॥३९॥

इस प्रकार रत्नत्रयका वर्णन किया । यहां तात्पर्य ऐसा है कि जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको निश्चय व्यवहाररूप भले प्रकार जान कर अंगीकार करता है उसके ही मोक्षके कारण अपने स्वरूपके ध्यानकी सिद्धि होती है; अन्यमती अन्यथा अनेक प्रकारसे ध्यानका तथा ध्यानकी सामग्रीका स्वरूप स्थापन करते हैं, उनके किंचिन्मात्र लौकिक चमत्कारकी सिद्धि कदाचित् हो तो हो सकती है, किन्तु मोक्षमार्ग वा मोक्षकी सिद्धि कदापि नहीं हो सकती ।

दोहा ।

सम्यकदर्शन ज्ञान व्रत, शिवमग भाख्यो नाम ।
तीन भेद व्यवहारतैं, निश्चय आतम राम ॥
रत्नत्रय धारे विना, आतमध्यान न सार ।
जे उमगैं नर करनको, वृथा खेद निरधार ॥

छप्पय ।

अंतर बाहर तत्त्व दोय परकार जु सोहै ।
उपादेय निजरूप जानि अन्तर अवरोहै ॥
बाहिर हेय बिसारि धारि सरधा दृढ करनी
दुहुँकी रीति अनेक बानि जिनकी मधि बरनी ॥
नय निश्चय अरु व्यवहार दो, पर्यय नय व्यवहार है ।
लखि द्रव्यदृष्टि निश्चय भले चिन्मय निज यह सार है ॥

दोहा ।

चेतनके परिणाम निज, हैं असंख्य श्रुत भाख ।
इह अल्प छद्मस्थके, शेष जिनेश्वर साख ॥१८॥

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते रत्नत्रयवर्णनं नाम अष्टादशं प्रकरणम् ॥१८॥

१९- अथ एकोनविंशः सर्गः ।

कषायकी निन्दा ।

आगे क्रोधादिक कषाय और इन्द्रियोंके विषय चारित्रके और ध्यानके घातक हैं इस कारण उनका वर्णन करते हैं, तिनमेंसे प्रथम ही क्रोधकषायका वर्णन करते हैं—

सत्संयममहारामं यमप्रशमजीवितम् ।
देहिनां निर्दहत्येव क्रोधवह्निः समुत्थितः ॥१॥

अर्थ—जीवोंके यम, नियम तथा प्रशम (शान्त भाव) ही है जीवन जिसका ऐसे उत्कृष्ट संयमरूपी उपवन (बाग) को प्रज्वलित हुई क्रोधरूपी अग्नि भस्म कर देती है ॥१॥

दृग्बोधादिगुणानर्घ्यरत्नप्रचयसंचितम् ।
भाण्डागारं दहत्येव क्रोधवह्निः समुत्थितः ॥२॥

अर्थ—तथा यह क्रोधरूपी अग्नि प्रकट होने पर सम्यग्दर्शन ज्ञानादि अमूल्य रत्नोंके समूहोंसे संचित किये गुणरूपी भंडारको भी दग्ध कर देती है ॥२॥

संयमोत्तमपीयूषं सर्वाभिमतसिद्धिदम् ।
कषायविषसेकोऽयं निःसारीकुरुते क्षणात् ॥३॥

अर्थ—इस कषायरूपी विषका सिंचन करना सर्व मनोवांछित सिद्धिको देनेवाले संयमरूपी उत्तम अमृतको भी क्षणमात्रमें निःसार कर देता है ॥३॥

तपःश्रुतयमाधारं वृत्तविज्ञानवर्द्धितम् ।
भस्मीभवति रोषेण पुंसां धर्मात्मकं वपुः ॥४॥

अर्थ—चारित्र और विशिष्ट ज्ञानसे बढ़ाया हुआ तथा तप, स्वाध्याय और संयमका आधार जो पुरुषोंका धर्मरूपी शरीर है सो क्रोधरूपी अग्निसे भस्म हो जाता है ॥४॥

अयं समुत्थितः क्रोधो धर्मसारं सुरक्षितम् ।
निर्दहत्येव निःशङ्कं शुष्कारण्यमिवानलः ॥५॥

अर्थ—प्रगट हुआ यह क्रोध सूखे वनको अग्निके समान सुरक्षित धर्मरूपी सार कहिये, बल अथवा वनको निःसंदेह दग्ध कर देता है ॥५॥

पूर्वमात्मानमेवासौ क्रोधान्धो दहति ध्रुवम् ।
पश्चादन्यन्न वा लोको विवेकविकलाशयः ॥६॥

अर्थ—क्रोधसे अन्धा हुआ विवेकरहित यह लोक प्रथम तो अपनेको निश्चय करके जला देता है, तत्पश्चात् दूसरोंको जलावे अथवा नहीं जलावे, पहिले अपने समीचीन परिणामोंका घात तो कर ही देता है ॥६॥

कुर्वन्ति यतयोऽप्यत्र क्रुद्धास्तत्कर्म निन्दितम् ।
हत्वा लोकद्वयं येन विशन्ति धरणीतलम् ॥७॥

अर्थ—क्रोधित हुए मुनि भी इस जगतमें ऐसा निन्दित कार्य करते हैं कि जिससे दोनों लोक नष्ट करके नरकमें पड़ जाते हैं फिर अन्य सामान्य जनका तो कहना ही क्या ? ॥७॥

क्रोधाद्द्वीपायनेनापि कृतं कर्मातिगर्हितम् ।
दग्धा द्वारावती नाम पूः स्वर्गनगरीनिभा ॥८॥

अर्थ—देखो ! दीपायन नामके मुनिने क्रोधसे ऐसा निन्द्य कार्य किया कि स्वर्गके समान सुन्दर द्वारका पुरी भस्म कर दी ॥८॥

लोकद्वयविनाशाय पापाय नरकाय च ।
स्वपरस्यापकाराय क्रोधः शत्रुः शरीरिणाम् ॥९॥

अर्थ—जीवोंके क्रोधरूपी शत्रु इस लोक और परलोकको नष्ट करनेवाला है तथा नरकमें ले जाने-वाला और पापको करनेवाला एवं निजपर अर्थात् दोनोंका अपकार करनेवाला है ॥९॥

अनादिकालसंभूतः कषायविषमग्रहः ।
स एवानन्तदुर्वारदुःखसंपादनक्षमः ॥१०॥

अर्थ—यह कषायरूपी विषम ग्रह अनादिकालसे इस प्राणीके पीछे लगा हुआ है और यही अनन्त दुर्निवार दुःखोंको प्राप्त कराने में समर्थ है ॥१०॥

तस्मात्प्रशममालम्ब्य क्रोधवैरी निवार्यताम् ।
जिनागममहाम्भोधेरवगाहश्च सेव्यताम् ॥११॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि हे आत्मन् ! शान्त भावका अवलम्बन करके क्रोध-रूपी वैरीको निवारण कर और जिनागमरूपी महासमुद्रका अवगाहन कर, क्योंकि क्रोधनिवारण करनेका यही एक उपाय है ॥११॥

क्रोधवह्नेः क्षमैकेयं प्रशान्तौ जलवाहिनी ।
उद्दामसंयमारामवृत्तिर्वाऽत्यन्तनिर्भरा ॥१२॥

अर्थ—क्रोधरूपी अग्निको शान्त करनेके लिये क्षमा ही अद्वितीय नदी है, क्षमासे ही क्रोधाग्नि बुझती है तथा क्षमा ही उत्कृष्ट संयमरूपी बागकी रक्षा करनेके लिये अतिशय दृढ बाड़ है ॥१२॥

जयन्ति यमिनः क्रोधं लोकद्वयविरोधकं ।
तन्निमित्तेऽपि संप्राप्ते भजन्तो भावनामिमां ॥१३॥

अर्थ—इस लोक और परलोकके बिगाड़नेवाले क्रोधको मुनिगण ही जीतते हैं, क्योंकि वे क्रोधके कारण प्राप्त होने पर इस प्रकार भावना करते हैं जो कि आगे कहते हैं ॥१३॥

यद्यद्य कुरुते कोऽपि मां स्वस्थं कर्मपीडितम् ।
चिकित्सित्वा स्फुटं दोषं स एवाकृत्रिमः सुहृत् ॥१४॥

अर्थ––मुनि महाराज ऐसी भावना करते हैं कि मैं कर्मसे पीड़ित हूं, कर्मोदयसे मुझमें कोई दोष उत्पन्न हुआ है सो उस दोषको अभी कोई प्रगट करे और मुझे आत्मानुभवमें स्थापित करके स्वस्थ करे वही मेरा अकृत्रिम मित्र (हितैषी) है। भावार्थ–जो मेरे किसी कर्मके उदयसे दोष लगा हो तो उसे काढ़ कर जो मुझे सावधान करता है वही मेरा परम मित्र है, क्योंकि उसके प्रकट करनेसे मैं उस दोषको छोड़ दूंगा, अतएव उससे मुक्त हो जाऊंगा; इस प्रकार भावना करनेसे दोष करनेवालेसे क्रोध नहीं उपजता ॥१४॥

हत्वा स्वपुण्यसन्तानं मद्दोषं यो निकृन्तति ।
तस्मै यदिह रुष्यामि मदन्यः कोऽधमस्तदा ॥१५॥

अर्थ––पुनः ऐसी भावना करते हैं कि जो कोई अपने पुण्यका क्षय करके मेरे दोषोंको काढ़ता (कहता) है उससे यदि मैं रोष करूं तो इस जगतमें मेरे समान नीच वा पापी कौन है ? । भावार्थ–जैसे कोई अपना धनादिक व्यय करके परका उपकार करता है, उसी प्रकार जो अपने पुण्यरूपी परिणामों को बिगाड़ कर मेरे दोष कहे अर्थात् मुझे सावधान करके मेरे दोष काढे तो ऐसे उपकारी पर क्रोध करना कृतघ्नता ही है ॥१५॥

आक्रुष्टोऽहं हतो नैव हतो वा न द्विधाकृतः ।
मारितो न हतो धर्मो मदीयोऽनेन बन्धुना ॥१६॥

अर्थ––जो कोई अपनेको दुर्वचन कहे तो मुनि महाराज ऐसा विचार करते हैं कि इसने दुर्वचन ही तो कहे हैं, मेरा घात तो नहीं किया ! और कोई घात भी कर (अर्थात् लाठी वगैरहसे मारे) तो ऐसा विचारते हैं कि इसने मुझे केवल मारा ही तो; काट कर दो खंड तो नहीं किये ? यदि कोई काटने ही लगे तो मुनि महाराज विचारते हैं कि यह मुझे मारता (काटता) है परंतु मेरा धर्म तो नष्ट नहीं करता ? मेरा धर्म तो मेरे साथ ही रहेगा अथवा ऐसा विचार करते हैं कि यह मेरा बड़ा हितैषी है, क्योंकि चैतन्यस्वरूप शुद्धात्मा इस शरीररूपी कारागारमें रुद्ध (कैद) हूं सो यह इस शरीर (कारागार) को तोड़ कर मुझे कैदखानेसे छुटाता है, अतः यह मेरा बड़ा उपकार कर रहा है; इत्यादि विचारनेसे किसीसे भी क्रोध नहीं होता ॥१६॥

संभवन्ति महाविघ्ना इह निःश्रेयसार्थिनाम् ।
ते चेत् किल समायाताः समत्वं संश्रयाम्यतः ॥१७॥

अर्थ––जो मोक्षाभिलाषी हैं उनके इस लोकमें बड़े २ विघ्न होने संभव हैं, यह प्रसिद्ध है; वे ही विघ्न यदि मेरे आवें तो इसमें आश्चर्य क्या हुआ ? इस कारण अब मैं समभावका आश्रय करता हूं, मेरा किसी पर भी राग द्वेष नहीं है ॥१७॥

चेन्मामुद्दिश्य भ्रश्यन्ति शीलशैलात्तपस्विनः ।
अमी अतोऽत्र मज्जन्म परक्लेशाय केवलम् ॥१८॥

अर्थ—फिर ऐसाभी विचार करते हैं कि यदि मैं क्रोध करूं तो मुझे देख कर अन्यान्य तपस्वी मुनि अपने शीलस्वभावसे च्युत (भ्रष्ट) हो जाय, तो फिर इस लोकमें मेरा जन्म केवल परके अपकारार्थ वा क्लेशके लिये ही हुआ, इस कारण मुझे क्रोध करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है ॥१८॥

प्राङ्मया यत्कृतं कर्म तन्मयैवोपभुज्यते ।
मन्ये निमित्तमात्रोऽन्यः सुखदुःखोद्यतो जनः ॥१९॥

अर्थ—फिर ऐसा विचार करते हैं कि मैंने पूर्व जन्ममें जो कुछ बुरे भले कर्म किये हैं उनका फल मुझे ही भोगना पड़ेगा; सो जो कोई मुझे सुख दुःख देनेके लिये तत्पर हैं वे तो केवल मात्र बाह्य निमित्त हैं, ऐसा मैं मानता हूं, तब इनसे क्रोध क्यों करना चाहिये ? ॥१९॥

मदीयमपि चेच्चेतः क्रोधाद्यैर्विप्रलुप्यते ।
अज्ञातज्ञाततत्त्वानां को विशेषस्तदा भवेत् ॥२०॥

अर्थ—फिर विचार करते हैं कि मैं मुनि हूं, तत्त्वज्ञानी हूं, यदि क्रोधादिकसे मेरा भी चित्त बिगड़ जायगा तो फिर अज्ञानी तथा तत्त्वज्ञानीमें विशेष (भेद) ही क्या रहा ? मैं भी अज्ञानीके समान हुआ; इस प्रकार विचार करके क्रोधादिरूपसे नहीं परिणमते ॥२०॥

न्यायमार्गे प्रपन्नेऽस्मिन्कर्मपाके पुरःस्थिते ।
विवेकी कस्तदात्मानं क्रोधादीनां वशं नयेत् ॥२१॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारते हैं कि यह जो कर्मोंका उदय है सो न्यायमार्गमें प्राप्त है; इसके निकट होने (आगे आने) पर ऐसा कौन विवेकी है जो अपनेको क्रोधादिकके वशमें होने दे ? । **भावार्थ**—जो कोई अपना बिगाड़ करता है सो अपने पूर्वजन्मके कर्मके उदयके अनुसार करता है, कर्म बांधते हैं, सो उदय आना न्यायमार्ग है; इस कारण कर्मोदयके होने पर क्रोध करना युक्त नहीं है, क्रोध करनेसे फिर भी नये कर्मोंकी उत्पत्ति होती है और आगेको सन्तति चलती है ॥

सहस्व प्राक्तनासातफलं स्वस्थेन चेतसा ।
निष्प्रतीकारमालोक्य भविष्यद्दुःखशङ्कितः ॥२२॥

अर्थ—हे आत्मन् ! तूने पूर्वजन्ममें असाता कर्म बांधा था उसीका फल यह दुर्वचनादिक है सो इनको उपाय रहित समझ कर आगामी दुःखकी शान्तिके लिये स्वस्थ चित्तसे अर्थात् चित्तको आत्मामें लगा कर सहन कर । **भावार्थ**—जो दुर्वचनादि पूर्वोपार्जित असाता कर्मका फल है सो उसको भोगनेसे ही छुटकारा है; इसका अन्य कोई इलाज नहीं है, चित्तको क्रोधादियुक्त करनेसे भविष्यत्में दुःख होगा इस करण समभावोंसे सहना ही उचित है ॥२२॥

उद्दीपयन्तो रोषाग्निं बहु विक्रम्य विद्विषः ।
मन्ये विलोपयिष्यन्ति क्वचिन्मत्तः शमश्रियम् ॥२३॥

अर्थ—फिर विचारते हैं कि पूर्वकृत कर्म मेरे वैरी हैं सो मैं ऐसा मानता हूं कि वे सब शत्रु अपने उदयरूप पराक्रमसे क्रोधादिके उत्पन्न करनेवाले निमित्तोंको मिला कर मेरे क्रोधरूप अग्नि उद्दीपन करते हुए मेरी उपशमभावरूपी लक्ष्मीको लूटेंगे। भावार्थ—जैसे शत्रु घरमें अग्नि लगा कर संपदा लूटता है, उसी प्रकार कर्मरूपी वैरी क्रोधाग्नि लगा कर मेरी शमभावरूपी संपदाको नष्ट करेंगे ऐसा विचार करते हैं ॥२३॥

अप्यसह्ये समुत्पन्ने महाक्लेशसमुत्करे ।
तुष्यत्यपि च विज्ञानी प्राक्कर्मविलयोद्यतः ॥२४॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारते हैं कि जो विज्ञानी पूर्वोपार्जित कर्मोंको नाश करनेमें उद्यत (तत्पर) हुआ है, वह असह्य बड़े २ क्लेशोंके प्राप्त होने पर सन्तोष भी करता है, क्योंकि जो पूर्वजन्ममें कर्म उपार्जन किये थे उनका उदय अवश्य होना है, अब उदय आ कर खिर गये सो अच्छा हुआ; इस प्रकार संतोष कर लेते हैं ॥२४॥

यदिवाक्कण्टकैर्विद्धो नावलम्बे क्षमामहम् ।
ममाप्याक्रोशकादस्मात्को विशेषस्तदा भवेत् ॥२५॥

अर्थ—दुर्वचन कहनेवाले पुरुषोंने मुझे वचनरूपी कांटोंसे वींधा (पीड़ित किया) अब यदि मैं क्षमा धारण नहीं करूंगा तो मेरे और दुर्वचन कहनेवालेमें क्या विशेषता होगी ? मैं यदि इसे दुर्वचन कहूंगा तो मैं भी इसके समान हो जाउंगा, इस कारण क्षमा करना ही योग्य है ॥२५॥

विचित्रैर्वधबन्धादिप्रयोगैर्न चिकित्सति ।
यद्यसौ मां तदा क्व स्यात्संचितासातनिष्क्रियः ॥२६॥

अर्थ—जो कोई मेरा अनेक प्रकारके वधबन्धादि प्रयोगोंसे इलाज नहीं करें तो मेरे पूर्वजन्मोंके संचित किये असाता कर्मरूपी रोगका नाश कैसे हो ? । भावार्थ—जो मुझे वधबन्धनादिकसे पीड़ित करता है वह मेरा पूर्वोपर्जित कर्मरूपी रोगोंको नष्ट करनेवाला वैद्य है, उसका तो उपकार ही मानना योग्य है, किन्तु उससे क्रोध करना कृतघ्नता है ॥२६॥

यः शमः प्राक्समभ्यस्तो विवेकज्ञानपूर्वकः ।
तस्यैतेऽद्य परीक्षार्थं प्रत्यनीकाः समुत्थिताः ॥२७॥

अर्थ—'जो ये दुर्वचन कहनेवाले वा वधबन्धनादि करनेवाले शत्रु उत्पन्न हुए हैं, वे मानो मैने भेदज्ञानपूर्वक शमभावका अभ्यास किया है, उसकी आज परीक्षा करनेको ही आए हैं, सो देखते हैं कि इसके शमभाव अब है कि नहीं, ऐसा विचार करना किन्तु क्रोधरूप न होना ॥२७॥

यदि प्रशममर्यादां भित्वा रुष्यामि शत्रवे ।
उपयोगः कदाऽस्य स्यात्तदा मे ज्ञानचक्षुषः ॥२८॥

अर्थ—जो मैं प्रशमभावकी मर्यादा उल्लंघन करके बधबन्धनादि करनेवाले शत्रुसे क्रोध करूंगा तो इस ज्ञानरूपी नेत्रका उपयोग कौनसे कालमें होगा ? अर्थात् यह ज्ञानाभ्यास ऐसे ही कालके लिये किया था, सो अब शमभावसे रहना ही योग्य है, इस प्रकार विचारते हैं ॥२८॥

अयत्नेनापि सैवेयं संजाता कर्मनिर्जरा ।
चित्रोपायैर्ममानेन यत्कृता भर्त्स्यर्यातना ॥२९॥

अर्थ—फिर मुनि महाराज ऐसा विचार करते हैं कि इस शत्रुने मेरे अनेक प्रकारके उपायोंसे तिरस्कार करके जो तीव्र यातना (पीड़ा) करी इससे यह बड़ा भारी लाभ हुआ कि विना यत्न किये ही मेरे पापकर्मोंकी निर्जरा सहजमें ही हो गई । यह उपकार ही मानना, क्रोध क्यों करना ? ॥२९॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे—

वंशस्थम् ।

"ममापि चेद्द्रोहमुपैति मानसं परेषु सद्यः प्रतिकूलवर्तिषु ।
अपारसंसारपरायणात्मनां किमस्ति तेषां मम वा विशेषणम् ॥१॥

अर्थ—जो प्रतिकूल वर्तनेवाले (उपसर्ग करनेवाले शत्रु) हैं उनमें मेरा मन तत्काल जो द्रोहको प्राप्त होता है तो इस अपार संसारमें जिनका आत्मा तत्पर है उन शत्रुओंमें और मुझमें क्या भेद रहा ? अर्थात् मैं उनसे भिन्न मोक्षार्थी कहलाता हूं, सो उनसे मेरी समानता ही हुई अर्थात् मैं भी उनके समान संसारमें भ्रमूंगा ॥१॥"

अपारयन्बोधयितुं पृथग्जनानसत्प्रवृत्तेष्वपि नाऽसदाचरेत्[1] ।
अशक्नुवन्पीतविषं चिकित्सितुं पिबेद्विषं कः स्वयमप्यबालिशः ॥३०॥

अर्थ—असमीचीन कार्योंमें प्रवर्त्तनेवाले अन्य पुरुषोंको उपदेश करके रोकनेको असमर्थ हो तो क्या वह पंडित पुरुष भी असदाचरण करने लग जाय ? नहीं, कदापि नहीं, जैसे कोई पुरुष विष पी जावे और उसकी चिकित्सा करनेमें वैद्य असमर्थ हो जाय तो ऐसा वैद्य पंडित कौन है जो आप भी विष पी ले ? अर्थात् ज्ञानी पंडित तो कोई नहीं पीवेगा, यदि पीवे तो वह अज्ञानी मूर्ख है, इसी प्रकार मुनि विचारते हैं कि किसीने अपने परिणाम बिगाड़ कर मेरा बुरा करना चाहा और मैं उसको निवारण करने (समझाने) को समर्थ न होऊं तो क्या अपने परिणाम बिगाड़ कर उसीकी समान बुरा करना उचित है ? कदापि नहीं ॥३०॥

न चेदयं मां दुरितैः प्रकम्पयेदहं यतेयं प्रशमाय नाधिकम् ।
अतोऽतिलाभोऽयमिति प्रतर्कयन् विचाररूढा हि भवन्ति निश्चलाः ॥३१॥

---

[1] 'स्वयंचरेत्' इत्यपि पाठः ।

अर्थ--यदि मुनिको कोई दुष्ट दुर्वचनादिक उपसर्ग करे तो वह इस प्रकार विचार करता रहे कि जो यह दुर्वचन कहनेवाला मुझे पापोंसे भय नहीं उपजावे तो मैं शान्तभावोंके लिये अधिक प्रयत्न नहीं करूं; इस कारण इसने मुझे सावधान किया है कि पूर्वकालमें जो क्रोधादि पाप किये थे उसीका यह उपसर्ग फल है, सो मुझे यह बड़ा भारी लाभ हुआ; इस प्रकारके विचारमें आरूढ हो कर मुनिमहाराज निश्चल रहते हैं ॥३१॥

आर्या

परपरितोषनिमित्तं त्यजन्ति केचिद्धनं शरीरं वा ।
दुर्वचनबन्धनाद्यैर्वयं रुषन्तो न लज्जामः ॥३२॥

अर्थ---फिर मुनिमहाराज कैसा विचार करते हैं कि परको सन्तुष्ट करनेके लिये अनेक जन अपने धन वा शरीरको छोड़ देते हैं, और हम दूसरोंके दुर्वचन वा बन्धनादिकसे रोष करते हुए क्यों लज्जित नहीं होते ? । **भावार्थ**--जो हमको उपसर्ग करनेसे परको सन्तोष होता है तो अच्छा ही है; हमको क्रोध न करनेसे हमारी क्या हानि है ? उलटा लाभ ही है; क्योंकि क्रोध करनेसे तो पापबन्ध होगा ॥

हन्तुर्हानिर्ममात्मार्थसिद्धिः स्यान्नात्र संशयः ।
हतो यदि न रुष्यामि रोषश्चेद् व्यत्ययस्तदा ॥३३॥

अर्थ---किसीने मुझे मारा और जो मैं रोष नहीं करूं तो मारनेवालेकी तो हानि हुई अर्थात् पापबन्ध हुआ, परन्तु मेरे आत्माके अर्थकी सिद्धि हुई अर्थात् पाप नहीं बँधा किन्तु पूर्वके किये पापोंकी निर्जरा हुई, इसमें कोई संदेह नहीं है और मेरे कदाचित् रोष उपजे तो मेरी द्विगुण हानि हो अर्थात् एक तो पापबन्ध हो, दूसरे पूर्वकर्मोंकी निर्जरा नहीं हो इत्यादि विचार करे ॥३३॥

प्राणात्ययेऽपि सम्पन्ने प्रत्यनीकप्रतिक्रिया ।
मता सद्भिः स्वसिध्यर्थं क्षमैका स्वस्थचेतसाम् ॥३४॥

अर्थ--अपने प्राणका नाश होने पर भी उपसर्ग करनेवाले शत्रुका इलाज स्वस्थचित्त पुरुषोंका अपनी सिद्धिके लिये एक मात्र क्षमा करना ही सत्पुरुषोंने माना है। **भावार्थ**--उपसर्ग करनेवाला अपना प्राण नाश करे तो भी मुनिको क्षमा ही करनी चाहिये, सत्पुरुषोंने इसका इलाज यह कहा है, किन्तु क्रोध करना समीचीन नहीं है ॥३४॥

इयं निकषभूरद्य सम्पन्ना पुण्ययोगतः ।
शमत्वं किं प्रपन्नोऽस्मि न वेत्यद्य परीक्ष्यते ॥३५॥

अर्थ---यह क्षमा है सो इस समय मेरी परीक्षा करनेकी जगह है और पुण्ययोगसे मुझे प्राप्त हुई है, सो मेरी परीक्षा करके देखती है कि मैं शान्त भावको प्राप्त हूं कि नहीं । **भावार्थ**--जो उपसर्ग आने पर क्षमा कर दे तो जानना कि इसमें शान्त भाव है, जो क्षमा नहीं करे तो शान्तभाव नहीं; इस प्रकार परीक्षा क्षमासे ही होती है; क्षमा इसकी कसोटी है ॥३५॥

स एव प्रशमः श्लाघ्यः स च श्रेयोनिबन्धनम् ।
अदयैर्हन्तुकामैर्यो न पुंसां कश्मलीकृतः ॥३६॥

अर्थ--पुरुषोंके वही प्रशम भाव प्रशंनीय है और वही कल्याणका कारण है, जो मारनेकी इच्छा करके निर्दय पुरुषोंने मलिन नहीं किया। भावार्थ--उपसर्ग आने पर क्रोधरूपी मैलसे मलिन न हो वही प्रशम भाव सराहने योग्य है ॥३६॥

चिराभ्यस्तेन किं तेन शमेनास्त्रेण वा फलम् ।
व्यर्थीभवति यत्कार्ये समुत्पन्ने शरीरिणाम् ॥३७॥

अर्थ--जीवोंके चिरकालसे अभ्यास किये हुए शमभाव और शस्त्र चलानेका अभ्यास काम पड़ने पर व्यर्थ हो जाय तो उस शमभाव वा शस्त्रविद्या सीखनेसे क्या फल ? । भावार्थ--उपसर्ग आने पर क्षमा नही की और शत्रुके सन्मुख आने पर शस्त्रविद्याका प्रयोग नहीं किया तो उनका अभ्यास करना व्यर्थ हो हुआ ॥३७॥

प्रत्यनीके समुत्पन्ने यद्धैर्यं तद्धि शस्यते ।
स्यात्सर्वोऽपि जनः स्वस्थः सत्यशौचक्षमास्पदः ॥३८॥

अर्थ-- स्वस्थ चित्तवाले तो सब ही प्रायः सत्य शौच क्षमादि युक्त होते हैं, परन्तु उपसर्ग करनेवाले शत्रुके आने पर धैर्य रखना ही धैर्यगुण प्रशंसा करने योग्य है ॥३८॥

वासीचन्दनतुल्यान्तर्वृत्तिमालम्ब्य केवलम् ।
आरब्धं सिद्धिमानीतं प्राचीनैर्मुनिसत्तमैः ॥३९॥

अर्थ--प्राचीन बडे २ मुनिमहाराजोंने प्रारंभ किये हुए मोक्षकार्यको साधन किया है सो केवल बसूले और चंदनके समान अन्तर्वृत्ति (शमभावरूप वृत्ति) को आलंबन करके ही साधन किया है । भावार्थ--कुठारसे चंदन काटा जाय तो वह चंदनवृक्ष जिस प्रकार कुठारकी धारको सुगन्धित करता है अथवा काटनेवालेको सुगन्ध प्रदानसे प्रसन्न करता है, उसी प्रकार मुनि महाराज कोई भी उपसर्ग करता हो तो उसका हित ही चाहते हैं, अहित कदापि नहीं चाहते, इस वृत्तिसे ही रहनेसे मुक्तिकी सिद्धि होती है ॥३९॥

कृतैर्वान्यैः स्वयं जातैरुपसर्गैः कलङ्कितम् ।
येषां चेतः कदाचित्तैर्न प्राप्ताः स्वेष्टसम्पदः ॥४०॥

अर्थ--जिनका चित्त अन्यके किये उपसर्ग तथा अचेतन पदार्थोंसे स्वयमेव प्राप्त हुए उपसर्ग वा परीषहसे कलंकित (दूषित) हुआ उन्होंने अपने इष्टकार्यकी सम्पदाकी प्राप्ति कदापि नहीं की । भावार्थ--यह प्रसिद्ध है कि जो उपसर्ग वा परीषहोंके आने पर मुनिमार्गसे च्युत हो गये उनके कभी सिद्धि नहीं हुई ॥४०॥

प्राकृताय न रुष्यन्ति कर्मणे निर्विवेकिनः ।
तस्मिन्नपि च क्रुध्यन्ति यस्तदेव चिकित्सति ॥४१॥

अर्थ—विवेक रहित अज्ञानी पुरुष पूर्व जन्ममें किये हुए कर्मों (पापों) के लिये रोष करते नहीं और जो पुरुष क्रोधके निमित्त मिला कर उन पापकर्मोंकी निर्जरा कराता है अर्थात् वैद्यके समान चिकित्सा करता है उसके ऊपर क्रोध करता है सो यह किसी प्रकार भी युक्त नहीं है, क्योंकि अपने कर्मको निर्जरा करावे वह तो वैद्यके समान उपकारी है, उसका तो उपकार मानना चाहिये, उस पर क्रोध करना बड़ी भारी भूल वा कृतघ्नता है ॥४१॥

यः श्वभ्रान्मां समाकृष्य क्षिप्यत्यात्मानमस्तधीः ।
वधबन्धनिमित्तेऽपि कस्तस्मै विप्रियं चरेत् ॥४२॥

अर्थ—जो कोई निर्बुद्धि वधबन्धनादिक उपसर्गका निमित्त मिला कर मुझे तो नरक जानेसे बचाता है अर्थात् पूर्वकर्मोंकी निर्जरा करनेका निमित्त बनता है और अपनेको नरकमें डालता है, उसके लिये कौन बुरा आचरण करें ? उसका तो उपकार मानना उचित है ॥४२॥

यस्यैव कर्मणो नाशाज्जन्मदाहः प्रशाम्यति ।
तच्चेद्युक्तिसमायातं सिद्धं तर्हि वांछितम् ॥४३॥

अर्थ—जिस कर्मके नाश होनेसे संसारका आताप नष्ट हो उस कर्मका उदय उसी कालमें भोगनेमें आ गया तो यह वांछित कार्य सिद्ध हुआ ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि कर्मका नाश तो करना ही था, सहज ही उपसर्ग आनेसे और उसके सह लेने मात्रसे निर्जरा हुई तो यह वांछित सिद्धि क्यों न हुई ? ॥४३॥

अनन्तक्लेशसप्तार्चिः प्रदीप्तेयं भवाटवी ।
तत्रोत्पन्नैर्न किं सह्यस्तदुत्थो व्यसनोत्करः ॥४४॥

अर्थ—यह संसाररूपी अटवी है सो अनन्त प्रकारके क्लेशरूपी अग्निसे जलती है सो उसमें उत्पन्न होनेवाले जीव क्या उस संसाररूप वनमें उत्पन्न हुए दुःखोंके समूहको नहीं सहते हैं ? अर्थात् सहते ही हैं, तब मैं जो उपसर्गजनित अल्प दुःखोंको सह लूंगा तो फिर संसारके अनन्तदुःख नहीं होंगे; ऐसा विचार करना चाहिये ॥४४॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

सम्यग्ज्ञानविवेकशून्यमनसः सिद्धान्तसूत्रद्विषो
निस्त्रिंशाः परलोकनष्टमतयो मोहानलोद्दीपिताः ।
दौर्जन्यादिकलङ्किता यदि नरा न स्युर्जगत्यां तदा
कस्मात्तीव्रतपोभिरुन्नतधियः काङ्क्षन्ति मोक्षश्रियम् ॥४५॥

अर्थ—यदि इस जगतमें सम्यग्ज्ञान और विवेकसे शून्य चित्तवाले, सिद्धान्तशास्त्रके द्वेषी, निर्दय,

परलोकको नहीं माननेवाले नास्तिक, मोहरूपी अग्निसे जलनेवाले, दुर्जनतादि कलंकसे कलंकित मनुष्य नहीं होते तो उन्नत बुद्धिवाले मुनिगण तीव्र तपस्यादिक करके मोक्षरूप लक्ष्मीको क्यों चाहते ? **भावार्थ**—उक्त प्रकारके दुष्ट पुरुष अनेक हैं, तप करनेसे वे उपसर्ग करेंगे, उस उपसर्गको जीतेंगे तब ही हमें मोक्षकी सिद्धि होगी ऐसा विचार करके ही मानों मुनिगण मोक्षके अर्थ तीव्र तपस्या करते हैं ॥४५॥

मालिनी

वयमिह परमात्मध्यानदत्तावधानाः
परिकलितपदार्थास्त्यक्तसंसारमार्गाः ।
यदि निकषपरीक्षासु क्षमा नो तदानीं
भजति विफलभावं सर्वथैष प्रयासः ॥४६॥

अर्थ—मुनिमहाराज विचार करते हैं कि इस जगतमें हम परमात्माके ध्यानमें चित्त लगानेवाले हैं, पदार्थोंके स्वरूपको जाननेवाले और संसारमार्गके त्यागी हैं, यदि हम ऐसे हो कर भी उपसर्ग परीषहोंकी कसोटीसे परीक्षामें असमर्थ हो जावें अर्थात् इस समय जो हम अपने उपशम भावोंकी परीक्षा नहीं करें तो हमारा मुनिधर्मके धारण करनेका समस्त प्रयास व्यर्थ हो जाय, क्योंकि जब उपसर्ग आने पर शमभाव रहें तब ही उपशम भावको प्रशंसा होती है ॥४६॥

शिखरिणि ।

अहो कैश्चित्कर्मानुदयगतमानीय रभसा—
दशेषं निर्द्धूतं प्रबलतपसा जन्मचकितैः ।
स्वयं यद्यायातं तदिह मुदमालम्ब्य मनसा
न किं सह्यं धीरैरतुलसुखसिद्धेर्व्यवसितैः ॥४७॥

अर्थ—अहो देखो ! अनेक मुनिगणोंने संसारसे भयभीत हो कर प्रबल (तीव्र) तपादिकसे उदयमें ला कर समस्त कर्मोंको शीघ्र ही नष्ट कर दिया वे कर्म यदि उपसर्गादिके निमित्तसे अपनी स्थिति पूरी करके स्वयं उदयमें आये हैं तो अमूल्य मोक्षसुखकी सिद्धिके लिये उद्यम करनेवाले धीरपुरुषोंको मनोभिलाषपूर्वक क्या उपसर्गादि नहीं सहने चाहिये ? क्योंकि जिन कर्मोंको तीव्र तप करके नष्ट करना है वे स्वयं स्थिति पूरी करके उदयमें आये हैं तो उनका फल सह लेनेसे सहजमें ही उनकी निर्जरा हो जाती है सो यह तो उत्तम लाभ है । सो हर्षपूर्वक सहना चाहिये । तभी मोक्षसिद्धिका उद्यम सफल हो सकता है ॥४७॥

इस प्रकार क्रोधकषायका वर्णन करके उसके निमित्त आने पर ऐसी भावना करनी सो वर्णन किया गया ।

दोहा

उपसर्गादिक क्रोधके, निमित भये मुनिराज ।
क्षमा धरै क्रोध न करै, तिनकै ध्यानसमाज ॥

इति क्रोधकषायवर्णनम् ।

अब मान कषायका वर्णन करते हैं—

कुलजातीश्वरत्वादिमदविध्वस्तबुद्धिभिः ।
सद्यः संचीयते कर्म नीचैर्गतिनिबन्धनम् ॥४८॥

अर्थ—कुल, जाति, ऐश्वर्य, रूप तप, बल, विद्या और धन इन आठ भेदोंसे जिनकी बुद्धि बिगड़ गई है अर्थात् मान करते हैं वे तत्काल नीच गतिके कारण कर्मको संचय करते हैं अर्थात् कोई ऐसा समझें कि मान करनेसे मैं ऊंचा कहलाऊंगा सो इस लोकमें मानी पुरुष ऊंचे तो नहीं होते किन्तु नीच गतिको प्राप्त होते हैं ॥४८॥

मानग्रन्थिर्मनस्युच्चैर्यावदास्ते दृढस्तदा ।
तावद्विवेकमाणिक्यं प्राप्तमप्यपसर्पति ॥४९॥

अर्थ—हे मुने ! जब तक मेरे मनमें मानकी गांठ अतिशय दृढ़ है तब तक तेरा विवेकरूपी रत्न प्राप्त हुआ भी चला जायगा, क्योंकि मानकषायके सामने हेय उपादेयका ज्ञान नहीं रहता ॥४९॥

प्रोत्तुङ्गमानशैलाग्रवर्तिभिर्लुप्तबुद्धिभिः ।
क्रियते मार्गमुल्लङ्घ्य पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥५०॥

अर्थ—जो पुरुष अति ऊंचे मानपर्वतके अग्र भागमें (चोटी पर) रहते हैं वे नष्टबुद्धि हैं; ऐसे मानी समीचीनमार्गका उल्लंघन करके पूज्य पुरुषोंकी पूजा (प्रतिष्ठा) का लोप कर देते हैं। भावार्थ—मानी पुरुष पूज्य पुरुषोंका भी अपमान करनेमें शङ्कित नहीं होते ॥५०॥

लुप्यते मानतः पुंसां विवेकामललोचनम् ।
प्रच्यवन्ते ततः शीघ्रं शीलशैलाग्रसंक्रमात् ॥५१॥

अर्थ—इस मानकषायसे पुरुषोंके भेदज्ञानरूप निर्मल लोचन (नेत्र) लोप हो जाते हैं, जिससे शीघ्र ही शीलरूपी पर्वतके शिखरसे संक्रम—चलनेसे डिग जाते हैं, क्योंकि विवेक जब नहीं रहा तो शील कहां ? ॥५१॥

ज्ञानरत्नमपाकृत्य गृह्णात्यज्ञानपन्नगम् ।
गुरूनपि जनो मानी विमानयति गर्वतः ॥५२॥

अर्थ—मानी पुरुष गर्वसे अपने गुरुको भी अपमानित करता है सो मानो ज्ञानरूपी रत्नको दूर करके अज्ञानरूपी सर्पको ग्रहण करता है ॥५२॥

करोत्युद्धतधीर्मानाद्विनयाचारलंघनम् ।
विराध्याराध्यसन्तानं स्वेच्छाचारेण वर्तते ॥५३॥

अर्थ—मानसे उद्धतबुद्धि पुरुष गर्वसे विनयाचारका उल्लंघन करता है और पूज्य गुरुओंकी परिपाटी (पद्धति) को छोड़ कर स्वेच्छाचारसे प्रवर्त्तने लग जाता है ॥५३॥

मानमालम्ब्य मूढात्मा विधत्ते कर्म निन्दितम् ।
कलङ्कयति चाशेषचरणं चन्द्रनिर्मलम् ॥५४॥

अर्थ—इस मानका अवलम्बन कर मूढात्मा निंदित कार्यको करता है तथा चन्द्रमाके समान निर्मल समस्त सदाचरणोंको कलंकित करता है ॥५४॥

गुणरिक्तेन किं तेन मानेनार्थः प्रसिद्धयति ।
तन्मन्ये मानिना मानं यल्लोकद्वयशुद्धिदम्[1] ॥५५॥

अर्थ—गुण रहित रीते मानसे कौनसे अर्थकी सिद्धि है, वास्तवमें मानी पुरुषोंका वही मान कहा जा सकता है, जो इस लोक और परलोककी शुद्धि देनेवाला हो। भावार्थ–यद्यपि मानकषाय दुर्गतिका कारण है, तथापि मान दो प्रकारके है, एक तो प्रशस्त मान और एक अप्रशस्त मान, जिस मानके वशीभूत हो कर नीच कार्योंको छोड़ ऊंचे कार्योंमें प्रवृत्ति हो वह तो प्रशंसनीय प्रशस्त मान है, और जिस मानसे नीच कार्योंमें प्रवृत्ति हो और जो परको हानिकारक हो, वह अप्रशस्त मान है। कोई बड़ा विद्वान् वा उच्च व्रतधारी हो और कोई असदाचारी वा धनाढ्य पुरुष उस विद्वान् वा सदाचारीका आदरसत्कार करें, मनमें अपने धनके घमंडसे उसे हलका समझें तो उसके पास कदापि विद्वानों वा व्रतधारियोंको नहीं जाना चाहिये, क्योंकि उनके पास जाने वा उनकी हांमें हां मिलानेसे उच्च ज्ञान और आचरण (धर्म) का अपमान होता है, यह विधान वा उदाहरण गृहस्थोके लिये है, मुनियोंके लिये नहीं है ॥५५॥

अपमानकरं कर्म येन दूरान्निषिध्यते ।
स उच्चैश्चेतसां मानः परः स्वपरघातकः ॥५६॥

अर्थ—जिससे अपमान करनेवाले कार्य दूरसे ही छोड़ दिये जांय वही उच्चाशयवालोंका प्रशस्त मान है, इसके अतिरिक्त जो अन्य मान है, वे स्व परके घातक अर्थात् अप्रशस्त हैं ॥५६॥

क मानो नाम संसारे जन्तुव्रजविडम्बके ।
यत्र प्राणी नृपो भूत्वा विष्ठामध्ये कृमिर्भवेत् ॥५७॥

अर्थ—जीवमात्रकी विडंबना करनेवाले इस संसारमें मान नामका पदार्थ है ही क्या ? क्योंकि जिस संसारमें राजा भी मर कर तत्काल विष्टामें कृमि आदि कीट हो जाता है, और प्रत्यक्षमें भी देखा जाता है कि जो आज राजगद्दी पर विराजमान है वही कल राज्य रहित होकर रंक हो जाता है ॥५७॥

इस प्रकार मान कषायका वर्णन किया अब माया कषायका वर्णन करते हैं—

जन्मभूमिरविद्यानामकीर्तेर्वासमन्दिरम् ।
पापपङ्कमहागर्तो निकृतिः कीर्तिता बुधैः ॥५८॥

---

१ "चिद्धिदम्" इत्यपि पाठः ।

अर्थ—मायाकषाय अविद्याकी भूमि है, अपयशका घर है और पापरूपी कर्दमका बड़ा भारी गड्ढा है, इस प्रकार विद्वानोंने मायाका कीर्तन (कथन) किया है ।।५८।।

अर्गलेवापवर्गस्य पदवी श्वभ्रवेश्मनः ।
शीलशालवने वह्निर्मायेयमवगम्यताम् ।।५९।।

अर्थ—यह माया मोक्ष रोकनेको अर्गला है क्योंकि जब तक मायाशल्य रहता है तब तक मोक्षमार्गका आचरण नहीं आता और नरकरूपी घरमें प्रवेश करनेकी पदवी (द्वार) है, तथा शीलरूपी शालवृक्षके वनको दग्ध करनेके लिये अग्निसमान है, क्योंकि मायावीकी प्रकृति सदा दाहरूप रहा करती है ।।५७।।

कूटद्रव्यमिवासारं स्वप्नराज्यमिवाफलम् ।
अनुष्ठानं मनुष्याणां मन्ये मायावलम्बिनाम् ।।६०।।

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि मैं मायावलम्बी पुरुषोंके अनुष्ठान आचरणको कूटद्रव्य (नकली द्रव्य) के समान असार समझता हूं अथवा स्वप्नमें राज्यप्राप्तिके समान निष्फल समझता हूं, क्योंकि मायावानूका आचरण सत्यार्थ नहीं होता किन्तु निष्फल होता है ।।६०।।

लोकद्वयहितं केचित्तपोभिः कर्तुमुद्यताः ।
निकृत्या वर्त्तमानास्ते हन्त हीना न लज्जिताः ।।६१।।

अर्थ—कोई पुरुष तप द्वारा उभय लोकमें अपने हितसाधनार्थ उद्यमी तो हुए हैं, परन्तु खेद है कि वे मायाचार सहित रहते हैं, सो बड़े नीच हैं और निर्लज्ज हैं ऐसा नहीं विचारते कि हम तपस्वी हो कर जो मायाचार रक्खेंगे तो लोग हमें क्या कहेंगे ? ।।६१।।

मुक्तेरविप्लुतैर्प्रोक्ता गतिर्ऋज्वी जिनेश्वरैः ।
तत्र मायाविनां स्थातुं न स्वप्नेऽप्यस्ति योग्यता ।।६२।।

अर्थ—वीतराग सर्वज्ञ भगवानूने मुक्तिमार्गकी गति सरल कही है, उसमें मायावी जनोंके स्थिर रहनेकी योग्यता स्वप्नमें भी नहीं है ।।६२।।

व्रती निःशल्य एव स्यात्सशल्यो व्रतघातकः ।
मायाशल्यं मतं साक्षात्सूरिभिर्भूरिभीतिदम् ।।६३।।

अर्थ—व्रती तो निःशल्य[1] ही होता है, शल्य सहित तो व्रतका घातक होता है और आचार्योंने मायाको साक्षात् शल्य कहा है, क्योंकि माया अतिशय भयदायक है । भावार्थ—मायावीके अपने मायाचारके प्रगट होनेका भय बना ही रहता है, अतएव उस (कपटी) का व्रत सत्यार्थ नहीं होता ।।६३।।

इहाकीर्तिं समादत्ते मृतो यात्येव दुर्गतिम् ।
मायाप्रपञ्चदोषेण जनोऽयं जिह्मिताशयः ।।६४।।

---

१ माया, मिथ्या और निदान ये तीन शल्य हैं । 'निःशल्यो व्रती' ऐसा तत्त्वार्थसूत्रका सिद्धान्त है ।

अर्थ—इस मायाप्रपंचके दोषसे यह कुटिलाशय मनुष्य इस लोकमें तो अपयशको प्राप्त होता है और मृत्यु होने पर दुर्गतिमें ही जाता है ॥६४॥

छाद्यमानमपि प्रायः कुकर्म स्फुटति स्वयम् ।
अलं मायाप्रपञ्चेन लोकद्वयविरोधिना ॥६५॥

अर्थ—कुकर्म ढकते हुए भी प्रायः अपने आपही प्रगट हो जाता है, इस कारण दोनों लोकोंको बिगाड़नेवाले इस मायाप्रपंचसे अलं (बस) है। **भावार्थ**—मायाचारसे निंद्य कार्य किया जाय और छिपाया जाय तो भी प्रगट हुए विना नहीं रहता, प्रगट होने पर वह उभयलोकको बिगाड़ता है, अतः इस मायाचारीसे अलग ही रहना चाहिये ॥६५॥

क्व मायाचरणं हीनं क्व सन्मार्गपरिग्रहः ।
नापवर्गपथि भ्रातः संचरन्तीह वञ्चकाः ॥६६॥

अर्थ—मायारूप हीनाचरण तो कहां! और समीचीन मार्गका ग्रहण करना कहां! इनमें बड़ी विषमता है इस कारणआचार्य महाराज कहते हैं कि हे भाई! मायावी ठग इस मोक्षमार्गमें कदापि नहीं विचर सकते ॥६६॥

बकवृत्तिं समालम्ब्य वञ्चकैर्वञ्चितं जगत् ॥
कौटिल्यकुशलैः पापैः प्रसन्नं कश्मलाशयैः ॥६७॥

अर्थ—कुटिलतामें चतुर ऐसे मलिनचित्त पापी ठग बगलेके ध्यानकीसी वृत्ति (क्रिया) का आलम्बन कर इस जगतको ठगते रहते हैं। **भावार्थ**—बगलेकी वृत्ति लोकप्रसिद्ध है, बगला जलमें समस्त अंगोंको संकोच कर एक पांवसे खड़ा रह कर ध्यानमग्न हो जाता है, यदि मच्छियें उसे कमल-पुष्पवत् समझ उसके निकट आ जाती हैं तो तत्काल उन्हें उठा कर खा जाता है, इसी प्रकार मायावीकी वृत्ति होती है ॥६७॥

इस प्रकार माया कषायका वर्णन किया, अब लोभ कषायका वर्ण करते हैं—

नयन्ति विफलं जन्म प्रयासैर्मृत्युगोचरैः ।
वराकाः प्राणिनोऽजस्रं लोभादप्राप्तवाञ्छिताः ॥६८॥

अर्थ—पामर प्राणी निरंतर लोभकषायके वशीभूत हो कर वांछित फलको नहीं पाते हुए मृत्युका सामना करनेवाले अनेक उपायोंको करके अपने जन्मको व्यर्थ ही नष्ट कर देते हैं। **भावार्थ**—यह प्राणी लोभसे ऐसे उपाय करता है कि जिनसे मरण होना भी संभव है, तथापि अपने मनोवांछित कार्यकी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता और अपने जन्मको व्यर्थ ही खो बैठता है ॥६८॥

शाकेनापीच्छया जातु न भर्तुमुदरं क्षमाः ।
लोभात्तथापि वाञ्छन्ति नराश्चक्रेश्वरश्रियम् ॥६९॥

अर्थ—अनेक मनुष्य यद्यपि अपनी इच्छासे शाकसे भी पेट भरनेको कभी समर्थ नहीं होते तथापि

लोभके वशमें चक्रवर्तीकीसी सम्पदाको वांछते हैं। भावार्थ—लोभ ऐसा है कि जिस वस्तुकी प्राप्ति होनेकी योग्यता स्वप्नमें भी असंभव हो उसकी भी वांछा कराता है, और ऐसी निष्फल वांछा करा कर दुर्गतिका पात्र बनाता है॥ ६९॥

आर्या।

स्वामिगुरुबन्धुवृद्धानबलाबालांश्च जीर्णदीनादीन्।
व्यापाद्य विगतशङ्को लोभार्तो वित्तमादत्ते॥ ७०॥

अर्थ—इस लोभ कषायसे पीड़ित हुआ पुरुष अपने मालिक, गुरु, बन्धु (हितैषी) वृद्ध, स्त्री, बालक तथा क्षीण, दुर्बल, अनाथ दीनादिकोंको भी निःशंकतासे मारकर धनको ग्रहण करता है अर्थात् लोभ ऐसा अनर्थ कराता है॥ ७०॥

ये केचित्सिद्धान्ते दोषाः श्वभ्रस्य साधकाः प्रोक्ताः।
प्रभवन्ति निर्विचारं ते लोभादेव जन्तूनाम्॥ ७१॥

अर्थ—नरकको ले जानेवाले जो जो दोष सिद्धान्तशास्त्रमें कहे गये हैं वे सब जीवोंके निःशंकतया लोभसे ही प्रगट होते हैं। भावार्थ—'लोभ पापका मूल है' यह लोकोक्ति गतप्रसिद्ध है सो सर्वथा सत्य है क्योंकि जितने अयोग्य कार्य हैं वे इस लोभसे स्वयमेव बन जाते हैं॥ ७१॥

इस प्रकार लोभ कषायका वर्णन किया, अब सामान्यरूपसे चारों कषायोंका त्याग करनेका उपदेश करते हैं—

वंशस्थ।

शमाम्बुभिः क्रोधशिखी निवार्यताम् नियम्यतां मानमुदारमार्दवैः।
इयं च मायाऽऽर्जवतः प्रतिक्षणं निरीहतां चाश्रय लोभशान्तये॥७२॥

अर्थ - हे आत्मन्! शान्तभावरूप जलसे तो क्रोधरूपी अग्नि निवारण कर और उदार मार्दव अर्थात् कोमल परिणामोंसे मान (मानरूप हाथी) को नियन्त्रित (वश) कर तथा मायाको निरन्तर आर्जवसे दूर कर और लोभकी शांतिके लिये निर्लोभताका आश्रय कर; इस प्रकार चारों कषायोंको दूर करनेका उपदेश है॥ ७२॥

यत्र यत्र प्रसूयन्ते तव क्रोधादयो द्विपः।
तत्तत्प्रागेव मोक्तव्यं वस्तु तत्सूतिशान्तये॥ ७३॥

अर्थ—हे आत्मन्! तेरे जिस जिस पदार्थमें क्रोधादिक शत्रु उत्पन्न होते हैं, वही वही वस्तु उन क्रोधादिकी शांतिके लिये प्रथमसेही त्याग देनी चाहिये; इस प्रकार कषायोंके बाह्य कारणोंके त्यागका उपदेश है॥ ७३॥

येनयेन निवार्यन्ते क्रोधाद्याः परिपन्थिनः।
स्वीकार्यमप्रमत्तेन तत्तत्कर्म मनीषिणा॥ ७४॥

अर्थ—तथा जिस जिस कार्यके करनेसे क्रोधादिक शत्रुओंका निवारण हो, बुद्धिमानको वह वह कार्य निरालस्य हो स्वीकार करना चाहिये ॥ ७४ ॥

गुणाधिकतया मन्ये स योगी गुणिनां गुरुः ।
तन्निमित्तेऽपि नाक्षिप्तं क्रोधाद्यैर्यस्य मानसं ॥ ७५ ॥

अर्थ—जिस मुनिका मन क्रोधादिक कषायोंके निमित्त मिलनेपर भी क्रोधादिकसे विक्षिप्त न हो अर्थात् जिसके क्रोधादिक उत्पन्न न हों वही गुणाधिकतासे योगी व गुणीजनोंका गुरु है ऐसा मैं मानता हूं। यहां क्रोधादिकका कारण मिलने पर भी जिनके क्रोधादिक न हो उनकी प्रशंसा की गई ॥७५॥

यदि क्रोधादयः क्षीणास्तदा किं खिद्यते वृथा ।
तपोभिरथ तिष्ठन्ति तपस्तत्राप्यपार्थकम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—हे मुने ! क्रोधादिक कषाय क्षीण हो गये तो तप करके खेद करना व्यर्थ है, क्योंकि क्रोधादिकका जीतना ही तप है; और यदि क्रोधादिक तेरे तिष्ठते हैं तो भी तप करना व्यर्थ है क्योंकि कषायीका तप करना व्यर्थ होता है ॥ ७६ ॥

स्वसंवित्तिं समायाति यमिनां तत्त्वमुत्तमम् ।
आसमन्ताच्छमं नीते कषायविषमज्वरे ॥ ७७ ॥

अर्थ—संयमी मुनियोंके कषायरूपी विषमज्वरके सर्व प्रकारसे उपशमताको प्राप्त होने पर उत्तम तत्त्व (परमात्माका स्वरूप) स्वसंवेदनताको प्राप्त होता है । **भावार्थ**— कषायोंके मिटनेसे ही आत्मस्वरूपका अनुभव होता है ॥ ७७ ॥

इस प्रकार कषायोंका वर्णन किया ।

इति श्रीज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे शुभचन्द्राचार्यविरचिते एकोनविंशं प्रकरणम् ॥ १९ ॥

---

२०. अथ विंशः सर्गः ।

इन्द्रियोंको वश करनेकी प्रशंसा ।

अब कहते हैं कि इन्द्रियोंके जीते विना, कषाय जीते नहीं जा सकते; इस कारण क्रोधादिक कषायोंके जीतनेके लिए प्रथम इन्द्रियों को वशीभूत करना चाहिये—

अजिताक्षः कषायाग्निं विनेतुं न प्रभुर्भवेत् ।
अतः क्रोधादिकं जेतुमक्षरोधः प्रशस्यते ॥ १ ॥

अर्थ—जिसने इन्द्रियोंको नहीं जीता, वह कषायरूपी अग्निका निर्वाण करनेमें असमर्थ है; इस कारण क्रोधादिकको जीतनेके लिये इन्द्रियोंके विषयका रोध करना प्रशंसनीय कहा जाता है ॥ १ ॥

विषयाशाभिभूतस्य विक्रियन्तेऽक्षदन्तिनः ।
पुनस्त एव दृश्यन्ते क्रोधादिगहनं श्रिताः ॥ २ ॥

अर्थ—जो पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंकी आशासे पीड़ित हैं, उनके इन्द्रियरूपी हस्ती विकारताको (मदोन्मत्तताको) प्राप्त हो जाते हैं; फिर वे ही पुरुष क्रोधादिक कषायोंकी गहनताके आश्रित हुए देखे जाते हैं ॥२॥

इदमक्षकुलं धत्ते मदोद्रेकं यथा यथा।
कषायदहनः पुंसां विसर्पति तथा तथा ॥३॥

अर्थ—इन्द्रियोंका समूह जैसे २ मदकी उत्कटताको धारण करता है वैसे २ पुरुषोंके कषायरूप अग्नि विस्तृत होती जाती है ॥३॥

वंशस्थ।

कषायवैरिव्रजनिर्जयं यमी करोतु पूर्वं यदि संवृतेन्द्रियः।
किलानयोर्निग्रहलक्षणो विधिर्न हि क्रमेणात्र बुधैर्विधीयते ॥४॥

अर्थ—संयमी मुनि यदि जितेन्द्रिय है तो पहिले कषायरूपी शत्रुओंके समूहका जय करो, क्योंकि पंडितोंने इन दोनों (कषाय और इन्द्रियों) के निग्रह करनेकी विधिका क्रमसे विधान नहीं किया है कि पहले एकको जीतें फिर दूसरेको जीतें ॥४॥

यदक्षविषयोद्भूतं दुःखमेव न तत्सुखम्।
अनन्तजन्मसन्तानक्लेशसंपादकं यतः ॥५॥

अर्थ—इन्द्रियोंके विषयसेवनसे जो सुख हुआ है वह दुःख ही है। क्योंकि यह इन्द्रियजनित सुख अनन्त संसारकी संततिके क्लेशोंको संपादन करनेका कारण है, और विद्वानोंने दुःख तथा दुःखके कारणको एक ही कहा है ॥५॥

दुर्दमेन्द्रियमातङ्गान्शीलशाले नियन्त्रय।
धीर विज्ञानपाशेन विकुर्वन्ते यदृच्छया ॥६॥

अर्थ—हे धीर वीर पुरुष! स्वतन्त्रतासे विकारको करते हुए इन दुर्दम इन्द्रियरूपी हस्तियोंको शीलरूपी शालके वृक्षमें विज्ञानरूपी रस्सेसे दृढ़तासे बांध। क्योंकि शील ही अर्थात् ब्रह्मचर्य और विज्ञान ही इनके वश करनेका एक मात्र उपाय है ॥६॥

हृषीकभीमभोगीन्द्रक्रुद्धदर्पोपशान्तये।
स्मरन्ति वीरनिर्दिष्टं योगिनः परमाक्षरम् ॥७॥

अर्थ—इन्द्रियरूपी भयानक सर्पोंके क्रोधकी शान्तिके लिये योगीगण श्रीवर्द्धमान तीर्थङ्कर भगवानके उपदेश किये हुए परमाक्षर (परमेष्ठीके नाममंत्र) को स्मरण करते हैं। भावार्थ—परमेष्ठीका नामस्मरण करनेसे भी इन्द्रियरूपी सर्पोंका क्रोध शान्त होता है ॥७॥

निरुध्य बोधपाशेन क्षिप्तो वैराग्यपञ्जरे।
हृषीकहरयो येन स मुनीनां महेश्वरः ॥८॥

---

१ "क्षमावैराग्यपञ्जरे" इत्यपि पाठः।

अर्थ—जिस मुनिने इन्द्रियरूपी बंदरोंको ज्ञानरूपी फांसीसे बांध कर वैराग्यके पींजरेमें बैद कर दिया वह मुनि ही मुनियोंमें महेश्वर (मुनीश्वर) है ॥८॥

हृदि स्फुरति तस्योच्चैर्बोधिरत्नं सुनिर्मलम् ।
शीलशालो न यस्याक्षदन्तिभिः प्रविदारितः ॥९॥

अर्थ—जिस मुनिका शीलरूपी शाल (हस्तिशाला) वा वृक्ष इन्द्रियरूपी हस्तियोंने नहीं विदारा अर्थात् नहीं तोड़ा उस मुनिके हृदयमें ही अति पवित्र बोधिरूपी रत्न उत्तमतासे स्फुरित (प्रकाशित) होता है ॥९॥

दुःखमेवाक्षजं सौख्यमविद्याव्याललालितम् ।
मूर्खास्तत्रैव रज्यन्ते न विद्मः केन हेतुना ॥१०॥

अर्थ—इस जगतमें इन्द्रियजनित सुख ही दुःख है॥ क्योंकि यह सुख अविद्यारूप सर्पसे लालित है; परन्तु मूढ जन इसीमें ही रंजायमान रहते हैं; सो हम नहीं जानते कि इसमें क्या कारण है ! ॥१०॥

यथा यथा हृषीकाणि स्ववशं यान्ति देहिनाम् ।
तथा तथा स्फुरत्युच्चैर्हृदि विज्ञानभास्करः ॥११॥

अर्थ—जीवोंके इन्द्रियाँ जैसे २ वश होती हैं, वैसे २ उनके हृदयमें विज्ञानरूपी सूर्य उच्चतासे (उत्तमतासे) प्रकाशमान होता है ॥११॥

विषयेषु यथा चित्तं जन्तोर्मग्नमनाकुलम् ।
तथा यद्यात्मनस्तत्त्वे सद्यः को न शिवीभवेत् ॥१२॥

अर्थ—जिस प्रकार जीवोंका चित्त विषयसेवनमें निराकुलरूप तल्लीन होता है, उसप्रकार यदि आत्मतत्त्वमें लीन हो जाय तो ऐसा कौन है जो मोक्षस्वरूप न हो ! ॥१२॥

अतृप्तिजनकं मोहदाववह्नेर्महेन्धनम् ।
असातसन्ततेर्बीजमक्षसौख्यं जगुर्जिनाः ॥१३॥

अर्थ—इस इन्द्रियजनित सुखको जिनेन्द्र भगवानने तृप्तिका उत्पन्न करनेवाला नहीं कहा है । क्योंकि जैसे जैसे यह सेवन किया जाता है, वैसे २ भोगलालसा बढ़ती जाती है । तथा यह इन्द्रियजनित सुख मोहरूपी दावानलकी वृद्धि करनेके लिये इन्धनके समान है, और आगामी कालमें दुःखकी सन्ततिका बीज (कारण) है ॥१३॥

नरकस्यैव सोपानं पाथेयं वा तदध्वनि ।
अपवर्गपुरद्वारकपाटयुगलं दृढम् ॥१४॥
विघ्नबीजं विपन्मूलमन्यापेक्षं भयास्पदम् ।
करणग्राह्यमेतद्धि यदक्षार्थोत्थितं सुखम् ॥१५॥

१ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रय ।

अर्थ—यह इन्द्रियोंके विषयसे उत्पन्न हुआ सुख नरकका तो सोपान (सीढ़ी, जीना) है; अर्थात् नरकका स्थान पृथ्विसे नीचे है सो उसमें उतरनेको सीढ़ी विषयसुख ही है, और उस नरकके मार्गमें चलनेके लिये पाथेय (राहखर्च वगैरह) भी यही है तथा मोक्षनगरके द्वार बंद करनेको दृढ कपाटयुगल (किवाडोंकी जोड़ी) भी है ॥१४॥ तथा यह सुख विघ्नोंका बीज, विपत्तिका मूल, पराधीन, भयका स्थान तथा इन्द्रियोंसे ही ग्रहण करने योग्य है, यदि इन्द्रियें बिगड़ जायँ तो फिर इसकी प्राप्ति नहीं होती । इस प्रकारका यह इन्द्रियजनित सुख है ॥१५॥

जगद्वञ्चनचातुर्यं विषयाणां न केवलम् ।
नरान्नरकपाताले नेतुमप्यतिकौशलम् ॥१६॥

अर्थ—इन विषयोंमें केवल जगत्‌को ठगनेकी ही चतुराई नहीं है, किन्तु मनुष्योंको नरकके निम्न भागमें (सातवें नरकमें) के जानेको भी प्रवीणता है ॥१६॥

निसर्गचपलैश्चित्रैर्विषयैर्वञ्चितं जगत् ।
प्रत्याशा निर्दयेष्वेषु कीदृशी पुण्यकर्मणाम् ॥१७॥

अर्थ—स्वभावसे चंचल नाना प्रकारके इन विषयोंने जगत्‌को ठगा तो फिर इन निर्दय स्वरूप विषयोंमें पवित्राचरणवालोंको आशा ही कैसी ? । भावार्थ—निर्दय ठगकी पहिचान होने पर भले पुरुष उनके पीछे नहीं लगते, अर्थात् पुण्यके उदयसे प्राप्त हुए हैं, सो उनकी आगामी वांछा नहीं करते ॥

वर्धते गृद्धिरश्रान्तं सन्तोषश्चापसर्पति ।
विवेको विलयं याति विषयैर्वञ्चितात्मनाम् ॥१८॥

अर्थ—जिनका आत्मा इन विषयोंसे ठगा गया है अर्थात् विषयोंमें मग्न हो गया है उनकी विषयेच्छा तो बढ़ जाती है और सन्तोष नष्ट हो जाता है तथा विवेक भी विलीन हो जाता है ॥१८॥

विषस्य कालकूटस्य विषयाख्यस्य चान्तरम् ।
वदन्ति ज्ञाततत्त्वार्था मेरुसर्षपयोरिव ॥१९॥

अर्थ—वस्तुस्वरूपके जाननेवाले विद्वानोंने कालकूट (हलाहल) विष और विषयोंमें मेरु पर्वत और सरसोंके समान अन्तर कहा है, अर्थात् कालकूट विष तो सरसों के समान छोटा है और विषय-विष सुमेरु पर्वतके समान है ॥१९॥

अनासादितनिर्वेदं विषयैर्व्याकुलीकृतम् ।
पतत्येव जगज्जन्मदुर्गे दुःखाग्निदीपिते ॥२०॥

अर्थ—इस जगतने कभी विरागताको नहीं पाया इस कारण इसे विषयोंने व्याकुल (दुःखी) कर दिया है और यह दुःखरूपी अग्निसे प्रज्वलित हुए इस संसाररूपी दुर्गमें (जेलखानेमें) पड़ता है ॥२०

इन्द्रियाणि न गुप्तानि नाभ्यस्तश्चित्तनिर्जयः ।
न निर्वेदः कृतो मित्र नात्मा दुःखेन भावितः ॥२१॥

एवमेवापवर्गाय प्रवृत्तैर्ध्यानसाधने ।
स्वमेव वञ्चितं मूढैर्लोकद्वयपथच्युतैः ॥२२

अर्थ—हे मित्र ! अनेक मूर्ख ऐसे हैं कि जिन्होंने इन्द्रियोंको कभी वश नहीं किया, चित्तके जीतनेका कभी अभ्यास नहीं किया और न कभी वैराग्यको प्राप्त हुए तथा न कभी आत्माको दुःखी ही समझा और वृथा ही मोक्षप्राप्तिके लिये ध्यानसाधनमें प्रवृत्त हो गये। उन्होंने अपने आत्माको ठग लिया और वे इस लोक और परलोक दोनोंसे ही भ्रष्ट हो गये, भावार्थ—जो इन्द्रिय और मनको जीते बिना तथा ज्ञानवैराग्यकी प्राप्तिके विना ही मोक्षके लिये ध्यानका अभ्यास करते हैं, वे मूर्ख अपने दोनों भव बिगाड़ते हैं ॥ २१–२२ ॥

अब कहते हैं कि योगियोंका सुख इन्द्रियों के विना ऐसा है–

अध्यात्मजं यदत्यक्षं स्वसंवेद्यमनश्वरम् ।
आत्माधीनं निराबाधमनन्तं योगिनां मतम् ॥२३॥

अर्थ—योगियोंका अध्यात्मसे उत्पन्न अतिन्द्रिय सुख आत्माके (अपने) ही आधीन है अर्थात् स्वयं ही उत्पन्न हुआ है, किन्तु इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंसे नहीं हुआ है, तथा आत्मासे ही जानने (भोगने) योग्य है अर्थात् स्वानुभवगम्य है और अविनाशी है, अर्थात् इन्द्रियजनित सुखके समान विनाशी नहीं है, स्वाधीन है, व बाधारहित है अर्थात् जिसमें कुछ भी बिगाड़ वा विघ्न नहीं होता, तथा अनन्त अर्थात् अन्त रहित है। जो कोई यह समझते हैं कि इन्द्रियोंके विना सुख कैसा ? उनको यह अनिन्द्रिय सुखका स्वरूप बतलाया गया है ॥२३॥

अपास्य करणग्रामं यदात्मन्यात्मना स्वयम् ।
सेव्यते योगिभिस्तद्धि सुखमाध्यात्मिकं मतम् ॥२४॥

अर्थ—जो इन्द्रियोंके विषयोंके विना ही अपने आत्मामें आत्मासे ही सेवन करनेमें आता है उसको ही योगीश्वरोंने आध्यात्मिक सुख कहा है ॥२४॥

आपातमात्ररम्याणि विषयोत्थानि देहिनाम् ।
विषपाकानि पर्यन्ते विद्धि सौख्यानि सर्वथा ॥२५॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जीवोंके विषयजनित सुख कैसे हैं कि सेवनके आरंभमात्रमें तो कुछ रम्य भासते हैं परन्तु विपाकसमयमें सर्वथा विषके समान ही जानिये ॥२५॥

हृषीकतस्करानीकं चित्तदुर्गान्तराश्रितम् ।
पुंसां विवेकमाणिक्यं हरत्येवानिवारितम् ॥२६॥

अर्थ—यह इन्द्रियरूपी चोरोंको सेना (फौज) चित्तरूपी दुर्ग (किले) के आश्रयमें रहती है, जो पुरुषोंके विवेकरूपी रत्नको हरती है अर्थात् चुराती है और रोकी भी नहीं रुकती है ॥२६॥

त्वामेव वञ्चितुं मन्ये प्रवृत्ता विषया इमे ।
स्थिरीकुरु तथा चित्तं यथैतैर्न कलङ्क्यसे ॥२७॥

अर्थ—हे आत्मन् ! ये इन्द्रियोंके विषय तुझको ही ठगनेके लिये प्रवृत्त हुए हैं ऐसा मै मानता हूं; इस कारण चित्तको ऐसा स्थिर कर कि जिस प्रकार उन विषयोंसे कलङ्कित न हो ॥२७॥

मालिनी ।

उदधिरुदकपूरैरिन्धनैश्चित्रभानु-
यदि कथमपि दैवात्तृप्तिमासादयेताम् ।
न पुनरिह शरीरी कामभोगैर्विसंख्यै-
श्चिरतरमपि भुक्तैस्तृप्तिमायाति कैश्चित् ॥२८॥

अर्थ—इस जगतमें समुद्र तो जलके प्रवाहोंमे (नदियोंसे मिलनेसे) तृप्त नहीं होता और अग्नि इन्धनोंसे तृप्त नहीं होती, सो कदाचित दैवयोगसे किसी प्रकार ये दोनों तृप्त हो भी जावें परन्तु यह जीव चिरकालपर्यन्त नाना प्रकारके काम भोगादिके भोगने पर भी कभी तृप्त नहीं होता ॥२८॥

आर्या ।

यद्यपि दुर्गतिबीजं तृष्णासन्तापपापसंकलितम् ।
तदपि न सुखसंप्राप्यं विषयसुखं वाञ्छितं नृणाम् ॥२९॥

अर्थ—यद्यपि विषयजनित सुख दुर्गतिका बीजभूत-कारण है और तृष्णा-सन्तापादि-सहित है तथापि यह सुख विना कष्टके इच्छानुसार मनुष्योंको प्राप्त होना कठिन है ॥२९॥

अपि संकल्पिताः कामाः संभवन्ति यथा यथा ।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति ॥३०॥

अर्थ—मनुष्योंके जैसे जैसे इच्छानुसार संकल्पित भोगोंकी प्राप्ति होती है वैसे २ ही इनकी तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती हुई समस्त लोकपर्यन्त विस्तारताको प्राप्त होती है ॥३०॥

अनिषिध्याक्षसंदोहं यः साक्षान्मोक्तुमिच्छति ।
विदारयति दुर्बुद्धिः शिरसा स महीधरम् ॥३१॥

अर्थ—जो पुरुष इन्द्रियसमूहको वश नहीं करके साक्षात् मोक्ष (कर्मरहित) होना चाहता है वह दुर्बुद्धि अपने मस्तककी टक्कर लगा कर पर्वतको तोड़ना चाहता है, ऐसी अवस्थामें उसका मस्तक ही फूटेगा, पर्वत तो किसी प्रकार फूटेगा ही नहीं ॥३१॥

मालिनी ।

इदमिह विषयोत्थं यत्सुखं तद्धि दुःखं
व्यसनविपिनबीजं तीव्रसंतापविद्धम् ।
कटुतरपरिपाकं निन्दितं ज्ञानवृद्धैः
परिहर किमिहान्यैर्धूर्तवाचां प्रपञ्चैः ॥३२॥

अर्थ—हे आत्मन् ! इस जगतमें विषयजनित जो सुख है सो वास्तवमें दुःख ही है, क्योंकि यह कष्ट अर्थात् आपदारूपी वृक्षोंका तो बीज है और तीव्र संतापोंसे विंधा हुआ है तथा जिसका परिपाक (फल) अतिशय कटु है और ज्ञानसे वृद्ध विद्वानोंके द्वारा निंदनीय है, इस कारण हे भाई ! इसको छोड़, धूर्तोंके प्रपंच वाक्योंके माननेसे क्या लाभ ? ॥३२॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

तत्तत्कारकपारतन्त्र्यमचिरान्नाशः सतृष्णान्वयै-
स्तैरेभिर्निरुपाधिसंयमभृतो बाधानिदानैः परैः ।
शर्मभ्यः स्पृहयन्ति हन्त विषयानाश्रित्य यद्देहिन-
स्तत्क्रुध्यत्फणिनायकाग्रदशनैः कण्डूविनोदः स्फुटम् ॥३३॥

अर्थ—यद्यपि विषयजनित पूर्वोक्त सुखको दुःख ही कहा है, सो ठीक भी है, क्योंकि उस सुखको कारकोंकी पराधीनता है अर्थात् वह सुख अन्यके द्वारा होता है, और तत्काल नाशवान् भी है; तथापि ये संसारी जीव उपाधि रहित संयमके धारक होने पर भी तृष्णाके साथ संबंध करते हुए बाधाके कारण ऐसे, अन्य धनादिकोंके द्वारा सुखके लिये विषयोंकी इच्छा करते हैं सो क्या करते हैं कि मानों क्रोधायमान नागेन्द्रके अगले दाँतोंसे (विषके दांतोंसे) खुजलानेका साक्षात् विनोद ही करते हैं। **भावार्थ**—सांपके जहरीले दाँतोंसे खुजलाना मृत्युका वा दुःखका ही कारण है ॥३३॥

पुनः ।

निःशेषाभिमतेन्द्रियार्थरचनासौन्दर्यसंदानितः
प्रीतिप्रस्तुतलोभलङ्घितमनाः को नाम निर्वेद्यताम् ।
अस्माकं तु नितान्तघोरनरकज्वालाकलापः पुरः
सोढव्यः कथमित्यसौ तु महती चिन्ता मनः कृन्तति ॥३४॥

अर्थ—अहो ! खेद है कि समस्त मनोवांछित इन्द्रियोंके विषयोंकी रचनाके सौंदर्यसे जिसका मन बँधा हुआ है तथा प्रीतिके प्रस्ताव (चक्र) में आनेसे लोभसे खंडित हो गया है मन जिसका ऐसे जीवोंमेंसे कौन ऐसा है जो विषयोंसे उदासीन होनेके लिये तत्पर हो ? यहां आचार्य महाराज कहते हैं कि ये संसारी जीव विषयोंसे विरक्त तो नहीं होते परन्तु इन विषयोंसे उत्पन्न हुए अतिशयरूप तीव्र नरकाग्निकी ज्वालाके समूहको भविष्यत्में कैसे सहेंगे ? यही महाचिंता हमारे मनको दुःखित कर रही है ॥३४॥

स्रग्धरा

मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दन्तिनः स्पर्शरुद्धाः
बद्धास्ते वारिबन्धे ज्वलनमुपगताः पत्रिणश्चाक्षिदोषात् ।
भृङ्गाः गन्धोद्धताशाः प्रलयमुपगता गीतलोलाः कुरङ्गाः
कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुभृतामिन्द्रियार्थेषु रागः ॥३५॥

अर्थ—अरे देखो ! रसना इन्द्रियके वश तो मत्स्य (मच्छियें) हैं वे अपने गलेको छिदा कर मृत्युको प्राप्त हुए, और हस्ती स्पर्श इन्द्रियके वशीभूत हो गढेमें बांधे गये, तथा नेत्र इन्द्रियके विषय-दोषसे पतंग(छोटे २ जीव) दीपकादिकी ज्वालामें जल कर मरणको प्राप्त हुए हैं और भ्रमर नासिका इन्द्रियके वशीभूत हो कर सुगन्धसे मुग्ध हो नाशको प्राप्त हुए, इसी प्रकार हरिण भी गीत (राग) के लोलुप हो कर्ण इन्द्रियके विषयसे कालरूप सर्पसे मारे गये; ऐसे एक एक इन्द्रियके विषयसे उक्त जीव नष्ट होते देखते हैं तो भी संसारी जीवोंके इन्द्रियविषयोंमें प्रीति (अनुराग) होती है सो यह बड़ा खेद अथवा आश्चर्य है ॥ ३५ ॥

आर्या

एकैककरणपरवशमपि मृत्युं याति जन्तुजातमिदम् ।
सकलाक्षविषयलोलः कथमिह कुशली जनोऽन्यः स्यात् ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो यह पूर्वोक्त एक एक इन्द्रियके वश हुआ जीवोंका समूह मरणको प्राप्त हुआ तो जो अन्य प्राणी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त है उसका भला किस प्रकार हो सकता है, अर्थात् वह किस प्रकार सुखी हो सकता है ? ॥ ३६ ॥

संवृणोत्यक्षसैन्यं यः कूर्मोऽङ्गानीव संयमी ।
स लोके दोषपङ्काढ्ये चरन्नपि न लिप्यते ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कछुआ अपने अंगोंको संकोचता है उसी प्रकार जो संयमी मुनि इन्द्रियोंके सेनासमूहको संवररूप करता है अर्थात् संकोचता वा वशीभूत करता है वही मुनि दोषरूपी कर्दमसे भरे इस लोकमें विचरता हुआ भी दोषोंसे लिप्त नहीं होता । **भावार्थ**—जलमें कमलके समान अलिप्त रहता है ॥ ३७ ॥

अयत्नेनापि जायन्ते तस्यैता दिव्यसिद्धयः ।
विषयैर्न मनोयस्य मनागपि कलङ्कितम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिस मुनिका मन इन्द्रियोंके विषयोंसे किंचिन्मात्र भी कलंकित नहीं होता उस मुनिके आगे जो दिव्य सिद्धियें कही जायँगी वे विना यत्नके ही उत्पन्न होती हैं ॥ ३८ ॥

इस प्रकार ध्यानके घातक कषाय और विषयोंका वर्णन किया, इससे निर्णीत हुआ कि कषायी तथा विषयी पुरुषके प्रशस्त ध्यानकी सिद्धि कदापि नहीं होती ।

घनाक्षरी कवित्त ।

क्रोध क्षमातैं बिडारि मान मृदुतातैं मारि, माया ऋजुतातैं लोभ तोषतैं मिटावना ।
निष्कषाय भये इन्द्री मन वशि होयँ तबै, ध्यानयोग्य भाव जगे जोग थिर थावना ॥
अन्यमती यहै रीति जानै नाहि जानैं ताके, सर्वथा एकान्त पक्ष एक रूप भावना ।
एकमें अनेक भाव नित्य वा अनित्य आदि, शुद्ध औ अशुद्ध मानैं निजरूप पावना ॥२०॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे अक्षविषयनिरोधो नाम विंश प्रकरणम् ॥२०॥

२१. अथ एकविंशः सर्गः ।

त्रितत्त्व वर्णन

आगे तीन तत्त्वोंके प्रकरणका प्रारंभ है, जिसका आशय यह है कि अन्यमती तीन तत्त्वोंकी कल्पना करके उनका ध्यान करते हैं और उस ध्यानसे सर्व सिद्धि होना कहते हैं, इस कारण उनका भ्रम दूर करनेके लिए आचार्य महाराज तीन तत्त्वोंके व्याख्यानद्वारा कहते है कि ये तत्त्व एक आत्माकी ही सामर्थ्यरूप हैं, यह आत्मा ध्यानके बलसे अचिन्त्य सामर्थ्यरूप हो चेष्टा करता है, इस आत्माके अतिरिक्त अन्य कल्पना है सो सब मिथ्या है; इस कारण आत्माका सामर्थ्य वर्णन करते हैं ।

अयमात्मा स्वयं साक्षाद्गुणरत्नमहार्णवः ।
सर्वज्ञः सर्वदृक् सार्वः परमेष्ठी निरञ्जनः ॥ १ ॥

अर्थ—यह आत्मा स्वयं साक्षात् गुणरूपी रत्नोंका भरा हुआ समुद्र है तथा यही आत्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, सबके हितरूप है, समस्त पदार्थोंमें व्याप्त है, परमेष्ठी(परमपदमें स्थित)है और निरंजन है अर्थात् जिसके किसी प्रकारकी कालिमा नहीं है; शुद्ध नयका विषयभूत आत्मा ऐसा ही है ॥१॥

तत्स्वरूपमजानानो जनोऽयं विधिवञ्चितः ।
विषयेषु सुखं वेत्ति यत्स्यात्पाके विषान्नवत् ॥ २ ॥

अर्थ—उस आत्माके स्वरूपको नहीं जानता हुआ यह मनुष्य कर्मोंसे वंचित हो इन्द्रियोंके विषयोंमें सुख जानता है सो बड़ी भूल है क्योंकि इन्द्रियोंका विषय विपाक समयमें विषमिश्रित अन्नके समान होता है ॥ २ ॥

यत्सुखं वीतरागस्य मुनेःप्रशमपूर्वकम् ।
न तस्यानन्तभागोऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः ॥ ३ ॥

अर्थ—जो सुख वीतराग मुनिके प्रशमरूप (मंदकषायरूप) विशुद्धतापूर्वक है उसका अनन्तवा भाग भी इन्द्रको प्राप्त नहीं है ॥ ३ ॥

अनन्तबोधवीर्यादिनिर्मला गुणिभिर्गुणाः ।
स्वस्मिन्नेव स्वयं मृग्या अपास्य करणान्तरम् ॥ ४ ॥

अर्थ-अनन्त ज्ञान अनन्त वीर्यादि गुण गुणी पुरुषोंके द्वारा अपने आत्मामें ही अन्य इन्द्रियादिकी सहायताको छोड़ अपने आप ही खोजने चाहिये ॥ ४ ॥

अहो अनन्तवीर्योऽयमात्मा विश्वप्रकाशकः ।
त्रैलोक्यं चालयत्येव ध्यानशक्तिप्रभावतः ॥ ५ ॥

अर्थ—अहो देखो, यह आत्मा अनन्त वीर्यवान् है तथा समस्त वस्तुओंको प्रकाशित करनेवाला है तथा ध्यानशक्तिके प्रभावसे तीनों लोकोंको भी चलायमान कर सकता है । **भावार्थ**—मुनि जब ध्यान

करते हैं तब तीनों लोकोंके इन्द्रोंके आसन कम्पायमान होते हैं अथवा ध्यानके फलसे जो कोई जीव तीर्थंकरपद प्राप्त करता है उसका जन्म होनेके समय तीनों लोकोंमें क्षोभ होता है ॥५॥

अस्य वीर्यमहं मन्ये योगिनामप्यगोचरम् ।
यत्समाधिप्रयोगेण स्फुरत्यव्याहतं क्षणे ॥६॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि इस आत्माकी शक्तिको मैं ऐसा समझता हूं कि वह योगियोंके भी अगोचर है, क्योंकि वह समाधि-ध्यानमें लय स्वरूपके प्रयोगोंसे क्षणमात्रमें अव्याहत प्रकाश होती है। भावार्थ—अनन्त पदार्थोंके देखने जाननेकी शक्ति प्रगट होती है ॥६॥

अयमात्मा स्वयं साक्षात्परमात्मेति निश्चयः ।
विशुद्धध्याननिर्धूत-कर्मेन्धनसमुत्करः ॥७॥

अर्थ—जिस समय विशुद्ध ध्यानके बलसे कर्मरूपी इन्धनोंको भस्म कर देता है उस समय यह आत्मा ही स्वयं साक्षात्परमात्मा हो जाता है; यह निश्चय है ॥७॥

ध्यानादेव गुणग्राममस्याशेषं स्फुटीभवेत् ।
क्षीयते च तथानादिसंभवा कर्मसन्ततिः ॥८॥

अर्थ—इस आत्माके गुणोंका समस्त समूह ध्यानसे ही प्रगट होता है तथा ध्यानसे ही अनादिकालकी संचित की हुई कर्मसन्तति नष्ट होती है ॥८॥

शिवोऽयं वैनतेयश्च स्मरश्चात्मैव कीर्तितः ।
अणिमादिगुणानर्घ्यरत्नवार्धिर्बुधैर्मतः ॥९॥

अर्थ—विद्वानोंने इस आत्माको ही शिव, गरुड़ और काम कहा है, क्योंकि यह आत्मा ही अणिमा महिमादि अनर्घ्य (अमूल्य) गुणरूपी रत्नोंका समुद्र है। भावार्थ—शिवतत्त्व, गरुड़तत्त्व और कामतत्त्व जो अन्यमती ध्यानके लिये स्थापन करते हैं सो आचार्य महाराज कहते हैं कि यह आत्माकी ही चेष्टा है, आत्मासे भिन्न अन्य कोई पदार्थ नहीं है ॥९॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे—

"आत्यन्तिकस्वभावोत्थानन्तज्ञानसुखः पुमान् ।
परमात्मा विपः कन्तुरहो माहात्म्यमात्मनः ॥१॥

अर्थ—अहो! आत्माका माहात्म्य कैसा है कि आत्यन्तिक कहिये अन्तरहित अविनश्वर स्वभावसे उत्पन्न हुए अनन्त ज्ञान अनन्त सुखवाला ऐसा परमात्मा स्वरूप शिव तथा गरुड और काम यह आत्मा ही है ॥१॥"

अब इन तीनों तत्त्वोंको आचार्य महाराज गद्यद्वारा स्पष्ट करते हैं—

यथान्तर्बहिर्मुखनिजनिजानन्दसन्दोहसंपाद्यमानद्रव्यादिचतुष्कसकलसामग्रीस्वभाव--
प्रभावात्परिस्फुरितरत्नत्रयातिशयसमुल्लसितस्वशक्तिनिराकृतसकलतदावरणप्रादुर्भूतशुक्ल--

ध्यानानलबहुलज्वालाकलापकवलितगहनान्तरालादिसकलजीवप्रदेशघनघटितसंसारकारण-ज्ञानावरणादिद्रव्यभावबन्धनविश्लेषस्ततो युगपत्प्रादुर्भूतानन्तचतुष्टयो घनपटलविगमे सवितुः प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिवत् स खल्वयमात्मैव परमात्मव्यपदेशभाग्भवतीति शिवतत्त्वम् ॥१०॥

ज्ञानार्णवस्थितगद्यटीका-तत्त्वत्रयप्रकाशिका

॥ श्रीः ॥

शिवं ऽयं वैनतेयश्च स्मरश्चात्मैव कीर्तितः। अणिमादिगुणानर्घ्यरत्नवार्धिर्बुधैर्मतः ॥१॥

अयमात्मा शिवः सिद्धः कीर्तितः, शुक्लध्यानतः। तथाऽयमात्मावैनतेयो गरुडः, कीर्तितः ध्यानबलात्। तथा स्मरः कीर्तितः, कन्दर्पः। किंविशिष्टः ? **अणिमादीत्यादि**। अणिमा अणोर्भावः, आदिशब्दात् महिमादयोऽष्टौ गृह्यन्ते, ते च ते गुणास्त एवानर्घ्याण्यमूल्यानि रत्नानि तेषां वार्धिः समुद्रो बुधैर्गणधरदेवादिभिः मतः कथितः। अणिमादिगुणानां विचारश्चारित्रसारादौ वेदितव्यः। तत्र तावदयमात्मा शिवः। कथमिति गद्येन शुभचन्द्रदेवा निरूपयन्ति। तद्यथा। त देव निरूपयन्ति—**यथेत्यादि**। यथेत्युदाहरणे, अन्तर्भूतं निजनिदानं भव्यत्वं कर्म लघुत्वं निःकषायत्वं चेत्यादि। बहिर्भूतं निजनिदानं आत्मनः कारणं सुद्रव्य-सुक्षेत्र-सुकाल-शुभवस्तुभावादिकं सुगुर्वादिकं च। एतेषां निदानानां हेतूनां योऽसौ सन्दोहः समूहस्तेन सम्पाद्यमाना उत्पाद्यमाना या द्रव्यादीनां द्रव्य-क्षेत्र-भव-भावचतुष्कस्य या सकला परिपूर्णा सामग्री समग्रता तस्याः स्वभावः तस्या प्रभावः। तेन अन्तर्मनसि यत् स्फुरितं जागरितं यत् रत्नत्रयं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं तस्यातिशयेन सर्वोत्कृष्टतया समुल्लसिता उच्छलिता प्रादुर्भूता यः स्वस्यात्मनः शक्तिः सामर्थ्यं अनादिजीवलग्नप्रभुत्वं तया निराकृतं निर्मूलितं स्फेटितं समूलकाषं कषितं यत् सकलं समग्रं तदावरणं आत्मावरणं मतिश्रुताद्यावरणं तेन प्रादुर्भूतमुत्पन्नं यत् शुक्लध्यानं पृथक्त्ववितर्कविचार लक्षणं एकत्वविचारलक्षणं च तदेवानलोऽग्निस्तस्य प्रचुरा बहुला अर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रान्तिलक्षणोपलक्षिता या ज्वालाः कीलास्तासां कलापः समूहस्तेन कवलितो मूलादुन्मूलितः गहनान्तरः अविज्ञातसन्धिः अनादौ काले सकलेषु जीवस्य प्रदेशेषु घनघटितो निबिडतया जटितो योऽसौ संसारस्य कारणभूतो ज्ञानावरणादिद्रव्यभावबन्धनविशेषो यस्यात्मनः स तथोक्तः। अत्र द्रव्यबन्धनविशेषः कर्मरजः भावबन्धनविशेषः रागद्वेषमोहादिर्ज्ञातव्यः। ततस्तदनन्तरं द्रव्य-भावबन्धनविशेषकवलनान्तरं शुक्लध्यानानलव्याप्त्यनन्तरं युगपत् समलं प्रादुर्भूतं प्रकटीभूतं अनन्तचतुष्टयं अनन्त-केवलज्ञानदर्शनशक्तिसुखचतुष्कं यस्य स तथोक्तः। घनपटलविगमे मेघपटलविघटने सवितुः श्रीसूर्यस्य प्रताप-प्रकाशाभिव्यक्तिवत् प्रकटनवत् खलु निश्चयेन, अयं प्रत्यक्षीभूत आत्मैव संसारिजीवः परमात्मव्यपदेशभाक् परमात्मनाम-भागी अर्हत्सिद्धलक्षणो भवति सञ्जायते। **शिवतत्त्वं समाप्तम्।**

अर्थ—यथा जैसी चाहिये वैसी, अन्तरंग और बहिर्भूत, तथा निज (अपनी) निजानन्दसन्दोह—(अपने आनन्द स्वरूप विशुद्धता सहित परिणामोंके समूहसे) संपाद्यमान—अर्थात् उत्पन्न की हुई वा प्राप्त की हुई द्रव्य क्षेत्रकालभावके चतुष्क स्वरूप समस्त सामग्रीरूप स्वभावके प्रभावसे प्रगट हुआ जो सम्यक् दर्शन—ज्ञान—चारित्ररूप रत्नत्रय उसके अतिशयसे (प्रकर्ष) उल्लासरूप हुई (उदयरूप हुई) अपनी शक्तिसे निराकरण किया हुआ तदावरण मोहकर्मका उदय, उससे प्रगट हुई शुक्लध्यानरूप अग्निकी ज्वालाके पृथक्त्व वितर्क विचार आदि भेदरूप विशुद्धताके समूहसे ग्रासीभूत किये हैं सघन और अंतराल-वर्ती अनादिकालके जीवके प्रदेशोंमें समूहरूप ठहरे हुए संसारके कारणस्वरूप ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म भावकर्मके बंधनके विशेष जिसने ऐसा, तत्पश्चात् प्रगट हुआ है युगपत् (एक ही कालमें) अनन्त ज्ञान-

सुख-वीर्यरूप चतुष्टय जिसके ऐसा, जैसे मेघपटलोंके दूर होनेसे सूर्यका प्रताप और प्रकाश युगपत् (एक साथ) प्रकट होता है उसी प्रकार प्रगट हुआ आत्मा ही निश्चय करके परमात्माके व्यपदेश (नाम) का धारक होता है । भावार्थ—यह आत्मा संसार-अवस्थामें जीवात्मा कहाता है और जब यही आत्मा अन्तरंग तथा बाह्यस्वरूप द्रव्य क्षेत्र-काल-भावरूप सामग्रीको प्राप्त होता है तब इसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके अतिशयताको प्राप्ति होती है । उसके साधनसे मोहका क्रमक्रमसे अभाव होने पर शुक्लध्यान प्रगट होता है । उस शुक्लध्यानके प्रभावसे घातिया कर्मोंका नाश होने पर अनन्तचतुष्टय[1] प्रगट होता है; इस प्रकार आत्मा परमात्मा नाम पाता है; और इसीको शिव वा शिवतत्त्व कहते हैं । यह शिवतत्त्वका स्वरूप कहा गया ॥१०॥

अब गरुडतत्त्वको कहते हैं, सो अन्यमती गरुडतत्त्वकी ऐसी कल्पना करते हैं कि गरुडपक्षीका सा तो मुख, और दूसरे सब अंग मनुष्यके समान; किन्तु दोनों तरफ घोंटुओं तक (गोडों तक) लटकती हुई दोनों पांखें, और मुखमें (चोंचमें) दो सर्पोंकी ठोड़ीं (फण) उनमेंसे एक सर्प तो मस्तक पर हो कर पीठकी तरफ लटकता हुआ और दूसरा पेटकी तरफ लटकता हुआ, तथा घोंटुओंके नीचे तो पृथ्वितत्त्वकी रचना, और घोंटुओंसे उपरि नाभिपर्यन्त अप्तत्त्व (जलतत्त्व)की रचना, और उसके उपरि हृदयपर्यन्त अग्नितत्त्वकी रचना, और उसके उपरि मुखमें पवनतत्त्वकी रचना। इस प्रकार आकाशतत्त्वमें गरुडको कल्पना करके ध्यान करते हैं और उसे समस्त उपद्रव मेटनेवाला कहते हैं । उसका स्वरूप संस्कृत गद्य (वचनिका)द्वारा आचार्य महाराज कहते हैं । उसमेंसे प्रथम पृथ्वितत्त्वका स्वरूप कहते हैं—

अविरलमरीचिमञ्जरीपुञ्जपिञ्जरितभासुरतरशिरोमणिमण्डलीसहस्रमण्डितविकटतरफूत्कारमारुतपरंपरोत्पातप्रेङ्खोलितकुलाचलसंमिलितशिखिशिखासन्तापद्रवत्काञ्चनकान्तिकपिशनिजकायकान्तिच्छटापटलजटिलितदिग्वलयक्षत्रियभुजङ्गपुङ्गवद्वितयपरिक्षिप्तक्षितिबीजविसृष्टप्रकटपविपञ्जरपिनद्धसवनगिरिचतुरस्रमेदिनीमण्डलावलम्बनगजपतिपृष्ठप्रतिष्ठितपरिकलितकुलिशकरशचीप्रमुखविलासिनीशृङ्गारदर्शनोल्लसितलोचनसहस्रश्रीत्रिदशपतिमुद्रालंकृतसमस्तभुवनावलम्बिसुनासीरपरिकलितजानुद्वय इति पृथ्वितत्त्वम् ॥११॥

अथ गारुडतत्त्वमात्मनो निरूप्यते । तथाहि—तत्रायं क्रियाकारकसम्बन्धः कथम् ? । आत्मैव नान्यः कोऽपि पुद्गलादिकः । गारुडगीर्गोचरत्वं गरुडविद्यां वेत्ति गारुडः । गारुड इति गीर्नाम गारुडगीः, तस्या गोचरत्वं विषयत्वमवगाहते प्राप्नोति । आत्मा गारुड इति कथ्यत इत्यर्थः । कथम्भूतः सन् ? ।

अविरलेत्यादि । अविरला अविच्छिन्ना या मरीचयः किरणास्ता एव मञ्जर्यो वल्लर्यस्तासां पुञ्जः समूहस्तेन पिञ्जरिताः पीतवर्णास्ते च ते भासुरतरा अतिशयेन देदीप्यमाना ये शिरोमणयः फणारत्नानि तेषां मण्डली चक्रवालं तस्याः सहस्रं तेन मण्डितं शोभितं क्षत्रियभुजङ्गपुङ्गवद्वितयमित्यस्य विशेषणमिदम् । तथ **तद्विकटतरे-त्यादि** । विकटतराः प्रकटतरा ये फूत्कारमारुता वायवस्तेषां परम्परा श्रेणिस्तस्या उत्पातेन उच्छलनेन प्रेङ्खो-

[1] अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ।

कल्पिताः कम्पिता ये कुलाचलाः कुलपर्वताः तेषां संमिलिताः समुद्भूतो योऽसौ शिखी अग्निः तस्य शिखा ज्वालाः तासां सम्पातेन आगमनेन द्रवत् निर्गलितं यत् काञ्चनं सुवर्णं तस्य या कान्तिर्दीप्तिः तया कपिशौ पीतरक्तौ विकायौ स्वशरीरे तयोर्याः कान्तयो दीप्तयस्तासां छटापटलं धारासमूहस्तेन जटिलितं कर्बुरीकृतं दिग्वलयं दिक्चक्रं येन तच्च तत् क्षत्रियभुजङ्गपुङ्गवद्वितयं क्षत्रियजातिवासुकिशङ्खपालनामधेयसर्पराजयुगलं, तेन परिक्षिप्तं वेष्टितं तच्च तत् क्षितिबीजविसृष्टं लंक्षि इति वर्णद्वयचतुष्टयेन वेष्टितं यत् सवनगिर्युपलक्षितं, मेरुगिरिशोभमानं यत् चतुरस्रं चतुष्कोणं यन्मेदिनीमण्डलं पृथ्वीतत्त्वं तत् अवलम्बनमाधारो यस्य स चासौ गजपतिपृष्ठप्रतिष्ठितः ऐरावणस्कन्धमारूढः स चासौ परिकलितकुलिशकरः समुद्धृतवज्रहस्तः स चासौ शचीप्रमुखविलासिनीशृङ्गारदर्शनदर्शनोल्लसितलोचनसहस्रः । शची इन्द्राणी प्रमुखा मुख्या यासां विलासिनीनां कमनीयकामिनीनां तासां शृङ्गारदर्शने स्तनजघनवदनादिशोभाविलोकने उल्लसितमुत्फुल्लं लोचनसहस्रं यस्य स चासौ त्रिदशपतिर्देवराजस्तस्य या मुद्रा तया अलङ्कृत शोभितं यत् समस्तं भुवनं जगत् तत्रावलम्बत एवंशीलः तदवलम्बी स चासौ सुनासीरो देवेन्द्रस्तेन परिकल्पितं रचितजानुद्वयं अष्ठीवत्पर्यन्तं जङ्घायुगलं येन आत्मना स तथोक्तः ॥

अर्थ—प्रचुर अविच्छेदरूप किरणोंकी लताओंके समूहसे पीतवर्ण देदीप्यमान (चमकते हुए) मस्तकमणियोंकी सहस्र मंडलियों से मंडित और अतिशय विकट निकलते हुए फूत्काररूप पवनकी परंपरा (पंक्तिरूप परिपाटी) के पड़नेसे द्रवते हुए सुवर्णकी कान्तिके समान कपिश (पीतरक्तनास्वरूप), अपने शरीरकी कान्तिकी छटाओंके पटलोंसे तद्रूप जटिलित किया है दिशाओंका वलय जिन्होंने ऐसे, दो विशेषणयुक्त क्षत्रिय जातिके सर्पोंमें प्रधान दो सर्पों से (जिनके नाम वासुकी और शंखराज हैं) वेष्टित ऐसा पृथ्विमंडल है सो क्षितिके बीजाक्षरों सहित है तथावज्रपंजर (वज्रसहित रेखा) के चतुष्टयसे बँधा हुआ और सवनगिरि (मेरु पर्वत) सहित चौकोण, (इस प्रकार पांच विशेषण पृथ्विमंडलके हैं) ऐसा पृथ्विमंडल है आधार जिसका (यह इन्द्रका विशेषण है) और ऐरावत हस्तीके स्कन्ध पर चढ़ा हुआ, हाथमें वज्र है, शची आदि सुन्दर देवांगनाओंके शृंगार देखनेमें प्रफुल्लित हैं हजार नेत्र जिसके ऐसी देवेन्द्रकी मुद्रासे शोभायान है, ऐसे समस्त भुवनका आलंबन करनेवाले सुनासीर (इन्द्र)के द्वारा रचनारूप किये हैं दोनो जानु जिसने ऐसा गरुड है। यहां तक पृथ्वितत्त्वसहित गरुडका विशेषण है।

आगे जलतत्त्वका स्वरूप कहते हैं—

तदुपरि पुनरानाभिविपुलतरसुधासमुद्रसन्निभसमुल्लसन्निजशरीरप्रभापटलव्याप्तसकलगगनान्तरालवैश्यासो विषधरावनद्धवारुणबीजाक्षरमण्डनपुण्डरीकलक्ष्मोपलक्षितपारावारमयखण्डेन्दुमण्डलाकारवरुणपुरप्रतिष्ठितविपुलतरप्रचण्डमुद्राग्रहेतिविकीर्णशिशिरतरपयःकणकान्तिकर्बुरितसकलककुप्चक्रकरिमकरमारूढप्रशस्तपाशपाणिवरुणामृतमुद्राबन्धविधुरितनिःशेषविषानलसंतापभयत्रुद्रुणम्बिमूढोरसंप्रदेश इति अप्तत्त्वम् ॥१२॥

तदुपरि तस्य सुनासीर परिकल्पितजानुद्वयस्योपरि तदुपरि पुनः पुनरपि पूर्वो ध्यानविधानानन्तरं अपरं ध्यानं आनाभितुन्दिकापर्यन्तं विपुलतरो विस्तीर्णतरो यः सुधासमुद्रोऽमृतसमुद्रः क्षीरसागरस्तेन सन्निभं अतिधवलं समुल्लसत् सम्यगुल्लासं प्राप्नुवत् यत् निजशरीरं स्वशरीरद्वयं तस्य प्रभापटलानि तेजसमूहाः तैर्व्याप्तं धवलीकृतं

सकलं समग्रं गगनान्तरालं आकाशमध्यो याभ्यां तौ च तौ वैश्यजाती विषविषधरौ वैश्यजात्युत्पन्नौ आशीविषौ दंष्ट्राविषौ विषधरौ कर्कोटपद्मनामानौ, ताभ्यामवनद्धं वेष्टितं तच्च तद्वारुणबीजाक्षरमण्डनं वारुणबीजाक्षरैश्चतुर्भिः प्रकारैश्चतुर्दिक्स्थितैश्चतुर्भिर्वकारैश्चतुर्विदिक्स्थितैः मण्डनं शोभा यस्य तच्च तत् पुण्डरीकलक्ष्मोपलक्षितं पञ्चपत्रकमललक्षणोपशोभितं तच्च तत्पारावारमयं क्षीरसागरमयं तच्च तत् खण्डेन्दुमण्डलाकारं अर्द्धचन्द्रमण्डलसदृशं यत् वरुणपुरं वरुणतत्त्वं जलमण्डलमिति यावत् । तत्र वरुणपुरे प्रतिष्ठितः स्थितो योऽसौ प्रचण्डमुद्रः अद्भुतमूर्तिः स चासौ । अग्रहेति । विकीर्णशिशिरतरपयःकणाक्रान्तिकर्बुरितसकलककुप्चक्रः । अस्यायं समासः अग्राः पूज्यतरा या हेतयः किरणा चूर्णजलानि तेषामाक्रान्तिव्याप्तिः तया कर्बुरितं छिन्नं सकलं समग्रं ककुप्चक्रं दिग्मण्डलं येन स तथोक्तः । स चासौ करिमकरः जलगजेन्द्रस्तं आरूढः स चासौ प्रशस्तोऽतिरुचिरो योऽसौ पाशपाणिः स चासौ वरुणः प्रतीचीदिशापालकः तस्य योऽसावमृतमुद्राबन्धः, तेन विधुरितः स्फेटितः निःशेषः समस्तः विषानलसन्तानो येन विषाग्निसमूहो येन, स चासौ वरुणभगवान् पूज्यतरः, स चासौ वरुणः तेन निर्मुक्तो वेष्टितः ध्यानबलेनात्मसात् कृतः उत्सङ्गप्रदेश उत्सङ्गस्थानं येनात्मना स तथोक्तः ।

अर्थ—तथा उस जानुद्वयके उपरि नाभिपर्यन्त अप्तत्त्व है। वहां अति विस्तीर्ण जो सुधासमुद्र (क्षीरसमुद्र) समान शुक्लवर्ण, उल्लासको प्राप्त होते अपने शरीरकी प्रभाके पटल (तेजसमूह)से व्याप्त किया है समस्त आकाशका मध्य भाग जिन्होंने ऐसे वैश्यजातिके, कर्कोट और पद्म हैं नाम जिनके ऐसे दो आशीविष सर्पोंसे वेष्टित अपूमंडल है। और वारुण बीजों (जलके बीजाक्षरों) से शोभित और पुंडरीक अर्थात् पंचपत्रोपलक्षित श्वेत कमलके चिह्नसे चिह्नित पारावारमय कहिये क्षीरसमुद्रमय, खंडेन्दु कहिये अर्द्धचंद्राकारके मंडलके समान, वरुणपुरमें तिष्ठता अतिविस्तीर्ण प्रचंड मुद्रावाला और अग्रहेति कहिये मुख्य किरणोंसे बखेरे हुए अतिशीतल जलके कणोंकी आक्रान्ति (व्याप्ति)से कर्बुरित (नाना वर्णवाला) किया है समस्त दिशाओंका समूह जिसने ऐसा, और करिम कर कहिये—जलहस्ती पर चढ़ा हुआ सुन्दर नागपाश है हाथमें जिसके ऐसा जो वरुण दिक्पाल उसके अमृतकी मुद्राके बन्धसे दूर किया है सम्पूर्ण विषरूप अग्निका समूह जिसने ऐसे समर्थ वरुण दिक्पालके द्वारा रचित है उत्संग (कटिस्थान) स्थान जिसका ऐसा यह गरुडका दूसरा विशेषण है ॥१२॥

आगे गरुडके तीसरे विशेषण अग्नितत्त्वका रूप कहते हैं—

विस्फुरितनिजवपुर्बहुलज्वालावलीपरिकलितसकलदिग्वलयद्विजदन्दशूकरक्षिताशुशुक्षणिवर्णविस्फुरितविस्तीर्णस्वस्तिकोपपन्नत्रिकोणतेजोमयपुरमध्यबद्धवसतिवस्ताधिरूढज्वलदलातहस्तानलमुद्रोद्दीपितसकललोकवह्निविरचितोरःप्रदेश इति वह्नितत्त्वम् ॥१३॥

विस्फुरिता सकलजगद्द्योतकारिणी स चासौ निजवपुर्बहलज्वालावली निजवपुषोः सर्पद्वयशरीरयोर्या बहुलातिप्रचुरतरा ज्वालावली तेजसां श्रेणिस्तया परिकलितं वेष्टितं सकलं समग्रं दिग्वलयं हरिचक्रं याभ्यां द्विजदन्दशूकाभ्यां द्विजजातीयसर्पाभ्यां अनन्त-कुलिकनामभ्यां तौ रक्षणं यस्य तेजोमयपुरस्य तच्च तत् । आशुशुक्षणिवर्णविस्फुरितं अग्निबीजशोभितं रकाराक्षरशोभितं तच्च तत् । विस्तीर्णस्वस्तिकोपपन्नं त्रिकोणेषु महास्वस्तिकचक्रसंयुक्तं त्रिकोणं त्र्यस्रं यत् तेजोमयपुरं अग्निमण्डलं तस्य मध्ये बद्धा विरचिता वसतिः स्थितिर्येन स चासौ वस्तः छागराजः तमधिरूढश्चटितः स चासौ प्रज्वलदलातहस्तः आज्वल्यमानोल्मुककरः स चासावनलमुद्रोद्दीपितसकललोकः अनलमुद्रया अग्निमुद्रया उद्दीपित उद्द्योतितः सकलो निरवशेषो लोको जगत् येन स तथोक्तः ।

स चासावेवंविधविशेषणत्रयविशिष्टो वह्निरग्निदेवता तेन विरचितो ध्यानेन परिकल्पित उरःप्रदेशो हृदयप्रदेशो येनात्मना स तथोक्तः ॥

अर्थ--सर्वत्र फैलती हुई अपने शरीरकी ज्वालाकी पंक्तिसे व्याप्त किया है समस्त दिशाओंका वलय (मण्डल) जिन्होंने ऐसे अनन्त और कुवलिक नाम धारक ब्राह्मण जातिके दो सर्पोंसे रक्षित और रंकाररूप बीजाक्षरसे स्फुरायमान विस्तीर्ण तीन कूटों पर तीन स्वस्तिक (साथिया) सहित ऐसा त्रिकोण तेजोमय देदीप्यमान पुर अग्निमंडल उसके बीचमें बाँधी है वस्ती जिसने ऐसा, तथा वास्ताविरूढ कहिये बकरे पर चढ़ा हुआ, प्रज्वलित आलात कहिये जलता हुआ काष्ठ है हाथमें जिसके ऐसी अग्निकी मुद्रासे समस्त लोकको उद्योत करनेवाले वह्नि दिक्पालसे रक्षित है उरः प्रदेश जिसका ऐसा तीसरा गरुडका विशेषण हुआ। यह अग्नितत्त्वका स्वरूप है ॥१३॥

आगे वायुतत्त्वका रूप कहते हैं—

अविरतपरिस्फुरितफूत्कारमारुतान्दोलितसकलभुवनाभोगपरिभूत-षट्चरणचक्रवालकालिमानिजतनुसमुच्छलद्बहुलकान्तिपटलपिहितनिखिलनभस्तलशूद्रकाद्वेयवलयितमरुन्मुद्रोपपन्नबिन्दुसन्दोहसुन्दरमहामारुतवलयत्रितयात्मकसकलभुवनाभोगवायुपरि-मण्डलनभस्वत्पुरान्तर्गत-वाहनकुरङ्गवेगविहरणदुर्ललितकरतलकलितचलविटपकोटिकिशलयशालशालिमरुन्मुद्रोच्छलित-सकलभुवनपवनमयवदनारविन्द इति वायुतत्त्वम् ॥१४॥

अविरतं निरन्तरं परिस्फुरन् समन्ततो धावन् योऽसौ फूत्कारमारुतः फूत्कारपवनः तेनान्दोलितः कम्पितः योऽसौ सकलः समग्रो भुवनाभोगो जगद्विस्तारस्तेन परिभूता उड्डापिता ये षट्चरणा भ्रमरास्तेषां चक्रवालं मण्डलं तस्येव कालिमा कृष्णत्वं येषां तानि निजतनुसमुच्छलद्बहुलकान्तिपटलानि निजतनुभ्यां समुच्छलन्ती उत्पद्यमाना यासौ बहुला अतिप्रचुरा कान्तिर्दीप्तिस्तस्याः पटलानि समूहास्तैः पिहितमाच्छादितं निखिलं समस्तं नभस्तलं गगनमण्डलं याभ्यां तौ च तौ शूद्रकाद्वेयौ शूद्रजातीयसर्पौ तक्षक-महापद्मनामानौ ताभ्यां वलयितं वेष्टितं तच्च तत् सुरतमुद्रोपपन्नबिन्दुसन्दोहसुन्दरं सुरतस्य सम्भोगस्य या मुदा आलिङ्गनचुम्बनादिव्यापारे क्षणात् तस्यामुत्पन्नाः सञ्जाता ये बिन्दवः प्रस्वेदजलकणास्तेषां सन्दोहः समूहः तेनैव सुन्दरं जलबिन्दुभिर्व्याप्तमित्यर्थः। तच्च तत् महामारुतवलयत्रितयात्मकम्। महान्तोऽतिप्रचण्डा अतिस्थूलतराश्च ये मारुताः पवनास्तेषां वलयत्रितयं योमूत्रिकाकारचक्रवालत्रितयं तत् आत्मा स्वरूपं यस्य तत् महामारुतवलयत्रितयात्मकम्। तच्च तत् सकलभुवनाभोगवायुपरिमण्डलं वातचक्रं तन्मयं यत् नभस्वत्पुरं वायुमण्डलं तस्यान्तर्गतो मध्यस्थितो योऽसौ वाहनकुरङ्गः वाहनसम्बन्धी मृगः। वातप्रमीनामको हरिणः तस्य वेगविहरणे शीघ्रधावने दुर्ललितं अप्रतिहतव्यापारं आस्फालनं कर्कशं यत् करतलं हस्ततलं तेन कलितो धृतो योऽसौ चलविटपकोटिकिशलयशालः चलानि चपलानि विटपकोटिषु कटप्रान्तेषु किशलयानि पल्लवाः यस्य स चासौ शालो वृक्षः तेन शालते शोभते इत्येवं शीला शालशालिनी तादृशी या मरुन्मुद्रा वायुमुद्रा तस्या उच्छलिते उत्पन्ने सकले भुवने समस्ते जगति योऽसौ पवनः तेन निर्वृत्तं तन्मयं कृतं चिन्तितं ध्यानेन परिकल्पितं वदनारविन्दं मुखकमलं येनात्मना स तथोक्तः ॥

अर्थ—निरन्तर स्फुरायमान होता जो फूत्कारसे बहता हुआ पवन, उसके द्वारा कम्पायमान किया जो सकल भुवनका आभोग (मध्य) उसके द्वारा उड़ाये हुए भ्रमरोंके समूहकी कालिमाके

समान तथा उनसे मिली अपने शरीरको उछलती हुई प्रचुर कान्तिके पटल (समूह) से आच्छादित किया है समस्त आकाशमंडल जिन्होंने ऐसे तक्षक और महापद्म शूद्र जातिके दो सर्पोंसे वेष्टित, और मरुत् मुद्रासे मंडित और बिन्दुओं (जलकणों) के समूहसे सुन्दर महा मारुत प्रचंड पवनके वलयके त्रितय (त्रिक) स्वरूप सकल भुवनके मध्यमें वायुके परिमंडल स्वरूप नभस्तलपुटके अन्तर्गत तिष्ठा हुआ ऐसा, और वाहन जो वालप्रमी जातिका हिरण उसके वेगसे विहार करनेमें दुर्ललित (लीलायुक्त) हाथोंसे पकड़े हुए चलायमान शाखाओंके अग्रभागमें किशलय (कोंपल) जिसके ऐसे शालवृक्षकी शोभा सहित, मरुत् मुद्रासे उत्पन्न हुआ सकल भुवनोंमें पवन उसमय है मुखकमल जिसका ऐसा यह गरुडका चौथा विशेषण हुआ; और वायुतत्त्वका स्वरूप कहा गया ॥ १४ ॥

अब इन चारों ही तत्त्वोंसहित गरुडका स्वरूप कहते हैं—

गगनगोचरामूर्त्तजयविजयभुजङ्गभूषणोऽनन्ताकृतिपरमविभुर्नभस्तलनिलीनसमस्ततत्त्वात्मकः समस्तज्वररोगविषधरोड्डामरडाकिनोग्रहयक्षकिन्नरनरेन्द्रारिमारिपरयन्त्रतन्त्रमुद्रामण्डलज्वलनहरिशरभशार्दूलद्विपदैत्यदुष्टप्रभृतिसमस्तोपसर्गनिर्मूलनकारिसामर्थ्यः परिकलितसमस्तगारुडमुद्रामण्डलाडम्बरसमस्ततत्त्वात्मकः सन्नात्मैव गारुडगोगोंचरत्वमवगाहते। इति वियतत्त्वम् ॥ १५ ॥

पुनरपि कथम्भूतः सन् ? अयमात्मा गगनगोचरा मूर्तजयविजयभुजङ्गभूषणः । गगनं वियत् आकाश गोचरो विषयो ययोस्तौ च तौ अमूर्त्तौ ध्यानगम्यौ चक्षुरादीनामविषयौ एवंविधौ यौ जयविजयभुजङ्गौ जयविजयनामानौ केलिहानौ भूषणं मण्डनं यस्यात्मनः स तथोक्तः । एतेनाकाशतत्त्वं सूचितम् । भूयोऽपि कथम्भूतोऽयमात्मा ? अनन्ताकृतिपरमविभुः । अनन्तं व्योम तस्याकृतिराकारो यस्य सोऽनन्ताकृतिः, सचासौ परमविभुः सर्वोत्कृष्टव्यापकः आकाशमयः । अपरं किंविशिष्टः ? नभस्तलनिलीनसमस्ततत्त्वात्मकः । नभस्तले गगनमण्डले निलीनानि स्थितानि समस्तानि विश्वानि पृथ्वी-वरुण-वायुनामानि यानि तत्त्वानि पूर्वोक्तलक्षणोपलक्षितानि चत्वारि तत्त्वानि आत्मा स्वभावो यस्यात्मनः स नभस्तलनिलीनसमस्ततत्त्वात्मकः । अन्यच्च कथम्भूतोऽयमात्मा ? समस्तेत्यादि महागद्यं । समस्ता विश्वे ते च ते रोगाः वातपित्तश्लेष्मोद्भवा व्याधयः आयुर्वेदनिश्चितनामानः । ते च ज्वरश्च एकाहिक-द्व्याहिक-त्र्याहिकादिकः, ज्वरो महारोगत्वात् पृथग्गृहीतः । विषधराश्चानेकभेदनागाः । उड्डामरश्च महती भीतिः । डाकिन्यश्च कुत्सितमन्त्राः स्त्रियः । ग्रहाश्च पिशाचाः शनिप्रभृतयश्च । यक्षाश्च धनदाः । किन्नराश्च अश्वमुखाः । नरेन्द्राश्च राजानः । अरयश्च शत्रवः । मारिश्च मरकः । परेषां मिथ्यादृष्टीनां यन्त्र मन्त्र मुद्रामण्डलानि च ज्वलनश्च दावादिलक्षणः । हरयश्च सिंहाः । शरभाश्च अष्टपदाः । शार्दूलाश्च व्याघ्राः । द्विपाश्च हस्तिनः । दैत्याश्च व्यन्तरादयः । दुष्टाश्च दुर्जनाः कर्णेजपाः ते प्रभृतयो मुख्या येषां शाकिनीब्रह्मराक्षसादीनां तेषां सम्बन्धी समस्तः सर्वः योऽपावुपसर्गः । तस्य निर्मूलनकारि समूलकाषंकाषंकारि सामर्थ्यं बलं यस्यात्मनः स तथोक्तः । अपरं च कथम्भूतः ? । परीत्यादि ॥ परिकलिता स्वसात्कृता या समस्ता पञ्चविधापि वा गारुडमुद्रा तस्या आडम्बर आटोपः परिपूर्णता येषु समस्तेषु तत्त्वेषु तानि च तानि तत्त्वानि आत्मा स्वभावो यस्यात्मनः स तथोक्तः । एवंविध ध्यानाविष्ट आत्मा गरुडो भवति, विषादिसामर्थ्यं निरर्थयतीत्यर्थः ॥ **इति वियत्तत्त्वं समाप्तम् ॥**

अर्थ — आकाशगोचर ही है मूर्ति जिनकी ऐसे जय विजय नामके दो सर्प हैं भूषण जिसके, तथा अनन्ताकृति परमविभु अर्थात् आकाशकी आकृतिस्वरूप सर्वव्यापक, तथा आकाशमंडलमें लीन है पृथ्वि वरुण वह्नि वायुनामा समस्त तत्त्व जिसमें, तथा समस्त, वात पित्त श्लेष्मसे उत्पन्न ज्वर आदि रोग, अनेक जातिके सर्प आदि विषधर जीव, महाभय, डाकिनी, कुत्सित (खोटे) मंत्रकर्तृक ग्रह पिशाच, यक्ष भैरवादि, किन्नर, अश्वमुख व्यंतर, नरेन्द्र (राजा), शत्रु, महामारी, तथा परके किये यन्त्र, तन्त्र, मुद्रामंडल, तथा अग्नि, सिंह, शरभ—अष्टापद शार्दूल, व्याघ्र, हस्ती, दैत्य, व्यन्तरादिक दुष्ट—दुर्जनादिक सबके किये हुए उपसर्गको निर्मूलन करनेवाला है सामर्थ्य जिसका, ऐसा तथा रचा है समस्त गारुड मुद्रामंडलका आडंबर जिसने ऐसा, तथा पृथ्वि आदि तत्त्वस्वरूप हुआ है आत्मा जिसका ऐसा गारुडंगीके नामको अवगाहन करनेवाला गारुड ऐसा नाम आत्मा ही पाता है। **भावार्थ**—पहिले चार तत्त्वोंके रूप कहे सो गरुडतत्त्वके विशेषणरूप कहे गये, उन चारों तत्त्वों सहित यह गरुडतत्त्व है। सो यह आत्माकी ही सामर्थ्यका वर्णन है। यह आत्मा ध्यानके बलसे अनेक सामर्थ्य सहित होता है। उसमें देहका रूप है वह तो सब पुद्गलका रूप है और आत्मा है सो अमूर्तीक ज्ञान आदि गुणोंकी शक्ति स्वरूप है, उसके ध्यानके प्रभावसे अनेक व्यक्तिरूप चेष्टा होती हैं, इस प्रकार जानना ॥ १५ ॥

आगे कामतत्त्वका रूप कहते हैं—

यदि पुनरसौ सकलजगच्चमत्कारिकार्मुकास्पदनिवेशितमण्डलीकृतसरसेक्षुकाण्डस्वरसहितकुसुमसायक विधिलक्ष्यीकृतदुर्लभमोक्षलक्ष्मीसमागमोत्कण्ठितकठोरतरमुनिमनाः। स्फुरन्मकरकेतुः। कमनीयसकलललनावृन्दवन्दितसौन्दर्यरतिकेलिकलापदुर्ललितचेताश्चतुरश्चेष्टितभ्रूभङ्गमात्रवशीकृतजगत्त्रयक्षणसाधनो दुरधिगमागाधगहनरागसागरान्तर्दोलितसुरासुरनरभुजगयक्षसिद्धगन्धर्वविद्याधरादिवर्गः। स्त्रीपुरुषभेदभिन्नसमस्तसत्त्वपरस्परमनःसंघटनसूत्रधारः। विविधवनराजिमञ्जरीपरिमल परिमिलितमधुकरकुलविकसितकुसुमस्तवकतरलितकटाक्षप्रकटसौभाग्येन सहकारलताकिशलयकरोन्मुक्तमञ्जरीपरागपिष्टातकपिशुनितप्रवेशोत्सवेन मदमुखरमधुकरकुटुम्बिनीकोमलालापसंवलितमांसलितकोकिलाकुलक्वणत्कारसंगीतप्रियेण मलयगिरिमेखलावनकृतनिलयचन्दनलतालास्योपदेशकुशलैः सुरतभरखिन्नपन्नगनितम्बिनीजनवदनकवलितशिशिरषि विरहिणीनिश्वासमांसलीकृतकायैः केरलीकुरलान्दोलनदक्षैरुत्कम्पितकुन्तलकामिनीकुन्तलैः परिगतसुरतखेदोन्मिषितलाटीललाटखेदाम्बुकणिकापानदोहदवद्भिरासादितानेकनिर्झरशिशिरशीकरैर्बकुलामोदसन्दर्भनिर्भरैः परिलुण्ठितपाटलासौरभैः परिमिलितनवमालिकामोदैर्मन्दसंचरणशीलैराकुलीकृतसकलभुवनजनमनोभिर्मलयमारुतैः समुल्लसितसौभाग्येन वसन्तसुहृदादूरमारोपितप्रतापः। प्रारब्धोत्तमतपस्तपनश्रान्तमुनिजनप्रार्थितप्रवेशोत्सवेन स्वर्गापवर्गद्वारसंवि-

१ गरुडविद्याको जानै सो गरुड=और गी कहिये शब्दमय सो गारुडगी

घटनवज्रार्गलः सकलजगद्विजयवैजयन्तीकृतचतुरकामिनीभ्रूविभ्रमः । क्षोभणादिमुद्राविशेषशाली । जगद्वशीकरणसमर्थः इति चिन्त्यते तदायमात्मैव कामोक्तिविषयतामनुभवतीति कामतत्त्वम् ॥१६॥

अथेदानीं प्रकाशयितुमनाः यदि पुनरित्याह । यदि चेत् पुनर्भूयोऽपि असौ स्वसंवेदनप्रत्यक्षीभूत आत्मा इति अमुना प्रकारेण चिन्त्यते ध्यायते तदा तस्मिन् काले अयं चिच्चमत्कारलक्षणो ज्ञायकैकस्वभावः आत्मैव नान्यः कोऽपि कामोक्तिविषयतां कामनागोचरतां अनुभवति प्राप्नोति इति क्रियाकारकसम्बन्धः । कथम्भूत आत्मा कथम्भूतः ? ॥

सकलजगदित्यादि ॥ सकलजगतां चमत्कारि स्फुरद्रूपं यत्कार्मुकं तस्य आस्पदे स्थाने निवेशित आरोपितः स चासौ मण्डलीकृतः आकृष्य कुण्डलाकारीकृतः रागलक्षणरससहितत्वात् स्वरसः, स चासौ इक्षुकाण्डः इक्षुदण्डः स च स्वरसहितकुसुमसायकश्चेति द्वन्द्वः समासः इतरेतरलक्षणः । स्वरः शब्दष्टङ्कार इति यावत् । तेन सहिताः संयुक्ता ये कुसुमसायकाः पुष्पबाणाः उन्मादन–मोहन–सन्तापन–शोषण–मारण–लक्षणोपलक्षिताः पञ्च तेषां कार्मुकसायकानां यो विधिर्विधानं आरोपणं न लक्षीकृतं तच्च तत् दुर्लक्ष्यं लक्षयितुमशक्यं, 'ईषद्दुःसु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' ध्यण् प्रत्ययापवादभूतः खल्प्रत्ययः । तच्च तत् मोहलक्ष्मीसमागमोत्कण्ठितं वज्रहेवाकं कठोरतरं दीक्षाकाले पुत्रकलत्र–मित्रस्नेहरहितत्वात् निर्दयं मुनीनां स्व-परसमययतीनां मनश्चित्तं येनात्मना स तथोक्तः । पुनः कथम्भूतोऽयमात्मा ? ॥ **स्फुरदित्यादि** ॥ स्फुरन् भुवनत्रयजनमनस्सु चमत्कुर्वन् मकराकारचित्रशोभितः केतुः उर्ध्वंशो यस्य स स्फुरन्मकरकेतुः । स चासौ कमनीयसकलललनावृन्दवन्दितसौन्दर्यरतिकेलिकलापदुर्ललितचेताः कमनीया मनोनयनहारिण्या याः सकलाः समस्ताः ललना मनोहरकोमलतरशरीरास्तरुण्यः तासां वृन्दैः समूहैर्वन्दितं सौन्दर्यं सौभाग्यं यस्याः सा चासौ रतिः कामभार्या तस्याः केलयः तया सह क्रीडनानि आलिङ्गनचुम्बनादीनि तेषां कलापाः समूहाः तत्र दुर्ललितमनिवारितचेष्टितं चेतो मनो यस्यात्मनः स तथोक्तः । पुनरपि कथम्भूत आत्मा ? ॥ **चतुरेत्यादि** ॥ चतुरचेष्टितं विदग्धचेष्टासहितं यद् भ्रूभङ्गमात्रं भ्रूविक्षेपमात्रं चिल्लीचलनमात्रं तेन वशीकृतं वशमानीतं स्वनाथवशीकृतं यत् जगत्त्रयं स्त्रैणं त्रैलोक्यवनितासमूहः "स्त्रीपुंसाभ्यां नण्स्नञौ" तदेव साधनं सैन्यं यस्यात्मनः स तथोक्तः । पुनरपि किंविशिष्टः ॥ ध्यानेन कन्दर्पीभूतः स आत्मेत्याह– दुरधिगम्येत्यादि ॥ दुरधिगमो दुर्गतः अगाध अतलस्पर्शः, गम्भीर इति यावत् । महनः अविज्ञातमध्यमर्मा । स चासौ रागसागरः राग एव सागरः अप्राप्तपर्यन्तत्वात् तस्य अन्तर्मध्ये दीलितो निर्मथितः कदर्थितः सुरासुरनरभुजगयक्षसिद्धगन्धर्वविद्याधरादिवर्गो येन सुराश्च कल्पवासिनो देवाः असुराश्च भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्काः । नराश्च राजादिलोकाः । भुजगाश्च धरणेन्द्रादयः । शेषा नागादयः । यक्षाश्च धनदादयः । सिद्धाश्च अञ्जनगुटिकादिना लोकमनोरञ्जकाः । गन्धर्वाश्च देवगायनाः । विद्याधराश्च गगनगामिनः । उभयश्रेणीवर्त्तिनः ते आदिर्येषां हरिहरब्रह्मादीनां तेषां वर्गः समूहो येनात्मनः ध्यानविषयिणा स तथोक्तः ॥ पुनरपि कथम्भूत आत्मा ? ॥ **स्त्रीपुरुषेत्यादि** स्त्रियश्च पुरुषाश्च तेषां भेदेन प्रकारैः भिन्ना नानाविधा ये सत्त्वाः तिर्यग्-मनुष्यदेवादयः तेषां परस्परमन्योन्यं मनसां चेतसां सङ्घट्टने मेलने सूत्रधारः विश्वकर्मा ॥ पुनरपि कथम्भूत आत्मा कन्दर्प इत्याह । वसन्तसुहृदा मधुमासमित्रेण दूरमतिशयेन आरोपितप्रतापः स्थापित उत्कर्षित प्रभावः । कथम्भूतेन ॥ वसन्तसुहृदा ! **विविधेत्यादि** विविधा नानाप्रकारा या वनराजयो वनश्रेणयस्तासां परिमलैः सुगन्धैः परिमिलिताः समन्तादागता या मधुकरकुलश्रेण्यः भ्रमर्यः तासां कोमला येऽस्फुटतरशब्दैः संवलिता मिश्रिताः मांसलिता द्विरुक्ता पोषिता ये कोकिलकण्ठस्वराः पुंस्कोकिल शब्दविशेषाः त एव सङ्गीतकानि समीचीनगीतानि प्रियाणि हृदयङ्गमानि यस्य वसन्तहृदस्तेन तथोक्तेन । पुनः कथम्भूतेन वसन्तसुहृदा। मलयमारुतैः । मलयगिरीत्यादि ॥ मलयगिरेश्चन्दनाचलस्य या मेखलास्तटानि कटिन्यः तासु यानि वनानि चन्दनवनानि तेषु कृता निलयाः स्थानानि गन्धसारतरालिङ्गनानि । तामिस्ताश्च ताश्चन्दनलताश्चन्दन-

स्वच्छन्दनर्तनाश्च । तासां लास्योपदेशे नर्तनशिक्षणे कुशलाः प्रवीणा ये मलयमारुतास्तैस्तथोक्तैः ।। पुनरपि कथम्भूतैर्मलयमारुतैः ? सुरतभरखिन्नपन्नगनितम्बिनाजनवदनकवलितशिखैरपि विरहिणीनिःश्वासमांसलीकृतकायैः । सुरतभरेण सम्भोगातिशयेन खिन्नाः खेदप्राप्ताः ये पन्नगनितम्बिनीजनाः नागस्त्रीसमूहाः । सर्पवनितावृन्दानि तेषां वदनानि मुखानि, तैः कवलिता आस्वादिताः शिखा अग्राणि येषां मलयमारुतानां ते तथोक्तास्तैस्तथोक्तैः पूर्वोक्तप्रकारयुक्तैरपि विरहिणीनां विप्रलब्धानां स्त्रीणां निश्वासैः ऊर्ध्वं-मुक्तश्वसितैः मांसलीकृतः स्थूलीकृतः पुनरुक्तः पुष्टिं नीतः कायो येषां मलयमारुतानां ते तथोक्तास्तैस्तथोक्तैः । भूयोऽपि कथम्भूतैर्मलयमारुतैः ? केरलीकुरलान्दोलनदक्षैः केरलदेशस्त्रीणां केशकंपनचतुरैः । अपरं किंविशेषणैर्मलयमारुतैः ? उत्कम्पितकुन्तलकामिनिकुन्तलैः उत्कम्पिता नर्तिताः कुन्तलकामिनीनां कुन्तलदेशस्त्रीणां कुन्तलाः केशा यैस्ते तथोक्तास्तैः । अन्यत्कथम्भूतैर्मलयमारुतैः ? । परिगतेत्यादि ॥ परिगत उत्तम्नः सुरतखेदः संवेशश्रमः तेन उन्मिषितः प्रादुर्भूतो लाटीनां नर्मशालटस्त्रीणां ललाटेषु निटलतटेषु योऽसौ स्वेदः प्रस्वेदजलं तस्य कणिकाश्चूर्णानि तासां पाने आचमने दोहद इच्छा विद्यते येषां ते तद्दोहदवन्तः, तैस्तथोक्तैः । पुनरपि किंलक्षणैर्मलयमारुतैः ? ।। आसादितोऽनेकनिर्झरशिशिरशीकरैः आसादिता अनेकेषां निर्झराणां शिशिराः शीतलाः शीकरा जलकणा यैस्ते तथोक्तास्तैस्तथोक्तैः । भूयोऽपि किंविशिष्टैर्मलयमारुतैः ? बकुलामोदसन्दर्भनिर्भरैः बकुलानां मदगन्धिवृक्षपुष्पाणां आमोदो दूरव्यापिपरिमलस्तस्य सन्दर्भः समूहः तेन निर्भरा अतिशयगन्धवन्तस्ते तथोक्तास्तैस्तथोक्तैः । अपरं च किंविशिष्टैर्मलयमारुतैः ? । परिलुंटितपाटलासौरभैः । परिलुंटितं लूषितं पाटलानां वसन्तदूतीपुष्पाणां सौरभं सौगन्ध्यं यैस्ते तथोक्तास्तैस्तथोक्तैः । पुनरपि किंलक्षणैर्मलयमारुतैः ? परिमिलितनवमालिकामोदैः । परि समंताद् मिलितो नवमालिकानां वनमालिनीनां, नमालीनामिति यावत् । आमोदः परिमलो यैस्ते तथोक्तास्तैः । पुनः किंविशिष्टैर्मलयमारुतैः ? मन्दसंचरणशीलैः शनैर्गमनस्वभावैः । पुनः कथम्भूतैर्मलयमारुतैः ? आकुलीकृतसकलभुवनजनमनोभिः । अनाकुलानि आकुलानि कृतानि विषयलम्पटानि कृतानि सकलस्य समस्तस्य भुवनजनस्य त्रैलोक्यलोकस्य मनांसि चित्तानि यैस्ते तथोक्तास्तैः । एवंविधमलयमारुतैः समुल्लसितसौभाग्येन वसन्तसुहृदा दूरमारोपितप्रतापः । कन्दर्पभूत आत्मा कथम्भूतः ? । प्रारब्धोत्तमतपस्तमश्रान्तमुनिजनप्रार्थितप्रवेशोत्सवेन कृत्वा स्वर्गापवर्गद्वारविघटनवज्रार्गलः । प्रारब्धं उत्तमं निरतिचारं जैनं वा यत्तपोदीक्षालक्षणं तेन पूर्वं तमाः पश्चात् श्रान्ताः खेदखिन्ना जाता ये मुनिजना यतिवर्गास्तैः प्रार्थितो याचितोऽभिलषितः प्रवेशोत्सवः समागमनमहोत्सवस्तेन करणभूतेन हेतुना कृत्वा स्वर्गापवर्गद्वारविघटनवज्रार्गलः स्वर्गश्च त्रिषष्टिपटलमेदभिन्नः । अपवर्गश्च परमनिर्वाणं तयोर्द्वारं व्यवहारनिश्चयरत्नत्रयलक्षणं तस्य विघटने विशेषेण संघटने निश्छिद्रतया झंपने वज्रार्गलः वज्रमयं अर्गलं काष्ठमयो लोहमयो दण्डः स्वर्गं मोक्षं वा गन्तुं न ददाति दीक्षाभङ्गेन प्रायो नरक एव भवतीति कारणात् अर्गला अर्गलं चेत्यतस्य प्रधानत्वात् पुंस्त्वं निरूपितम् । पुनरपि कथम्भूतः ? ध्यानेन कामभूत आत्मा सकलजगद्विजयवैजयन्तीकृतचतुरकामिनीभ्रूविभ्रमः सकलजगद्विजयेन समस्तत्रैलोक्यभङ्गेन वैजयन्तीकृतो ध्वजीकृतः चतुरकामिनीनां विदग्धसुन्दरीणां भ्रूविभ्रमविलासाटोपो येन आत्मना स तथोक्तः । भूयोऽपि कथम्भूत आत्मा ? । क्षोभणादिमुद्रा विशेषशाली । क्षोभणं चित्तादिचालनं आदिर्येषां मोहनवशीकरणोच्चाटनादीनां तेषां ये मुद्राविशेषाः आकारभेदास्ते शालते शोभत इत्येवंशीलः क्षोभणादिमुद्राविशेषशाली । शाहृ शोभायां णिनप् । पुनरपि कथम्भूतः ? । आत्मा सकलजगद्वशीकरणसमर्थः । सकलस्य जगतस्त्रैलोक्यस्य वशीकरणेनाथवद्विधाने समर्थः क्षमः स तथोक्तः । इति यदा आत्मा चिन्त्यते तदायं आत्मैव कामोक्तिविषयतामनुभवतीति क्रियाकारकसंबन्धः ॥

अर्थ—पुनः यदि कामतत्त्व चितमें ध्याया जाय वा विचारा जाय तो ऐसा है–'असौ' कहिये स्वसंवेदनगोचर सकल जगतको चमत्कार करने वाले धनुषके स्थानमें निवेशित किया और खींच कर कुंडलाकार किया हुआ रस सहित इक्षुकांडके समान स्वर सहित उन्मादन, मोहन, संतापन, शोषण,

मारण इन पांच बाणोंकी विधि (आरोपण) से लक्ष्यरूप(निसानेरूप) किया है दुर्लभ परोक्ष मोक्षलक्ष्मीके समागम होनेके लिये उत्कंठित अतिकठोर मुनियोंका मन जिसने ऐसा काम है। तथा—स्फुरायमान मकराकार चित्रित ध्वजा है जिसको, और कमनीय—सुंदर समस्त स्त्रियोंके समूह द्वारा वंदनीय है सुंदरता जिसकी ऐसी रतिनामा कामकी स्त्री सहित जो केलि (क्रीड़ा) उसके कलापमें (समूहमें) दुर्ललित है (अनिवार्य है) चित्त जिसका ऐसा है। तथा—चतुरोंकी चेष्टारूप भ्रूभंगमात्रसे वशीभूत किया स्त्रियोंका समूह ही है साधन सेना जिसके ऐसा है। पुनः दुरधिगम, अगाध (गहन) है मध्य भाग जिसका ऐसे विस्तृत रागरूप समुद्रमें डुलाये हैं सुर (कल्पवासी देव), असुर (भुवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी देव), नर (राजादि लोक), भुजग—धरणेन्द्र (शेषनागादिक), यक्ष (धनदादिक), सिद्ध (जिनके अंजगुनटिका रसायनादि विद्या सिद्ध हो) लोकको रंजायमान करनेवाले गन्धर्व (गानके अधिकारी देवादिक), विद्याधर (आकाशमें विमानों द्वारा चलनेवाले; हरिहरब्रह्मादिकके समूह जिसने ऐसा, तथा स्त्रीपुरुषके भेदसे भिन्न समस्त प्राणियोंके मन मिलानेके लिये सूत्रधार (शिक्षा देनेवाला आचार्य) है। तथा वसन्तऋतुरूपी मित्रने अतिशयरूप कर दिया है प्रताप जिसका ऐसा, क्योंकि वह वसन्तऋतु ऐसा है कि—विविध प्रकारकी वनकी पंक्तिके सुगन्धित परागमें मिले भ्रमरोंके समूह जिसमें ऐसे प्रफुल्लित पुष्पोंके गुच्छेरूपी चंचल कटाक्षोंसे प्रगट है सौभाग्यसुंदरता जिसकी, तथा—सहकारलता (आमकी मंजरी) के किशलय (अंकुर) रूपी हाथोंसे बखेरा है मंजरीका पराग वही हुआ पिष्टा तक (सुगंधित अबीर)उसके द्वारा प्रगट किया है अपने प्रवेशका उत्सव जिसने ऐसा, तथा—मदसे वाचालित भ्रमरियोंके कोमल शब्दोंके मिलनेसे पुष्ट हुए कोकिलाओंके समूहोंके शब्दरूपी संगीत हैं प्रिय जिसको ऐसा तथा—मलयाचलके सुगंधित पवनसे उदय हुआ है सौभाग्य जिसका, वह मलयाचलका सुगंधित पवन कैसा है कि—मलयगिरिके चौतरफके वनमें रहनेवाले चंदनकी लतामंजरीको नृत्यके उपदेश देनेमें प्रवीण है, अर्थात् पवनसे चंदनलतायें हिलती हैं उसकी उत्प्रेक्षा की गई है कि मानो पवन है सो इन लताओंको नृत्यकी शिक्षा दे रहा है। तथा फिर कैसा है मलयाचल का पवन कि—संभोगकी अतिशयतासे खेदखिन्न जो सर्पोंकी सर्पिणी उनके मुखसे ग्रासीभूत होगई है शिखा जिनकी तो भी विरहिणी जो विप्रलब्धा वियोगिनी स्त्री उनके निश्वासोंसे पुष्ट हुआ है काय जिसका ऐसा, तथा—केरलीज अर्थात् केरलदेशकी स्त्रियोंके कुरलोंको (मुखके जलक्षेपणको) कंपित करनेमें चतुर है—तथा—उत्कंपित किये हैं कुंतलदेशकी स्त्रियोंके केश जिसने तथा प्राप्त हुए संभोगके खेदसे उत्पन्न हुए लाटदेशकी स्त्रियोंके ललाटस्थ पसीनेके जलकणोंके पान करनेमें इच्छावान् है तथा—ग्रहण किये हैं अनेक निर्झरके शीतल जलके कण जिसने, तथा बकुलसिरी (मौलसिरी) आदि सुगंधित वृक्षोंके आमोदित परागोंके समूहसे भरा हुआ—फिर कैसा है पवन? कि समस्त प्रकार लूट लिया है पाटलवृक्षोंका सौरभपराग जिसने—तथा संपूर्णतासे मिला है मालतीका सुगंध जिसमें तथा मंद संचरण करनेका है स्वभाव जिसमें तथा विषयोंमें आकुलित किया है समस्त भुवनोंके जीवोंका मन जिसने, ऐसे मलयके पवनसे वसंत ऋतुको सुगमता प्रगट होती है फिर

कैसा है काम ?- आरंभ किया जो उत्तम तप उसको तपनेसे खेद खिन्न हुए मुनिजनों द्वारा वांछित जो प्रवेशका उत्सव उसके द्वारा स्वर्ग मोक्षके द्वारका जो उघड़ना (खुलना) उसमें वज्रमयी अर्गलाके समान है, अर्थात् मुनिजनोंके स्वर्गमोक्षके प्रवेशद्वारको बंद करनेवाला है। तथा—समस्त जगतको जीतनेकी वैजयन्ती ध्वजारूप किया है चतुर स्त्रियोंके भौंहरूपी विभ्रमको जिसने ऐसा तथा—क्षोभण कहिये चित्तके चलने आदि मुद्राविशेषमें (आकारविशेषमें) शाली कहिये चतुर है, अर्थात् समस्त जगतके चित्तको चलायमान करनेवाले आकारोंको प्रगट करनेवाला है। इस प्रकार समस्त जगतको वशीभूत करनेवाले कामकी कल्पना करके अन्यमती जो ध्यान करते हैं, सो यह आत्मा ही कामकी उक्ति कहिये नाम वा संज्ञाको धारण करनेवाला है ॥ १६ ॥

अब उक्त प्रकारकी तीन तत्त्वरूपी समस्त चेष्टायें इस आत्माकी ही हैं ऐसा कहते हैं—

तदेवं यदिह जगति शरीरविशेषसमवेतं किमपि सामर्थ्यमुपलभामहे तत्सकलमात्मन एवेति विनिश्चयः। आत्मप्रवृत्तिपरंपरोत्पादितत्वाद्विग्रहग्रहणस्येति ॥१७॥

ततस्तस्मात् कारणात्। एवं अमुना प्रकारेण यदि चेत् जगति संसारे शरीरविशेषसमवेतकायभेदेषु समवायमागतं किमपि किंचिदपि सामर्थ्यं समर्थतां वयमुपलभामहे पश्यामः। तत्सकलं समस्तं आत्मन एव सामर्थ्यं वर्तते। नान्यस्य शरीरादेः इति निश्चयो निर्द्धारः। इदं सामर्थ्यं आत्मन एव कथंइति प्रश्ने सति हेतुमाह। **आत्मप्रवृत्तिपरम्परेत्यादि तत्त्वाद्विग्रहग्रहणस्येति।** आत्मनो जीवस्य या प्रवृत्तिर्मनोवचनकायावलम्बनेन चेष्टितानि तेषां परम्परा श्रेणिः सन्तानः तया उत्पादितत्वात्। कस्य ? विग्रहग्रहणस्य। शरीरग्रहणस्य यत् आत्मा शरीरं गृह्णाति तत् आत्मनः अशुद्धपरिणाममाहात्म्यं विशुद्धपरिणामैस्त्वात्मनो मोक्ष एव स्यादिति।

यदिह जगति। **किंचिदित्यादि** सुगमम्।

आचार्यैरिह शुद्धतत्त्वमतिभिः श्रीसिंहनन्द्याह्वयैः सम्प्रार्थ्य श्रुतसागरं कृतिवरं भाष्यं शुभं कारितम् ॥
गद्यानां गुणवत्प्रियं विनयतो ज्ञानार्णवस्यांतरे विद्यानन्दिगुरुप्रसादजनितं देयादमेयं सुखम् ॥

॥ इति श्रीज्ञानार्णवस्थितगद्यटीकातत्त्वत्रयप्रकाशिता समाप्ता ॥

टीकाकार का निवेदन-प्रशस्ति

बुद्धिमान् शुद्ध तत्त्व जाननेवाले आचार्य 'श्रीसिंहनन्दि' ने 'श्रुतसागर' की प्रार्थनासे मान देकर गद्यात्मक विभागका यह ज्ञानार्णवका भाष्य सर्वगुण सम्पन्न रचा है, जो 'विद्यानन्दि' गुरुजीके प्रसादसे तैयार हुआ है वह सभीको असीमित सुख देवो।

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि—इस कारणसे पूर्वोक्त प्रकार शिवतत्त्व—गरुडतत्त्व—कामतत्त्वमें इस जगतमें शरीरविशेषसे मिली हुई जो कुछ सामर्थ्य हम देखते हैं सो सब आत्माकी ही हैं। यह हमको भले प्रकार निश्चय है। क्योंकि, शरीरके ग्रहण करनेमें आत्माकी प्रवृत्तिको परंपरा (परिपाटी) को उत्पत्तिहेतुता है। **भावार्थ**—यह आत्मा जैसी शुभ तथा अशुभ तथा अशुद्ध ध्यानादिरूपी प्रवृत्ति करता है वैसे ही विचित्ररूप शरीर धारण करता है। और वैसी ही अपने सामर्थ्यरूप अनेक चेष्टायें करना उसका फल होता है ॥ १७ ॥

आगे आत्माका वर्णन पद्यसे कहते हैं—

मालिनी

यदिह जगति किञ्चिद्विस्मयोत्पत्तिबीजं
भुजगमनुजदेवेष्वस्ति सामर्थ्यमुच्चैः।
तदखिलमपि मत्वा नूनमात्मैकनिष्ठे
भजत नियतचित्ताः शश्वदात्मानमेव ॥१८॥

अर्थ—हे भव्य जीवो! इस जगतमें जो कुछ अधोलोकमें भवनवासी देवोंकी, मध्यलोकमें मनुष्योंकी और ऊर्ध्वलोकमें देवोंकी सामर्थ्य विस्मय उत्पन्न करने का कारण है सो सब ही सामर्थ्य निश्चय करके इस एक आत्मामें ही है; इस कारण हम उपदेश करते हैं कि निश्चलचित्त हो कर, तुम एक आत्माको ही निरन्तर भजो। भावार्थ—आत्मा अनंत शक्तिका धारक है, सो इसको जिस प्रकार वा जिस रीतिसे प्रगट किया जावे उसी प्रकारसे यह आत्मा व्यक्तरूप (प्रगट) होता है ॥१८॥

अचिन्त्यमस्य सामर्थ्यं प्रवक्तुं कः प्रभुर्भवेत्।
तच्च नानाविधध्यानपदवीमधितिष्ठति ॥१९॥

अर्थ—इस आत्माकी शक्ति अचिन्त्य है। उसको प्रगट करनेको कोई समर्थ नहीं है। यह शक्ति (सामर्थ्य) नाना प्रकारके ध्यानकी पदवीके आश्रयसे होती है अर्थात् नाना प्रकारके ध्यानसे ही आत्माकी अचिन्त्य शक्तियाँ प्रगट होती हैं ॥१९॥

इन्द्रवज्रा

तदस्य कर्तुं जगदङ्घ्रिलीनं तिरोहिताऽऽस्ते सहजैव शक्तिः।
प्रबोधितस्तां समभिव्यनक्ति प्रसह्य विज्ञानमयः प्रदीपः ॥२०॥

अर्थ – पूर्वोक्त आत्माकी सामर्थ्य इस जगतको अपने पदमें (प्रभावमें) लीन करनेको स्वभाव स्वरूप ही है, परंतु वह कर्मोंसे आच्छादित है। विज्ञानरूप उत्कृष्ट दीपकको प्रज्वलित करनेसे वह उस शक्तिको प्रगट (स्वानुभवगोचररूप) करता है। भावार्थ—आत्माकी शक्तियाँ सब स्वाभाविक हैं। सो अनादिकालसे कर्मोंके द्वारा ढकी हुई हैं। ध्यानादिक करनेसे प्रगट होती हैं। सब नई उत्पन्न हुई दीखती हैं। सो ज्ञानरूपी दीपकके प्रकाशित होने पर प्रगट होती हैं। परकी की हुई वस्तुमें कोईभी शक्ति नहीं होती, अन्य निमित्तसे उत्पन्न होने पर जो अन्यसे हुई मानते हैं सो भ्रम है, वे पर्यायबुद्धि हैं जब वस्तुका स्वरूप द्रव्यपर्यायस्वरूप जानें तब भ्रम नहीं रहता ॥२०॥

अथवा अन्यपक्ष है कि—

अयं त्रिजगतीभर्ता विश्वज्ञोऽनन्तशक्तिमान्
नात्मानमपि जानाति स्वस्वरूपात्परिच्युतः ॥२१॥

अर्थ—यह आत्मा तीन जगतका भर्ता (स्वामी) है, समस्त पदार्थोंका ज्ञाता है, अनन्तशक्ति-

वाला है, परंतु अनादिकालसे अपने स्वरूपसे च्युत हो कर अपने आपको नहीं जानता। **भावार्थ-**यह अपनी ही भूल है अर्थात् कर्मके पक्षसे यह दूसरा अज्ञान पक्ष बताया गया है ॥२१॥

अनादिकालसम्भूतैः कलङ्कैः कश्मलीकृतः।
स्वेच्छयार्थान्समादत्ते स्वतोऽत्यन्तविलक्षणान् ॥२२॥

अर्थ—यह आत्मा अनादिसे उत्पन्न कलंकसे मलिन किया हुआ अत्यन्त विलक्षण अपनेसे भिन्न पदार्थोंको स्वेच्छासे ग्रहण करता है। **भावार्थ-**पदार्थोंमें रागद्वेष मोहसे अहंकार ममकार इष्टानिष्ट आदि बुद्धि करता है ॥२२॥

दृग्बोधनयनः सोऽयमज्ञानतिमिराहतः।
जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ॥२३॥

अर्थ—यह आत्मा दर्शन ज्ञान नेत्रवाला हैं, परंतु अज्ञानरूपी अंधकारसे व्याप्त हो रहाहै इस कारण जानता हुआ भी नहीं जानता और देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता ॥२३॥

अविद्योद्भूतरागादिगरव्यग्रीकृताशयः।
पतत्यनन्तदुःखाग्निप्रदीप्ते जन्मदुर्गमे ॥२४॥

अर्थ—अविद्या (मोह) से उत्पन्न रागादिकरूपी विकारसे व्यग्र चित्त होनेसे यह आत्मा दुःखरूपी अग्निसे जलते हुए दुर्गम संसारमें पड़ता है ॥२४॥

लोष्टेष्वपि यथोन्मत्तः स्वर्णबुद्ध्या प्रवर्त्तते।
अर्थेष्वनात्मभूतेषु स्वेच्छयाऽयं तथा भ्रमात् ॥२५॥

अर्थ—जैसे धतूरा खाया उन्मत्त पुरुष पत्थरादिकमें सुवर्णबुद्धिसे प्रवृत्ति करता है उसी प्रकार यह आत्मा अज्ञानसे अपने स्वरूपसे भिन्न अन्य पदार्थोंमें स्वेच्छाचाररूप प्रवृत्ति करता है। **भावार्थ** उनसे रागद्वेष मोह करता है ॥२५॥

वासनाजनितान्येव सुखदुःखानि देहिनाम्।
अनिष्टमपि येनायमिष्टमित्यभिमन्यते ॥२६॥

अर्थ—जीवोंके जो सुखदुःख हैं वे अनादि अविद्याकी वासनासे उत्पन्न हुए है इसी कारण यह आत्मा अज्ञानसे अनिष्टको भी इष्ट मानता है। **भावार्थ-**संसारसंबंधी सुख दुःख हैं वे कर्मजनित होनेके कारण अनिष्ट ही हैं तथापि यह आत्मा उनको इष्ट मानता है ॥२६॥

अविश्रान्तमसौ जीवो यथा कामार्थलालसः।
विद्यतेऽत्र यदि स्वार्थे तथा किं न विमुच्यते ॥२७॥

अर्थ—यह आत्मा जिस प्रकार काम और अर्थके लिये अविश्रान्त परिश्रम करता है उस प्रकार यदि अपने स्वार्थ अर्थात् मोक्ष वा मोक्षमार्गमें लालसासहित प्रवृत्ति करे तो क्या यह कर्मोंसे मुक्त न हो! अवश्य ही हो ॥२७॥

इस प्रकार इस त्रितत्त्वके प्रकरणमें तात्पर्य है कि इन तीन तत्त्वोंकी जो चेष्टा कही गई सो सब इस आत्माकी ही चेष्टा है। और वे सब ध्यान करनेसे प्रगट होती हैं इस कारण आत्माके ध्यान करनेका विधान है। सो ऐसा ही करना चाहिये। मिथ्याकल्पना किस लिये करनी! मिथ्याकल्पाओंसे कुछ लौकिक चमत्कार हो तो हो सकता है परंतु उससे मोक्षका साधन नहीं होता। इस कारण ऐसा ध्यान ही करना उत्तम है जिससे मोक्ष और सांसारिक अभ्युदय प्रगटे इस प्रकार उपदेश है।

कवित्त-घनाक्षरी।

शिव काम विपतत्त्व ध्यान थापि अन्यमती। मानैं हम स्वर्ग मोक्ष साधै हैं विधानतैं
शिव कौन काम कौन विष कौन यह मर्म, जानै नाहि याथातथ्य भ्रमैं ते अज्ञानतैं
जैनवानी स्याद्वाद वस्तुरूप सत्य कहै, सब रूप आत्माके शक्तिव्यक्तिमानतैं
पुद्गलसंयोगतैं अनादि भूलि कर्मवशि, इवी शक्ति ध्यान खोलै आपापर जानतैं॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे त्रितत्त्ववर्णनं नाम एकविंशं प्रकरणम् ॥२१॥

---

२२. अथ द्वाविंशः सर्गः

मनके व्यापारको रोकनेका वर्णन

आगे अन्यमती ध्यानकी सिद्धि यमनियमादिक योगसाधनसे कहते हैं और आचार्य महाराज कहते हैं कि यमनियमादिक तो पूर्वाचार्योंने अन्य वस्तुमें व्यापार रोक, स्वरूपमें लीन करनेके लिये कहे हैं। अन्यमती जिस प्रकार कहने हैं वैसे स्वार्थसिद्धि नहीं होती ऐसा वर्णन करते हैं। सो अन्यमतियोंका संस्कृतसूत्र जिस प्रकार है वह आचार्य महाराज कहते हैं।

"अथ कैश्चिद्यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय इत्यष्टावङ्गानि योगस्य स्थानानि ॥१॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते है कि कई अन्यमती" यम १, नियम २, आसन ३, प्राणायाम ४, प्रत्याहार ५, धारणा ६, ध्यान ७, और समाधि ८, इस प्रकार आठ अंग योगके स्थान हैं,, ऐसा कहते हैं ॥१॥

इसी प्रकार अन्यने भी कहा है, जैसे—

तथान्यैर्यमनियमावपास्यासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय इति षट् ॥२॥

अर्थ—वैसे ही अन्य कई अन्यमतियोंने यम नियमको छोड़ कर आसन १, प्राणायाम २, प्रत्याहार ३, धारणा ४, ध्यान ५ और समाधि ६ ये छह ही कहे है ॥२॥

तथान्यैः—

इसी प्रकार फिर अन्यने अन्य प्रकार कहा है। उसका पाठ—

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात्सन्तोषात्तत्त्वदर्शनात् ।
मुनेर्जनपदत्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥१॥

अर्थ—उत्साहसे, निश्चयसे, धैर्यसे, संतोषसे, तत्त्वदर्शनसे, देशके त्यागसे, योगकी सिद्धि होती है ॥१॥ फिर कोई एक इस प्रकार कहता है—

एतान्येवाहुः केचिच्च मनःस्थैर्याय शुद्धये ।
तस्मिन्स्थिरीकृते साक्षात्स्वार्थसिद्धिर्ध्रुवं भवेत् ॥२॥

अर्थ—कोई ऐसे कहते हैं कि ये यमादिक कहे हैं सो मनको स्थिर करनेके लिये तथा मनकी शुद्धताके लिये कहे है क्योंकि, मनके स्थिर होनेसे साक्षात्सर्वसिद्धि होती है ॥२॥

तथा फिर भी कहते हैं—

यमादिषु कृताभ्यासो निःसंगो निर्ममो मुनिः ।
रागादिक्लेशनिर्मुक्तं करोति स्ववशं मनः ॥३॥

अर्थ—जिसने यमादिकमें अभ्यास किया है, परिग्रह और ममतासे रहित है ऐसा मुनि ही अपने मनको रागादिकसे निर्मुक्त तथा अपने वशमें करता है ॥३॥

अब पूर्वाचार्योंकी उक्ति कहते है कि—

अष्टावङ्गानि योगस्य यान्युक्तान्यार्यसूरिभिः ।
चित्तप्रसत्तिमार्गेण बीजं स्युस्तानि मुक्तये ॥४॥

अर्थ—योगके जो आठ अंग पूर्वाचार्योंने कहे है वे चित्तकी प्रसन्नताके मार्गसे मुक्तिके लिये बीजभूत (कारण) होते हैं, अन्य प्रकारसे नहीं होते इस प्रकार पूर्वाचार्योंने कहा है ॥४॥

अङ्गान्यष्टावपि प्रायः प्रयोजनवशात्क्वचित् ।
उक्तान्यत्रैव तान्युच्चैर्विदांकुर्वन्तु योगिनः ॥५॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि ये आठो अंग भी प्रयोजनानुसार प्रायः इस ग्रंथमें भी कहे गये हैं, उन्हें भले प्रकार सबको जानना चाहिये ॥५॥

अब मनोरोधका वर्णन करते हैं —

मनोरोधे भवेद्रुद्धं विश्वमेव शरीरिभिः ।
प्रायोऽसंवृतचित्तानां शेषरोधोऽप्यपार्थकः ॥६॥

अर्थ—जिसने मनका रोध किया उसने सब ही रोका, अर्थात् जिसने मनको वश किया उसने सबको वश किया और जिसने अपने मनको वशीभूत नहीं किया उसका अन्य इन्द्रियादिकका रोकना भी व्यर्थ ही है ॥६॥

अब मनके व्यापारका वर्णन करते हैं—

कलङ्कविलयः साक्षान्मनःशुद्धयैव देहिनाम् ।
तस्मिन्नपि समीभूते स्वार्थसिद्धिरुदाहृता ॥ ७ ॥

अर्थ—मनकी शुद्धतासे ही साक्षात् कलंकका विलय होता है और जीवोंके उनका स्वभावस्वरूप होने पर स्वार्थकी सिद्धि कही है, क्योंकि जब मन रागद्वेषरूप नहीं प्रवर्तता तब ही अपने स्वरूपमें लीन होता है, यही स्वार्थकी सिद्धि है ॥७॥

चित्तप्रपञ्चजानेकविकारप्रतिबन्धकाः ।
प्राप्नुवन्ति नरा नूनं मुक्तिकान्ताकरग्रहम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जो पुरुष चित्तके प्रपंचसे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके विकारोंको रोकनेवाले हैं वे ही निश्चयतः मुक्तिरूपी स्त्रीके करग्रहणको प्राप्त होते हैं। भावार्थ—ऐसे पुरुषोंसे ही मुक्तिरूपी स्त्री विवाहित होती है ॥८॥

अतस्तदेव संरुध्य कुरु स्वाधीनमञ्जसा ।
यदि छेत्तुं समुद्युक्तस्त्वं कर्मनिगडं दृढम् ॥ ९ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि अतएव हे भव्यात्मन्! यदि तू कर्मरूपी दृढ बेड़ियोंको काटनेके लिये उद्यमी हुआ है तो उस मनको ही समस्त विकल्पोंसे रोक कर शीघ्र ही अपने वशमें कर।९।

सम्यगस्मिन्समं नीते दोषा जन्मभ्रमोद्भवाः ।
जन्मिनां खलु शीर्यन्ते ज्ञानश्रीप्रतिबन्धकाः ॥ १० ॥

अर्थ—इस मनको भले प्रकार समभावरूप प्राप्त करनेसे जीवोंके ज्ञानरूपी लक्ष्मीके प्रतिबन्धक संसारके भ्रमणसे उत्पन्न हुए दोष निश्चय करके नष्ट हो जाते हैं ॥१०॥

एक एव मनोदैत्यजयः सर्वार्थसिद्धिदः ।
अन्यत्र विफलः क्लेशो यमिनां तज्जयं विना ॥ ११ ॥

अर्थ—संयमी मुनियोंको एक मात्र मनरूपी दैत्यका जीतना ही समस्त अर्थोंकी सिद्धिका देनेवाला है; क्योंकि इस मनको जीते विना अन्य व्रत नियम तप व शास्त्रादिकमें क्लेश करना व्यर्थ ही है ।११।

एक एव मनोरोधः सर्वाभ्युदयसाधकः ।
यमेवालम्ब्य संप्राप्ता योगिनस्तत्त्वनिश्चयम् ॥ १२ ॥

अर्थ—एक मनका रोकना ही समस्त अभ्युदयोंका साधनेवाला है, क्योंकि मनोरोधका आलंबन करके ही योगीश्वर तत्त्वनिश्चयताको प्राप्त हुए हैं ॥१२॥

पृथक्करोति यो धीरः स्वपरावेकतां गतौ ।
स चापलं निगृह्णाति पूर्वमेवान्तरात्मनः ॥ १३ ॥

अर्थ—जो धीरवीर पुरुष एकताको प्राप्त हुए आत्मा और शरीरादि परवस्तुको पृथक् २ करके अनुभव करते हैं वे सबसे पहिले अन्तरात्माकी अर्थात् मनकी चंचलताको रोक लेते हैं ॥१३॥

मनःशुद्ध्यैव शुद्धिः स्याद्देहिनां नात्र संशयः ।
वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम् ॥ १४ ॥

अर्थ—निःसंदेह मनकी शुद्धिसे ही जीवोंके शुद्धता होती है, मनकी शुद्धिके विना केवल कायको क्षीण करना वृथा है ॥१४॥

ध्यानशुद्धिं मनःशुद्धिः करोत्येव न केवलं ।
विच्छिनत्त्यपि निःशङ्कं कर्मजालानि देहिनाम् ॥ १५ ॥

अर्थ— मनकी शुद्धता केवल ध्यानकी शुद्धताको ही नहीं करती है किन्तु जीवों के कर्मजाल (कर्मोंके समूह) को भी निःसंदेह काटती है। भावार्थ-मनकी शुद्धतासे ध्यानकी निर्मलता भी होती है और कर्मोंकी निर्जरा भी होती है ॥१५॥

पादपङ्कजसंलीनं तस्यैतद्भुवनत्रयम् ।
यस्य चित्तं स्थिरीभूय स्वस्वरूपे लयं गतम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जिस मुनिका मन स्थिर हो कर आत्मरूपमें लीन हो गया उसके चरणकमलोंमें यह तीनों जगत् भले प्रकार लीन हुए समझने चाहिये ॥१६॥

मनः कृत्वाशु निःसङ्गं निःशेषविषयच्युतम् ।
मुनिभृङ्गैः समालीढं मुक्तेर्वदनपङ्कजम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिन मुनिरूपी भ्रमरोंने अपने मनको निःसंगतासे शीघ्र ही समस्तविषयोंसे छुड़ाया उन्होंने ही मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखरूपी कमलका आलिंगन किया ॥१७॥

यथा यथा मनःशुद्धिर्मुनेः साक्षात्प्रजायते ।
तथा तथा विवेकश्रीर्हृदि धत्ते स्थिरं पदम् ॥ १८ ॥

अर्थ—मुनिके जैसे २ मनकी शुद्धता साक्षात् होती जाय वैसे २ विवेक अर्थात् भेदज्ञानरूप लक्ष्मी अपने हृदयमें स्थिरपदको धारण करती है। भावार्थ-मनकी शुद्धतासे उत्तरोत्तर विवेक बढ़ता है।१८।

चित्तशुद्धिमनासाद्य मोक्तुं यः सम्यगिच्छति ।
मृगतृष्णातरङ्गिण्यां स पिबत्यम्बु केवलम् ॥ १९ ॥

अर्थ जो पुरुष चित्तकी शुद्धताको न पा कर भले प्रकार मुक्त होना चाहता है वह केवल मृगतृष्णाकी नदीमें जल पीता है। भावार्थ-मृगतृष्णामें जल कहांसे आया? उसी प्रकार चित्तकी शुद्धताके बिना मुक्ति कहांसे हो? ॥१९॥

तद्ध्यानं तद्धि विज्ञानं तद्ध्येयं तत्त्वमेव वा ।
येनाविद्यामतिक्रम्य मनस्तत्त्वे स्थिरीभवेत् ॥ २० ॥

अर्थ—वही तो ध्यान है, वही विज्ञान है और वही ध्येय तत्त्व है कि जिसके प्रभावसे अविद्याको उलंघ कर मन निजस्वरूपमें स्थिर हो जाय ॥२०॥

विषयग्रासलुब्धेन चित्तदैत्येन सर्वथा ।
विक्रम्य स्वेच्छयाजस्रं जीवलोकः कदर्थितः ॥२१॥

अर्थ — विषय ग्रहण करनेमें लुब्ध ऐसे इस चित्तरूपी दैत्य (राक्षस) ने सर्व प्रकार विक्रिया करके विकाररूप हो अपनी इच्छानुसार इस जगतको पीडित किया है ॥२१॥

अवार्यविक्रमः सोऽयं चित्तदन्तो निवार्यताम्
न यावद्ध्वंसयत्येष सत्संयमनिकेतनम् ॥२२॥

अर्थ—हे मुने ! यह चित्तरूपी हस्ती ऐसा प्रबल है कि इसका पराक्रम अनिवार्य है, सो जब तक यह समीचीन संयमरूपी घरको नष्ट नहीं करता, उससे पहिले २ तू इसका निवारण कर यह चित्त निरर्गल (स्वच्छन्द) रहेगा तो संयमको बिगाड़ेगा ॥२॥

विभ्रमद्विषयारण्ये चलच्चेतोवलीमुखः ।
येन रुद्धो ध्रुवं सिद्धं फलं तस्यैव वाञ्छितम् ॥२३॥

अर्थ—यह चंचलचित्तरूपी बंदर विषयरूपी वनमें भ्रमता रहता है, सो जिस पुरुषने इसको रोका, वश किया, उसीके वांछित फलकी सिद्धि है ॥२३॥

चित्तमेकं न शक्नोति जेतुं स्वातन्त्र्यवर्ति यः ।
ध्यानवार्तां ब्रुवन्मूढः स किं लोके न लज्जते ॥२४॥

अर्थ—जो पुरुष स्वतन्त्रतासे वर्तनेवाले एक मात्र चित्तको जीतनेमें समर्थ नहीं है वह मूर्ख ध्यानकी चर्चा करता हुआ लोकमें लज्जित क्यों नहीं होता ! भावार्थ–चित्तको तो जीत नहीं सकता और लोकमें ध्यानकी चर्चावार्ता करे कि मैं ध्यानी हूं, ध्यान करता रहता हूं सो वह बड़ा निर्लज्ज है ॥२४॥

यदसाध्यं तपोनिष्ठैर्मुनिभिर्वीतमत्सरैः ।
तत्पदं प्राप्यते धीरैश्चित्तप्रसरबन्धकैः ॥२५॥

अर्थ—जो पद निर्मत्सर तपोनिष्ठ मुनियोंके द्वारा भी असाध्य है, वह पद चित्तके प्रसारको रोकने वाले धीर पुरुषोंके द्वारा ही प्राप्त किया जाता है । भावार्थ--केवल बाह्यतपसे उत्तम पद पाना असंभव है ॥२५॥

अनन्तजन्मजानेककर्मबन्धस्थितिर्दृढा ।
भावशुद्धिं प्रपन्नस्य मुनेः प्रक्षीयते क्षणात् ॥२६॥

अर्थ—जो अनन्त जन्मसे उत्पन्न हुई दृढ कर्मबन्धकी स्थिति है सो भावशुद्धिको प्राप्त होनेवाले मुनिके क्षणभरमें नष्ट हो जाती है। क्योंकि कर्म क्षय करनेमें भावोंकी शुद्धता ही प्रधान कारण है ॥२६॥

यस्य चित्तं स्थिरीभूतं प्रसन्नं ज्ञानवासितम् ।
सिद्धमेव मुनेस्तस्य साध्यं किं कायदण्डनैः ॥२७॥

अर्थ–जिस मुनिका चित्त स्थिरीभूत है, प्रसन्न है, रागादिककी कलुषता जिसमें नहीं है और ज्ञानकी वासना सहित है उस मुनिके साध्य अर्थात् अपने स्वरूपादिककी प्राप्ति आदि सब कार्य सिद्ध ही हैं। अतएव उस मुनिको बाह्य तपादिकसे कायको दंडनेसे कुछ लाभ नहीं है ॥२७॥

तपःश्रुतयमज्ञान–तनुक्लेशादिसंश्रयम्।
अनियन्त्रितचित्तस्य स्यान्मुनेस्तुषखण्डनम् ॥२८॥

अर्थ–जिस मुनिने अपने चित्तको वश नहीं किया उसका तप, शास्त्राध्ययन, व्रतधारण, ज्ञान, कायक्लेश इत्यादि सब तुषखंडनके समान निःसार (व्यर्थ) हैं, क्योंकि मनके वशीभूत हुए विना ध्यानकी सिद्धि नहीं होती ॥२८॥

एकैव हि मनःशुद्धिर्लोकाग्रपथदीपिका।
स्खलितं बहुभिस्तत्र तामनासाद्य निर्मलाम् ॥२९॥

अर्थ–मनकी शुद्धता ही एक मोक्षमार्गमें प्रकाश करनेवाली दीपिका (चिराग) है उस निर्मल दीपिका को न पानेसे अनेक मोक्षमार्गी च्युत हो गये ॥२९॥

असन्तोऽपि गुणाः सन्ति यस्य यस्यां शरीरिणाम्।
सन्तोऽपि यां विना यान्ति सा मनः शुद्धिः शस्यते ॥३०॥

अर्थ–जिस मनकी शुद्धताके होते हुए अविद्यमान गुण भी विद्यमान हो जाते हैं और जिसके न होते विद्यमान गुण भी जाते रहें वही मनकी शुद्धि प्रशंसा करने योग्य है ॥३०॥

अपि लोकत्रयैश्वर्यं सर्वाक्षप्रीणनक्षमम्।
भजत्यचिन्त्यवीर्योऽयं चित्तदैत्यो निरङ्कुशः ॥३१॥

अर्थ–यह चित्तरूपी दैत्य अचिन्त्यपराक्रमी है सो निरंकुश हो कर समस्त इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें समर्थ ऐसे तीन लोकके ऐश्वर्यको भोगता है। भावार्थ-जब तक यह मन रुकता नहीं तब तक अपने संकल्पोंमें यह इन्द्रकेसे सुख भोगता है जिससे कि अनेक कर्म बँधते हैं ॥३१॥

शमश्रुतयमोपेता जिताक्षाः शंसितव्रताः।
विदन्त्यनिर्जितस्वान्ताः स्वस्वरूपं न योगिनः ॥३२॥

अर्थ–जो योगी शमभाव, शास्त्राध्ययन और यम नियमादिसे युक्त हैं और जितेन्द्रिय हैं तथा जिनके व्रत प्रशंसा योग्य हैं वे भी यदि मनको नहीं जीते हुए हों तो अपने स्वरूपको नहीं जान सकते। भावार्थ–मनके जीते विना आत्माका अनुभव नहीं होता ॥३२॥

विलीनविषयं शान्तं निःसङ्गं त्यक्तविक्रियम्।
स्वस्थं कृत्वा मनः प्राप्तं मुनिभिः पदमव्ययम् ॥३३॥

अर्थ— मुनिगणोंने अपने मनको विलीनविषय, शान्त, निःसंग (परिग्रहके ममत्वरहित), विकार रहित स्वस्थ करके ही अव्ययपद (मोक्षपद) को पाया है। भावार्थ—जब मनको अन्य विकल्प व विकारोंसे रहित करके आत्मस्वरूपमें स्थिर करे तब ही मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥३३॥

स्रग्धरा ।

दिक्चक्रं दैत्यधिष्ण्यं त्रिदशपतिपुराण्यम्बुवाहान्तरालं
द्वीपाम्भोधिप्रकाण्डं खचरनरसुराहीन्द्रवासं समग्रम् ।
एतत्त्रैलोक्यनीडं पवनचयचितं चापलेन क्षणार्द्धे-
नाश्रान्तं चित्तदैत्यो भ्रमति तनुमतां दुर्विचिन्त्यप्रभावः ॥३४॥

अर्थ—जीवोंके मनरूपी दैत्यका प्रभाव दुर्विचिन्त्य है। किसीके चिन्तवनमें नहीं आ सकता, क्योंकि यह अपनी चंचलताके प्रभावसे दशों दिशाओंमें दैत्योंके समूहमें, इन्द्रके पुरोंमें, आकाशमें तथा द्वीपसमुद्रोंमें विद्याधर मनुष्य देव धरणीन्द्रादिके निवासस्थानोंमें तथा वातवलयों सहित तीन लोकरूपी घरमें सर्वत्र आधे क्षणमें ही भ्रमण कर आता है; इसका रोकना अतिशय कठिन है। जो योगीश्वर इसे रोकते हैं वे धन्य हैं ॥३४॥

मालिनी ।

प्रशमयमसमाधिध्यानविज्ञानहेतो-
र्विनयनयविवेकोदारचारित्रशुद्ध्यै ।
य इह जयति चेतःपन्नगं दुर्निवारं
स खलु जगति योगिव्रातवन्द्यो मुनीन्द्रः ॥३५॥

अर्थ— इस जगतमें जो मुनि प्रशम (कषायोंका अभाव), यम (त्याग), समाधि (स्वरूपमें लय) ध्यान (एकाग्र चित्त), विज्ञानके (विशिष्ट ज्ञानके)अर्थात् भेदज्ञानके लिये तथा विनय व नयके स्वरूपकी प्राप्तिके लिये विवेकके और उदार चारित्रकी शुद्धिके लिये चित्तरूपी दुर्निवार सर्पको जीतते हैं वे योगियोंके समूह द्वारा वंदनीय हैं और मुनियोंमें इन्द्र हैं ॥५॥

इस प्रकार मनके व्यापारका वर्णन किया। यहां अभिप्राय ऐसा है कि मनको वश किये बिना ध्यानकी सिद्धि नहीं होती और इसके वश करनेसे सर्व सिद्धि होती है।

दोहा ।

पवनवेगहूतैं प्रबल, मन भरमै सब ठौर ।
याको वश करि निज रमैं, ते मुनि सब शिरमौर ॥२२॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे मनोव्यापारप्रतिपादनस्वरूपं द्वाविंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥२२॥

२३. अथ त्रयोविंशः सर्गः ।

रागद्वेष रोकनेका वर्णन ।

अब ऐसा कहते हैं कि यदि मनके व्यापारको संकोचकर एकाग्र भी करे तो रागादिक ऐसे प्रबल हैं कि वे मनमें विकार उत्पन्न करके बिगाड देते हैं, इस कारण प्रथम ही रागादिकके दूर करनेका यत्न करना चाहिए—

निःशेषविषयोत्तीर्णं विकल्पव्रजवर्जितम्‌ ।
स्वतत्त्वैकपरं धत्ते मनीषी नियतं मनः ॥१॥
क्रियमाणमपि स्वस्थं मनः सद्योऽभिभूयते ।
अनाद्युत्पन्नसंबद्धै रागादिरिपुभिर्बलात्‌ ॥२॥

अर्थ—मनीषी (बुद्धिमान्‌) मुनि यदि अपने मनको समस्त विषयोंसे रहित और ज्ञेयोंमें भ्रम या संशयरूप विकल्पोंसे वर्जित, अपने स्वरूपमें ही एकाग्र (तत्पर) करे, तथापि आत्मस्वरूपके सन्मुख स्वस्थ किया हुआ मन भी अनादि कालसे उत्पन्न हुए वा बँधे हुए रागादि शत्रुओंसे जबरदस्ती पीड़ित किया जाता है। **भावार्थ**—मनको रागादिक शत्रु च्युत करके विकाररूप कर देते है ॥१-२॥

स्वतत्त्वानुगतं चेतः करोति यदि संयमी ।
रागादयस्तथाप्येते क्षिपन्ति भ्रमसागरे ॥३॥

अर्थ—यद्यपि संयमी मुनि निजस्वरूपके अनुगत मनका जय कर लेता है, तथापि रागादिक भाव उसको फिर भी भ्रमरूपी समुद्रमें डाल देते हैं ॥३॥

आत्माधीनमपि स्वान्तं सद्यो रागैः कलङ्क्यते ।
अस्ततन्द्रैरतः पूर्वमत्र यत्नो विधीयताम्‌ ॥४॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि अपने आधीन (वश) किया हुआ मन भी रागादिक भावोंसे तत्काल कलंकित (मलिन) किया जाता है, इस कारण मुनिगणोंका यह कर्त्तव्य है कि इस विषयमें वे प्रमाद रहित हो सबसे पहिले इन रागादिकके दूर करनेमें यत्न करें ॥४॥

अयत्नेनापि जायन्ते चित्तभूमौ शरीरिणाम्‌ ।
रागादयः स्वभावोत्थज्ञानराज्याङ्गघातकाः ॥५॥

अर्थ—जीवोंके स्वाभाविक ज्ञानरूपी राज्यके अंगको घात करनेवाले रागादिक भाव चित्तरूपी पृथ्वीमेंसे बिना यत्नके ही स्वयमेव उत्पन्न होते हैं ॥५॥

इन्द्रियार्थानपाकृत्य स्वतत्त्वमवलम्बते ।
यदि योगी तथाप्येते छलयन्ति मुहुर्मनः ॥६॥

अर्थ—जो योगी मुनि इन्द्रियोंके विषयोंको दूर कर निज स्वरूपका अवलंबन करे तो भी रागादिक भाव मनको बारंबार छलते हैं। अर्थात् विकार उत्पन्न करते हैं ॥ ६ ॥

> क्वचिन्मूढं क्वचिद्भ्रान्तं क्वचिद्भीतं क्वचिद्रतम् ।
> शङ्कितं च क्वचित्क्लिष्टं रागाद्यैः क्रियते मनः ॥ ७ ॥

अर्थ—ये रागादिक भाव मनको कभी तो मूढ करते हैं, कभी भ्रमरूप करते हैं, कभी भयभीत करते हैं, कभी आसक्त करते हैं, कभी शंकित करते हैं, कभी क्लेशरूप करते हैं; इत्यादि प्रकारसे स्थिरतासे डिगा देते हैं ॥ ७ ॥

> अजस्रं रुध्यमानेऽपि चिराभ्यासाद्दृढीकृताः ।
> चरन्ति हृदि निःशङ्का नृणां रागादिराक्षसाः ॥ ८ ॥

अर्थ—मनुष्योंके निरन्तर वश किये हुए मनमें भी चिरकालसे अभ्यस्त किये रागादिक राक्षस निःसंक हो प्रवर्त्तते हैं। **भावार्थ**—रागादिकका संस्कार ऐसा प्रबल है कि एकाग्र मन करे तो भी चलायमान कर देते हैं ॥८॥

> प्रयासैः फल्गुभिर्मूढ किमात्मा दण्ड्यतेऽधिकम् ।
> शक्यते न हि चेच्चेतः कर्तुं रागादिवर्जितम् ॥ ९ ॥

अर्थ—हे मूढ प्राणी ! जो अपने चित्तको रागादिकसे रहित करनेको समर्थ नहीं है तो व्यर्थ ही अन्य क्लेशोंसे आत्माको दंड क्यों देता है ? क्योंकि रागादिकके मिटे विना अन्य खेद करना निष्फल है ॥९॥

> क्षीणरागं च्युतद्वेषं ध्वस्तमोहं सुसंवृतम् ।
> यदि चेतः समापन्नं तदा सिद्धं समीहितम् ॥ १० ॥

अर्थ—क्षीण हुआ है राग जिसमें और च्युत हुआ है द्वेष जिसमें तथा नष्ट हुआ है मोह जिसमें ऐसा जो मन संवरताको प्राप्त है तो वांछित सिद्धि है। **भावार्थ**—चित्तमेंसे द्वेष और मोह तो नष्ट हों और रागादिक क्षीण हों तथा अपना स्वरूप साधनेमें राग रहे तो सर्व मनोवांछित सिद्ध होते हैं ॥१०॥

> मोहपङ्के परिक्षीणे प्रशान्ते रागविभ्रमे ।
> पश्यन्ति यमिनः स्वस्मिन्स्वरूपं परमात्मनः ॥ ११ ॥

अर्थ—मोहरूपी कर्दमके क्षीण होने पर तथा रागादिक परिणामोंके प्रशान्त होने पर योगीगण अपनेमें ही परमात्माके स्वरूपको अवलोकन करते हैं वा अनुभव करते हैं ॥ ११ ॥

> महाप्रशमसंग्रामे शिवश्रीसंगमोत्सुकैः ।
> योगिभिर्ज्ञानशस्त्रेण रागमल्लो निपातितः ॥ १२ ॥

अर्थ—मुक्तिरूपी लक्ष्मीके संगकी वांछा करनेवाले योगीश्वरोंने महाप्रशमरूपी संग्राममें ज्ञानरूपी शस्त्रसे रागरूपी मल्लका निपातन किया, क्योंकि इसके हते विना मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्ति नहीं हैं ॥१२॥

असंक्लिष्टमविभ्रान्तमविप्लुतमनाकुलम् ।
स्ववशं च मनः कृत्वा वस्तुतत्त्वं निरूपय ॥ १३ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! अपने मनको संक्लेश, भ्रान्ति और रागादिक विकारोंसे रहित करके अपने मनको वशीभूत कर तथा वस्तुके यथार्थ स्वरूपका अवलोकन कर ॥ १३ ॥

रागाद्यभिहतं चेतः स्वतत्त्वविमुखं भवेत् ।
ततः प्रच्यवते क्षिप्रं ज्ञानरत्नाद्रिमस्तकात् ॥ १४ ॥

अर्थ—जो चित्त रागादिकसे पीड़ित होता है वह स्वतत्त्वसे विमुख हो जाता है। इसी कारण मनुष्य ज्ञानरूपी रत्नमय पर्वतसे च्युत हो जाता है ॥ १४ ॥

रागद्वेषभ्रमाभावे मुक्तिमार्गे स्थिरीभवेत् ।
संयमी जन्मकान्तारसंक्रमक्लेशशङ्कितः ॥ १५ ॥

अर्थ—संसाररूपी वनमें भ्रमणके क्लेशोंसे भयभीत संयमी मुनि रागद्वेष मोहका अभाव होनेसे ही मोक्षमार्गमें स्थिर होता है। **भावार्थ**--रागद्वेषमोहके विद्यमान रहते मोक्षमार्गमें स्थिरता नहीं होती॥१५॥

रागादिभिरविश्रान्तं वञ्च्यमानं मुहुर्मनः ।
न पश्यति परं ज्योतिः पुण्यपापेन्धनानलम् ॥ १६ ॥

अर्थ—यह मन है सो रागादिकसे निरंतर वारंवार वंचित हुआ पुण्यपापरूपी इंधनके लिये अग्निके समान ऐसी परम ज्योतिका अवलोकन नहीं कर सकता। **भावार्थ**--जब तक मनमें रागद्वेष रहता है तब तक परमात्माका स्वरूप नहीं भासता, रागद्वेषमोहके नष्ट होने पर ही शुभाशुभ कर्मोंको नष्ट करनेवाले परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति होती है ॥ १६ ॥

रागादिपङ्कविश्लेषात्प्रसन्ने चित्तवारिणि ।
परिस्फुरति निःशेषं मुनेर्वस्तुकदम्बकम् ॥ १७ ॥

अर्थ—रागद्वेषमोहरूपी कर्दमके अभावसे प्रसन्न चित्तरूपी जलमें मुनिको समस्त वस्तुओंके समूह स्पष्ट स्फुरायमान होते हैं अर्थात् प्रतिभासते हैं ॥ १७ ॥

स कोऽपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते ।
येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं तृणायते ॥ १८ ॥

अर्थ—तथा जो कोई परमानन्द वीतरागके उत्पन्न होता है उसके सामने तीन लोकका अचिन्त्य ऐश्वर्य भी तृणवत् भासता है, अर्थात् परमानंद स्वरूपके सामने तीन तीन लोकका ऐश्वर्य भी कुछ नहीं है ॥ १८ ॥

प्रशाम्यति विरागस्य दुर्बोधविषमग्रहः ।
स एव वर्द्धतेऽजस्रं रागार्त्तस्येह देहिनः ॥ १९ ॥

अर्थ–इस संसारमें रागरहित जीवके अज्ञानरूप विषम आग्रह शान्त हो जाता है और रागसे पीड़ितके वही अज्ञान बढता है, घटता नहीं है ॥१९॥

स्वभावजमनातङ्कं वीतरागस्य यत्सुखम् ।
न तस्यानन्तभागोऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः ॥२०॥

अर्थ—स्वभावसे उत्पन्न हुआ आतंकरहित जो सुख वीतरागके होता है उससे अनन्तवा भाग भी इन्द्रोंके नही होता। भावार्थ–निर्मल ज्ञान वा स्वाभाविक सुख ये दोनों वीतरागके ही होते हैं ॥२०॥

एतावनादिसंभूतौ रागद्वेषौ [1]महोग्रहौ
अनन्तदुःखसन्तानप्रसूतेः प्रथमाङ्कुरौ ॥२१॥

अर्थ—ये अनादिसे उत्पन्न रागद्वेषरूपी महा पिशाच वा ग्रह हैं सो अनन्त दुखोंके सन्तानकी प्रसूतिके प्रथम अंकुर हो है। भावार्थ–दुःखकी परिपाटी इनसे ही चलती है ॥२१॥

उक्तं च ग्रन्थान्तरे

"रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते ।
जीवो जिनोपदेशोऽयं समासाद्बन्धमोक्षयोः ॥१॥

अर्थ–रागी जीव तो कर्मोंको बांधता है और वीतरागी कर्मोंसे छूटता है, यह बंध और मोक्ष इन दोनोंका संक्षेप उपदेश जिनेन्द्र सर्वज्ञ भगवान् का है ॥१॥"

इस कारण आचार्य महाराज कहते है कि—

तद्विवेच्य ध्रुवं धीरं ज्ञानार्कालोकमाश्रय ।
विशुष्यति च यं प्राप्य रागकल्लोलमालिनी ॥२२॥

अर्थ–पूर्वोक्त अर्थका विचार करके हे धीरवीर ! निश्चयसे ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशका आश्रय कर, क्योंकि जिसको प्राप्त हो कर रागरूपी नदी सूख जाती है ॥२२॥

चिदचिद्रूपभावेषु सूक्ष्मस्थूलेष्वपि क्षणम् ।
रागः स्याद्यदि वा द्वेषः क तदाध्यात्मनिश्चयः ॥२३॥

अर्थ–सूक्ष्म तथा स्थूल चेतन अचेतन पदार्थोंमें क्षणभर भी राग अथवा द्वेष होता है तो फिर अध्यात्मका निश्चय कहां ? ॥२३॥

नित्यानन्दमयीं साध्वीं शाश्वतीं चात्मसंभवाम् ।
वृणोति वीतसंरंभो वीतरागः शिवश्रियम् ॥२४॥

अर्थ—जिसका संरंभ रागादिमयी विकल्प उद्यम बीत गये है ऐसा वीतराग मुनि नित्यानन्दमयी समीचीन शाश्वती आत्मासे उत्पन्न मोक्षरूपी लक्ष्मीको वरता है। भावार्थ–मोक्षका स्वामी होता है ॥२४॥

---

१ 'महासुरौ' इत्यपि पाठः

यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रैति निश्चयः ।
उभावेतौ समालम्ब्य विक्राम्यत्यधिकं मनः ॥२५॥

अर्थ— जहां पर राग पैर धरे अर्थात् प्रवर्त्ते तहां द्वेष भी प्रवर्त्तता है, यह निश्चय है और इन दोनोंका अवलंबन करके मन भी अधिकतर विकाररूप होता है ॥२५॥

सकलज्ञानसाम्राज्यं स्वीकर्त्तुं यः समीप्सति ।
स धन्यः शमशस्त्रेण रागशत्रुं निकृन्तति ॥२६॥

अर्थ—जो पुरुष समस्त ज्ञानरूप साम्राज्यके अंगीकार करनेकी इच्छा रखता है वह धन्य महाभाग उपशमभावरूप शस्त्रसे रागरूप शत्रुको काटता है ॥२६॥

यथोत्पाताक्षमः पक्षी लूनपक्षः प्रजायते ।
रागद्वेषच्छदच्छेदे स्वान्तपत्ररथस्तथा ॥२७॥

अर्थ - जिस प्रकार कटी हुई पांखोंका पक्षी उड़नेमें असमर्थ होता है, तैसे मनरूप पक्षी है सो रागद्वेषरूप पांखोंके कट जानेसे विकल्परूप भ्रमणसे रहित हो जाता है ॥२७॥

चित्तप्लवङ्गदुर्वृत्तं स हि नूनं विजेष्यति ।
यो रागद्वेषसंतानतरुमूलं निकृन्तति ॥२८॥

अर्थ—जो पुरुष रागद्वेषके सतानरूप वृक्षको जड़को काटता है वह पुरुष चित्तरूप बंदरके दुर्वृत्तविकाररूप भ्रमणको अवश्य ही जीतेगा ॥२८॥

इस प्रकार रागद्वेषका वर्णन किया । अब इनका मूल कारण मोह है सो उसका वर्णन करते हैं—

अयं मोहवशाज्जन्तुः क्रुध्यति द्वेष्टि रज्यते ।
अर्थेष्वन्यस्वभावेषु तस्मान्मोहो जगज्जयी ॥२९॥

अर्थ—यह प्राणी मोहके वशसे अन्य स्वरूप पदार्थोंमें क्रोध करता है द्वेष करता है तथा राग भी करता है इस कारण मोह ही जगतको जीतनेवाला है ॥२९॥

रागद्वेषविषोद्यानं मोहबीजं जिनैर्मतम् ।
अतः स एव निःशेषदोषसेनानरेश्वरः ॥३०॥

अर्थ—इस रागद्वेषरूप विषवनका बीज मोह ही है ऐसा भगवान्‌ने कहा है । इस कारण यह मोह ही समस्त दोषोंकी सेनाका राजा है ॥३०॥

असावेव भवोद्भूतदाववह्निः शरीरिणाम् ।
तथा दृढतरानन्तकर्मबन्धनिबन्धनम् ॥३१॥

अर्थ—यह मोह ही जीवोंके ससारसे उत्पन्न हुआ दावानल है तथा अतिशय दृढ अनन्त कर्म बन्धनका कारण है ॥३१॥

रागादिगहने खिन्नं मोहनिद्रावशीकृतम् ।
जगन्मिथ्याग्रहाविष्टं जन्मपङ्के निमज्जति ॥३२॥

अर्थ— यह जगत रागादिके गहन वनमें खेदखिन्न हुआ, मोहरूप निद्राके वशीभूत हो, मिथ्यात्वरूपी पिशाच सहित होनेसे संसाररूपी कीचड़में डूबता है, यहां खेद निद्रा पिशाच ये तीनों ही बेखबर होनेके कारण हैं, यह आत्मा इन कारणोंसे अपनेको भूल कर अज्ञानरूप संसारमें डुबाता है ॥३२॥

स पश्यति मुनिः साक्षाद्विश्वमध्यक्षमञ्जसा ।
यः स्फोटयति मोहाख्यं पटलं ज्ञानचक्षुषा ॥३३॥

अर्थ—जो मुनि मोहरूपी पटलको दूर करता है वह मुनि शीघ्र ही समस्त लोकको ज्ञानरूपी नेत्रोंसे साक्षात्–प्रत्यक्ष (प्रगट) देखता है ॥३३॥

इयं मोहमहाज्वाला जगत्त्रयविसर्पिणी ।
क्षणादेव क्षयं याति प्लाव्यमाना शमाम्बुभिः ॥३४॥

अर्थ— यह मोहरूप महा अग्निकी ज्वाला तीन जगतमें फैलनेवाली है, इसको शान्तभावरूप जलसे सेचन किया जाय तो यह क्षणमात्रमें क्षय हो जाती है ॥३४॥

यस्मिन्सत्येव संसारी यद्वियोगे शिवीभवेत् ।
जीवः स एव पापात्मा मोहमल्लो निवार्यताम् ॥३५॥

अर्थ—हे आत्मन् ! जिस मोह मल्लके होनेसे यह जीव ससारी है और जिसके वियोग होनेसे मोक्षस्वरूप होता है वही यह पापी मोहमल्ल है सो इसे निवारण कर ॥३५॥

यत्संसारस्य वैचित्र्यं नानात्वं यच्छरीरिणाम् ।
यदात्मीयेष्वनात्मास्था तन्मोहस्यैव वल्गितम् ॥३६॥

अर्थ— जीवोंके जो संसारकी विचित्रता, अनेकप्रकारता तथा अपने भावोंमें अनात्मपनेकी आस्था है सो ये सब मोहके ही विलास हैं अर्थात् मोहकी ही चेष्टा है ॥३६॥

रागादिवैरिणः क्रूरान्मोहभूपेन्द्रपालितान् ।
निकृत्य शमशस्त्रेण मोक्षमार्गं निरूपय ॥३७॥

अर्थ—हे आत्मन् ! मोहरूपी राजा के पाले हुए क्रूर रागादि शत्रुओंको शान्त भावरूप शस्त्रसे छेदन करके मोक्षमार्गका अवलोकन कर ॥३७॥

आर्या ।

इति मोहवीरवृत्तं रागादिवरूथिनीसमाकीर्णम् ।
सुनिरूप्य भावशुद्ध्या यतस्व तद्बन्धमोक्षाय ॥३८॥

अर्थ—हे आत्मन् ! इस प्रकार मोहरूपी सुभटका वृत्तान्त है; सो यह रागादिरूपी सेनाके सहित है, इस कारण इसे भले प्रकार विचार करके इसके बंधसे छूटनेके लिये यत्न कर ॥३८॥

इस प्रकार राग द्वेष मोहका वर्णन किया, और इनके नष्ट करनेका उपदेश दिया। यहां अभिप्राय यह है कि अन्य मती यमनियमादि योगके साधनोंसे मनको वश करते हैं, तथापि उनके मनमें रागद्वेष मोहका यथार्थ स्वरूप तथा उनके जीतनेका वर्णन सत्यार्थ नहीं है और इन रागादिकके जीते विना मोक्षके कारणभूत ध्यानकी सिद्धि नहीं है, इस कारण रागद्वेष मोहका वर्णन किया। इसका यथार्थ स्वरूप तथा जीतनेका विधान जैनशास्त्रोंमें ही है। उसी रीतिसे ही साधन करके ध्यान करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

कवित्त (३१ वर्ण)।

मिथ्या कर्म उदै होय, राग द्वेष मोह जोय, बन्ध हेतु गाढे ते जु भवमें भ्रमावते।
मिथ्याभाव बीते रहैं चारितके घातक जे. बन्ध कर तुच्छभाव निर्जरा बढावते॥
सम्यक दरश धारि राग द्वेष मोह टारि, चारित सवाँरि मुनि ध्यानको धरावते।
निजरूप लय लाय घातिया नशाय ज्ञानकेवलको पाय धाय मोक्षमें रमावते॥२३॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे रागद्वेषवर्णनं नाम त्रयोविंशं प्रकरणं समाप्तम्॥२३॥

---

२४. अथ चतुर्विंशः सर्गः।

साम्यभावका वर्णन।

अब रागद्वेष मोहके अभावसे साम्य अर्थात् समताभाव होता है जिससे कि, तृण कंचन, शत्रुमित्र, निन्दा प्रशंसा, वन नगर, सुख दुःख, जीवन मरण, इत्यादि पदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि और ममत्व नहीं होता। ऐसे साम्यभाव सहित मुनिके ही मोक्षके कारणस्वरूप ध्यानकी सिद्धि होती है, इस कारण साम्यका वर्णन करते हैं—

मोहवह्निमपाकर्तुं स्वीकर्तुं संयमश्रियम्।
छेत्तुं रागद्रुमोद्यानं समत्वमवलम्ब्यताम्॥१॥

अर्थ—हे आत्मन्! मोहरूप अग्निको बुझानेके लिये और संयमरूपी घरका आश्रय करनेके लिये तथा रागरूप वृक्षोंके समूहको काटनेके लिये समभावका (समताका) अवलंबन कर ऐसा उपदेश है॥१॥

चिदचिल्लक्षणैर्भावैरिष्टानिष्टतया स्थितैः।
न मुह्यति मनो यस्य तस्य साम्ये स्थितिर्भवेत्॥२॥

अर्थ—जिस पुरुषका मन चित् (पुत्र कलत्र शत्रु मित्रादि) अचित् (धन धान्य तृणकंचनादि) इष्ट अनिष्टरूप पदार्थोंके द्वारा मोहको प्राप्त नहीं होता, उस पुरुषके ही साम्यभावमें स्थिति होती है, यह साम्यभावका लक्षण है॥२॥

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।
समत्वं भज सर्वज्ञज्ञानलक्ष्मीकुलास्पदम्॥३॥

अर्थ—हे आत्मन् । तु काम और भोगादिकमें विरक्त हो, शरीरमें वांछा आसक्तता छोड़ कर समताको भज (सेव), क्योंकि यह समताभाव केवलज्ञान लक्ष्मीका (लोकालोकके जाननेका) कुल-गृह है अर्थात् यह लक्ष्मी समभावमें ही है ॥३॥

छित्वा प्रशमशस्त्रेण भवव्यसनवागुराम् ।
मुक्तेः स्वयंवरागारं वीर व्रज शनै शनैः ॥४॥

अर्थ—हे आत्मन्, हे वीर ! तू शान्त भावरूपी शस्त्रसे सांसारिक कष्टरूप (आपदारूप) फांसीको छेद कर मुक्तिरूप स्त्रीके स्वयंवरके स्थानको शनैः शनैः गमन कर। भावार्थ-शान्त भाव होनेसे मार्गमें रोकनेवाला कोई भी नहीं है इस कारण मंद मंद गतिसे निःशंकतया मोक्षस्थानको गमन कर, यह धीरज बँधाया है ॥४॥

साम्यसूर्यांशुभिर्भिन्ने रागादितिमिरोत्करे ।
प्रपश्यति यमी स्वस्मिन्स्वरूपं परमात्मनः ॥५॥

अर्थ—संयमी मुनि स्वभावरूपी सूर्यकी किरणोंसे रागादि तिमिरसमूहके नष्ट होने पर परमात्माका स्वरूप अपनेमें ही अवलोकन करता है। भावार्थ—परमात्माका स्वरूप अनन्त चतुष्टयरूप है सो रागादिक तिमिरसे आच्छादित है सो समभावके प्रकाश होने पर आपमें ही दीखता है ॥५॥

साम्यसीमानमालम्ब्य कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम् ।
पृथक् करोति विज्ञानी संश्लिष्टे जीवकर्मणी ॥६॥

अर्थ—भेद विज्ञानी पुरुष है सो समभावकी सीमाका अवलंबन करके तथा अपनेमें ही अपने आत्माका निश्चय करके, मिले हुए जीव और कर्मको पृथक् २ करता है ॥६॥

साम्यवारिणि शुद्धानां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम् ।
इहैवानन्तबोधादिराज्यलक्ष्मीः सखी भवेत् ॥७॥

अर्थ—जो समभावरूपी जलसे शुद्ध हुये है और जिनके ज्ञान ही नेत्र हैं ऐसे सत्पुरुषोंके इस ही जन्ममें अनन्त ज्ञानादिक लक्ष्मी सखी होती हैं। भावार्थ—कोई यह जानें कि समभावका फल परलोकमें होता है, सो यह एकान्त नहीं हैं, किन्तु इस ही जन्ममें केवल ज्ञानादिककी प्रप्ति होती हैं ॥७॥

भावयस्व तथात्मानं समत्वेनातिनिर्भरम् ।
न यथा द्वेषरागाभ्यां गृह्णात्यर्थकदम्बकम् ॥८॥

अर्थ—हे आत्मन् ! अपने आत्माको तू समभावसे अति निर्भररूप इस प्रकार भाव, जिस प्रकारसे यह आत्मा रागद्वेषादिकसे पदार्थोंके समूहको ग्रहण न करे। भावार्थ—आत्मामें ऐसा लीन हो कि जहां रागद्वेषादिक अवकाश न पावें ॥८॥

रागादिविपिनं भीमं मोहशार्दूलपालितम् ।
दग्धं मुनिमहावीरैः साम्यधूमध्वजार्चिषा ॥९॥

अर्थ—यह रागादिरूप भयानक वन है सो मोहरूपी सिंहके द्वारा रक्षित है, उस बनको मुनिरूपी महासुभटोंने समभावरूप अग्निकी ज्वालासे दग्ध कर दिया है ॥९॥

मोहपङ्के परिक्षीणे शीर्णे रागादिबन्धने।
नृणां हृदि पदं धत्ते साम्यश्रीर्विश्ववन्दिता ॥१०॥

अर्थ—पुरुषोंके हृदयमें कर्दमके सूखनेसे तथा रागादि बन्धनोंके दूर होने पर जगत्पूज्या समभावरूप लक्ष्मी निवास करती हैं। भावार्थ-मलिन घरमें और बंधन सहित घरमें उत्तम स्त्री प्रवेश नहीं करती, इसी प्रकार समभावरूप लक्ष्मी भी रागद्वेषमोहादि सहित हृदयमें प्रवेश नहीं करती ॥१०॥

आशाः सद्यो विपद्यन्ते यान्त्यविद्याः क्षयं क्षणात्।
म्रियते चित्तभोगीन्द्रो यस्य सा साम्यभावना ॥११॥

अर्थ—जिस पुरुषके समभावकी भावना है उसके आशायें तो तत्काल नाश हो जाती हैं, अविद्या क्षणभरमें क्षय हो जाती है, उसी प्रकार चित्तरूपी सर्प भी मर जाता है अर्थात् भ्रमणसे रहित हो जाता है; यही समभावनाका फल है ॥११॥

साम्यकोटिं समारूढो यमी जयति कर्म यत्।
निमिषान्तेन तज्जन्मकोटिभिस्तपसेतरः ॥१२॥

अर्थ—समभावकी हदपर आरूढ़ हुआ संयमी मुनि जो नेत्रके टिमकार मात्रसे कर्मको जीतता है अर्थात् कर्मोंका क्षय करता है, उतना समभाव रहित इतर पुरुष कोटि तपोंके करने पर भी नहीं कर सकता, यह साम्यभावका माहात्म्य है ॥१२॥

साम्यमेव परं ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः।
तस्यैव व्यक्तये नूनं मन्येऽयं शास्त्रविस्तरः ॥१३॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवानने साम्य भावको ही उत्कृष्ट ध्यान कहा है और यह शास्त्रोंका विस्तार है सो निश्चयतः उस साम्य भावको प्रगट करनेके लिये ही है, ऐसा मैं मानता हूं। भावार्थ—शास्त्रमें जितने व्याख्यान हैं वे साम्यको ही दृढ करते हैं ॥१३॥

साम्यभावितभावानां स्यात्सुखं यन्मनीषिणाम्।
तन्मन्ये ज्ञानसाम्राज्यसमत्वमवलम्बते ॥१४॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि साम्य भावोंसे पदार्थोंके विचार करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषोंके जो सुख होता है सो मैं ऐसा मानता हूं कि वह ज्ञानसाम्राज्य (केवलज्ञान) की समताको अवलम्बन करता है। भावार्थ—समभावोंसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है उससे पहिले ही समभावमें ऐसा सुख है कि उसे केवलज्ञानके समान ही माना जाता है क्योंकि दुःख तो रागादिकसे हैं, उनके बिना केवल मात्र सुख ही सुख है ॥१४

यः स्वभावोत्थितां साध्वीं विशुद्धिं स्वस्य वाञ्छति ।
स धारयति पुण्यात्मा समत्वाधिष्ठितं मनः ॥१५॥

अर्थ—जो पुरुष अपने स्वभावसे उत्पन्न हुई समीचीन विशुद्धताको चाहते हैं सो पुरुष अपने मनको समभावों सहित धारते है वे ही पुण्यात्मा हैं महाभाग्य हैं ॥१५॥

तनुत्रयविनिर्मुक्तं दोषत्रयविवर्जितम् ।
यदा वेत्त्यात्मनात्मानं तदा साम्ये स्थितिर्भवेद् ॥१६॥

अर्थ—जिस समय यह आत्मा अपने आत्माको औदारिक तैजस और कार्माण इन तीन शरीरोंसे तथा रागद्वेषमोहसे रहित जानता है तब ही समभावमें स्थिति (स्थिरता) होती है ॥१६॥

अशेषपरपर्यायैरन्यद्रव्यैर्विलक्षणम् ।
निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्यं प्रसूयते ॥१७॥

अर्थ—जिस समय यह आत्मा अपने को समस्त परद्रव्योंकी पर्यायोंसे तथा पर द्रव्योंसे विलक्षण भिन्नस्वरूप निश्चय करता है उसी काल साम्यभाव उत्पन्न होता है ॥१७॥

तस्यैवाविचलं सौख्यं तस्यैव पदमव्ययम् ।
तस्यैव बन्धविश्लेषः समत्वं यस्य योगिनः ॥१८॥

अर्थ—जिस योगीश्वरके समभाव है उसके ही तो अविचल सुख है और उसके ही अविनाशी पद और कर्मबन्धकी निर्जरा है ॥१८॥

यस्य हेयं न चादेयं जगद्विश्वं चराचरम् ।
स्यात्तस्यैव मुनेः साक्षाच्छुभाशुभमलक्षयः ॥१९॥

अर्थ—जिस मुनिके चराचररूप समस्त जगतमें न तो कोई हेय है न उपादेय है, उस मुनिके ही शुभाशुभरूप कर्मरूपी मैलका साक्षात् क्षय है ॥१९॥

अब साम्यका प्रभाव कहते हैं—

शाम्यन्ति जन्तवः क्रूराः बद्धवैराः परस्परम् ।
अपि स्वार्थे प्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः ॥२०॥

अर्थ—इस साम्यके प्रभावसे अपने स्वार्थमें प्रवृत्त मुनिके निकट परस्पर वैर करनेवाले क्रूर जीव भी शान्त हो जाते हैं। **भावार्थ**—मुनि तो अपने स्वरूपके साधनार्थ साम्यभावोंसे प्रवर्त्तते हैं किन्तु उनकी साम्यमूर्ति अवलोकन करके उनके निकट रहनेवाले क्रूर सिंहादिक भी परस्पर वैरभाव छोड़ शान्तभावका, समताका आश्रय कर लेते हैं, ऐसा ही साम्यभावका माहात्म्य है ॥२०॥

भजन्ति जन्तवो मैत्रीमन्योऽन्यत्यक्तमत्सराः ।
समत्वालम्बिनां प्राप्य पादपद्मार्चितां क्षितिम् ॥२१॥

अर्थ—समभावका अवलंबन करनेवाले मुनियोंके चरणकमलोंके प्रभावसे पूजनीय पृथ्वीको प्राप्त होने पर प्राणीजन परस्परका ईर्ष्याभाव छोड़ कर मित्रताको प्राप्त हो जाते है ॥२१॥

शाम्यन्ति योगिभिः क्रूराः जन्तवो नेति शङ्क्यते
दावदीप्तमिवारण्यं यथा वृष्टैर्बलाहकैः ॥२२॥

अर्थ—योगिगण क्रूर जीवोंको उपाय करके शान्तरूप करते है ऐसी शंका कदापि नहीं करनी चाहिये क्योंकि जैसे दावानलमे जलता हुआ वन स्वयमेव मेघ बरसनेसे शान्त हो जाता है उसी प्रकार मुनियोंके तपके प्रभावसे स्वयं ही क्रूर जीव समतारूप प्रवर्त्तने लग जाते है, योगीश्वर उनको प्रेरणा कदापि नहीं करते ॥२२॥

भवन्त्यतिप्रसन्नानि कश्मलान्यपि देहिनाम् ।
चेतांसि योगिसंसर्गेऽगस्त्ययोगे जलानिवत् ॥२३॥

अर्थ—जिस प्रकार शरद ऋतुमें अगस्त्य ताराके संसर्ग होनेसे जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार समतायुक्त योगीश्वरोंकी संगतिसे जीवोके मलिन चित्त भी प्रसन्न अर्थात् निर्मल हो जाते हैं ॥२३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

क्षुभ्यन्ति ग्रहयक्षकिन्नरनरास्तुष्यन्ति नाकेश्वराः
मुञ्चन्ति द्विपदैत्यसिंहशरभव्यालादयः क्रूरताम्
रुग्वैरप्रतिबन्धविभ्रमभयभ्रष्टं जगज्जायते
स्याद्योगीन्द्रसमत्वसाध्यमथवा किं किं न मद्यो भुवि ॥२४॥

अर्थ—समभावयुक्त योगीश्वरोंके प्रभावसे ग्रह यक्ष किन्नर मनुष्य ये क्षोभको प्राप्त होते हैं और नाकेश्वर अर्थात् इन्द्रगण हर्षित होते है तथा शत्रु दैत्य सिंह अष्टापद सर्प इत्यादि क्रूर प्राणी अपनी क्रूरताको छोड़ देते हैं और यह जगत् रोग वैर प्रतिबन्ध विभ्रम भयादिकसे रहित हो जाता है-इस पृथ्वीमें ऐसा कौनसा कार्य है, जो योगीश्वरोंके समभावोंसे साध्य न हो अर्थात् समभावोंसे सर्व मनोवांछित सधते हैं ॥२४॥

मन्दाक्रान्ता ।

चन्द्रः सान्द्रैर्विकिरति सुधामंशुभिर्जीवलोके
भास्वानुग्रैः किरणपटलैरुच्छिनत्त्यन्धकारम् ।
धात्री धत्ते भुवनमखिलं विश्वमेतच्च वायु
र्यद्वत्साम्याच्छमयति तथा जन्तुजातं यतीन्द्रः ॥२५॥

अर्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा जगतमें किरणोंसे सघन झरता हुआ अमृत वर्षाता है और सूर्य तीव्र किरणोंके समूहसे अन्धकारका नाश करता है तथा पृथ्वि समस्त भुवनोंको धारण करती है, तथा पवन है सो इस समस्त लोकको धारण करता है, उसी प्रकार मुनीश्वर महाराज भी साम्यभावों से जीवोंके समूहको शान्तभावरूप करते है ॥२५॥

स्रग्धरा

सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजङ्गम् ।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम् ॥२६॥

अर्थ—क्षीण हो गया है मोह जिसका और शान्त हो गया है कलुष कषायरूप मैल जिसका ऐसे समभावोंमें आरूढ हुए योगीश्वरको आश्रय करके हरिणी तो सिंहके बालकको अपने पुत्रकी बुद्धिसे स्पर्श करती व प्यार करती है और गौ है सो व्याघ्रके बच्चेको पुत्रकी बुद्धिसे प्यार करती है; मार्जारी हंसके बच्चेको स्नेहकी दृष्टिसे वशीभूत हो स्पर्शती है तथा मयूरनी सर्पके बच्चेको प्यार करती है; इसी प्रकार अन्य प्राणी भी जन्मसे जो बैर है उसको मद रहित हो छोड़ देते हैं । यह साम्यभावका ही प्रभाव है ॥ २६ ॥

मन्दाक्रान्ता ।

एकः पूजा रचयति नरः पारिजातप्रसूनैः
क्रुद्धः कण्ठे क्षिपति भुजगं हन्तुकामस्ततोऽन्यः ।
तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्यं स योगी
साम्यारामं विशति परमज्ञानदत्तावकाशम् ॥२७॥

अर्थ—जिस मुनिकी ऐसी वृत्ति हो कि कोई तो नम्रीभूत हो कर पारिजातके पुष्पोंसे पूजा करता है और कोई मनुष्य क्रुद्ध होकर मारनेकी इच्छासे गलेमें सर्पकी माला पहराता है, इन दोनोंमें ही जिसकी सदा रागद्वेष रहित समभावरूप वृत्ति हो, वह योगीश्वर समभावरूपी आराम (क्रीडावन)में प्रवेश करता है, और ऐसे समभावरूप क्रीडावनमें ही केवल ज्ञानके प्रकाश होनेका अवकाश है ॥ २७ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

नोऽरण्यान्नगरं न मित्रमहिताल्लोष्टान्न जाम्बूनदं
न स्रग्दामभुजङ्गमान्न दृषदस्तल्पं शशाङ्कोज्ज्वलम् ।
यस्यान्तःकरणे बिभर्ति कलया नोत्कृष्टतामीषद-
प्यार्यास्तं परमोपशान्तपदवीमारूढमाचक्षते ॥२८॥

अर्थ—जिस मुनिके मनमें वनसे नगर, शत्रुसे मित्र, लोष्टसे कांचन (सुवर्ण), रस्सी व सर्पसे पुष्पमाला, पाषाणशिलासे चन्द्रमासमान उज्ज्वल शय्या, इत्यादिक पदार्थ अन्तःकरणकी कल्पनासे किंचिन्मात्र भी उत्कृष्ट नहीं दीखते उस मुनिको आर्य सत्पुरुष परम उपशान्तरूप पदवीको प्राप्त हुआ कहते हैं । भावार्थ-वनादिकसे नगरादिकमें कुछ भी उत्तमता नहीं मानें वही मुनि रागद्वेषरहित साम्यभावयुक्त है ॥ २८ ॥

स्रग्धरा ।

सौधोत्सङ्गे स्मशाने स्तुतिशपनविधौ कर्दमे कुङ्कुमे वा
पल्यंके कण्टकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्मचीनांशुकेषु ।
शीर्णाङ्गे दिव्यनार्यामसमशमवशाद्यस्य चित्तं विकल्पै-
र्नालीढं सोऽयमेकः कलयति कुशलः साम्यलीलाविलासं ॥२९॥

अर्थ—जिस मुनिका चित्त महलोंके शिखरमें और स्मशानमें तथा स्तुति और निन्दाके विधानमें, कीचड़ और केशरमें, पल्यक—शय्या और काटोंके अग्रभागमें, पाषाण और चन्द्रकान्त मणिमें, चर्म और चीनदेशीय रेशमके वस्त्रोंमें, और क्षीणशरीर व सुन्दर स्त्रीमें अतुल्य शान्तभावके प्रभावसे विकल्पोंसे स्पर्शित न हो, वही एक प्रवीणमुनि समभावकी लीलाके विलासका अनुभव करता है; अर्थात् वास्तविक समभाव ऐसे मुनिके ही जानना ॥ २९ ॥

चलत्यचलमालेयं कदाचिद्दैवयोगतः ।
नोपसर्गैरपि स्वान्तं मुनेः साम्यप्रतिष्ठितम् ॥३०॥

अर्थ—यह प्रत्यक्ष अचल पर्वतोंकी श्रेणी कदाचित् चलायमान भी हो जाय तो आश्चर्य नहीं, किन्तु साम्यभावमें प्रतिष्ठित मुनिका चित्त उपसर्गोंसे कदापि नहीं चलता, ऐसा लीन हो जाता है ।३०।

उन्मत्तमथ विभ्रान्तं दिग्मूढं सुप्तमेव वा ।
साम्यस्थस्य जगत्सर्वं योगिनः प्रतिभासते ॥३१॥

अर्थ-साम्यभावमें स्थित मुनिको यह जगत् ऐसा भासता है कि मानों यह जगत् उन्मत्त है वा विभ्रमरूप है अथवा दिशा भूला हुआ अथवा सोता है ॥ ३१ ॥

वाचस्पतिरपि ब्रूते यद्यजस्रं समाहितः ।
वक्तुं तथापि शक्नोति न हि साम्यस्य वैभवम् ॥३२॥

अर्थ-इस साम्यके विभवको यदि बृहस्पति भी स्थिर चित्त हो कर निरन्तर कहें तो भी कहनेको समर्थ नहीं होता ॥ ३२ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

दुष्प्रज्ञाबललुप्तवस्तुनिचया विज्ञानशून्याशया
विद्यन्ते प्रतिमन्दिरं निजनिजस्वार्थोद्यता देहिनः ।
आनन्दामृतसिन्धुशीकरचयैर्निर्वाप्य जन्मानलं
ये मुक्तेर्वदनेन्दुवीक्षणपरास्ते सन्ति द्वित्रा यदि ॥३३॥

अर्थ-जिन्होंने अपनी दुर्बुद्धिके बलसे समस्त वस्तुके समूहका लोप कर दिया और जिनका चित्त विज्ञानसे शून्य है ऐसे पुरुष तो घर २ में विद्यमान है, और अपने २ प्रयोजनको साधनेमें तत्पर हैं;

१ मूल पुस्तकमें यह श्लोक अगले अध्यायकी आदिमें लिखा है ।

किन्तु जो समभावजनित आनंदामृत समुद्रके जलकणोंके समूहसे संसाररूप अग्निको बुझा कर मुक्तिरूपी स्त्रीके वदनचन्द्रमाको देखनेमें तत्पर है ऐसे महापुरुष यदि हैं तो दो वा तीन ही है। भावार्थ—इस निकृष्ट पंचम कालमें मोक्षमार्गमें प्रवर्त्तने वालोंका विरलता है, अर्थात् जो साम्यमें रह कर मोक्षमार्गको साधें ऐसे योगीश्वरोंका तो प्रायः अभाव हो है, किसी दूर क्षेत्र कालमें हों तो दो तीन ही होंगे, बहुलताका तो अभाव ही है ॥२३॥

इस प्रकार साम्यका वर्णन किया; यह ध्यानका प्रधान अंग है। इसके विना लौकिक प्रयोजनादिक लिये जो अन्यमती ध्यान करते हैं सो निष्फल है, मोक्षका साधन तो साम्यसहित ध्यान ही है।

दोहा

मोह राग रुष बीततैं, समता धरै जु कोय।
सुख दुःख जीवित मरण सब, सम लखि ध्यानी होय

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते ज्ञानार्णवे योगप्रदीपाधिकारे साम्यवर्णनं नाम चतुर्विंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥२४॥

---

२५ अथ पञ्चविंशः सर्गः।

आर्त्तध्यानका वर्णन

आगे ध्यानका वर्णन करते हैं—

साम्यश्रीर्नातिनिःशङ्कं सतामपि हृदि स्थितिम्।
धत्ते सुनिश्चलध्यानसुधासम्बन्धवर्जिते ॥१॥

अर्थ—सत्पुरुषोंका हृदय यदि भले प्रकार निश्चल ध्यानरूप अमृतके सम्बन्धसे रहित हो तो उसमें यह साम्यरूप लक्ष्मी अति निःशंकतासे अपनी स्थिति धारण नहीं करती। भावार्थ—समभाव ध्यानसे निश्चल ठहरता है इस कारण ध्यानका उपदेश है ॥१॥

यस्य ध्यानं सुनिष्कम्पं समत्वं तस्य निश्चलम्।
नानयोर्विद्ध्यधिष्ठानमन्योऽन्यं स्याद्विभेदतः ॥२॥

अर्थ—जिस पुरुषके ध्यान निश्चल है उसके समभाव भी निश्चल है इन दोनोंके अधिष्ठान (आधार) परस्पर भेदसे नहीं है अर्थात् ध्यानका आधार समभाव है और समभावका आधार ध्यान है ॥२॥

साम्यमेव न सद्ध्यानात्स्थिरीभवति केवलम्।
शुद्ध्यत्यपि च कर्मौघकलङ्की यन्त्रवाहकः ॥३॥

अर्थ—समीचीन प्रशस्त ध्यानसे केवल साम्य ही स्थिर नहीं होता, किन्तु कर्मके समूहसे मलिन यह यन्त्रवाहक जीव भी शुद्ध होता है अर्थात् ध्यानसे कर्मोंका क्षय भी होता है ॥३॥

यदैव संयमी साक्षात्समत्वमवलम्बते।
स्यात्तदैव परं ध्यानं तस्य कर्मौघघातकम् ॥४॥

अर्थ–जिस समय संयमी साक्षात् समभावको अवलंबन करता है उसी समय उसके कर्मसमूहका नाश करनेवाला ध्यान होता है। भावार्थ–समता भावके विना ध्यान कर्मोंका क्षय करनेका कारण नहीं होता ॥४॥

अनादिविभ्रमोद्भूतं रागादितिमिरं घनम् ।
स्फुटयत्याशु जीवस्य ध्यानार्कः प्रविजृम्भितः ॥५॥

अर्थ–अनादि कालके विभ्रमसे उत्पन्न हुआ रागादिक अन्धकार अति निबिड (सघन) है सो ध्यानरूपी सूर्य उदय हो कर जीवके उस अन्धकारको तत्काल दूर कर देता है ॥५॥

भवज्वलनसम्भूतमहादाहप्रशान्तये
शश्वद्ध्यानाम्बुधेर्धीरैरवगाहः प्रशस्यते ॥६।

अर्थ–संसाररूपी अग्निसे उत्पन्न हुए बड़े आतापकी प्रशान्तिके लिये धीरवीर पुरुषोंके द्वारा ध्यानरूपी समुद्रका अवगाहन (स्नान) करना ही प्रशंसा किया जाता है ॥६॥

ध्यानमेवापवर्गस्य मुख्यमेकं निबन्धनम् ।
तदेव दुरितव्रातगुरुकक्षहुताशनम् ॥७॥

अर्थ–यह प्रशस्त ध्यान ही मोक्षका एक प्रधान कारण है, और यह ही पापके समूहरूपी महावनके दग्ध करनेको अग्निके समान है ॥७॥

अपास्य खण्डविज्ञानरसिकां पापवासनाम् ।
असद्ध्यानानि चादेयं ध्यानं मुक्तिप्रसाधकम् ॥८॥

अर्थ–खण्डविज्ञान कहिये क्षयोपशम रागादि सहित ज्ञानमें आसक्तरूप पापकी वासनाको तथा अन्यान्य मतावलम्बियोंके माने हुए आर्त्त रौद्रादि असत् ध्यानोंको छोड़ कर मुक्तिको साधनेवाले ध्यानका आदर करना चाहिये अर्थात् ग्रहण करना चाहिये ॥८॥

अप्रशस्त ध्यान क्या है सो कहते है

अहो कैश्चिन्महामूढैरज्ञैः स्वपरवञ्चकैः ।
ध्यानान्यपि प्रणीतानि श्वभ्रपाताय केवलम् ॥९॥

अर्थ–अहो ! आश्चर्य है कि अनेक महामूर्ख अज्ञानी स्वपरको वंचनेवालोंने ध्यान भी केवल नरकमें के जानेवाले कहे हैं ॥९॥

विषायतेऽमृतं यत्र ज्ञानं मोहायतेऽथवा ।
ध्यानं श्वभ्रायते कष्टं नृणां चित्रं विचेष्टितम् ॥१०

अर्थ–यह बड़ा खेद है कि जहां अमृत तो विषके लिये हो और ज्ञान मोहके लिये हो और ध्यान नरकके लिये होता है सो जीवोंकी यह विपरीत चेष्टा आश्चर्य उत्पन्न करती है। भावार्थ जहां प्रशस्त वस्तु भी अप्रशस्त हो जाती है उसका यहां आश्चर्य किया है ॥१०॥

अभिचारपरैः कैश्चित्कामक्रोधादिवञ्चितैः ।
भोगार्थमरिघातार्थं क्रियते ध्यानमुद्धतैः ॥११॥
ख्यातिपूजाभिमानार्त्तैः कैश्चिच्चोक्तानि सूरिभिः ।
पापाभिचारकर्माणि क्रूरशास्त्राण्यनेकधा ॥१२॥
अनाप्ता वञ्चकाः पापाः दीना मार्गद्वयच्युताः ।
दिशंत्यज्ञेष्वनात्मज्ञा ध्यानमत्यन्तभीतिदम् ॥१३॥

अर्थ—अभिचार कहिये वश्याजनादिक व्यापार हो है आशय जिनके ऐसे तथा कई एक काम-क्रोधादिकसे वंचित हुए उद्धत पुरुषोंके द्वारा भोगोंके लिये और शत्रुओंके घातके लिये ध्यान किया जाता है ॥११॥ तथा कितनेक अन्यमती आचार्योंने ख्याति पूजा अभिमानसे पीड़ित हो कर पाप-कार्योंकी विधिवाले अनेक शास्त्र रचे है सो वे पापी है, अनाप्त हैं, कुमार्गको चलानेवाले हैं, ठग, हैं, दीन हैं, दोनो लोकके मार्गसे भ्रष्ट है, अनात्मज्ञ हैं अर्थात् जिनको अपनी आत्माका ज्ञान नहीं है । वे मूर्खोंमें ही अत्यन्त भयके देनेवाले ध्यानका उपदेश करे, विवेकी (ज्ञानी) पुरुष तो उनका उपदेश कदापि अंगीकार नहीं करते ॥१२–१३॥

इस कारण कहते हैं कि—

संसारसंभ्रमश्रान्तो यः शिवाय विचेष्टते ।
स युक्त्यागमनिर्णीते विवेच्य पथि वर्त्तते ॥१४॥

अर्थ—जो पुरुष ससारके भ्रमणसे खेदखिन्न हो कर मोक्षके लिये चेष्टा करता है वह तो विचार कर युक्ति और आगमसे निर्णय किये हुए मार्गमे ही प्रवर्त्तता है, उन ठगोंके प्ररूपण किये मार्गमें कदापि नहीं प्रवर्त्तता ॥१४॥

अब यहा ध्यानका स्वरूप कहते हैं—

उत्कृष्टकायबन्धस्य साधोरन्तर्मुहूर्त्ततः ।
ध्यानमाहुरथैकाग्रचिन्तारोधो बुधोत्तमाः ॥१५॥

अर्थ उत्कृष्ट है कायका बंध कहिये सहनन जिसके ऐसे साधुका अन्तर्मुहूर्त्तपर्यन्त एकाग्र चिन्ताके रोधनेको पंडित जन ध्यान कहते हैं । यही उमास्वामी महाराजने तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है कि-"उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्त्तात् ॥" अर्थात् उत्तम संहननवाले पुरुषके एकाग्र चिन्ताका रोध ही ध्यान है सो यह अन्तर्मुहूर्त्तपर्यन्त ही रहता है । इस प्रकार पूर्वाचार्योंने ध्यानका लक्षण कहा है ॥१५॥

एकचिन्तानिरोधो यस्तद्ध्यानमावना परा ।
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते ॥१६॥

अर्थ—जो एक चिन्ताका निरोध है–एक ज्ञेयमे ठहरा हुआ है वह तो ध्यान है और इससे भिन्न

है सो भावना है । उसे ध्यानके और भावनाके जाननेवाले विद्वान् अनुप्रेक्षा अथवा अर्थचिन्ता भी कहते हैं ॥१६॥

प्रशस्तेतरसंकल्पवशात्तद्भिद्यते द्विधा ।
इष्टानिष्टफलप्राप्तेर्बीजभूतं शरीरिणाम् ॥१७॥

अर्थ—वह पूर्वोक्त ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त भेदसे दो प्रकारका है, सो जीवोंके इष्ट अनिष्ट रूप फलकी प्राप्तिका बीजभूत (कारण स्वरूप) है । भावार्थ–प्रशस्त ध्यानसे उत्तम फल होता है और अप्रशस्त ध्यानसे बुरा फल होता है ॥१७॥

अस्तरागो मुनिर्यत्र वस्तुतत्त्वं विचिन्तयेत् ।
तत्प्रशस्तं मतं ध्यानं सूरिभिः क्षीणकल्मषैः ॥१८॥

अर्थ—जिस ध्यानमें मुनि अस्तराग (रागरहित) हो जाय और वस्तुस्वरूपका चिन्तवन करें उसको निष्पाप आचार्योंने प्रशस्त ध्यान माना है ॥१८॥

अज्ञातवस्तुतत्त्वस्य रागाद्युपहतात्मनः ।
स्वातन्त्र्यवृत्तिर्या जन्तोस्तदसद्ध्यानमुच्यते ॥१९॥

अर्थ—जिसने वस्तुका यथार्थ स्वरूप नहीं जाना तथा जिसका आत्मा रागद्वेष मोहसे पीडित है ऐसे जीवकी स्वाधीन प्रवृत्तिको अप्रशस्त ध्यान कहा जाता है । भावार्थ–अप्रशस्त ध्यान जीवोंके बिना उपदेशके स्वयमेव होता है, क्योंकि यह अनादि वासना है । ।१९॥

अब ध्यानके भेद कहते हैं—

आर्त्तरौद्रविकल्पेन दुर्ध्यानं देहिनां द्विधा ।
द्विधा प्रशस्तमप्युक्तं धर्मशुक्लविकल्पतः ॥२०॥

अर्थ—जीवोंके अप्रशस्त ध्यान आर्त्त रौद्र भेदसे दो प्रकारका है तथा प्रशस्त ध्यान भी धर्म और शुक्ल भेदसे दो प्रकारका कहा गया है ॥२०॥

स्यातां तत्रार्त्तरौद्रे द्वे दुर्ध्यानेऽत्यन्तदुःखदे ।
धर्मशुक्ले ततोऽन्ये द्वे कर्मनिर्मूलनक्षमे ॥२१॥

अर्थ—उक्त ध्यानोंमें आर्त्त रौद्र नामवाले दो जो अप्रशस्त ध्यान हैं वे तो अत्यन्त दुःख देनेवाले हैं, और दूसरे धर्म शुक्ल नामके दो प्रशस्त ध्यान हैं सो कर्मोंको निर्मूल करनेमें समर्थ है ॥२१॥

प्रत्येकं च चतुर्भेदैश्चतुष्टयमिदं मतम् ।
अनेकवस्तुसाधर्म्यवैधर्म्यालम्बनं यतः ॥२२॥

अर्थ—इन आर्त्त रौद्र धर्म शुक्ल ध्यानोंका चतुष्टय है, सो प्रत्येक ध्यान भिन्न २ चार चार भेदोंवाला माना गया है; क्योंकि यह चतुष्टय अनेक वस्तुओंका साधर्म्य वैधर्म्यके अवलम्बन करनेवाला है अर्थात् परस्पर विलक्षण है ॥२२॥

इनमेंसे प्रथम ही आर्त्तध्यानका स्वरूप और भेद कहते हैं —

ऋते भवमथार्त्तं स्यादसद्ध्यानं शरीरिणाम् ।
दिग्मोहान्मत्ततातुल्यमविद्यावासनावशात् ॥२३॥

अर्थ—ऋत कहिये पीड़ा–दुःखमें उपजे सो आर्त्तध्यान है, सो यह ध्यान अप्रशस्त है। जैसे किसी प्राणीके दिशाओंके भूल जानेसे उन्मत्तता होती है उसके समान है, और यह ध्यान अविद्या अर्थात् मिथ्या ज्ञानकी वासनाके वशसे उत्पन्न होता है ॥२३॥

अब इसके ४ भेद कहते हैं—

अनिष्टयोगजन्माद्यं तथेष्टार्थात्ययात्परम् ।
रुक्प्रकोपात्तृतीयं स्यान्निदानात्तुर्यमङ्गिनाम् ॥२४॥

अर्थ—पहिला आर्त्तध्यान तो जीवोंके अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे होता है, दूसरा आर्त्तध्यान इष्ट पदार्थके वियोगसे होता है, तीसरा आर्त्तध्यान रोगके प्रकोपकी पीड़ासे होता है और चौथा आर्त्तध्यान निदान कहिये आगामी कालमें भोगोंकी वांछाके होनेसे होता है। इस प्रकार ४ भेद आर्त्तध्यानके हैं।२४।

अब अनिष्ट संयोग नामा आर्त्तध्यानका स्वरूप कहते हैं—

मालिनी ।

ज्वलनवनविषास्त्रव्यालशार्दूलदैत्यैः
स्थलजलबिलसत्त्वैर्दुर्जनारातिभूपैः ।
स्वजनधनशरीरध्वंसिभिस्तैरनिष्टै-
र्भवति यदिह योगादाद्यमार्त्तं तदेतत् ॥२५॥

अर्थ—इस जगतमें अपना स्वजन धन शरीर इनके नाश करनेवाले अग्नि जल विष शस्त्र सर्प सिंह तथा स्थलके जीव जलके जीव बिलके जीव तथा दुष्ट जन वैरी राजा इत्यादि अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे जो हो सो पहिला आर्त्तध्यान है ॥२५॥

फिर भी कहते हैं

तथा चरस्थिरैर्भावैरनेकैः समुपस्थितैः ।
अनिष्टैर्यन्मनः क्लिष्टं स्यादार्त्तं तत्प्रकीर्तितम् ॥२६॥

अर्थ—तथा चर और स्थिर अनेक अनिष्ट पदार्थोंके प्राप्त होने पर जो मन क्लेशरूप हो उसको भी आर्त्तध्यान कहा है ॥२६॥

श्रुतैर्दृष्टैः स्मृतैर्ज्ञातैः प्रत्यासत्तिं च संश्रितैः ।
योऽनिष्टार्थैर्मनःक्लेशः पूर्वमार्त्तं तदिष्यते ॥२७॥

अर्थ—तथा जो सुने देखे स्मरणमें आये जाने हुए तथा निकट प्राप्त हुए अनिष्ट पदार्थोंसे मनको क्लेश हो उसे पहिला आर्त्तध्यान कहते हैं ॥२७॥

अशेषानिष्टसंयोगे तद्वियोगानुचिन्तनम् ।
यत्स्यात्तदपि तत्त्वज्ञैः पूर्वमार्त्तं प्रकीर्त्तितम् ॥२८॥

अर्थ—जो समस्त प्रकारके अनिष्ट पदार्थोंके संयोग होने पर उनके वियोग होनेका वारंवार चिन्तवन हो उसे भी तत्त्वके जाननेवालोंने पहिला अनिष्ट संयोग नामा आर्त्तध्यान कहा है ॥२८॥

अब दूसरे-इष्टवियोग नामा आर्त्तध्यानका वर्णन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

राज्यैश्वर्यकलत्रबान्धवसुहृत्सौभाग्यभोगात्यये ।
चित्तप्रीतिकरप्रसन्नविषयप्रध्वंसभावेऽथवा ।
संत्रासभ्रमशोकमोहविवशैर्यत्खिद्यतेऽहर्निशं
तत्स्यादिष्टवियोगजं तनुमतां ध्यानं कलङ्कास्पदम् ॥२९॥

अर्थ—जो राज्य ऐश्वर्य स्त्री कुटुंब मित्र सौभाग्य भोगादिके नाश होने पर, तथा चित्तको प्रीति उत्पन्न करनेवाले सुन्दर इन्द्रियोंके विषयोंका प्रध्वंसभाव होते हुऐ, संत्रास पीडा भ्रम शोक मोहके कारण निरन्तर खेदरूप होना सो जीवोंके इष्टवियोगजनित आर्त्तध्यान है, और यह ध्यान पापका स्थान है।२९।

दृष्टश्रुतानुभूतैस्तैः पदार्थैश्चित्तरञ्जकैः ।
वियोगे यन्मनः खिन्नं स्यादार्त्तं तद्द्वितीयकम् ॥३०॥

अर्थ—देखे सुने अनुभवे मनको रंजायमान करने वाले पूर्वोक्त पदार्थोंका वियोग होनेसे जो मनको खेद हो वह भी दूसरा आर्त्तध्यान है ॥३०॥

मनोज्ञवस्तुविध्वंसे मनस्तत्संगमार्थिभिः ।
क्लिश्यते यत्तदेतत्स्याद्द्वितीयार्त्तस्य लक्षणम् ॥३१॥

अर्थ—अपने मनकी प्यारी वस्तुसे विध्वंस होने पर उसकी प्राप्तिके लिये जो क्लेशरूप होना, सो दूसरे आर्त्तध्यानका लक्षण है । इस प्रकार दूसरा आर्त्तध्यान कहा ॥३१॥

अब तीसरे आर्त्तध्यानका वर्णन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

कासश्वासभगन्दरोदरजराकुष्ठातिसारज्वरैः
पित्तश्लेष्ममरुत्प्रकोपजनितैः रोगैः शरीरान्तकैः ।
स्यात्सत्त्वप्रबलैः प्रतिक्षणभवैर्यद्याकुलत्वं नृणां
तद्रोगार्त्तमनिन्दितैः प्रकटितं दुर्वारदुःखाकरं ॥३२॥

अर्थ—वातपित्तकफके प्रकोपसे उत्पन्न हुए शरीरको नाश करनेवाले वीर्यसे प्रबल और क्षण २ में उत्पन्न होनेवाले कास श्वास भगंदर जलोदर जरा कोढ अतिसार ज्वरादिक रोगोंसे मनुष्योंके जो व्याकुलता होती है उसे अनिंदित पुरुषोंने रोगपीडाचिन्तवननामा आर्त्तध्यान कहा है । यह ध्यान दुर्निवार और दुःखोंका आकर है, जो कि आगामी कालमें पापबन्धका कारण है ॥३२॥

स्वल्पानामपि रोगाणां माभूत्स्वप्नेऽपि संभवः ।
ममेति या नृणां चिंता स्यादार्त्तं तत्तृतीयकम् ॥३३॥

अर्थ—जीवोंके ऐसी चिंता हो कि मेरे किंचित् भी रोगकी उत्पत्ति स्वप्नमें भी न हो ऐसा चिंतवना सो तीसरा आर्त्तध्यान कहते है ॥३३॥

अब चौथे आर्त्तध्यानको कहते हैं —

स्रग्धरा ।

भोगा भोगीन्द्रसेव्यास्त्रिभुवनजयिनी रूपसाम्राज्यलक्ष्मी
राज्यं क्षीणारिचक्रं विजितसुरवधूलास्यलीलायुवत्यः ।
अन्यच्चानन्दभूतं कथमिह भवतीत्यादि चिन्तासुभाजां
यत्तद्भोगार्थमुक्तं परमगुणधरैर्जन्मसन्तानमूलं[1] ॥३४॥

अर्थ—धरणीन्द्रके सेवने योग्य तो भोग, और तीन भुवनको जीतनेवाली रूप साम्राज्यकी लक्ष्मी तथा क्षीण हो गये हैं शत्रुओंके समूह जिसमें ऐसा राज्य, और देवांगनाओंके नृत्यकी लीलाको जीतनेवाली स्त्री, इत्यादि और भी आनंदरूप वस्तुयें मेरे कैसे हो, इस प्रकारके चिंतवनको परम गुणों को धारण करनेवालोंने भोगार्त्त नामा चौथा आर्त्तध्यान कहा है । और यह ससारकी परिपाटीसे हुआ है और संसारका मूल कारण भी है ॥३४॥

पुनः ।

पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्जिनेन्द्रामराणां
यद्वा तैरेव वांछत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात् ।
पूजासत्कारलाभप्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पैः
स्यादार्त्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणां दुःखदावोग्रधाम ॥३५॥

अर्थ—जो प्राणी पुण्याचरणके समूहसे तीर्थंकरके अथवा देवोंके पदकी वाछा करें, अथवा उन ही पुण्याचरणोंसे अत्यन्त कोपके कारण शत्रुसमूहरूपी वृक्षोंके उच्छेदनेकी वाछा करे तथा उन विकल्पोंसे अपनी पूजा प्रतिष्ठा लाभादिककी याचना करें, उसको निदानजनित आर्त्तध्यान कहते हैं । यह ध्यान भी जीवोंको दु खरूपी अग्निका तीव्र स्थान है ॥३५॥

इष्टभोगादिसिद्ध्यर्थं रिपुघातार्थमेव वा ।
यन्निदानं मनुष्याणां स्यादार्त्तं तत्तुरीयकं ॥३६॥

अर्थ—मनुष्योके इष्ट भोगादिककी सिद्धिके लिये तथा शत्रुके घातके लिये निदान हो, सो चौथा आर्त्तध्यान है ॥३६॥

इन्द्रवज्रा

इत्थं चतुर्भिः प्रथितैर्विकल्पैरार्त्तं समासादिह हि प्रणीतम् ।
अनन्तजीवाशयभेदभिन्नं ब्रूते समग्रं यदि वीरनाथः ॥३७॥

---

1 "जन्मसन्तानसूत्र" इत्यपि पाठः ।

अर्थ--इस प्रकार चार भेदोके विस्तारसे इस शास्त्रमें आर्त्तध्यानका स्वरूप कहा। आर्तध्यान को जीवोंके आशयभेदसे भेदरूप कहा जाय तो वीरनाथ भगवान् ही कह सकते है, अन्यकी सामर्थ्य नहीं है ॥३७॥

अपथ्यमपि पर्यन्ते रम्यमप्यग्रिमक्षणे ।
विद्ध्यसद्ध्यानमेतद्धि षड्गुणस्थानभूमिकम् ॥३८॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यह आर्त्तध्यान प्रथम क्षणमें रमणीक है तथापि अन्तके क्षणमें अपथ्य है ऐसा इस अप्रशस्त ध्यानको जान। और यह ध्यान छट्ठे गुणस्थान तक होता है, यहां तक ही इसके उत्पन्न होने की भूमि है ॥३८॥

संयतासंयतेष्वेतच्चतुर्भेदं प्रजायते ।
प्रमत्तसंयतानां तु निदानरहितं त्रिधा ॥३९॥

अर्थ--यह आर्त्तध्यान संयतासंयतनामा पांचवें गुणस्थान पर्यन्त तो चार भेदरूप रहता हैं। किन्तु छट्ठे प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें निदानरहित तीन ही प्रकारका उत्पन्न होता है ॥३९॥

कृष्णनीलाद्यसल्लेश्याबलेन प्रविजृम्भते ।
इदं दुरितदावार्चिः प्रसूतेरिन्धनोपमं ॥४०॥

अर्थ—यह आर्त्तध्यान कृष्ण नील कापोत इन अशुभ लेश्याओंके बलसे प्रगट होता है सो पाप रूपी दावाग्निके उत्पन्न करनेको ईंधनके समान है ॥४०॥

एतद्विनापि यत्नेन स्वयमेव प्रसूयते ।
अनाद्यसत्समुद्भूतसंस्कारादेव देहिनाम् ॥४१॥

अर्थ—यह आर्त्तध्यान जीवोंके अनादि कालके अप्रशस्तरूप सरकारसे, विना यत्नके, स्वयमेव उत्पन्न होता है। अर्थात् विना उपदेशके संस्कारवशतः अपने आप प्रगट होता है ॥४१॥

अनन्तदुःखसंकीर्णमस्य तिर्यग्गतेः फलम् ।
क्षायोपशमिको भावः कालश्चान्तर्मुहूर्त्तकः ॥४२॥

अर्थ— इस आर्त्तध्यानका फल अनन्त दुःखोसे व्याप्त तिर्यंचगति है और यह भाव क्षायोपशमिक है और इसका काल अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है। एक ज्ञेय पर अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त ही रहता है, तत्पश्चात् ज्ञेयान्तर होता है ॥४२॥

शार्दूलविक्रीडितम्

शङ्काशोकभयप्रमादकलहश्चित्तभ्रमोद्भ्रान्तयः[1]
उन्मादो विषयोत्सुकत्वमसकृन्निद्राङ्गजाड्यश्रमाः ।
मूर्च्छादीनि शरीरिणामविरतं लिङ्गानि बाह्यान्यल-
मार्त्ताधिष्ठितचेतसां श्रुतधरैर्व्यावर्णितानि स्फुटम् ॥४३॥

---

[1] "चिन्ताभ्रमोद्भ्रान्तयः" इत्यपि पाठः ।

अर्थ–इस आर्त्तध्यानसे आश्रित चित्तवाले पुरुषोंके बाह्यचिह्न शास्त्रोंके पारगामी विद्वानोंने इस प्रकार कहे है कि प्रथम तो शङ्का होता है अर्थात् हर बातमें सन्देह होता है, फिर शोक होता है, भय होता है, प्रमाद होता है, सावधानी नहीं होती, कलह करता है, चित्तभ्रम हो जाता है, उद्भ्रान्ति हो जाती है चित्त एक जगह नहीं ठहरता, विषयसेवनमें उत्कंठा रहती है, निरन्तर निद्रागमन होता है, अंगमें जड़ता (शिथिलता) होती है, खेद होता है, मूर्च्छा होती है; इत्यादि चिह्न आर्त्तध्यानीके प्रकट होते हैं ॥४२॥

इस प्रकार आर्त्तध्यानका वर्णन किया, यह अप्रशस्त ध्यान स्वयमेव बिना उपदेश के संस्कारसे उत्पन्न होता है, सो त्यागने योग्य है ।

दोहा

दुःख के कारण आवतै, दुःखरूप परिणाम ।
भोग चाहि यह ध्यान दुर, आर्त्त तजो अघधाम ॥२५॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे आर्त्तध्यानवर्णनं नाम पञ्चविंशं प्रकरणं समाप्त ॥ २५ ॥

---

२६. अथ षड्विंशः सर्गः ।

रौद्रध्यानका वर्णन ।

—×—

आगे रौद्रध्यानका वर्णन करते है

रुद्राशयभवं भीममपि रौद्रं चतुर्विधम् ।
कीर्त्यमानं विदन्त्वार्याः सर्वसत्त्वाभयप्रदाः ॥ १ ॥

अर्थ–हे समस्त जीवोंको अभयदान देनेवाले आर्य पुरुषो ! रुद्र आशयसे उत्पन्न हुआ भयानक रौद्रध्यान भी चार प्रकारका कहा है, उसे जानो ॥ १ ॥

रुद्रः क्रूराशयः प्राणी प्रणीतस्तत्त्वदर्शिभिः ।
रुद्रस्य कर्मभावो वा रौद्रमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

अर्थ–तत्त्वदर्शी पुरुषोने क्रूर आशयवाले प्राणीको रुद्र कहा है; उस रुद्र प्राणीके कार्य अथवा उसके भाव (परिणाम) को रौद्र कहते है ॥ २ ॥

हिंसानन्दान्मृषानन्दाच्चौर्यात्संरक्षणात्तथा ।
प्रभवत्यङ्गिनां शश्वदपि रौद्रं चतुर्विधम् ॥ ३ ॥

अर्थ––हिंसामें आनन्द माननेसे, तथा मृषामें (असत्य कहनेमें) आनन्द माननेसे, चोरीमें आनन्द माननेसे, और विषयोंकी रक्षा करने में आनन्द माननेसे जीवोंके रौद्रध्यान भी निरन्तर चार प्रकारका होता है. अर्थात् हिंसानंद मृषानंद चौर्यानंद और संरक्षणानंद ये चार भेद रौद्रध्यानके हैं ॥३॥

प्रथम ही हिंसानंदनामा रौद्रध्यनको कहते हैं--

हते निष्पीडिते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते ।
स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्धिंसारौद्रमुच्यते ॥ ४ ॥

अर्थ--जीवोंके समूहको अपनेसे तथा अन्यके द्वारा मारे जाने पर, पीड़ित किये जाने पर तथा ध्वंस करने पर और घातनेके सम्बन्ध मिलाये जाने पर जो हर्ष माना जाय उसे हिंसानद नामा रौद्रध्यान कहते हैं ॥ ४ ॥

उपेन्द्रवज्रा ।

अनारतं निष्करुणस्वभावः स्वभावतः क्रोधकषायदीप्तः ।
मदोद्धतः पापमतिः कुशील स्यान्नास्तिको यः स हि रौद्रधामा ॥५॥

अर्थ--जो पुरुष निरन्तर निर्दय स्वभाववाला हो, तथा स्वभावसे ही क्रोधकषायसे प्रज्वलित हो तथा मदसे उद्धत हो, जिसकी बुद्धि पापरूप हो, तथा कुशीलो हो, व्यभिचारी हो, नास्तिक हो वह रौद्रध्यानका घर है, अर्थात् ऐसे पुरुषमे यह रौद्रध्यान बसता है ॥ ५ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

हिंसाकर्मणि कौशल निपुणता पापोपदेशे भृश
दाक्ष्य नास्तिकशासने प्रतिदिन प्राणातिपाते रतिः ।
संवासः सह निर्दयैरविरत नैसर्गिकी क्रूरता
यत्स्यात्देहभृता तदत्र गदित रौद्रं प्रशान्ताशयैः ॥ ६ ॥

अर्थ--जीवोंके हिंसाकर्ममें प्रवीणता हो, पापोपदेशमें निपुणता हो, नास्तिक मतमें चातुर्य हो, जीव घातनेमें निरन्तर प्रीति हो तथा निर्दयी पुरुषोंकी निरतर सगति हो, स्वभावसेह क्रूरता हो, दुष्ट भाव हो, उसको प्रशान्त चित्तवाले महापुरुषोने रौद्रध्यान कहा है ॥ ६ ॥

स्रग्धरा छन्द

केनोपायेन घातो भवति तनुमता कः प्रवीणोऽत्र हन्ता
हन्तुं कस्यानुरागः कतिभिरिह दिनैर्हन्यते जन्तुजातम् ।
हत्वा पूजा करिष्ये द्विजगुरुमरुता कीर्तिशान्त्यर्थमित्थ
यत्स्याद्धिंसाभिनन्दो जगति तनुभृता तद्धि रौद्रं प्रणीतम् ॥ ७ ॥

अर्थ--इस जगह जीवोंका घात किस उपायसे हो यहा घात करनेमें कौन चतुर है, घात करनेमें किसके अनुराग है, यह जीवोंका समूह कितने दिनोमे मारा जायगा, इन जीवोको मार कर बलि देकर कीर्ति और शान्तिके लिये ब्राह्मण गुरु देवोकी पूजा करूगा, इत्यादि प्रकारसे जीवोंकी हिंसा करनेमें जो आनन्द हो, उसको निश्चय करके रौद्रध्यान कहते है ॥ ७ ॥

मालिनी

गगनवनधरित्रीचारिणां देहभाजां
दलनदहनबन्धच्छेदघातेषु यत्नम् ।
दृतिनखकरनेत्रोत्पाटने कौतुकं यत्
तदिह गदितमुच्चैश्चेतसां रौद्रमित्थम् ॥८॥

अर्थ—नभश्चर पक्षी, जलचर मत्स्यादिक और स्थलचर पशु इन जीवोंका खंड करने दग्ध करने बाधने छेदन करने घातने आदिमें यत्न करना तथा इनके चर्म नख हाथ नेत्रादिकके नष्ट करने(उखाड़ने)में जो कौतूहलरूप (क्रीडारूप) परिणाम हो वही यहां रौद्रध्यान है, ऐसे ऊंचे चित्तवाले पुरुषोंके वचन हैं ॥८॥

अस्य घातो जयोऽन्यस्य समरे जायतामिति ।
स्मरत्यङ्गी तदप्याहू रौद्रमध्यात्मवेदिनः ॥ ९ ॥

अर्थ युद्धमें इसका घात हो और उसकी जीत हो इस प्रकार स्मरण करे (विचारें) उसे भी अध्यात्मके जाननेवालोंने रौद्र ध्यान कहा है ॥९॥

श्रुते दृष्टे स्मृते जन्तुवधाद्युरुपराभवे ।
यो हर्षस्तद्धि विज्ञेयं रौद्रं दुःखानलेन्धनम् ॥ १० ॥

अर्थ—जीवोंके जब बधनादि तीव्र दुःख वा अपमानके सुनने देखने वा स्मरण करनेमें जो हर्ष होता है उसे भी दुःखरूपी अग्निको ईंधन के समान रौद्रध्यान जानना ॥१०॥

अहं कदा करिष्यामि पूर्ववैरस्य निष्क्रयम् ।
अस्य चित्रैर्वधैश्चेति चिन्ता रौद्राय कल्पिता ॥ ११ ॥

अर्थ इस पूर्वकालके वैरीका अनेक प्रकारके घातसे मैं किस समय बदला लूंगा ऐसी चिन्ता भी रौद्रध्यानके लिए कही गई है ॥११॥

किं कुर्मः शक्तिवैकल्याज्जीवन्त्यद्यापि विद्विषः ।
तदमुत्र हनिष्यामः प्राप्य कालं तथा बलम् ॥ १२ ॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारें कि हम क्या करें? शक्ति न होनेके कारण शत्रु अभी तक जीते हैं नहीं तो कभीके मार डालते, अस्तु इस समय नहीं तो न सही, परलोकमें शक्तिको प्राप्त हो कर किसी समय अवश्य मारेंगे। इस प्रकार सङ्कल्प करना भी रौद्रध्यान है ॥ १२ ॥

मालिनी छन्द

अभिलषति नितान्तं यत्परस्यापकारं
व्यसनविशिखभिन्नं वीक्ष्य यत्तोषमेति ।
यदिह गुणगरिष्ठं द्वेष्टि दृष्ट्वान्यभूतिं
भवति हृदि सशल्यस्तद्धि रौद्रस्य लिङ्गम् ॥ १३ ॥

अर्थ—जो अन्यका बुरा चाहे तथा परको कष्ट आपदारूप बाणोंसे भेदा हुआ दुःखी देख कर संतुष्ट हो तथा गुणोंसे गरुवा देख अथवा अन्यकी संपदा देख कर द्वेषरूप हो अपने हृदयमें शल्य सहित हो सो निश्चय करके रौद्रध्यानका चिह्न है ॥ १३॥

हिंसानन्दोद्भवं रौद्रं वक्तुं कस्यास्ति कौशलम् ।
जगज्जन्तुसमुद्भूतविकल्पशतसम्भवम् ॥ १४ ॥

अर्थ—इस हिंसानन्दसे उत्पन्न हुए रौद्र ध्यानके कहनेको किसकी कुशलता (विद्वत्ता) है ? क्योंकि यह जगतके जीवोंके उत्पन्न हुए सैकड़ों विकल्पोंसे उत्पन्न होता है, इसके परिणाम अनेक प्राणियोंके अनेक प्रकारके होते हैं सो कहनेमें नहीं आ सकते ॥ १४ ॥

हिंसोपकरणादानं क्रूरसत्त्वेष्वनुग्रहं ।
निस्त्रिंशतादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनः ॥ १५ ॥

अर्थ—हिंसाके उपकरण शस्त्रादिकका संग्रह करना, क्रूर (दुष्ट) जीवों पर अनुग्रह करना और निर्दयतादिक भाव रौद्र ध्यानके देहधारियोंके बाह्य चिह्न हैं ॥ १५ ॥

इस प्रकार हिंसानंदनामा प्रथम रौद्रध्यानका वर्णन किया । अब दूसरे मृषानन्दनामा रौद्रध्यानका वर्णन करते हैं —

असत्यकल्पनाजालकश्मलीकृतमानसः ।
चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम् ॥ १६ ॥

अर्थ - जो मनुष्य असत्य झूठी कल्पनाओंके समूहसे पापरूपी मैलसे मलिनचित्त होकर जो कुछ चेष्टा करे उसे निश्चय करके मृषानन्दनामा रौद्रध्यान कहा है ॥ १६ ॥

विधाय वञ्चकं शास्त्रं मार्गमुद्दिश्य निर्दयम्
प्रपात्य व्यसने लोकं मोक्ष्येऽहं वाञ्छितं सुखम् ॥ १७ ॥

उपजातिः

असत्य चातुर्यबलेन लोकाद्वित्तं ग्रहिष्यामि बहुप्रकारं ।
तथाश्वमातङ्गपुराकराणि कन्यादिरत्नानि च बन्धुराणि ॥ १८ ॥
असत्यवाग्वञ्चनया नितान्तं प्रवर्त्तयत्यत्र जनं वराकम् ।
सद्धर्ममार्गादतिवर्त्तनेन मदोद्धतो यः स हि रौद्रधामा ॥ १९ ॥

अर्थ—जो पुरुष इस जगतमें समीचीन सत्य धर्मके मार्गको छोड़ कर प्रवर्त्ते और मदसे उद्धत हो इस प्रकार चिन्तवन करे कि ठगाईके शास्त्रोंको रच कर, असत्य दया रहित मार्गको चला कर, जगतको उस मार्गमें तथा कष्ट आपदाओं में डाल कर, अपने मनोवांछित सुख मैं ही भोगूं; तथा इसप्रकार विचारे कि असत्य चतुराईके प्रभावसे लोगोंसे बहुत प्रकारसे धन ग्रहण करूंगा तथा घोड़े हस्ती नगर रत्नोंके समूह सुंदर कन्यादिक रत्न ग्रहण करूंगा । इस प्रकार जो सद्धर्म मार्गसे च्युत होकर असत्य वचनोंकी

ठगविद्यासे अत्यन्त भोले जीवोंको प्रवर्त्तावें वह मदोद्धत पुरुष रौद्रध्यानका मंदिर (घर) है अर्थात् उसमें मृषानंदनामा रौद्रध्यान रहता है ॥१७-१८-१९॥

आर्यावृत्तम्

असत्यसामर्थ्यवशादरातीन् नृपेण वान्येन च घातयामि ।
अदोषिणां दोषचयं विधाय चिन्तेति रौद्राय मता मुनीन्द्रैः ॥२०॥

अर्थ—मैं अदोषियोंमें दोषसमूहको सिद्ध करके अपने असत्य सामर्थ्यके प्रभावसे अपने दुश्मनोंको राजाके द्वारा वा अन्य किसीके द्वारा घात कराऊंगा; इस प्रकार चिन्ता करनेको भी मुनींद्रोंने रौद्रध्यान माना है ॥२०॥

पातयामि जनं मूढं व्यसनेऽनर्थसंकटे ।
वाक्कौशल्यप्रयोगेण वाञ्छितार्थप्रसिद्धये ॥२१॥

अर्थ—तथा जो इस प्रकार विचार करें कि मै वचनकी प्रवीणताके प्रयोगोंसे वांछित प्रयोजनकी सिद्धिके लिये मूढ जनोंको अनर्थके संकटमें डाल दूं ऐसा चतुर हूं, इस प्रकारका विचार भी रौद्रध्यान है ॥२१॥

वंशस्थम्

इमान् जडान् बोधविचारविच्युतान् प्रतारयाम्यद्य वचोभिरुन्नतैः ।
अमी प्रवर्त्स्यन्ति मदीयकौशलादकार्यवर्येष्विति नात्र संशयः ॥२२॥

अर्थ—फिर इस प्रकार विचार करे कि ये ज्ञानरहित मूर्ख प्राणी हैं, इनको ऊंचे चतुराईके वचनोंसे अभी ठग लेता हूं मैं ऐसा चतुर हूं। तथा ये प्राणी मेरी प्रवीणतासे बडे अकार्योंमें प्रवर्त्तेंगे ही, इसमें कुछ संदेह नहीं है, ऐसे विचारको भी रौद्रध्यान कहते हैं ॥२२॥

अनेकासत्यसंकल्पैर्यः प्रमोदः प्रजायते ।
मृषानन्दात्मकं रौद्रं तत्प्रणीतं पुरातनैः ॥२३॥

अर्थ—इस प्रकार अन्य भी अनेक प्रकारके असत्य संकल्पोंसे जो प्रमोद (हर्ष) उत्पन्न हो उसे पुरातन पुरुषोंने रौद्रध्यान कहा है ॥२३॥

इस प्रकार रौद्रध्यानके दूसरे भेद मृषानन्दका वर्णन किया। अब चौर्यानन्द नामक तीसरे भेदका वर्णन करते है—

चौर्योपदेशबाहुल्यं चातुर्यं चौर्यकर्मणि ।
यच्चौर्यैकपरं चेतस्तच्चौर्यानन्द इष्यते ॥२४॥

अर्थ—जो चोरीके कार्योंके उपदेशकी अधिकता तथा चौर्यकर्ममें चतुरता तथा चोरीके कार्योंमें ही तत्परचित्त हो उसे चौर्यानंदनामा रौद्रध्यान माना है ॥२४॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

यच्चौर्याय शरीरिणामहरहश्चिन्ता समुत्पद्यते
कृत्वा चौर्यमपि प्रमोदमतुलं कुर्वन्ति यत्संततम् ।
चौर्येणापि हृते परैः परधने यज्जायते संभ्रम-
स्तच्चौर्यप्रभवं वदन्ति निपुणा रौद्रं सुनिन्दास्पदम् ॥२५॥

अर्थ—जीवोंके चौर्यकर्मके लिये निरन्तर चिन्ता उत्पन्न हो तथा चोरीकर्म करके भी निरंतर अतुल हर्ष मानें आनंदित हो तथा अन्य कोई चोरीके द्वारा परधनको हरें उसमें हर्ष माने उसे निपुण पुरुष चौर्य कर्मसे उत्पन्न हुआ रौद्रध्यान कहते हैं, यह ध्यान अतिशय निंदाका कारण है ॥२५॥

उपजातिः

कृत्वा सहायं वरवीरसैन्यं तथाभ्युपायांश्च बहुप्रकारान् ।
धनान्यलभ्यानि चिरार्जितानि सद्यो हरिष्यामि जनस्य धात्र्याम् ॥२६॥

अर्थ—इस धरित्री (पृथिवी) में लोगोंके धन अलभ्य हैं तथा बहुत कालके संचित किये हुए हैं तो भी मै बडे २ सुभटोंकी सेनाकी सहायतासे तथा अनेक उपायोंसे तत्काल ही हर लाऊंगा ऐसा चोर हूं ॥२६॥

आर्या ।

द्विपदचतुष्पदसारं धनधान्यवराङ्गनासमाकीर्णम् ।
वस्तु परकीयमपि मे स्वाधीन चौर्यसामर्थ्यात् ॥२७॥

उपजाति ।

इत्थं चुरायां विविधप्रकारः शरीरिभिर्यः क्रियतेऽभिलाषः ।
अपारदुःखार्णवहेतुभूतं रौद्रं तृतीयं तदिह प्रणीतम् ॥२८॥

अर्थ—तथा परके द्विपद चौपदोंमें जो सार हैं अर्थात् उत्तम हैं तथा धन धान्य श्रेष्ठ स्त्री सहित अन्यकी जो वस्तुयें हैं सो मेरी चोरी कर्मकी सामर्थ्यसे मेरे ही स्वाधीन है ऐसा विचार करें ॥२७॥ इस प्रकार चोरीमें जीवोंके द्वारा जो अनेक प्रकारसो वांछा की जाय सो रौद्रध्यान है; यह रौद्रध्यान अपार दुःखरूपी समुद्रमें पटकनेका कारणभूत है ॥२८॥

इस प्रकार रौद्रध्यानके तीसरे भेद चौर्यानंदनामा ध्यानका वर्णन किया । आगे विषयसंरक्षणनाम रौद्रध्यानके चौथे भेदका वर्णन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम्

बह्वारम्भपरिग्रहेषु नियतं रक्षार्थमभ्युद्यते ।
यत्संकल्पपरम्परां वितनुते प्राणीह रौद्राशयः ।
यच्चालम्ब्य महत्वमुन्नतमना राजेत्यहं मन्यते
तत्तुर्यं प्रवदन्ति निर्मलधियो रौद्रं भवाशंसिनाम् ॥२९॥

अर्थ—यह प्राणी रौद्र (क्रूर) चित्त हो कर बहुत आरंभ परिग्रहोंके रक्षार्थ नियमसे उद्यम करे और उसमें ही संकल्पकी परंपराको विस्तारे तथा रौद्रचित्त हो कर ही महत्ताका अवलंबन करके उन्नतचित्त हो, ऐसा माने कि मैं राजा हूं, ऐसे परिणामको निर्मल बुद्धिवाले महापुरुष संसारकी वांछा करनेवाले जीवोके चौथा रौद्रध्यान कहते हैं ॥२९॥

उपजातिः

आरोप्य चापं निशितैः शरौघैर्निकृत्य वैरिव्रजमुद्धताशयम् ।
दग्ध्वा पुरग्रामवराकराणि प्राप्स्येऽहमैश्वर्यमनन्यसाध्यम् ॥३०॥

इन्द्रवज्रा ।

आच्छिद्य गृह्णन्ति धरां मदीयां कन्यादिरत्नानि च दिव्यनारीं ।
ये शत्रवः सम्प्रति लुब्धचित्तास्तेषां करिष्ये कुलकक्षदाहम् ॥३१॥

मालिनी ।

सकलभुवनपूज्यं वीरवर्गोपसेव्यं
स्वजनधनसमृद्धं रत्नरामाभिरामम् ।
अमितविभवसारं विश्वभोगाधिपत्यं
प्रबलरिपुकुलान्तं हन्त कृत्वा मयाप्तम् ॥३२॥

उपजातिः ।

भित्वा भुवं जन्तुकुलानि हत्वा प्रविश्य दुर्गाण्युदधिं विलङ्घ्य ।
कृत्वा पदं मूर्ध्नि मदोद्धतानां मयाधिपत्यं कृतमत्युदारम् ॥३३॥
जलानलव्यालविषप्रयोगैर्विश्वासभेदप्रणिधिप्रपञ्चैः ।
उत्साद्य निःशेषमरातिचक्रं स्फुरत्ययं मे प्रबलप्रतापः ॥३४॥
इत्यादिसंरक्षणसन्निबन्धं सचिन्तनं यत्क्रियते मनुष्यैः ।
संरक्षणानन्दभवं तदेतद्रौद्रं प्रणीतं जगदेकनाथैः ॥३५॥

अर्थ—जगतके अद्वितीय नाथ सर्वज्ञ देवने मनुष्योंके आगे लिखे विचारोंको विषय संरक्षणके आनंदसे उत्पन्न हुआ रौद्र ध्यान कहा है। जैसे मनुष्य विचारे कि मै तीक्ष्ण बाणोंके समूहोंसे धनुषको आरोपण करके उद्धताशय वैरियोंके समूहको छेदनपूर्वक उनके पुर ग्राम श्रेष्ठ आकर (खानि) आदिको दग्ध करके दूसरोंके द्वारा साधनेमें न आवे ऐसे ऐश्वर्य व निष्कंटक राज्यको प्राप्त होऊंगा ॥३०॥ तथा जो वैरी इस समय मेरी पृथ्वि कन्या आदि रत्नों और सुन्दर स्त्रीको लुब्धचित्त हुए छीन कर लेते हैं उनके कुलरूपी वनको मै दग्ध करूंगा ॥३१॥ तथा अहो ! देखो, जो समस्त भुवनोंके जीवोंके द्वारा पूजनीय, सुभटोंके समूहसे सेवने योग्य, स्वजन धनादिकसे पूर्ण, रत्न और स्त्रियोंसे सुन्दर अमर्यादित विभवके सार ऐसे समस्त भोगोंका स्वामित्व अपने शत्रुओंके समूहको नाश करके मैंने पाया है।३२। तथा पृथ्वीको भेद कर जीवोंके समूहको मार कर, दुर्ग (गढों)में प्रवेश करके, समुद्रको उलंघ करके,

बड़े गर्वसे उद्धत शत्रुओंके मस्तक पर पांव देकर मैंने उदार स्वामिपना वा राज्य किया है ॥३३॥ तथा जल अग्नि सर्प विषादिकके प्रयोगोंसे विश्वास दिलाना, भेद करना, दूतभेद करना इत्यादि प्रपंचोंसे शत्रुओंके समस्त समूहोंका नाश करके यह मेरा प्रबल प्रताप है सो स्फुरायमान है (प्रगट), मैं ऐसा ही प्रतापी हूं ॥३४॥ इत्यादि मनुष्योंके विषयसंरक्षणके सन्निबंध कारणोंका जो चिंतवन करना उसको ही जिनेन्द्र भगवानने चौथा रौद्रध्यान कहा है ॥३५॥

इस प्रकार रौद्रध्यानका वर्णन किया। अब इसमें लेश्या तथा चिह्नादिकका वर्णन करते हैं—

> कृष्णलेश्याबलोपेतं श्वभ्रपातफलांङ्कितम्।
> रौद्रमेतद्धि जीवानां स्यात्पञ्चगुणभूमिकम् ॥३६॥

अर्थ—यह रौद्रध्यान कृष्ण लेश्याके बल कर तो संयुक्त है और नरकपातके फलसे चिह्नित है तथा पंचम गुणस्थान पर्यन्त कहा गया है ॥३६॥

प्रश्न—यहां कोई प्रश्न करे कि रौद्रध्यान पांचवे गुणस्थानमें कहा सो सिद्धान्तमें पांचवे गुणस्थानमें लेश्या तो शुभ कही है और नरक आयुका बंध भी नहीं है सो पंचम गुणस्थानमें रौद्रध्यान कैसे हो ?॥

उत्तर—यह रौद्रध्यानका वर्णन प्रधानतासे मिथ्यात्वकी अपेक्षा है। पांचवे गुणस्थानमें सम्यक्त्वकी सामर्थ्यसे ऐसे रौद्र परिणाम नहीं होते। कुछ गृहकार्यके संस्कारसे किंचित् लेशमात्र होता है उसकी अपेक्षा कहा है, सो यह नरकगतिका कारण नहीं है।

> क्रूरता दण्डपारुष्यं वञ्चकत्वं कठोरता।
> निस्त्रिंशत्वं च लिङ्गानि रौद्रस्योक्तानि सूरिभिः ॥३७॥

अर्थ—तथा क्रूरता (दुष्टता), दंडकी परुषता, वञ्चकता, कठोरता, निर्दयता ये रौद्रध्यानके चिह्न आचार्योंने कहे हैं ॥३७॥

> विस्फुलिङ्गनिभे नेत्रे भ्रूवक्रा भीषणाकृतिः।
> कम्पः स्वेदादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनाम् ॥३८॥

अर्थ—अग्निके फुलिंग समान लाल नेत्र हों, भौहें टेढी हों, भयानक आकृति हो, देहमें कंपन वा पसेवोंका होना इत्यादि रौद्रध्यानके बाह्य चिह्न है ॥३८॥

> क्षायोपशमिको भावः कालश्चान्तर्मुहूर्त्तकः।
> दुष्टाशयवशादेतदप्रशस्तावलम्बनम् ॥३९॥

अर्थ—यह रौद्रध्यान क्षायोपशमिक भाव है, इसका काल अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त है, और यह दुष्टाशयके वशसे अप्रशस्त वस्तुका अवलंबन करनेवाला है अर्थात् यह ध्यान खोटी वस्तु पर ही होता है ॥३९॥

> दहत्येव क्षणार्द्धेन देहिनामिदमुत्थितम्।
> असद्ध्यानं त्रिलोकश्रीप्रसवं धर्मपादपम् ॥४०॥

अर्थ—यह अप्रशस्त ध्यान जीवोंके होता है तब तीन लोककी लक्ष्मीके उत्पन्न करनेवाले धर्मरूपी वृक्षको क्षणार्द्धमें जला देता है ॥४०॥

अब आर्त्तरौद्र ध्यानोंका संक्षेप कहते हैं—

उपजाति[1] ।

इत्यार्त्तरौद्रे गृहिणामजस्रं ध्याने सुनिन्द्ये भवतः स्वतोऽपि ।
परिग्रहारम्भकषायदोषैः कलङ्कितेऽन्तःकरणे विशङ्कम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—इस प्रकार ये आर्त्त और रौद्रध्यान गृहस्थियोंके परिग्रह आरभ और कषायादि दोषोंसे मलिन अन्तःकरणमें स्वयमेव निरन्तर होते है, इसमें कुछ भी शंका नहीं है, ये दोनों ध्यान निन्दनीय हैं ॥४१॥

क्वचित्क्वचिदमी भावाः प्रवर्त्तन्ते मुनेरपि ।
प्राक्कर्मगौरवाच्चित्रं प्रायः संसारकारणम् ॥४२॥

अर्थ—ये भाव किसी २ समय पूर्वकर्मके गौरवसे मुनिके भी होते है सो यह पूर्वकर्मके उदयकी विचित्रता है, बाहुल्यसे ये ससारके कारण है ॥४२॥

स्वयमेव प्रजायन्ते विना यत्नेन देहिनाम् ।
अनादिदृढसंस्काराद्दुर्ध्यानानि प्रतिक्षणम् ॥४३॥

अर्थ—ये दुर्ध्यान हैं सो जीवोंके अनादि कालके संस्कारसे विना ही यत्नके स्वयमेव निरन्तर उत्पन्न होते हैं, कर्मका उदय प्रबल है ॥४३॥

मालिनी ।

इति विगतकलंकैर्वर्णितं चित्ररूप
दुरितविपिनबीजं निन्द्यदुर्ध्यानयुग्मम् ।
कटुकतरफलाढ्यं[2] सम्यगालोच्य धीर
त्यज सपदि यदि त्वं मोक्षमार्गे प्रवृत्तः ॥४४॥

अर्थ—आचार्य उपदेश करते हैं कि हे धीर पुरुष ! जो तू मोक्षमार्गमें प्रवर्त्ता है तो उपर्युक्त प्रकार अनेकरूप निन्दनीय दुर्ध्यानका युग्मरूप कलंक जिनका दूर हो गया ऐसे महापुरुषोंने वर्णन किया है उसको भले प्रकार विचार करके शीघ्र ही छोड़, क्योंकि यह दुर्ध्यानका युग्म है सो पापरूपी वनका बीज है । जितने पाप है, वे इनसे ही उपजे हैं, अतिशय कठिन फलसयुक्त है, तीव्र दुःख ही इसका फल है ॥४४॥

इस प्रकार आर्त्त रौद्र दोनों ध्यानका वर्णन किया । यहा तात्पर्य यह है कि इन दोनों अप्रशस्त ध्यानोंको त्यागनेसे प्रशस्त ध्यान धर्मध्यान शुक्लध्यानकी प्रवृत्ति होती है ।

---

१ "वर्जित' इत्यपि पाठः । २ 'कुदृढकन्द" इत्यादि पाठः ।

दोहा ।

पंच पापमें हर्ष जो, रौद्रध्यान अघखानि ।
आर्त्त कह्यो दुःखमगनता, दोऊ तज निजजानि ॥२६॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे आर्त्तरौद्रध्याननाम षड्विंशं प्रकरणं ॥२६॥

२७. अथ सप्तविंशः सर्गः ।

ध्यान विरुद्ध स्थान वर्णन ।

आगे धर्मध्यानका स्वरूप कहते हैं--

अथ प्रशममालम्ब्य विधाय स्ववशं मनः ।
विरज्य कामभोगेषु धर्मध्यानं निरूपय ॥१॥

अर्थ--हे आत्मन् ! तू प्रशमताका (मन्द कषायरूप विरुद्ध भावोंका) अवलंबन करके अपने मनको वश कर और कामभोगोंकी इच्छामें अर्थात् विषयसेवनादिकमें विरक्त हो कर धर्म ध्यानको विचारपूर्वक देख ॥१॥

तदेव प्रक्रमायातं सविकल्पं समासतः ।
आरम्भफलपर्यन्तं प्रोच्यमानं विबुध्यताम् ॥२॥

अर्थ--वही धर्मध्यान आचार्योंकी परिपाटीसे (गुरु-आम्नायसे) चला आया भेदों सहित संक्षेपसे कहा आरंभसे फलपर्यन्त जानना चाहिये ॥२॥

ज्ञानवैराग्यसंपन्नः संवृतात्मा स्थिराशयः ।
मुमुक्षुरुद्यमी शान्तो ध्याता धीरः प्रशस्यते ॥३॥

अर्थ--इस धर्मध्यानका करनेवाला ध्याता यथार्थ वस्तुका ज्ञान और संसारसे वैराग्य सहित हो, इन्द्रिय मन जिसके वश हो, स्थिरचित्त और मुक्तिका इच्छुक हो, तथा आलस्य रहित उद्यमी और शान्तपरिणामी हो, तथा धैर्यवान् हो, वही प्रशंसनीय है ॥३॥

चतस्रो भावना धन्याः पुराणपुरुषाश्रिताः ।
मैत्र्यादयश्चिरं चित्ते ध्येया धर्मस्य सिद्धये ॥४॥

अर्थ--तथा मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावनाओंको पुराणपुरुषोंने (तीर्थंकरादिकोंने) आश्रित किया है इस कारण धन्य (प्रशंसनीय) हैं, सो धर्मध्यानकी सिद्धिके लिये इन चारों भावनाओंको चित्तमें ध्यावना चाहिए ॥४॥

अब प्रथम ही मैत्री भावनाको कहते हैं---

क्षुद्रेतरविकल्पेषु चरस्थिरशरीरिषु ।
सुखदुःखाद्यवस्थासु संसृतेषु यथायथम् ॥५॥

नानायोनिगतेष्वेषु समत्वेनाविराधिका ।
साध्वी महत्वमापन्ना मतिर्मैत्रीति पठ्यते ॥६॥

अर्थ—क्षुद्र (सूक्ष्म) इतर बादर भेदरूप त्रस स्थावर प्राणी सुखदुःखादि अवस्थाओं में जैसे तैसे तिष्ठे हों तथा नानाभेदरूप योनियोंमें प्राप्त होनेवाले जीवोंमें समानतासे विराधनेवाली नहीं ऐसी महत्ताको प्राप्त हुई समीचीनबुद्धि मैत्री भावना कही जाती है ॥५-६॥

जीवन्तु जन्तवः सर्वे क्लेशव्यसनवर्जिताः ।
प्राप्नुवन्तु सुखं त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम् ॥७॥

अर्थ—इस मैत्रीभावनामें ऐसी भावना रहे कि ये सब जीव कष्ट आपदाओंसे वर्जित हो जीओ, तथा वैर पाप अपमानको छोड़ कर सुखको प्राप्त होओ; इसप्रकारकी भावनाको मैत्रीभावना कहते हैं ॥७॥

अब करुणाभावनाको कहते हैं ।

दैन्यशोकसमुत्रासे रोगपीडार्दितात्मसु ।
वधबन्धनरुद्धेषु याचमानेषु जीवितम् ॥८॥
क्षुत्तृट्श्रमाभिभूतेषु शीताद्यैर्व्यथितेषु च ।
अविरुद्धेषु निस्त्रिंशैर्यात्यमानेषु निर्दयम् ॥९॥
मरणार्त्तेषु जीवेषु यत्प्रतीकारवाञ्छया ।
अनुग्रहमतिः सेयं करुणेति प्रकीर्त्तिता ॥१०॥

अर्थ—जो जीव दीनतासे तथा शोक भय रोगादिककी पीड़ासे दुःखित हों, पीड़ित हों तथा वध (घात) बंधन सहित रोके हुए हों अथवा अपने जीवन की वांछा करते हुये कि कोई हमको बचाओ ऐसे दीन प्रार्थना करनेवाले हों तथा क्षुधा तृषा खेद आदिकसे पीड़ित हों, तथा शीत उष्णतादिकसे पीड़ित हों तथा पुरुषोंकं निर्दयतासे रोके (पीड़ित किये) हुए मरणके दुःखको प्राप्त हों, इस प्रकार दुःखी जीवोंको देखने सुननेसे उनके दुःख दूर करनेके उपाय करनेकी बुद्धि हो उसे करुणा नामकी भावना कहते हैं ॥८-९-१०॥

अब प्रमोदभावनाको कहते हैं—

तपःश्रुतयमोद्युक्तचेतसां ज्ञानचक्षुषाम् ।
विजिताक्षकषायाणां स्वतत्त्वाभ्यासशालिनाम् ॥११॥
जगत्त्रयचमत्कारिचरणाधिष्ठितात्मनाम्
तद्गुणेषु प्रमोदो यः सद्भिः सा मुदिता मता ॥१२॥

अर्थ—जो पुरुष तप शास्त्राध्ययन और यम नियमादिकमें उद्यमयुक्त चित्तवाले हैं, तथा ज्ञान ही जिनके नेत्र हैं, इन्द्रिय, मन और कषायोंको जीतनेवाले हैं तथा स्वतत्त्वाभ्यास करनेमें चतुर हैं, जगतको

अलंकृत करनेवाले चारित्रसे जिनका आत्मा अधिष्ठित (आश्रित) है ऐसे पुरुषोंके गुणोंमें प्रमोदका (हर्षका) होना सो मुदिता कहिये प्रमोद भावना है ॥११-१२

अब माध्यस्थ भावनाको कहते है—

क्रोधविद्धेषु सत्वेषु निस्त्रिंशक्रूरकर्मसु ।
मधुमांससुरान्यस्त्रीलुब्धेष्वत्यन्तपापिषु ॥१३॥
देवागमयतिव्रातनिन्दकेष्वात्मशंसिषु ।
नास्तिकेषु च माध्यस्थ्यं यत्सोपेक्षा प्रकीर्त्तिता ॥१४॥

अर्थ—जो प्राणी क्रोधी हों, निर्दय व क्रूरकर्मी हो तथा मधु मांस मद्य और परस्त्रीमें लुब्ध (लम्पट)तथा आसक्त व्यसनी हों, और अत्यंत पापी हो तथा देवशास्त्र गुरुओंके समूहको निंदा करने वाले और अपनी प्रशंसा करनेवाले हो तथा नास्तिक हों ऐसे जीवोंमें रागद्वेषरहित मध्यस्थभाव होना सो उपेक्षा कही है। उपेक्षा नाम उदासीनता (वीतरागता) का है सो यही मध्यस्थभावना है ॥१३-१४॥

एता मुनिजनानन्दसुधास्यन्दैकचन्द्रिकाः ।
ध्वस्तरागाद्युरुक्लेशा लोकाग्रपथदीपिकाः ॥१५॥

अर्थ—इस प्रकार ये ४ भावनायें कहीं सो मुनिजनोंके आनंदरूप अमृतके झरनेको चन्द्रमाकी चांदनाके समान है। क्योंकि इनसे रागादिकका बड़ा क्लेश ध्वस्त हो जाता है। अर्थात् जो इन भावनाओंसे युक्त हो उसके कषायरूप परिणाम नहीं होने, तथा ये भावनायें लोकाग्रपथको (मोक्षमार्गको) प्रकाश करनेके लिये दीपिका (चिराग) है ॥१५॥

एताभिरनिशं योगी क्रीडन्नत्यन्तनिर्भरम् ।
सुखमात्मोत्थमत्यक्षमिहैवास्कन्दति ध्रुवम् ॥१६॥

अर्थ इन भावनाओंमें रमता हुआ योगी अत्यंत सातिशय आत्मासे उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय सुखको इसी लोकमें निश्चय करके प्राप्त होता है ॥१६॥

भावनास्वासु संलीनः करोत्यध्यात्मनिश्चयम् ।
अवगम्य जगद्वृत्तं विषयेषु न मुह्यति ॥१७॥

अर्थ—तथा इन भावनाओ में लीन हुआ मुनि जगतके वृत्तांतको जान कर अध्यात्मका निश्चय करता है, और जगतके प्रवर्त्तनमें तथा इन्द्रियोंके विषयोमें मोहको प्राप्त नहीं होता, अर्थात् स्वकीय स्वरूपके सन्मुख रहता है ॥१७॥

योगनिद्रा स्थितिं धत्ते मोहनिद्रापसर्पति
आसु सम्यक्प्रणीतासु स्यान्मुनेस्तत्त्वनिश्चयः ॥१८॥

अर्थ—इन भावनाओंको भले प्रकार गोचरीभूत (अभ्यस्त) करने पर मुनिके मोहनिद्रा तो नष्ट हो जाती है और योग (ध्यान) की निद्रा स्थितिको धारण करती है और उसी मुनिके तत्त्वोंका निश्चय होता है ॥१८॥

आभिर्यदानिशं विश्वं भावयत्यखिलं वशी ।
तदौदासीन्यमापन्नश्चरत्यत्रैव मुक्तवत् ॥१९॥

अर्थ—जिस समय मुनि इन भावनाओंके वशी हो कर समस्त जगतको भावता है तब वह मुनि उदासीनताको प्राप्त हो कर इसी लोकमें मुक्तके समान प्रवर्त्तता है; अर्थात् मुक्तिकेसे सुखानुभवको प्राप्त होता है ॥२९॥

इस प्रकार शुभ ध्यानकी सामग्री स्वरूप चार भावनाओंका वर्णन किया, इनको भावनेवालेके ध्यानकी सिद्धि होती है। अब ध्यानके योग्य स्थान तथा उसके अयोग्य स्थानका वर्णन करते हैं—

रागादिवागुराजालं निकृत्याचिन्त्यविक्रमः ।
स्थानमाश्रयते धन्यो विविक्तं ध्यानसिद्धये ॥२०॥

अर्थ—जो मुनि धन्य (महाभाग्य) है वह रागादिकरूप फांसीके जालको काट कर अचिन्त्य पराक्रमवाला हो कर ध्यानकी सिद्धिके लिये निर्जन (एकान्त) स्थानको आश्रय करता है। क्योंकि एकान्त स्थानमें रहे विना ध्यानकी सिद्धि नहीं होती ॥२०॥

कानिचित्तत्र शस्यन्ते दूष्यन्ते कानिचित्पुनः ।
ध्यानाध्ययनसिद्ध्यर्थं स्थानानि मुनिसत्तमैः ॥२१॥

अर्थ—ध्यानकी और शास्त्राध्ययनकी सिद्धिके लियें आचार्योंने कई स्थान सराहे हैं और कई स्थान दूषे भी हैं ॥२१॥ क्योंकि—

विक्रीयते मनः सद्यः स्थानदोषेण देहिनाम् ।
तदेव स्वस्थतां धत्ते स्थानमासाद्य बन्धुरम् ॥२२॥

अर्थ—जीवोंका चित्त स्थानके दोषसे तत्काल विकारताको प्राप्त होता है और वही मन मनोज्ञ स्थानको पा कर स्वस्थता (निश्चलता) को प्राप्त होता है ॥२२॥

उन्ही दूषित स्थानोंको कहते हैं—

म्लेच्छाधमजनैर्जुष्टं दुष्टभूपालपालितम् ।
पाषण्डिमण्डलाक्रान्तं महामिथ्यात्ववासितम् ॥२३॥
कौलिकापालिकावासं रुद्रक्षुद्रादिमन्दिरम् ।
उद्भ्रान्तभूतवेतालं चण्डिकाभवनाजिरम् ॥२४॥
पण्यस्त्रीकृतसंकेतं मन्दचारित्रमन्दिरम् ।
क्रूरकर्माभिचाराढ्यं कुशास्त्राभ्यासवञ्चितम् ॥२५॥
क्षेत्रजातिकुलोत्पन्नशक्तिस्वीकारदर्पितम् ।
मिलितानेकदुःशीलकल्पिताचिन्त्यसाहसम् ॥२६॥

द्यूतकारसुरापानविटवन्दिव्रजान्वितम् ।
पापिसत्त्वसमाक्रान्तं नास्तिकासारसेवितम् ॥२७॥
क्रव्यादकामुकाकीर्णं व्याधविध्वस्तश्वापदं ।
शिल्पिकारुकविक्षिप्तमग्निजीविजनाश्रितम् ॥२८॥
प्रतिपक्षशिरःशूले प्रत्यनीकावलम्बितम् ।
आत्रेयीखण्डितव्यङ्गसंसृतं च परित्यजेत् ॥२९॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला मुनि आगे लिखे स्थानोंको छोडे । म्लेच्छ पापी जनोंके रहनेका स्थान, दुष्ट राजा (जमीदार) के अधिकारका स्थान, पाखंडी भेषियोंके समूहसे घिरा हुआ स्थान, तथा महामिथ्यात्वका स्थान, कुलदेवता योगिनीका स्थान, रुद्र नीच देवादिकका मंदिर जिसमें उद्धत भूत बेताल नाचते हों, तथा चंडिका देवीके भवनका प्रांगण (चौक)तथा व्यभिचारिणी स्त्रियोंके संकेत किये स्थान, कुचारित्री पाखंडियोंका मंदिर तथा क्रूर कर्म करनेवालोंका जिसमें संचार हो, जिसमें कुशास्त्रोंका अभ्यास होता हो ऐसा स्थान, तथा जमीदारी जाति और कुलसे उत्पन्न हुई शक्तिसे अधिकारमें आ जानेसे गर्वित अर्थात् यह हमारा निवास है अन्यको प्रवेश नहीं करने दें ऐसा स्थान तथा जिसमें अनेक दुःशील खोटे पुरुषोंने मिल कर कोई अचिंत्य साहसिक कार्य रचा हो । अथवा द्यूत-क्रीडावाले जुआरी मद्यपानी, व्यभिचारी बंदीजन इत्यादिके समूह सहित स्थान, तथा पापी प्राणियोंसे घिरा हुआ, तथा नास्तिकोंके द्वारा सेवित हो, तथा राक्षस कामी पुरुषोंसे व्याप्त, व्याध—शिकारियों ने जहां पर जीववध किया हो, तथा शिल्पी (शिलावट कारीगर) कारुक (मोची आदि) का विक्षिप्त स्थान (छोड़ा हुआ) हो, तथा अग्निजीवी (लुहार ठंठेरे आदिक) से युक्त हो, तथा शत्रुके मस्तक पर शूलकी समान शत्रुकी सेनाका स्थान तथा रजस्वला भ्रष्ट चारित्री नपुंसक अंगहीनोंके रहनेका स्थान । इत्यादि स्थानोंको ध्यान करनेवाला छोडे । अर्थात् इन स्थानोंसे बच कर योग्य स्थामें ध्यान करना चाहिये ॥२३-२४-२५-२६-२७-२८-२९॥

विद्रवन्ति जना पापाः सञ्चरन्त्यभिसारिकाः ।
क्षोभयन्तीङ्गिताकारैर्यत्र नार्योपशङ्किताः ॥३० ॥

अर्थ—तथा जहां पर पापीजन उपद्रव करते हों, जहां अभिसारिका स्त्रियां विचरती हों, तथा स्त्रियां निःशंकित हो कर जहां कटाक्ष इंगिताकारादिकसे क्षोभ उत्पन्न करती हों ऐसे स्थानका ध्यानी मुनि त्याग करें ॥३०॥

अब कुछ विशेष कहते हैं —

किं च क्षोभाय मोहाय यद्विकाराय जायते ।
स्थानं तदपि मोक्तव्यं ध्यानविध्वंसशङ्कितैः ॥३१ ॥

अर्थ—जो मुनि ध्यानविध्वंसके भयसे भयभीत हैं उनको क्षोभकारक, मोहक तथा विकार करनेवाला स्थान भी छोड़ देना चाहिये ॥३१॥

तृणकण्टकवल्मीकविषमोपलकर्दमैः ।
भस्मोच्छिष्टास्थिरक्ताद्यैर्दूषितां सन्त्यजेद्भुवम् ॥३२॥

अर्थ–तथा जो जगह तृण, कंटक, बल्मीक, (बांबी), विषम पाषाण, कर्दम, भस्म, उच्छिष्ट, हाड, रुधिरादिक निंद्य वस्तुओंसे दूषित हो, उसको ध्यान करनेवाला छोड़े ॥३२

काककौशिकमार्जारखरगोमायुमण्डलैः ।
अवघुष्टं हि विघ्नाय ध्यातुकामस्य योगिनः ॥३३॥

अर्थ–तथा जो स्थान काक उलूक बिलाव गर्दभ शृगाल श्वानादिकसे अवघुष्ट हो अर्थात् जहां ये शब्द करते हों वह स्थान योगी मुनिगणोंके ध्यानको विघ्नकारक है ॥३३॥

ध्यानध्वंसनिमित्तानि तथान्यान्यपि भूतले ।
न हि स्वप्नेऽपि सेव्यानि स्थानानि मुनिसत्तमैः ॥३४॥

अर्थ—जो जो पूर्वोक्त स्थान कहे उसी प्रकार अन्य स्थान भी जो ध्यानके विघ्नकारक हों, वे सब ही स्थान ध्यानी मुनिजनोंको छोड़ देने चाहिये, ऐसे स्थान स्वप्नमें भी सेवने योग्य नहीं हैं ॥३४॥

इस प्रकार ध्यानके विघ्नके कारण स्थानोंका वर्णन किया ।

दोहा ।
जहां क्षोभ मन ऊपजे, तहां ध्यान नहिं होय ।
ऐसे थान विरुद्ध हैं, ध्यानी त्यागै सोय ॥२७।

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे ध्यान विरुद्धस्थानवर्णनं नाम सप्तविंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥२७॥

---

२८. अथ अष्टाविंशः सर्गः ।

आसनजयका वर्णन ।

अब ध्यानके योग्य स्थानोंको कह कर आसनका विधान कहते हैं, तथा प्रथम ध्यानके योग्य स्थान कहते हैं—

सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते ।
कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिः प्रजायते ॥१॥

अर्थ–सिद्धक्षेत्र, जहां कि बड़े २ प्रसिद्ध पुरुष ध्यान कर सिद्ध हुए हों तथा पुराणपुरुष अर्थात् तीर्थंकरादिकोंने जिसका आश्रय किया हो, ऐसे महातीर्थ, जो तीर्थंकरोंके कल्याणक स्थान हों, ऐसे स्थानोंमें ध्यानकी सिद्धि होती है ॥१॥

सागरान्ते वनान्ते वा शैलशृङ्गान्तरेऽथवा ।
पुलिने पद्मखण्डान्ते प्राकारे शालसङ्कटे ॥२॥

सरितां सङ्गमे द्वीपे प्रशस्ते तरुकोटरे ।
जीर्णोद्याने स्मशाने वा गुहागर्भे विजन्तुके ॥३॥
सिद्धकूटे जिनागारे कृत्रिमेऽकृत्रिमेऽपि वा ।
महर्द्धिकमहाधीरयोगिसंसिद्धवाञ्छिते ॥४॥
मनः प्रीतिप्रदे शस्ते शङ्काकोलाहलच्युते ।
सर्वर्तुसुखदे रम्ये सर्वोपद्रववर्जिते ॥५॥
शून्यवेश्मन्यथ ग्रामे भूगर्भे कदलीगृहे ।
पुरोपवनवेद्यन्ते मण्डपे चैत्यपादपे ॥६॥
वर्षातपतुषारादिपवनासारवर्जिते ।
स्थाने जागर्त्यविश्रान्तं यमी जन्मार्तिशान्तये ॥७॥

अर्थ—संयमी मुनि संसारकी पीड़ाको शान्त करनेके लिये आगे लिखे स्थानोंमें निरंतर सावधान हो कर रहें—समुद्रके किनारे पर-वनमें, पर्वतके शिखर पर, नदीके किनारे, कमल वनमें, प्राकार(कोट) में, शालवृक्षोंके समूहमें, नदियोंका जहां संगम हुआ हो,, जलके मध्य जो द्वीप हो उसमें, प्रशस्त (निर्दोष-उज्ज्वल) वृक्षके कोटरमें, पुराने वनमें, स्मशानमें, पर्वतकी जीव रहित गुफामें, सिद्धकूट तथा कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालयोंमें जहां कि महाऋद्धिके धारक महाधोर वीर योगीश्वर सिद्धिकी वांछा करते हैं, मनको प्रीति देनेवाले, प्रशंसनीय, तथा जहां पर शंका कोलाहल शब्द न हो ऐसे स्थानमें, तथा समस्त ऋतुओंमें सुखके देनेवाले रमणीक सर्व उपद्रव रहित स्थानमें तथा शून्य घर तथा शूने ग्राम पृथिवीके नीचे ऊँचे प्रदेशमें, तथा कदली गृह (केलोंके कुंजो) में तथा नगरकी उपवन (बाग) की वेदी के अंतमें, तथा वेदी परके मंडपमें वा चैत्यवृक्षके समीप, तथा वर्षा आतप हिम शीतादिक तथा प्रचंड पवनादिसे वर्जित स्थानमें निरंतर तिष्ठें ॥२-३-४-५-६-७॥

यत्र रागादयो दोषा अजस्रं यान्ति लाघवम् ।
तत्रैव वसतिः साध्वी ध्यानकाले विशेषतः ॥८॥

अर्थ—जिस स्थानमें रागादिक दोष निरन्तर लघुताको प्राप्त हो उस ही स्थानमें मुनिको बसना चाहिये, तथा ध्यानके कालमें तो अवश्य ही योग्य स्थानको ग्रहण करना चाहिये ॥८॥

अब आसनका विधान कहते हैं—

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले ।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥९॥

अर्थ—धीर वीर पुरुष समाधिकी सिद्धिके लिये काष्ठके तख्ते पर तथा शिला पर अथवा भूमि पर वा बालूरेतके स्थानमें भले प्रकार स्थिर आसन करें ॥९॥

१ "शान्ति" इत्यादि पाठः । २ "भूगृहे" इत्यादि पाठः ।

पर्यङ्कमर्द्धपर्यङ्कं वज्रं वीरासनं तथा ।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः ॥१०॥

अर्थ—पर्यंक आसन, अर्द्धपर्यंक आसन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन, कायोत्सर्ग ये ध्यानके योग्य आसन माने गये हैं ॥१०॥

येन येन सुखासीना विदध्युर्निश्चलं मनः ।
तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम् ॥११॥

अर्थ—जिस जिस आसनसे सुखरूप उपविष्ट मुनि अपने मनको निश्चल कर सकें वही सुंदर आसन मुनियोंको स्वीकार करना चाहिये ॥११॥

कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कः प्रशस्तं कैश्चिदीरितं ।
देहिनां वीर्यवैकल्यात्कालदोषेण संप्रति ॥१२॥

अर्थ—तथा इस समय कालदोषसे जीवोंके वीर्यकी विकलता है अर्थात् सामर्थ्यकी हीनता है इस कारण कई आचार्योंने पर्यंकासन (पद्मासन) और कायोत्सर्ग ये दो आसन ही प्रशस्त कहे हैं ॥१२॥

वज्रकाया महासत्त्वा निःकम्प्याः सुस्थिरासनाः ।
सर्वावस्थास्वलं ध्यात्वा गताः प्राग्योगिनः शिवम् ॥१३॥

अर्थ—तथा जो वज्रकाय कहिये वज्रवृषभ संहननवाले बड़े पराक्रमी निःकम्प (धीर) स्थिर आसन थे, वे ही योगी सर्वावस्थाओंमें ध्यान करके पूर्वकालमें मोक्षको प्राप्त हुए हैं ॥१३॥

उपसर्गैरपि स्फीतैर्देवदैत्यारिकल्पितैः ।
स्वरूपालम्बितं येषां न चेतश्चाल्यते क्वचित् ॥१४॥

अर्थ—जो पूर्वकाल में महापराक्रमी थे उनका स्वरूपमें अवलम्बित चित्त, देव दैत्य वैरी द्वारा करे हुये उपसर्गोंसे कदापि चलायमान नहीं होता था ॥१४॥

श्रूयन्ते संवृतस्वान्ताः स्वतत्त्वकृतनिश्चयाः ।
विसह्योग्रोपसर्गाग्निं ध्यानसिद्धिं समाश्रिताः ॥१५॥

अर्थ—जिन्होंने अपने मनको संवररूप किया तथा जिन्होंने स्वतत्त्वमें निश्चय किया है वे ही पूर्वपुरुष तीव्र उपसर्गरूप अग्निको सहकर ध्यानकी सिद्धिको आश्रित हुए सुने जाते हैं ॥१५॥

स्रग्धरा ।

केचिज्ज्वालावलीढा हरिशरभगजव्यालविध्वस्तदेहाः
केचित्क्रूरादिदैत्यैरदयमतिहताश्चक्रशूलासिदण्डैः ।
भूकम्पोत्पातवातप्रबलघविघनग्रासरुद्धास्तथान्ये ।
कृत्वा स्थैर्यं समाधौ सपदि शिवपदं निःप्रपञ्चं प्रपन्नाः ॥१६॥

अर्थ—फिर भी सुना जाता है कि पूर्वकालमें अनेक महामुनि तो अग्निकी ज्वालाकी पंक्तिसे व्या-

कर समाधिमें दृढ रहनेसे तत्काल मोक्षको प्राप्त हुए, कितनेक मुनि सिंह अष्टापद हस्ती सर्पादिक द्वारा देहसे विध्वंस्त हो समाधिमें स्थिरता धारण कर तत्काल मोक्षको गये, तथा कितनेक मुनि क्रूर वैरी दैत्यादिके द्वारा चक्र शूल तलवार दंडादिकसे निर्दयताके साथ हते हुए समाधिमें लीन रहनेसे तत्काल मोक्षको गये; तथा कितने ही मुनि भूमिकंपनके उत्पात, प्रचंड पवन, प्रबल वज्रपात वा प्रबल मेघादिकके उपसर्गको जीतके मोक्षको गये तथा अन्य भी अनेक मुनि नाना प्रकारके उपसर्गोंको सहकर समाधि (ध्यान) में दृढ हो कर प्रपंच रहित शिवपदको प्राप्त हुए। सो ऐसे संहननवालोंके आसनका नियम नहीं है ॥१६॥

तद्धैर्यं यमिनां मन्ये न संप्रति पुरातनम् ।
अथ स्वप्नेऽपि नामास्थां प्राचीनां कर्तुमक्षमाः ॥१७॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते है कि पूर्वकालके मुनियोंका पुरातन धैर्य वा बलवीर्य इस वर्तमान कालमें नहीं है इसी कारण पहिलीकीसी आस्था (स्थिरता) वर्तमानकालके मुनि स्वप्नमें भी करनेमें असमर्थ हैं। और जो इस समय करते हैं वे धन्य हैं ॥१७॥

निःशेषविषयोत्तीर्णो निर्विण्णो जन्मसंक्रमात् ।
आत्माधीनमनाः शश्वत्सर्वदा ध्यातुमर्हति ॥१८॥

अर्थ—जो पुरुष इन्द्रियोंके समस्त विषयोंसे रहित हैं, ससारके परिभ्रमणसे विरक्त हो गया है तथा अपने आधीन है मन जिसका, ऐसा निरन्तर हो वह पुरुष ही ध्यानके योग्य होता है। भावार्थ—यह साधारण ध्यानकी योग्यता है ॥१८॥

अविक्षिप्तं यदा चेतः स्वतत्त्वाभिमुखं भवेत् ।
मुनेस्तदैव निर्विघ्ना ध्यानसिद्धिरुदाहृता ॥१९॥

अर्थ—जिस समय मुनिका चित्त क्षोभ रहित हो आत्मस्वरूपके सम्मुख होता है उस काल ही ध्यानकी सिद्धि निर्विघ्न होती है ॥१९॥

स्थानासनविधानानि ध्यानसिद्धेर्निबन्धनम् ।
नैकं मुक्त्वा मुनेः साक्षाद्विक्षेपरहितं मनः ॥२०॥

अर्थ—ध्यानकी सिद्धिका कारण स्थान और आसनका विधान है सो इनमेंसे एक भी न हो तो मुनि (ध्यानी) का चित्त विक्षेप रहित नहीं होता। भावार्थ—स्थान और आसन ध्यानके कारण हैं, इनमें से जो एक भी न हो तो मन नहीं थँभता अर्थात् दोनों ठीक होने से ही मन थँभता है ॥२०॥

संविग्नः संवृतो धीरः स्थिरात्मा निर्मलाशयः ।
सर्वावस्थासु सर्वत्र सर्वदा ध्यातुमर्हति ॥२१॥

अर्थ—तथा जो मुनि सवेगवैराग्ययुक्त हो, संवररूप हो, धीर हो, जिसका आत्मा स्थिर हो, चित्त निर्मल हो वह मुनि सर्व अवस्था सर्व क्षेत्र और सर्व कालमें ध्यान करने योग्य है ॥२१॥

विजने जनसंकीर्णे सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा ।
यदि धत्ते स्थिरं चित्तं न तदास्ति निषेधनम् ॥२२ ॥

अर्थ—जन रहित क्षेत्र हो अथवा जन सहित प्रदेश हो, तथा सुस्थित हो अथवा दु स्थित हो जिस काल मुनिका चित्त स्थिर स्वरूपको धारे तब ही ध्यानकी योग्यता है, निषेध नहीं है । पहिले स्थान और आसनका विधान कहा, उसके सिवाय जिस समय मुनिका चित्त स्थिरता धारे उस समय सर्व अवस्था सर्व क्षेत्रमें ध्यानकी योग्यता है, निषेध नहीं है ॥२२॥

पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोऽपि वा ।
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते ॥२३ ॥

अर्थ—ध्यानी मुनि जो ध्यानके समय प्रसन्नमुख साक्षात् पूर्व दिशामे मुख करके अथवा उत्तर दिशामें भी मुख करके ध्यान करे, सो प्रशसनीय कहा है ॥२३॥

चरणज्ञानसम्पन्ना जिताक्षा वीतमत्सराः ।
प्रागनेकास्ववस्थासु संप्राप्ता यमिनः शिवम् ॥२४ ॥

अर्थ—तथा ऐसा भी है कि चारित्र और ज्ञानके सयुक्त, जितेन्द्रिय, मत्सररहित जो मुनिगण पूर्वकालमें अनेक अवस्थाओंसे मोक्षको प्राप्त हो गये हैं उनके दिशाकी सम्मुखताका कुछ नियम नहीं था ॥२४॥

मुख्योपचारभेदेन द्वौ मुनि स्वामिनौ मतौ ।
अप्रमत्तप्रमत्ताख्यौ धर्मस्यैतौ यथायथम् ॥२५॥

अर्थ—इस धर्मध्यानके यथायोग्य अधिकारी मुख्य और उपचारके भेदसे प्रमत्तगुणस्थानी और अप्रमत्तगुणस्थानी ये दो मुनि ही होते हैं ॥२५॥

अप्रमत्तः सुसंस्थानो वज्रकायो वशी स्थिरः ।
पूर्ववित्संवृतो धीरो ध्याता सपूर्णलक्षणः ॥२६॥

अर्थ—उक्त दोनों गुणस्थानियोंमें जो अप्रमत्तगुणस्थानी मुनि समचतुरस्रसस्थान और वज्रवृषभनाराचसंहननवाला, तथा जितेन्द्रिय हो, स्थिर हो, पूर्वका ज्ञानी हो सवरवान् और धीर हो अर्थात् परीषह और उपसर्गादिकसे चलित न हो, वही सपूर्ण लक्षणका धारक धर्मध्यानके ध्यावनेवाला होता है क्योंकि ऐसा मुनि ही किसी समय सातिशय अप्रमत्त हो कर श्रेणीका आरभ करता है ॥२६॥

तथा च—

श्रुतेन विकलेनापि स्वामी सूत्रे प्रकीर्तितः ।
अधःश्रेण्यां प्रवृत्तात्मा धर्मध्यानस्य सुश्रुतः ॥२७॥

१ "चितविभ्रमा" इत्यपि पाठ ।

अर्थ—सिद्धांतमें नीचेकी श्रेणीमें प्रवृत्ता है आत्मा जिसका ऐसा विकलश्रुत अर्थात् पूर्वज्ञानरहित भावश्रुतवान् भी धर्मध्यानका स्वामी कहा है ॥२७॥

किं च कैश्चिच्च धर्मस्य चत्वारः स्वामिनः स्मृताः ।
सद्दृष्टयाद्यप्रमत्तान्ता यथायोग्येन हेतुना ॥२८॥

अर्थ—तथा यह विशेष है कि कितने ही आचार्योंने धर्म ध्यानके स्वामी (अधिकारी) चार भी कहे हैं वे सम्यग्दृष्टि अविरतसे ले कर देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त पर्यन्त यथायोग्य हेतुसे कहे हैं ॥२८॥

ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयास्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा ।
लेश्याविशुद्धियोगेन फलसिद्धिरुदाहृता ॥२९॥

अर्थ—इस धर्म ध्यानके ध्याता तीन प्रकारके भी कहे हैं और उनके ध्यान भी तीन प्रकारके कहे हैं, क्योंकि लेश्याकी विशुद्धतासे फलसिद्धि कही है। भावार्थ— गुणस्थानकी अपेक्षा जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेदसे ध्याता तीन प्रकारके हैं, जहां जैसी विशुद्धता हो वैसे ही हीनाधिक ध्यानके भाव होते हैं और वैसा ही हीनाधिक फल होता है ॥२९॥

अब आसनके जीतनेके विधानका उपदेश करते हैं—

अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रियः ।
मनागपि न खिद्यन्ते समाधौ सुस्थिरासनाः ॥३०॥

अर्थ—अब यह कहते हैं कि जो योगी मुनि विशेष करके जितेन्द्रिय हैं वे आसनका जय करो क्योंकि जिनका आसन भले प्रकार स्थिर है वे समाधिमें किंचिन्मात्र भी खेदको प्राप्त नहीं होते। भावार्थ—आसनको जीतें तो समाधि (ध्यान) से चलायमान न होय ॥३०॥

आसनाभ्यासवैकल्याद्वपुःस्थैर्यं न विद्यते ।
खिद्यते त्वङ्गवैकल्यात्समाधिसमये ध्रुवम् ॥३१॥

अर्थ— आसनके अभ्यासकी विकलतासे शरीरकी स्थिरता नहीं रहती और समाधिके समय शरीरकी विकलतासे भी निश्चय करके खेदरूप हो जाता है ॥३१॥

वातातपतुषाराद्यैर्जन्तुजातैरनेकशः ।
कृतासनजयो योगी खेदितोऽपि न खिद्यते ॥३२॥

अर्थ— जो योगी आसनको जीत लेता है वह पवन आतप तुषार शीतादिकसे तथा अनेक जीवोंके अनेक प्रकारसे पीड़ित हुआ भी खेदको प्राप्त नहीं होता। आसन जीतनेका फल यही है ॥ ३२ ॥

आसाद्याभिमतं रम्यं स्थानं चित्तप्रसत्तिदम् ।
उद्भिन्नपुलकः श्रीमान्पर्यङ्कमधितिष्ठति ॥३३॥

अर्थ— योगी मुनि आसन करते समय चित्तको प्रसन्न करनेवाले रमणीक स्थानको प्राप्त हो कर

उत्पन्न हुआ है हर्ष—आनंदका रोमांच जिसके ऐसा श्रीमान्—उत्तम मुनि पर्यङ्कासन (पद्मासन) करके ध्यान करें ॥३३॥

पर्यङ्कदेशमध्यस्थे प्रोत्ताने करकुड्मले ।
करोत्युत्फुल्लराजीवसन्निभे च्युतचापले ॥३४॥

अर्थ—पर्यंक देशके मध्य भागमें स्थित उन्नत दोनों हस्तके मुकुल (करकमल) विकसित कमलके सदृश चपलता रहित करें। भावार्थ—दोनों हाथ अपनी गोदविषै विकसित कमलसदृश कर निश्चल थापें ॥३४॥

नासाग्रदेशविन्यस्ते धत्ते नेत्रेऽतिनिश्चले ।
प्रसन्ने सौम्यतापन्ने निष्पन्दे मन्दतारके ॥३५॥

अर्थ--अति निश्चल, सौम्यताको लिये स्पन्द रहित हैं मन्द तारे जिनमें ऐसे दोनों नेत्रोंको नासिकाके अग्रभागमें धारण करें अर्थात् ठहरावें ॥३५॥

भ्रूवल्लीविक्रियाहीनं सुश्लिष्टाधरपल्लवम् ।
सुप्तमत्स्यह्रदप्रायं विदध्यान्मुखपङ्कजम् ॥३६॥

अर्थ—तथा मुखको इस प्रकार करें कि भौहें तो विकार रहित हों, अधरपल्लव अर्थात् दोनों होठ न तो बहुत खुले और न अतिमिले हों, ऐसे सोते हुए मत्स्यके ह्रदकी समान मुखकमलको करें ॥३६॥

अगाधकरुणाम्भोधौ मग्न संविग्नमानसः ।
ऋज्वायतं वपुर्धत्ते प्रशस्तं पुस्तमूर्तिवत् ॥३७॥

अर्थ—योगी मुनिको चाहिये कि अपने शरीरको अगाध करुणा समुद्रमें मग्न हो गया है संवेग सहित मन जिसका ऐसा सीधा और लंबा रक्खे, जैसे कि दीवार पर चित्रामकी मूर्ति हो उस प्रकार बनावें ॥३७॥

विवेकवार्द्धिकल्लोलैर्निर्मलीकृतमानसः ।
ज्ञानमन्त्रोद्धृताशेषरागादिविषमग्रहः ॥३८॥
रत्नाकर इवागाधः सुराद्रिरिव निश्चलः ।
प्रशान्तविश्वविस्पन्दमणष्टसकलभ्रमः ॥३९॥
किमयं लोष्ठनिष्पन्नः किंवा पुस्तप्रकल्पितः ।
समीपस्थैरपि प्रायः प्राज्ञैर्ध्यानीति लक्ष्यते ॥४०॥

अर्थ—मुनि जब ध्यानका आसन जमा कर बैठे तब ऐसा होना चाहिये कि प्रथम तो विवेक-भेदज्ञानरूप समुद्रकी कल्लोलोंसे निर्मल किया हुवा है मन जिसका ऐसा हो, तथा ज्ञानरूप मंत्रसे निकाल दिये हैं समस्त रागादिक विषम ग्रह अर्थात् पिशाच जिसने ऐसा हो, तथा समुद्रके समान अगाध हो, मेरुपर्वतके समान निश्चल हो अर्थात् जिसका अंग वा मन किसी प्रकार भी चलायमान न हो तथा जिसके वेगोंका संकल्प शान्त हो गया हो, समस्त भ्रम जिसके नष्ट हो गये हों, ऐसा निश्चल

हो कि समीपस्थ प्राज्ञ पुरुष भी ऐसा भ्रम करने लग जाय कि यह क्या पाषाणकी मूर्त्ति है वा चित्रामकी मूर्त्ति है? इस प्रकार आसन जीतनेका विधान कहा ॥३८-३९-४०॥

दोहा।

आसन दिढनें ध्यानमें, मन लागै इकतान।
तातैं आसनयोगकू, मुनि कर धारै ध्यान ॥२८॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे आसनजयो नाम अष्टाविंश प्रकरणं समाप्तम् ॥२८॥

२९. अथैकोनत्रिंश: सर्ग:।

प्राणायाम—वर्णन

अब प्राणायामका वर्णन करते हैं—

सुनिर्णीतसुसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते।
मुनिभिर्ध्यानसिद्ध्यर्थं स्थैर्यार्थं चान्तरात्मनः ॥१॥

अर्थ—भले प्रकार निर्णयरूप किया है सत्यार्थसिद्धान्त जिन्होंने ऐसे मुनियोंने ध्यानकी सिद्धिके तथा मनकी एकाग्रताके लिये प्राणायाम प्रशंसनीय कहा है॥ भावार्थ—अन्यमती भी प्राणायामका साधन करते हैं, किन्तु उनका प्रयोजन तथा स्वरूप यथार्थ नहीं है। जैनाचार्योंने सर्वज्ञभाषित आगम तथा स्याद्वादन्यायरूप सिद्धान्तसे निर्णय करके सिद्धि और मनकी एकाग्रतासे आत्मस्वरूपमें ठहराना इन दोनों प्रयोजनोंके लिये प्राणायामको सराहा है। इससे दृष्ट प्रयोजनकी सिद्ध होती है उसका वर्णन गौण किया है, और ध्यानकी सिद्धिसे आत्मस्वरूपमें लीन होनेसे मुक्ति होती है ऐसा प्रयोजन प्रधान है॥१॥

अतः साक्षात्स विज्ञेयः पूर्वमेव मनीषिभिः।
मनागप्यन्यथा शक्यो न कर्तुं चित्तनिर्जयः ॥२॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि ध्यानकी सिद्धिके लिये मनको एकाग्र करनेके लिये पूर्वाचार्योंने प्राणायामको प्रशंसा की है, इस कारण ध्यान करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषोंको प्रथमसे हीं प्राणायामको विशेष प्रकार से जानना चाहिये क्योंकि इसके जाने विना अन्य प्रकार किंचिन्मात्र भी मनके जीतनेको समर्थ नहीं हो सकते। भावार्थ—यह प्राणायाम पवनका साधना है। सो शरीरमें जो पवन होता है वह मुखनासिकादिके द्वारा श्वासोच्छ्वास द्वारा प्रगट जाना जाता है। इस पवनके कारण मन भी चंचल रहता है। जब पवन वशीभूत हो जाता है तब मन भी वशमें हो जाता है॥२॥

अब इस पवनका स्तंभन कैसे होता है सो कहते हैं—

त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः।
पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ॥३॥

अर्थ—पूर्वाचार्योंने इस पवनके स्तंभनस्वरूप प्राणायामको लक्षणभेदसे तीन प्रकारका कहा है, एकका नाम पूरक है दूसरेका कुम्भक और तीसरेका रेचक है ॥३॥

अब इन तीनोंका स्वरूप कहते है—

द्वादशान्तात्समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते ।
स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदैः ॥४॥

अर्थ—द्वादशान्त कहिये तालुवेके छिद्रसे अथवा द्वादश अंगुलपर्यंतसे खेंच कर पवनको अपनी इच्छानुसार अपने शरीरमें पूरण करें उनको वायुविज्ञानी पंडितोंने पूरक पवन कहा है ॥४॥

निरुणद्धि स्थिरीकृत्य श्वसनं नाभिपङ्कजे ।
कुम्भवन्निर्भरः सोऽयं कुम्भकः परिकीर्तितः ॥५॥

अर्थ—तथा उस पूरक पवनको स्थिर करके नाभिकमलमें जैसे घड़ेको भरें तैसे रोके (थांभे) नाभिसे अन्य जगह चलने न दे सो कुंभक कहा है ॥५॥

निःसार्यतेऽतियत्नेन यत्कोष्ठाच्छ्वसनं शनैः ।
स रेचक इति प्राज्ञैः प्रणीतः पवनागमे ॥६॥

अर्थ—जो अपने कोष्ठसे पवनको अतियत्नसे मंदमंद बाहर निकालें उसको पवनाभ्यासके शास्त्रोंमें विद्वानोंने रेचक ऐसा नाम कहा है ॥६॥

नाभिस्कन्धाद्विनिष्क्रान्तं हृत्पद्मोदरमध्यगम् ।
द्वादशान्ते सुविश्रान्तं तज्ज्ञेयं परमेश्वरम् ॥७॥

अर्थ—जो नाभिस्कन्धसे निकला हुआ तथा हृदयकमलमेंसे हो कर द्वादशान्त (तालुरंध्र) में विश्रान्त (ठहरा) हुआ पवन है उसे परमेश्वर जानो क्योंकि यह पवनका स्वामी है ॥७॥

तस्य चारं गतिं बुध्वा संस्थां चैवात्मनः सदा ।
चिन्तयेत्कालमायुश्च शुभाशुभफलोदयम् ॥८॥

अर्थ—पवन ईश्वर जो तलुरन्ध्रमे विश्रान्त हुआ उसका चार कहिये चलना अर्थात् भ्रमण और गति कहिये गमन तथा आत्मा (जीव) की संस्था अर्थात् देहमें सदा रहना इनको जान कर और कालका प्रमाण आयुर्बल शुभ तथा अशुभ फलके उदयका विचार करें ॥८॥

अथाभ्यासं प्रयत्नेन प्रास्ततन्द्रः प्रतिक्षणम् ।
कुर्वन् योगी विजानाति यन्त्रनाथस्य चेष्टितम् ॥९॥

अर्थ—इस पवनका अभ्यास बड़े यत्नसे निष्प्रमादी हो कर निरंतर करता हुआ योगी जीवकी समस्त चेष्टाओंको जानता है ॥९॥

उक्तं श्लोकत्रयम्

"समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः ।
नाभिमध्ये स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुम्भकः ॥१॥

यत्कोष्ठादतियत्नेन नासाब्रह्मपुरातनैः ।
बहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ॥२॥

अर्थ—जिस समय पवनको तालुरन्ध्रसे ले खेंच कर प्राणको धारण करें, शरीरमें पूर्णतया थांमे सो तो पूरक है, और नाभिके मध्य स्थिर करके रोके सो कुंभक है, तथा जो पवनके कोठेसे बडे यत्नसे बाहर प्रक्षेपण करे सो रेचक है, इस प्रकार नासिकाब्रह्मके जाननेवाले पुरातन पुरुषोंने कहा है ॥१—२।

शनैः शनैःमनोऽजस्रं वितन्द्रः सह वायुना ।
प्रवेश्य हृदयाम्भोजकर्णिकायां नियन्त्रयेत् ॥१०॥

अर्थ—इस पवनका अभ्यास करनेवाला योगी निष्प्रमादी हो कर बडे यत्नसे अपने मनको वायुके साथ मंदमंद निरन्तर हृदयकमलकी कर्णिकामे प्रवेश कर वहाँ ही नियन्त्रण करे (थांमे), उस जगहसे चलने न दे ॥१०॥

विकल्पा न प्रसूयन्ते विषयाशा निवर्त्तते ।
अन्तः स्फुरति विज्ञानं तत्र चित्ते स्थिरीकृते ॥११॥

अर्थ—उस हृदयकमलकी कर्णिकामें पवनके साथ चित्तको स्थिर करने पर मनमें विकल्प नहीं उठते और विषयोंकी आशा भी नष्ट हो जाती है तथा अन्तरंगमें विशेष ज्ञानका प्रकाश होता है। इस पवन के साधनसे मनको वश करना ही फल है ॥११॥

एवं भावयतः स्वान्ते यात्यविद्या क्षयं क्षणात् ।
विमदीस्युस्तथाक्षाणि कषायरिपुभिः समम् ॥१२॥

अर्थ— इस प्रकार मनको वश करके भावना करते हुए पुरुषके अविद्या तो क्षणमात्रमें क्षयहो जाती है, और इन्द्रियां मद रहित हो जाती हैं, उनके साथ ही साथ कषाय भी क्षीण हो जाते हैं। यही इस पवनको साधन करके मनको वश करनेका प्रयोजन है ॥१२॥

कुत्र श्वसनविश्रामः का नाड्यः संक्रमः कथम् ।
का मण्डलगतिः केयं प्रवृत्तिरिति बुद्ध्यते ॥१३॥

अर्थ—तथा इस पवनके साधनसे ऐसा जाना जाता है कि इस श्वासरूप पवनका कहाँ तो विश्राम है, और नाड़ियें कितनी और कोन कौन हैं, उन नाडियोंका पलटना किस प्रकार होता है तथा इसकी मंडलगति कौनसी है, इसकी प्रवृत्ति कहाँ है ॥१३॥

स्थिरी भवन्ति चेतांसि प्राणायामवलम्बिनाम् ।
जगद्वृत्तं च निःशेषं प्रत्यक्षमिव जायते ॥१४

अर्थ—जो प्राणायामके अवलंबनवाले पुरुष हैं उनके चित्त स्थिर हो जाते हैं, जिसके स्थिर होनेसे ज्ञान विशेष होता है, उसके द्वारा जगतके समस्त वृत्तांत (प्रवर्तन) प्रत्यक्षके समान जाने जाते हैं ॥१४॥

यः प्राणायाममध्यास्ते स मंडलचतुष्टयम्।
निश्चिनोतु यतः साध्वी ध्यानसिद्धिः प्रजायते ॥ १५ ॥

अर्थ—जो योगी प्राणायामको स्वाधीनतामें करके रहता है अर्थात् इसका साधन करता है सो मुनि पवनमंडलके चतुष्टयको निश्चय करो, जिससे समीचीन ध्यानकी सिद्धि होती है ॥ १५ ॥

उस मंडलचतुष्टयका स्वरूप कहते हैं—

घोणाविवरमध्यास्य स्थितं पुरचतुष्टयम्।
पृथक् पवनसंवीतं लक्ष्यलक्षणभेदतः ॥ १६ ॥

अर्थ—नासिकाके छिद्रको आश्रित हो कर चतुष्टय जो पृथ्वीमंडल, अप्मंडल, तेजोमंडल और वायुमंडल यह चतुष्टय है सो लक्ष्यलक्षणके भेदसे पवन भिन्न २ वेष्टित है, इन मंडलोंके पवनकी रीति लक्षणभेदसे भिन्न २ है ॥ १६ ॥

अचिन्त्यमतिदुर्लक्ष्यं तन्मण्डलचतुष्टयम्।
स्वसंवेद्यं प्रजायेत महाभ्यासात्कथंचन ॥ १७ ॥

अर्थ—यह मंडलका चतुष्टय है सो अचिंत्य है अर्थात् चिंतवनमें नहीं आता तथा दुर्लक्ष्य है अर्थात् देखनेमें नहीं आता सो इस प्राणायामके बड़े महान् अभ्याससे बड़े कष्टसे कोई प्रकार स्वसंवेद्य (अपने अनुभवगोचर) होता है ॥ १७ ॥

तत्रादौ पार्थिवं ज्ञेयं वारुणं तदनन्तरम्।
मरुत्पुरं ततः स्फीतं पर्यन्ते वह्निमण्डलम् ॥ १८ ॥

अर्थ—उन चारोंमेंसे प्रथम तो पार्थिव (पृथ्विमंडल) को जानना, तत्पश्चात् वरुणमंडल (अप्मंडल) जानना, तत्पश्चात् पवनमंडल जानना और अन्तमें बढे हुए वह्निमंडलको जानना; इस प्रकार चारोंके नाम और अनुक्रम हैं ॥ १८ ॥

अब इनका स्वरूप कहते है—

क्षितिबीजसमाक्रान्तं द्रुतहेमसमप्रभम्।
स्याद्वज्रलाञ्छनोपेतं चतुरस्रं धरापुरम् ॥ १९ ॥

अर्थ—क्षितिबीज जो पृथ्वि बीजाक्षर सहित गाले हुए सुवर्णकी समान पीतरक्त प्रभा जिसकी और वज्रके चिह्नसयुक्त चौकोर धरापुर है अर्थात् पृथ्विमंडल है ॥ १९ ॥

अर्द्धचन्द्रसमाकारं वारुणाक्षरलक्षितम्।
स्फुरत्सुधाम्बुसंसिक्तं चन्द्राभं वारुणं पुरम् ॥ २० ॥

अर्थ—आकार तो आधे चन्द्रमाके समान, वारुण बीजाक्षरसे चिह्नित और स्फुरायमान अमृतस्वरूप जलसे सींचा हुआ ऐसा चन्द्रमा सरीखा शुक्लवर्ण वरुणपुर है। यह अप्मंडलका स्वरूप कहा ॥ २० ॥

१ "क्षरत्सुधाम्बुसंसिक्तं" इत्यपि पाठः।

सुवृत्तं बिंदुसंकीर्णं नीलाञ्जनघनप्रभम् ।
चञ्चलं पवनोपेतं दुर्लक्ष्यं वायुमण्डलम् ॥ २१ ॥

अर्थ—सुवृत्त कहिये गोलाकार तथा बिंदुओं सहित नीलाञ्जन घनके समान वर्ण जिसका, चञ्चल (चलता हुआ) पवन बीजाक्षर सहित दुर्लक्ष्य (देखनेमें न आवे) ऐसा वायुमंडल है। यह पवनमंडलका स्वरूप कहा ॥ २१ ॥

स्फुलिङ्गपिङ्गलं भीममूर्ध्वज्वालाशतार्चितम् ।
त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं तद्बीजं वह्निमण्डलम् ॥ २२ ॥

अर्थ—अग्निके फुलिंगा समान पिंगलवर्ण भीम रौद्ररूप ऊर्ध्वगमनस्वरूप ज्वालाके सैकड़ों सहित त्रिकोणाकार स्वस्तिक (साथिये) सहित, वह्निबीजसे मंडित ऐसा वह्निमंडल है। यह अग्निमंडलका स्वरूप कहा गया ॥ २२ ॥

ततस्तेषु क्रमाद्वायुः संचरत्यविलम्बितम् ।
स विज्ञेयो यथाकालं प्रणिधानपरैर्नरैः ॥ २३ ॥

अर्थ—उपर्युक्त चार मंडलों का स्वरूप निश्चय किया उसके अनन्तर लगता ही यह जानो कि इन मंडलोंमें अनुक्रमसे निरन्तर पवन सचरे है उसे यथाकाल अर्थात् जैसा काल है उसही कालमें प्रणिधान कहिये चिंतवनमें तत्पर ऐसे पुरुषोंको जानना चाहिये ॥ २३ ॥

अब इनमें पवन सचरता है उसके जाननेके लिये चिह्न कहते हैं—

घोणाविवरमापूर्य किञ्चिदुष्णं पुरन्दरः ।
वहत्यष्टाङ्गुलः स्वस्थः पीतवर्णः शनैः शनैः ॥ २४ ॥

अर्थ—नासिकाके छिद्रको भले प्रकार भरके कुछ उष्णता लिये आठ अंगुल बाहर निकलता, स्वस्थ, चपलता रहित, मंदमंद बहता, ऐसा पुरदर कहिये इन्द्र जिसका स्वामी है ऐसे पृथ्विमंडलके पवनको (इन चिह्नोंसे) जानना ॥ २४ ॥

त्वरितः शीतलोऽधस्तात्सितरुक् द्वादशाङ्गुलः ।
वरुणः पवनस्तज्ज्ञैर्वहनेनावसीयते ॥ २५ ॥

अर्थ—जो त्वरित कहिये शीघ्र बहनेवाला हो, कुछ नीचाई लिये बहता हो, शीतल हो, उज्ज्वल (शुक्ल) दीप्तिरूप हो, तथा बारह अंगुल बाहर आवे ऐसे पवनको, पवनके जाननेवालोंने वरुण पवन निश्चय किया है। भावार्थ—इन चिह्नोंसे वरुण पवनका निश्चय करना ॥ २५ ॥

तिर्यग्वहत्यविश्रान्तः पवनाख्यः षडङ्गुलः ।
पवनः कृष्णवर्णोऽसौ उष्णः शीतश्च लक्ष्यते ॥ २६ ॥

अर्थ—जो पवन सब तरफ तिर्यक् बहता हो, विश्राम न लेकर निरन्तर बहता ही रहे तथा ६ अंगुल बाहर आवे, कृष्णवर्ण हो, उष्ण हो तथा शीत भी हो ऐसा पवनमंडल सबंधी पवन पहचाना जाता है ॥ २६ ॥

बालार्कसन्निभश्चोर्ध्वं सावर्त्तश्चतुरङ्गुलः ।
अत्युष्णो ज्वलनाभिख्यः पवनः कीर्तितो बुधैः ॥ २७ ॥

अर्थ— जो ऊगते हुए सूर्यके समान रक्तवर्ण हो तथा ऊंचा चलता हो, आवर्तों (चक्रों) सहित फिरता हुआ चले, चार अंगुल बाहर आवे और अति उष्ण हो ऐसा अग्निमंडलका पवन पंडितोंने कहा है ॥२७॥

अब इन चार प्रकारके पवनोंको कार्यविशेषमें शुभाशुभ भेद करके दिखाते हैं—

आर्या।

स्तम्भादिके महेन्द्रो वरुणः शस्तेषु सर्वकार्येषु ।
चलमलिनेषु च वायुर्वश्यादौ वह्निरुद्देश्यः ॥ २८ ॥

अर्थ—पुरुषको स्तंभनादि कार्य करने हों तो महेन्द्र कहिये पृथ्विमंडलका पवन शुभ है, और वरुण कहिये अप्‌मंडलका पवन समस्त प्रकारके उत्तम कार्योंमें शुभ है, और पवनमंडलका पवन, चलकार्य तथा मलिन कार्योंमें श्रेष्ठ है, तथा वश्य आदि कार्योंमें वह्निमंडलका पवन उत्तम कहा है ॥२८॥

छत्रगजतुरगचामररामाराज्यादिसकलकल्याणम् ।
माहेन्द्रो वदति फलं मनोगतं सर्वकार्येषु ॥ २९ ॥

अर्थ—महेन्द्रपवन छत्र गज तुरंग चामर स्त्री राज्यादिक समस्त कल्याणोंको कहता है और समस्त कार्योंमें मनोगत भावको प्रकट कहता है। भावार्थ—मनमें विचारे हुए कार्योंकी सिद्धि कहता है ॥२९॥

अभिमतफलनिकुरम्बं विद्यावीर्यादिभूतिसंकीर्णम्[1] ।
सुतयुवतिवस्तुसारं वरुणो योजयति जन्तूनाम् ॥ ३० ॥

अर्थ— वरुण पवन जीवोंके विद्यावीर्यादि विभूति सहित तथा पुत्रस्त्रीआदिमें जो सारवस्तु मनोवांछित हों उन सबको जोड़ता है अर्थात् प्राप्त कराता है ॥३०॥

भयशोकदुःखपीडा–विघ्नौघपरम्परां विनाशं च ।
व्याचष्टे देहभृतां दहनो दाहस्वभावोऽयम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—यह अग्निमंडलका पवन दाहस्वभावरूप है। यह पवन जीवोंके भय शोक दुःख पीडा तथा विघ्नसमूहकी परंपरा तथा विनाशादिक कार्योंको प्रगट कहता है ॥३१॥

सिद्धमपि याति विलयं सेवाकृष्यादिकं समस्तमपि चैव ।
मृत्युभयकलहवैरं पवने त्रासादिकं च स्यात् ॥ ३२ ॥

अर्थ—तथा पवनमंडलके पवन बहने पर सेवा कृषी आदिक समस्त कार्य सिद्ध हुये हों वे भी विलय हो जाते हैं (नष्ट हो जाते ही हैं) तथा मृत्युभय कलह वैर तथा त्रासादिक होते हैं ॥३२॥

[1] " विभवसंकीर्णं " इत्यपि पाठः ।

यह तो सामान्य कार्योंमें शुभाशुभ कहा। अब इनके प्रवेश और निःसरणकालके विषयमें कहते हैं—

सर्वे प्रवेशकाले कथयन्ति मनोगतं फलं पुंसाम्[1]।
अहितमतिदुःखनिचितं त एव निःसरणवेलायाम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—ये चारों ही पवन प्रवेशकालमें अर्थात् नासिका के बाहरसे आ कर उल्टा प्रवेश करते हैं तो पुरुषोंके मनोगत फलको कहते हैं अर्थात् मनमें विचारे सो सिद्ध होता है। परन्तु येही चारों पवन निकलनेके समय अतिशय दुःखसे भरे अहितको प्रकाश करते हैं ॥३३॥

सर्वेऽपि प्रविशन्तो रविशशिमार्गेण वायवः सततम्।
विदधति परां सुखास्थां निर्गच्छन्तो विपर्यस्ताम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—ये चारों ही पवन सूर्य चंद्रमाके मार्गसे अर्थात् दाहिने बायें निरंतर प्रवेश करते हुए उत्कृष्ट सुखकी आस्थाको करते हैं और निकलते समय दुःखावस्थाको प्रगट करते हैं। भावार्थ-प्रवेश करते शुभ हैं, निकलते हुए अशुभ हैं ॥३४॥

वामेन प्रविशन्तौ वरुणमहेन्द्रौ समस्तसिद्धिकरौ।
इतरेण निःसरन्तौ हुतभुक्पवनौ विनाशाय ॥ ३५ ॥

अर्थ—तथा वरुण और माहेन्द्र पवन (पृथ्विपवन) बायीं तरफ प्रवेश करते हैं तो समस्त कार्योंके सिद्ध करनेवाले हैं तथा वह्निमण्डल और पवनमंडलके पवन दाहिनी तरफ निकलते हुए विनाशके अर्थ हैं ॥३५॥

अथ मण्डलेषु वायोः प्रवेशनिःसरणकालमवगम्य।
उपदिशति भुवनवस्तुषु विचेष्टितं सर्वथा सर्वम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—अथवा चारों मंडलोंमें पवनके प्रवेश और निःसरणकालको निश्चय करके ध्यानी पुरुष जगत भरमें जो पदार्थ हैं उन सबकी सर्व प्रकारकी चेष्टाओंका उपदेश करता है ॥ ३६ ॥

वामायां विचरन्तौ दहनसमीरौ तु मध्यमौ कथितौ।
वरुणेन्द्रावितरस्यां तथाविधावेव निर्दिष्टौ ॥ ३७ ॥

अर्थ— अग्निमंडलका पवन और वायुमंडलका पवन बायी तरफसे बहता हुआ मध्यम फल कहता है और वरुण तथा माहेन्द्र ये दोनों पवन दाहिनी तरफसे बहें तो मध्यम फल कहते हैं ॥ ३७ ॥

उदये वामा शस्ता सितपक्षे दक्षिणा पुनः कृष्णे।
त्रीणि त्रीणि दिनानि तु शशिसूर्यस्योदयः श्लाघ्यः ॥ ३८ ॥

अर्थ—शुक्लपक्षमें सूर्योदयके समय नाडी बायी तरफ बहती हुई प्रशस्त है, उत्तम है। कृष्णपक्षमें उदयकालमें दाहिनी तरफ बहती हुई नाडी श्रेष्ठ है। इस प्रकार तीन तीन दिन चन्द्रमा और सूर्यका

१ "पुंसाम्" इत्यपि पाठः।

उदय सराहा है। भावार्थ–शुक्लपक्षकी प्रतिपदा द्वितीया तृतीयाके दिन प्रातःकाल हो बामस्वर अच्छा है; फिर तीन दिन दाहिना, फिर तीन दिन बाया, इसी प्रकार पूर्णिमापर्यन्त स्वरोंका तीन तीन दिन चलना शुभ है। तथा कृष्णपक्षमें प्रतिपदा द्वितीया तृतीयाके दिन दाहिना स्वर फिर तीन दिन बाया, फिर तीन दिन दाहिना, इसी प्रकार अमावस्यापर्यन्त अशुभ स्वर जानने। इनसे विरुद्ध स्वर चलने शुभ हैं।३४

उदयश्चन्द्रेण हितः सूर्येणास्तं प्रशस्यते वायोः।
रविणोदये तु शशिना शिवमस्तमनं सदा नृणाम् ॥३९॥

अर्थ–तथा पवनका उदय चन्द्रमाके स्वरसे (बाये स्वरसे) शुभ है और अस्त सूर्यस्वर अर्थात् दाहिने स्वरसे प्रशस्त कहा है और सूर्य (दाहिने) से उदय हो तो शशि कहिये बायें स्वरसे अस्त होना जीवोंको सदा कल्याणकारी (शुभ) है ॥३९॥

सितपक्षे रव्युदये प्रतिपद्दिवसे समीक्ष्यते सम्यक्।
शस्तेतरप्रचारौ वायोर्यत्नेन विज्ञानी ॥४०॥

अर्थ–पवनका प्रचार (चलना) शुक्लपक्षमें सूर्यके उदयमें प्रतिपदाके दिन विज्ञानी सम्यक् प्रकार यत्नसे शुभ अशुभ दोनोंको विचारे—देखे ॥४०॥

किस प्रकार विचारे सो कहते हैं—

व्यस्तः प्रथमे दिवसे चित्तोद्वेगाय जायते पवनः।
धनहानिकृद्द्वितीये प्रवासदः स्यात्तृतीयेऽह्नि ॥४१॥
इष्टार्थनाशविभ्रमस्वपदभ्रंशास्तथा महायुद्धम्।
दुःखं च पञ्च दिवसैः क्रमशः संजायते त्वपरैः ॥४२॥

अर्थ–पवन प्रथम दिवसमें व्यस्त कहिये विपरीत बहे तो चित्तको उद्वेग होता है और दूसरे दिन विपरीत बहे तो धनकी हानिका सूचन करता है, तीसरे दिन विपरीत चले तो परदेश गमन करावे।४१। और पांच दिनतक विपरीत चले तो क्रमसे इष्ट प्रयोजनका नाश, विभ्रम, अपने पदसे भ्रष्ट होना, महायुद्ध और दुःख ये पांच फल होते हैं। तथा इसी प्रकार अगले अगले पांच पांच दिनका फल विपरीत अर्थात् अशुभ जानना ॥४२॥

वामा सुधामयी ज्ञेया हिता शश्वच्छरीरिणाम्।
संहर्त्री दक्षिणा नाडी समस्तानिष्टसूचिका[1] ॥४३॥

अर्थ—जीवोंके बायीं नाडी (चन्द्रस्वर या बाया स्वर) अमृतमयी सदा हितकारी जाननी और दाहिनी नाडी (सूर्यनाडी) समस्त अहितकी कहनेवाली संहारस्वरूप जाननी।४३।

---

१ "निःशेषानिष्टसूचिका" इत्यपि पाठः।

आर्या ।

अमृतमिव सर्वगात्रं प्रीणयति शरीरिणां ध्रुवं वामा ।
क्षपयति तदेव शश्वद्वहमाना दक्षिणा नाडी ॥४४॥

अर्थ—बायीं नाडी निरन्तर बहती हुई जीवोंके समस्त शरीरको अमृतकी समान तृप्त करती है और दाहिनी नाडी निरंतर बहती हुई शरीरको क्षीण करती है ॥४४॥

संग्रामसुरतभोजनविरुद्धकार्येषु दक्षिणेष्टा स्यात् ।
अभ्युदयहृदयवाञ्छितसमस्तशस्तेषु वामैव ॥४५॥

अर्थ—संग्राम कामक्रीडा भोजन आदि विरुद्ध कार्योंमें तो दाहिनी नाडी इष्ट (शुभ) है और अभ्युदय और मनोवांछित समस्त शुभकार्योंमें बायीं नाडी शुभ है ॥४५॥

नेष्टघटने समर्था राहुग्रहकालचन्द्रसूर्याद्याः ।
क्षितिवरुणौ त्वमृतगतौ समस्तकल्याणदौ ज्ञेयौ ॥४६॥

अर्थ—पृथ्वीमंडल और वरुणमंडल ये दोनों पवन अमृतगति कहिए चन्द्रस्वर (बांयीं नाडी) में बहैं तो ग्रहकाल चन्द्रमासूर्य आदिक हैं, वे अनिष्ट करनेमें समर्थ नहीं होते । समस्तकल्याणकी देनेवाली दोनों नाडी होती हैं ॥४६॥

पूर्णे पूर्वस्य जयो रिक्ते त्वितरस्य कथ्यते तज्ज्ञैः ।
उभयोर्युद्धनिमित्ते दूतेनाशंसिते प्रश्ने ॥४७॥

अर्थ—कोई दूत आ कर युद्धके निमित्त भरे सुरमें प्रश्न करें तो पहिले पूछनेवालेकी जीत हो, और रिक्तस्वर (खाली स्वर) में पूछे तो दूसरेकी जय हो और दोनों चले तो दोनोंकी जय हो ॥४७॥

ज्ञातुर्नाम प्रथमं पश्चाद्यद्यातुरस्य गृह्णाति ।
दूतस्तदेष्टसिद्धिस्तद्व्यस्ते स्याद्विपर्यस्ता ॥४८॥

अर्थ—कोई प्रश्न करता दूत यदि प्रथम ही ज्ञाताका नाम लेकर तत्पश्चात् आतुरका नाम ले तो इष्टकी सिद्धि होती है और इससे विपरीत रोगीका नाम पहिले और ज्ञाताका नाम पीछे ले तो इष्टकी सिद्धि नहीं (विपर्यस्त) हैं ॥४८॥

जयति समाक्षरनामा वामावाहस्थितेन दूतेन ।
विषमाक्षरस्तु दक्षिणदिक्संस्थेनास्त्रसंपाते ॥४९॥

अर्थ—दूत आ कर जिसके लिये पूछे उसके नामके अक्षर सम (दो चार छह इत्यादि) हों और बायीं नाडी बहती हुईकी तरफ खड़ा हो कर पूछे तो वह शस्त्रपातके होते हुए भी जीते और जिसके नामके विषमाक्षर हों अर्थात् एक तीन पांच इत्यादि हों और दाहिनी नाडी बहती हुईमें खड़ा रह कर पूछे तो उसकी भी जीत हो, इस प्रकार जय पराजयके प्रश्नका उत्तर कहें ॥४९॥

भूतादिगृहीतानां रोगार्तानां च सर्पदष्टानां ।
पूर्वोक्त एव च विधिर्बोद्धव्यो मान्त्रिकावश्यम् ॥ ५० ॥

अर्थ—जो कोई मंत्रवादीको दूत आ कर पूछे कि अमुक भूतादिकसे गृहीत है तथा अमुक रोग से पीडित है अथवा सर्पने काटा है तो पूर्वोक्त विधि ही जाननी। यह अवश्य है कि समअक्षरवालेका बायीं नाडीके चलते हुए पूछना शुभ है और विषमाक्षरवालेका दाहिनी बहती हुई नाडीमें पूछना शुभ है ॥ ५० ॥

पूर्णे वरुणे प्रविशति यदि वामा जायते क्वचित्पुण्यैः ।
सिद्ध्यत्यचिन्तितान्यपि कार्याण्यारब्धमात्राणि ॥ ५१ ॥

अर्थ—वरुणमंडलका पवन पूर्ण हो कर प्रवेश होते हुए यदि किसी पुण्योदयसे बायीं नाडी चले तो अनचिन्ते कार्यके प्रारंभ करनेमें भी सिद्धि होती है अर्थात् शुभ है ॥ ५१ ॥

जयजीवितलाभाद्या येऽर्थाः पूर्वं तु सूचिताः शास्त्रे ।
स्युस्ते सर्वेऽप्यफला मृत्युस्थे मरुति लोकानाम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—जो पदार्थ पहिले जय जीवित लाभादिक शास्त्रमें सूचित किये अर्थात् कहे हैं वे यदि मृत्युके समय (श्वास नष्ट हुआ तथा टूटता हुआ) हों तो सब ही निष्फल हैं अर्थात् इससे मरण ही निश्चय करना ऐसा तात्पर्य है ॥ ५२ ॥

अब जीवन मरणके निश्चय करनेका वर्णन करते हैं—

अनिलमवबुध्य सम्यक्पुष्पं हस्तात्प्रपातयेज्ज्ञानी ।
मृतजीवितविज्ञाने ततः स्वयं निश्चयं कुरुते ॥ ५३ ॥

अर्थ—पवनको सम्यक् प्रकारसे निश्चय करके ज्ञानी पुरुष अपने हाथसे पुष्प डाले उससे मृत जीवितका विज्ञान स्वयं निश्चय करता है ॥ ५३ ॥

वरुणे त्वरितो लाभश्चिरेण भौमे तदर्थिने वाच्यम् ।
तुच्छतरः पवनाख्ये सिद्धोऽपि विनश्यते वह्नौ ॥ ५४ ॥

अर्थ—वरुण पवनके होने पर त्वरित् (शीघ्र) ही लाभ कहैं, और पृथ्वि पवन हो तो बहुत कालमें लाभ कहे—और पवनमंडलका पवन हो तो थोड़ा लाभ कहे और अग्निका पवन हो तो सिद्ध हुआ लाभ भी नाशको प्राप्त होता है, ऐसे कहना ॥ ५४ ॥

आयाति गतो वरुणे भौमे तत्रैव तिष्ठति सुखेन ।
यात्यन्यत्र श्वसने मृत इति वह्नौ समादेश्यम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—कोई परदेश गये हुएका प्रश्न करे तो उसको इस प्रकार कहना—प्रश्न करनेवाला यदि वरुणपवनमें प्रश्न करे तो गया हुआ मनुष्य आता है ऐसा कहना और पृथिवीतत्वमें प्रश्न करे तो जहां

ही रहता है और पवनतत्वमें पूछें तो जहां रहता था वहांसे कहीं अन्यत्र गया है और वह्नितत्त्वमें कहे कि मरणको प्राप्त हुआ ॥ ५५ ॥

घोरतरः संग्रामो हुताशने मरुति भङ्ग एव स्यात् ।
गगने सैन्यविनाशं मृत्युर्वा युद्धपृच्छायाम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—युद्धके प्रश्नमें अग्नितत्वमें तो तीव्रसंग्राम तथा वायुतत्वमें भंग होना कहें और आकाशतत्वमें सेनाका विनाश अथवा मृत्यु कहें ॥ ५६ ॥

ऐन्द्रे विजयः समरे ततोऽधिको वाञ्छितश्च वरुणे स्यात् ।
सन्धिर्वा रिपुभङ्गात्स्वसिद्धिसंसूचनोपेतः ॥ ५७ ॥

अर्थ—तथा पृथ्वितत्वमें संग्राममें विजय कहे और वरुण पवनमें वांछितसे भी अधिक जय कहे अथवा सन्धि होना कहें तथा शत्रुके भंग होनेसे अपनी सिद्धिकी सूचना सहित कहें ॥ ५७ ॥

अब मेह वर्षनेके प्रश्नका उत्तर कहते हैं—

वर्षति भौमे मघवा वरुणेऽभिमतो मतस्तथाजस्रम् ।
दुर्दिनघनाश्च पवने वह्नौ वृष्टिः कियन्मात्रा ॥५८॥

अर्थ—पृथ्वि तत्वमें तो मेघ वर्षना कहे अप्तत्वमें मनोवांछित मेह निरन्तर बरसेगा ऐसा कहे। पवनतत्वमें दुर्दिन होगा, बादल होगा, ऐसा कहे और वह्नितत्वमें किंचिन्मात्र वृष्टि होना कहे ॥५८॥

सस्यानां निष्पत्तिः स्याद्वरुणे पार्थिवे च सुश्लाघ्या ।
स्वल्पापि न चाग्नेये वाय्वाकाशे तु मध्यस्था ॥ ५९ ॥

अर्थ—कोई मनुष्य धान्य निष्पत्ति (उत्पन्न होने न होने) का प्रश्न करे तो वरुण पवनमें और पृथ्वि पवनमें तो धान्यकी उत्पत्ति अच्छी होगी ऐसा कहे और अग्निपवनमें स्वल्प भी न हो ऐसा कहे और वायुतत्वमें अथवा शून्य (आकाशतत्व) में मध्यस्थ हो, ऐसा कहे ॥ ५९ ॥

नृपतिगुरुबन्धुवृद्धा अपरेऽप्यभिलषितसिद्धये लोकाः ।
पूर्णाङ्गे कर्तव्या विदुषा वीतप्रपञ्चेन ॥ ६० ॥

अर्थ—यहां वशीकरण प्रयोग है—सो राजा गुरु बन्धु वृद्धपुरुष तथा अन्य लोग भी अपने वांछितके लिये वश करने हो तो पूर्णाङ्ग कहिये भरे स्वरमें प्रपंच रहित पंडितपुरुषोंको चाहिये कि वशीकरणप्रयोग करे। भावार्थ—जिस समय भरा स्वर चलता हो उस समय उनसे वार्त्तालाप करनेसे वे अपने अनुकूल प्रवर्त्तते हैं ॥ ६० ॥

शयनासनेषु दक्षैः पूर्णाङ्गनिवेशितासु योषासु ।
ह्रियते चेतस्त्वरितं नातोऽन्यद्वश्यविज्ञानम् ॥ ६१ ॥

---

१ इस ग्रंथमें पृथ्वि अप् तेज और वायु ये ४ ही तत्त्व माने हैं, आकाश तत्त्व माना ही नहीं तो फिर आकाशतत्त्वका फल क्यों कहा सो हमारी समझमें नहीं आया—(अनुवादक)।

अर्थ--प्रवीण पुरुषोंके द्वारा भरे स्वरमें निवेशित की हुई स्त्रियोंके चित्त त्वरित ही हरे जाते हैं इससे अन्य वश करनेका कोई भी विज्ञान उत्तम नहीं है ॥ ६१ ॥

अरिऋणिकचौरदुष्टा अपरेऽप्युपसर्गविग्रहाद्याश्च ।
रिक्ताङ्गे कर्त्तव्या जयलाभसुखार्थिभिः पुरुषैः ॥ ६२ ॥

अर्थ—तथा शत्रु, ऋणवाला चौर दुष्ट पुरुष तथा अन्य भी ऐसे लोक वश करने तथा उपसर्ग युद्ध इत्यादिक कार्य जीतलाभसुखके अर्थियोंको रीते स्वरमें करने चाहिये ॥६२ ॥

रिपुशस्त्रसंप्रहारे रक्षति यः पूर्णगात्रभूभागम् ।
बलिभिरपि वैरिवर्गैर्न भेद्यते तस्य सामर्थ्यम् ॥ ६३ ॥

अर्थ--शत्रुके शस्त्रप्रहार होते समय अपना जो स्वर भरा हो उस स्वरकी तरफ वैरी रहें तो उस पुरुषकी सामर्थ्य बलवान् शत्रुसे भी भेदी नहीं जा सकती । भावार्थ--वैरीके साथमें लड़ाई होते वैरीको तरफ अपना भरा स्वर हो वही रखनेसे अपनी जीत होती है ॥ ६३ ॥

अब स्त्रीके गर्भसंबंधी प्रश्नके उत्तर देनेका वर्णन है–

आर्या ।

वरुणमहेन्द्रौ शस्तौ प्रश्ने गर्भस्य पुत्रदौ ज्ञेयौ ।
इतरौ स्त्रीजन्मकरौ शून्यं गर्भस्य नाशाय ॥ ६४ ॥

अर्थ— वरुण और महेन्द्र इन दोनों पवनोंमें प्रश्न हो तों पुत्र जन्मेगा और अग्नि तथा वायुतत्वमें प्रश्न हो तों कन्या होगी और रीते स्वरमें प्रश्न हो तो गर्भ नष्ट हो जायगा ऐसा कहें ॥ ६४ ॥

श्लोकः ।

नासाप्रवाहदिग्भागे गर्भार्थं यस्तु पृच्छति ।
पुरुषः पुरुषादेशं शून्यभागे तथाङ्गना ॥ ६५ ॥

अर्थ—जिस तरफका स्वर चलता हो उसी तरफ होकर प्रश्न करे और वह प्रश्न करनेवाला पुरुष हो तो पुत्र होना कहें और शून्य भाग अर्थात् रीते स्वरकी तरफ होकर प्रश्न करे तों पुत्र होना कहें ॥ ६५ ॥

विज्ञेयः सम्मुखे षण्ढः सुषुम्नायामुभौ शिशू ।
गर्भहानिस्तु संक्रान्तौ समे क्षेमं विनिर्दिशेत् ॥ ६६ ॥

अर्थ— यदि सन्मुख होकर प्रश्न करें तो नपुंसक सन्तान होगी ऐसा कहे तथा दोनों नासिका पूर्ण भरी हुईमें पूछें तो दो बालक होना कहे । पवनके संक्रम (पलटने) के समय पूछे तो गर्भकी हानि हो और दोनों तरफ पवन सम बहतो हुईमें पूछे तो क्षेम कुशल कहे ॥ ६६ ॥

आर्या ।

ज्ञायेत यदि न सम्यग्मरुत्तदा बिन्दुभिः स निश्चेयः ।
सितपीतारुणकृष्णैर्वरुणावनिपवनदहनोत्थैः ॥ ६७ ॥

अर्थ—जो कदाचित् पवन भले प्रकार जाननेमें नहीं आवे तो फिर श्वेत पीत रक्त कृष्ण बिंदुओंसे निश्चय करना। वे बिंदु वरुणसे उत्पन्न हुये तो सफेद होते हैं, पृथ्वीसे उत्पन्न हुये पीत (पीले) तथा पवनसे रक्त और अग्निसे काले उत्पन्न होते हैं ॥ ३७ ॥

आगे बिंदु देखनेका विधान कहते हैं—

कर्णाक्षिनासिकापुटमङ्गुष्ठप्रथममध्यमाङ्गुलिभिः ।
द्वाभ्यां च पिधाय मुखं करणेन हि दृश्यते बिन्दुः ॥ ६८ ॥

अर्थ—कान नेत्र नासिका इनको क्रमसे दोनों अँगूठे दोनों प्रथम अंगुली तथा दोनों मध्यमा अंगुलियोंसे बंद करके ढक करके मुखको भी शेष दोनों अंगुलियोंसे बंद कर ले तत्पश्चात् मनसे देखने पर चारों प्रकारकी पवनोंके बिंदुओंमेंसे जिस प्रकारका बिंदु दीखे वही पवन जानना ॥ ६८ ॥

श्लोकः।

दक्षिणामथवा वामां यो निषेद्धुं समीप्सति ।
तदङ्गं पीडयेदन्यां नासानाडीं समाश्रयेत् ॥ ६९ ॥

अर्थ—दाहिनी अथवा बायीं नाडीका निषेध करना (बदलना) चाहे तो उस नाडीके अंगको पीडे तथा दाबे तो दूसरी नाडी का आश्रय करें अर्थात् दाहिनीसे बायीं हो जाय और बायींसे दाहिनी हो जाय ॥ ६९ ॥

आर्या।

अग्रे वामविभागे चन्द्रक्षेत्रं वदन्ति तत्त्वविदः ।
पृष्ठौ च दक्षिणाङ्गे रवेस्तदेवाहुराचार्याः ॥ ७० ॥

अर्थ—अग्र कहिये सन्मुख और बायी तरफका भाग तो चन्द्रमाका क्षेत्र है और पिछला और दाहिना भाग सूर्यका क्षेत्र है इस प्रकार तत्त्वके जाननेवाले आचार्यगण कहते हैं ॥ ७० ॥

अविनिवनदहनमंडलविचलनशीलस्य तावदनिलस्य ।
गति ऋजुरेव मरुत्पुरविहारिणः सा तिरश्चीना ॥ ७१ ॥

अर्थ—पृथ्वि जल अग्नि मंडलमें विहार करनेवाली पवनकी गति तो सरल है और पवनमंडलमें विहार करनेवाली गति तिरछी (वक्र) है ॥ ७१ ॥

पवनप्रवेशकाले जीव इति प्रोच्यते महामतिभिः ।
निष्क्रमणे निर्जीवः फलमपि च तयोस्तथा ज्ञेयम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—किसी छिपी वस्तुके विषयमें प्रश्न करें तो पवनके प्रवेशकालमें तो जीव है ऐसा कहना चाहिये और पवनके निकलते हुए कालमें प्रश्न करे तो निर्जीव है ऐसा बड़े बुद्धिमान् पुरुषोंने कहा है तथा इनका फल भी वैसा ही कहा जाता है ॥ ७२ ॥

---

१ "तथा भूतं" इत्यपि पाठः ।

जीवे जीवति विश्वं मृते मृतं सूरिभिः समुद्दिष्टम् ।
सुखदुःखजयपराजयलाभालाभादिमार्गोऽयम् ॥७३॥

अर्थ—जो पवनके प्रवेशकालमें जीव कहा सो जीते हुये समस्त वस्तु भी जीवित कहना और पवनके निकलते हुए मृतक कहा हो तो समस्त वस्तु निर्जीव ही कहना चाहिये। तथा सुख दुःख जय पराजय लाभ अलाभ आदिका भी यही मार्ग है ॥७३॥

संचरति यदा वायुस्तत्त्वात्तत्त्वान्तरं तदा ज्ञेयम् ।
यत्त्यजति तद्धि रिक्तं तत्पूर्णं यत्र संक्रमति ॥७४॥

अर्थ—जिस समय पवन है सो एक तत्त्वसे अन्य तत्त्वमें संचरती हो उस समय जिसको छोड़े सो तो रिक्तपवन कहा जाता है और जिसमें संचरें उसको पूर्ण कहा जाता है ॥७४॥

ग्रामपुरयुद्धजनपदगृहराजकुलप्रवेशनिःकाशे ।
पूर्णाङ्गपादमग्रे कृत्वा व्रजतोऽस्य सिद्धिः स्यात् ॥७५॥

अर्थ—ग्राम पुर युद्ध देश घर राजमंदिरमें प्रवेश करना अथवा वहांसे निकलना तो उस समय जिस तरफका स्वर भरा हुआ हो उस तरफका पांव पहिले रखकर चलें तो उसके कार्यकी सिद्धि होती है ॥७५॥

उक्तं च आर्या ।

"अमृते प्रवहति नूनं केचित्प्रवदन्ति सूरयोऽस्त्यर्थम् ।
जीवन्ति विषासक्ता म्रियते च तथान्यथाभूते ॥१॥

अर्थ—अमृत जो चन्द्रमाकी नाड़ी बायीं चलती हो तो निश्चयसे विषसे आसक्त पुरुष भी जीता है और अन्य प्रकार जो सूर्यकी नाडो दाहिनी चलें तो मरता है इस प्रकार पूर्वाचार्योंने अधिकतासे कहा है ॥१॥"

यस्मिन्नसति म्रियते जीवति सति भवति चेतनाकलितः ।
जीवस्तदेव तत्त्वं विरला जानन्ति तत्त्वविदः ॥७६॥

अर्थ—जीव है सो जिस पवनके न होते तो मरें और जिस पवनके होते हुए जीवे चेतना सहित रहें ऐसा तत्त्व कोई विरले ही तत्त्वज्ञानी जानते हैं ॥७६॥

सुखदुःखजयपराजयजीवितमरणानि विद्म इति केचित् ।
वायुप्रपञ्चरचनामवेदिनां कथमयं मानः ॥७७॥

अर्थ—कोई पुरुष इस प्रकार कहते हैं कि हम सुख दुःख जय पराजय जीवित मरण इनको जानते हैं परन्तु ऐसा अभिमान पवनके प्रपंच (विस्तारकी रचनाको) नहीं जानते उनको कैसे हो सकता है। भावार्थ—पवनका प्रचार जाने बिना अभिमान करना वृथा है ॥७७॥

कुर्वीत पूरके सत्याकृष्टिं कुम्भके तथा स्तम्भम् ।
उच्चाटनं च योगी रेचकविज्ञानसामर्थ्यात् ॥७८॥

अर्थ— पवनको साधनेवाला योगी है सो पूरकके होते तो आकर्षण करता है और कुम्भकके होते स्तंभन करता है और रेचकके विज्ञानकी समार्थ्यसे उच्चाटन करता है ॥७८॥

इदमखिलं श्वसनभवं सामर्थ्यं स्यान्मुनेर्ध्रुवं तस्य ।
यो नाडिकाविशुद्धिं सम्यक् कर्त्तुं विजानाति ॥७९॥

अर्थ—यह सब पवनसे उत्पन्न हुआ सामर्थ्य है सो उस मुनिके ही होता है कि जो नाडिका कहिये पवनकी विशुद्धताके प्रचारका चलना नासिकाके द्वारसे निकलने प्रवेश करने आदिको भले प्रकार विशुद्ध करनेके लिये विशेष कर जानता है ॥७९॥

यहां नाडीकी समर्थ्य कही, अब नाडिकाकी शुद्धताका विधान कहते हैं—

यद्यपि समीरचारश्चपलतरो योगिभिः सुदुर्लक्ष्यः ।
जानाति विगततन्द्रस्तथापि नाड्यां कृताभ्यासः ॥८०॥

अर्थ—यद्यपि पवनका प्रचार है सो अतिशय चपल है, योगीश्वरोंको भी दुर्लक्ष्य है अर्थात् लखनेमें नहीं आता, तथापि योगी निष्प्रमाद होकर अति यत्नसे नाड़ीमें अभ्यास करनेसे इसके प्रचार (संचार) को जान सकता है ॥८०॥

नाडीकी विशुद्धताका वर्णन करते हैं --

सकलं बिन्दुसनाथं रेफाक्रान्तं हवर्णमनवद्यम् ।
चिन्तयति नाभिकमले सुबन्धुरं कर्णिकारूढम् ॥८१॥

अर्थ— चंद्रकला सहित बिंदुसंयुक्त रेफसे व्याप्त ऐसा हकार अथात "र्हं ऐसा अक्षर निष्पाप मनोज्ञ नाभिकमलकी कर्णिकामें आरूढ है ऐसा चिंतवन करें ॥८१॥ तत्पश्चात्

रेचयति ततः शीघ्रं पतङ्गमार्गेण भासुराकारम् ।
ज्वालाकलापकलितं स्फुलिङ्गमालाकराक्रान्तम् ॥८२॥
तरलतडिदुग्रवेगं धूमशिखावर्त्तरुद्धदिक्चक्रम् ।
गच्छन्तं गगनतले दुर्द्धर्षं देवदैत्यानाम् ॥८३॥

अर्थ—भासुराकार देदीप्यमान ज्वालासमूहसे संयुक्त स्फुलिंगोंकी पंक्तिके किरणोंसे व्याप्त ऐसे सूर्यके मार्गसे अर्थात् दाहिनो नाडीसे रेचन करे अर्थात् बाहर निकालें—तत्पश्चात् वह वर्ण चंचल बिजलीके वेगकी समान वेगवाला और धूमकी शिखाके आवर्त्तसे जिसने दिशाओंको रोका है, देव दैत्योंके द्वारा भी थांभनेमें नहीं आवें ऐसे वेगसे आकाशमें गमन करता हुआ चिंतवन करें ॥८२-८३॥

शरदिन्दुधामधवलं गगनतलान्मन्दमन्दमवतीर्णम् ।
क्षरदमृतमिव सुधांशोः पूरयति यथा पुनः पुरतः ॥८४॥

अर्थ-तत्पश्चात् वही वर्ण शरदके चन्द्रमाकी कान्तिके समान धवल आकाशतलसे मंद मंद उतरता हुआ चन्द्रमाके मार्गसे अर्थात् वामस्वरसे जैसे अमृत झरे वैसे फिर भी नाभिकमलमें पूरण करें अर्थात् आकाशसे उतार कर नाभिकमलमें धारण करें ॥८४॥

तत्पश्चात् क्या करें सो कहते हैं—

आनीय नाभिकमलं निवेश्य तस्मिन्पुनः पुनश्चैव ।
अनलसमनसा कार्यं प्रवेशनिःसरणमनवतरम्[1] ॥८५॥

अर्थ—नाभिकमलमें लानेके पश्चात् उस नाभिकमलमें ही स्थापन करके उसमें ही आलस्यरहित मनसे प्रवेश निःसरण निरंतर वारंवार करना, इस कार्यके करनेमें मनमें प्रमाद न लाना, सावधानी रखना ।८५।

तत्पश्चात् क्या करना सो कहते हैं—

अथ नाभिपुण्डरीकाच्छनैः शनैर्हृदयकमलनालेन ।
निःसारयति समीरं पुनः प्रवेशयति सोद्योगम् ॥८६॥

अर्थ—तत्पश्चात् नाभिकमलसे हृदयरूप कमलकी नालसे धीरे धीरे पवनको उद्यमसहित निकाले और प्रवेश करावें ॥ ८६ ॥

नाडीशुद्धिं कुरुते दहनपुरं दिनकरस्य मार्गेण ।
निष्क्रामद्विशदिंदोः पुरमितरेणेति केऽप्याहुः ॥८७॥

अर्थ—कोई कोई आचार्य इस प्रकार कहते हैं कि अग्निमंडलकी पवन है सो सूर्यके मार्ग (दाहिने स्वर) से निकलती और वरुणमंडलसंबन्धी पवन चन्द्रमाके मार्ग (बायें स्वर) से प्रवेश करती नाडोकी शुद्धताको करती है ॥८७॥

इति नाडिकाविशुद्धिपरिकलिताभ्यासकौशलो योगी ।
आत्मेच्छयैव घटयति पुटयोः पवनं क्षणार्द्धेन ॥८८॥

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे नाडीकी विशुद्धतामें भले प्रकार अभ्यास करनेमें प्रवीण योगी पवनको नासिकाके छिद्रोंमें अपनी इच्छासे ही आधेक्षण मात्रमें बना सकते हैं । नाडीमें अभ्यास करनेसे पवनके प्रवेश निःसरण करनेमें योगी स्वाधीन हो जाता है अर्थात् सिद्ध हो जाता है ॥८८॥

एकस्यामयमास्ते कालं नालीयुगद्वयं सार्द्धम् ।
तामुत्सृज्य ततोऽन्यामधितिष्ठति नालिकामनिलः ॥८९॥

अर्थ—यह पवन है सो एक नाड़ीमें नालीद्वयसार्द्ध कहिये अढ़ाई घडी तक रहता है, तत्पश्चात् उसे छोड़ अन्य नाडीमें रहता है, यह पवनके ठहरनेके कालका परिमाण है ॥८९॥

षोडशप्रमितः कैश्चिन्निर्णीतो वायुसंक्रमः ।
अहोरात्रमिते काले द्वयोर्नाड्योर्यथा क्रमम् ॥९०॥

---

[1] 'निष्क्रमणनवरतम्'' इत्यपि पाठः ।

अर्थ—किन्हीं २ आचार्योंने दोनों नाडियोंमें एक अहोरात्र परिमाण कालमें पवनका संक्रम (पलटना) क्रमसे १६ बार होना निर्णय किया है ॥९०॥

षट्शतान्यधिकान्याहुः सहस्राण्येकविंशतिम् ।
अहोरात्रे नरि स्वस्थे प्राणवायोर्गमागमौ ॥९१॥

अर्थ—स्वस्थ मनुष्यके शरीरमें प्राणवायु श्वासोच्छ्वासका गमनागमन एक दिन और रात्रिमें इक-ईस हजार ६ सौ बार होता है ॥९१॥

संक्रान्तिमपि नो वेत्ति यः समीरस्य मुग्धधीः ।
स तत्त्वनिर्णयं कर्तुं प्रवृत्तः किं न लज्जते ॥९२॥

अर्थ—जो मूर्खबुद्धि पुरुष पवनकी पलटनको नहीं जानता है और पवनका तत्त्व यथार्थरूप निर्णय करनेके लिये प्रवर्ते है सो लज्जित क्यों नहीं होता ? भावार्थ—पवनके पलटनेको जाने बिना पृथ्वि आदिक तत्त्वोंका यथार्थ निर्णय नहीं होता, जो करना चाहता है वह मूर्ख है ॥९२॥

आगे पवनके वेध करनेका विधान कहते हैं—

अथ कौतुहलहेतोः करोति वेधं समाधिसामर्थ्यात् ।
सम्यग्विनीतपवनः शनैः शनैरर्कतूलेषु ॥९३॥

अर्थ—इसके पश्चात् यदि कोई पवनाभ्यासी कौतूहलके लिये समाधि जो पवनके अभ्यासकी लय उसकी सामर्थ्यसे भले प्रकार जाना है पवन जिसने ऐसा पुरुष आकके तूल (रूई) में मंदमंदतासे वेध करें ॥९३॥

तत्र कृतनिश्चयोऽसौ जातीबकुलादिगन्धद्रव्येषु ।
स्थिरलक्ष्यतया शश्वत्करोति वेधं वितन्द्रात्मा ॥९४॥

अर्थ—फिर उस आककी रूईमें किया है वेध जिसने ऐसा योगी है सो निष्प्रमादी होकर जाती पुष्प बकुल मौलश्रीके पुष्प आदि सुगंध द्रव्योंमें वेध करता है ॥९४॥

कर्पूरकुंकुमागुरुमलयजकुष्ठादिगन्धद्रव्येषु ।
वरुणपवनेन वेधं करोति लक्ष्ये स्थिराभ्यासः[1] ॥९५॥

अर्थ—फिर जिसने लक्ष्यमें अभ्यास किया है ऐसा योगी कपूर केशर अगर चंदन कूठ (कूड) आदि सुगन्धित द्रव्योंमें वरुण पवनसे वेध करता है ॥९५॥

एतेषु लब्धलक्ष्यस्ततोऽपि सूक्ष्मेषु पत्रिकायेषु ।
वेधं करोति वायुप्रपञ्चसंयोजने चतुरः ॥९६॥

अर्थ—इन पूर्वोक्त वस्तुओंमें वेधका लक्ष प्राप्त होने पर योगी पवनके प्रपंचके संयोजनमें चतुर होता हुआ सूक्ष्म पत्रिकायिक जीवोंमें वेध करता है ॥९६॥

---

१ "कृताभ्यासः" इत्यपि पाठः ।

मधुकरपतङ्गपक्षिषु तथाण्डजेष्वेषु मृगशरीरेषु ।
संचरति जातलक्ष्यस्त्वनन्यचेतो वशी धीरः ॥९७॥

अर्थ—उत्पन्न हुआ है लक्ष्य जिसके ऐसा योगी अनन्यचित्त और जितेन्द्रिय धीरवीर एकाग्रचित्त होकर भ्रमर पतंगादि पक्षियोंमें तथा अंडज पक्षियोंमें और मृगपशुके शरीरमें संचार करता है ॥९७॥

नरतुरगकरिशरीरे क्रमेण संचरति निःसरत्येव ।
पुस्तोपलरूपेषु च यदृच्छया संक्रमं कुर्यात् ॥९८॥

अर्थ—तथा इस पवनाभ्यासका करनेवाला योगी क्रमसे मनुष्य घोडे हस्तीके शरीरमें अपनी इच्छानुसार संचार (प्रवेश) करता वा निकलता रहता है, उसी प्रकार लेप और पाषाणमें भी प्रवेश और निःसरण करता है । इस प्रकार नियमसे इच्छानुसार संक्रमण करे ॥९८॥

इति परपुरप्रवेशाभ्यासोत्थसमाधिपरमसामर्थ्यात् ।
विचरति यदृच्छयासौ मुक्त इवात्यन्तनिर्लेपः ॥९९॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्वोक्त रीतिसे परपुरके प्रवेश करनेके अभ्याससे उत्पन्न हुई समाधिके परम उत्कृष्ट सामर्थ्यसे योगी अपनी इच्छानुसार मुक्त आत्माकी समान निर्लेप होकर विचरता है ॥९९॥ तथा—

कौतुकमात्रफलोऽयं परपुरप्रवेशो महाप्रयासेन ।
सिद्धयति न वा कथंचिन्महतामपि कालयोगेन ॥१००॥

अर्थ - अथवा यह परपुरप्रवेश है सो कौतुक मात्र है फल जिसका ऐसा है, इसका पारमार्थिक फल कुछ भी नहीं है । और यह जो है सो महापुरुष बडे २ तपस्वियोंके भी बहुतकालमें प्रयास करने से भी सिद्ध नहीं होता, व्यर्थ ही प्रयास होता है । अर्थात् फल तो इसमें थोड़ा है और प्रयास बहुत है ॥१००॥

स्मरगरलमनोविजयं समस्तरोगक्षयं वपुःस्थैर्यम् ।
पवनप्रचारचतुरः करोति योगी न सन्देहः ॥१०१॥

अर्थ—अथा पवनके प्रचार करनेमें चतुर योगी कामरूपी विषयुक्त मनको जीतता (वश करता) है अर्थात् उसकी कामवासना नष्ट हो जाती है, समस्त रोगोंका क्षय करके शरीरमें स्थिरता (दृढता) करता है इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥१०१॥

जन्मशतजनितमुग्रं प्राणायामाद्विलीयते पापम् ।
नाडीयुगलस्यान्ते यतेर्जिताक्षस्य वीरस्ये[1] ॥१०२॥

अर्थ—इस पवनके साधनरूप प्राणायामसे जीती हैं इन्द्रियाँ जिसने ऐसे धीर वीर यतिके सैंकड़ो जन्मोंके संचित किये तीव्र पाप दो घड़ीके भीतर भीतर लय हो जाते हैं ॥१०२॥

१ "धीरस्य" इत्यपि पाठः ।

यहां आशय ऐसा है कि प्राणायामसे जगतके शुभाशुभ व भूतभविष्यत् जाने जाते हैं तथा परके शरीरमें प्रवेश करनेकी सामर्थ्य होती है सो ये तो लौकिक प्रयोजन हैं, इनमें कुछ परमार्थ नहीं है और मनको वशीभूत करनेसे विषयवासना नष्ट हो जाती है, और अपने निजस्वरूपमें ध्यान करके लय होनेसे अनेक जन्मके बांधे हुए कर्मोंका नाश करके मुक्तिको प्राप्त होना पारमार्थिक फल है। इस कारण योगीश्वरोंको करना योग्य है। तथा यह पवनके अभ्याससे पृथ्वि आदि मंडलों (तत्त्वों)का नासिकाके द्वारा पवन निकले उसके द्वारा निश्चय करना कहा और उन पृथ्वि आदि तत्त्वोंका वर्ण, आकार आदिका स्वरूप कहा सो यह कल्पना है। निमित्तज्ञानके शास्त्रोंमें वर्णन है कि शरीर पृथ्वि जल अग्नि और वातमयी है, इसमें पवन सर्वत्र विचरता है। इस पृथ्वि आदि तत्त्वोंकी कल्पना करके निमित्तज्ञान सिद्ध किया है। और पूरक कुम्भक रेचक करनेके अभ्याससे इस पवनको अपने आधीन करके पीछे इसको नाडीकी शुद्धि के अभ्याससे नासिकासे बाहर निकाले वा प्रवेश करावे तब नाड़ी शुद्ध होने पर फिर पवन बाहर निकले उसकी रीति पृथ्वी आदि मंडलस्वरूप जैसा वर्णन है वैसी हीं पहिचाने और जब उसके निमित्तसे जगतके भूत भविष्यत् शुभाशुभका ज्ञान होता है तब यह कहें यह लौकिक प्रयोजन है। और अन्यमतावलम्बियोंने भी यह कल्पना की है, परन्तु उनके यहां वस्तुका स्वरूप यथार्थ नहीं सधता इस कारण दैवयोगसे किंचित्मात्र लौकिक प्रयोजन सधे तो सध सकता है अथवा नहीं भी सधता, इसका कुछ नियम नहीं है ॥१०२॥

यहां इस प्राणायामके साधनेकी कठिनता दिखलानेके लिये उक्तं च श्लोक है—

"जलबिन्दुं कुशाग्रेण मासे मासे तु यः पिबेत् ।
संवत्सरशतं साग्रं प्राणायामश्च तत्समः ॥१॥

अर्थ—जो कोई पुरुष कुशके अग्रभागसे जलका एक एक बिन्दु महीने २ के अनन्तर सौ वर्ष तक पीवे अन्य कुछ भी आहारादिक नहीं करे ऐसा कठिन तप करे तो उसके समान इस प्राणायामका करना कठिन है; परन्तु जो योगीश्वर ध्यानके प्रभावसे इसे साधते हैं वे धन्य हैं ॥१॥"

इस प्रकार ध्यानके योग्य स्थान और आसन तथा प्राणायामका वर्णन किया।

कवित्त।

आसन थान सवाँरि करै मुनि प्राणायाम समीरसंभार।
पूरक कुंभक रेचक साधन नित आधीन सुतत्त्वविचार॥
जगतरीत सब लखै शुभाशुभ अपने हानि वृद्धि निरधार।
मन रोके परमातम ध्यावै तब यह सफल न आनप्रकार॥२९॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधीकारे ज्ञानार्णवे स्थानासनपूर्वकं प्राणायामवर्णनं नाम एकोनत्रिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥२९॥

३०. अथ त्रिंशः सर्गः।

प्रत्याहारधारणा वर्णन।

अब प्रत्याहार और धारणाका वर्णन करते हैं—

समाकृष्येन्द्रियार्थेभ्यः साक्षं चेतः प्रशान्तधीः।
यत्र यत्रेच्छया धत्ते स प्रत्याहार उच्यते ॥१॥

अर्थ—जो प्रशान्तबुद्धि विशुद्धतायुक्त मुनि अपनी इन्द्रियाँ और मनको इन्द्रियोंके विषयोंसे खींच कर जहां जहां अपनी इच्छा हो, तहां तहां धारण करे सो प्रत्याहार कहा जाता है। **भावार्थ**-मुनिके इन्द्रिय मन वशमें होते हैं तब मुनि जहां अपना मन लगावें वहां लग सकता है, उसको प्रत्याहार कहते हैं ॥१॥

निःसंगः संवृतस्वान्तः कूर्मवत्संवृतेन्द्रियः।
यमी समत्वमापन्नो ध्यानतन्त्रे स्थिरीभवेत् ॥२॥

अर्थ—निःसंग (परिग्रहरहित) और संवररूप हुआ है मन जिसका और कछुएके समान संकोच-रूप हैं इन्द्रियाँ जिसकी ऐसा मुनि ही रागद्वेषरहित समभावको प्राप्त हो कर ध्यानरूपी तंत्र (प्रवृति में स्थिरस्वरूप होता है। **भावार्थ**—ऐसा हो कर प्रत्याहार करें ॥२॥

मनको कहां २ लगावें सो कहते हैं—

गोचरेभ्यो हृषीकाणि तेभ्यश्चित्तमनाकुलम्।
पृथक्कृत्य वशी धत्ते ललाटेऽत्यन्तनिश्चलम् ॥३॥

अर्थ—वशी मुनि विषयोंसे तो इन्द्रियोंका पृथक् करें, और इन्द्रियोंसे मनको पृथक् करें तथा अपने मनको निराकुल करके अपने ललाट पर निश्चलतापूर्वक धारण करें यह विधि प्रत्याहारमें कही गई है ॥३॥

सम्यक्समाधिसिद्ध्यर्थं प्रत्याहारः प्रशस्यते।
प्राणायामेन विक्षिप्तं मनः स्वास्थ्यं न विन्दति ॥४॥

अर्थ—पूर्वोक्त प्राणायाममें पवनके साधनसे विक्षिप्त (क्षोभरूप) हुआ मन स्वास्थ्यको नहीं प्राप्त होता; इस कारण भले प्रकार समाधिकी सिद्धिके लिये प्रत्याहार करना प्रशस्त है अर्थात् प्रशंसा किया जाता है। **भावार्थ**-इस प्रत्याहारके द्वारा मन ठहरानेसे समाधिकी सिद्धि होती है ॥४॥

प्रत्याहृतं पुनः स्वस्थं सर्वोपाधिविवर्जितम्।
चेतः समत्वमापन्नं स्वस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ॥५॥

अर्थ—प्रत्याहारसे ठहरा हुआ मन समस्त उपाधि अर्थात् रागादिकरूप विकल्पोंसे रहित समभा-वको प्राप्त होकर आत्मामें ही लयको प्राप्त होता है ॥५॥

वायोः संचारचातुर्यमणिमाद्यङ्गसाधनम् ।
प्रायः प्रत्यूहबीजं स्यान्मुनेर्मुक्तिमभीप्सतः ॥६॥

अर्थ—पवनसंचारका चातुर्य शरीरको सूक्ष्म स्थूलादि करनेरूप अंगका साधन है इस कारण मुक्तिकी वांछा करनेवाले मुनिके प्रायः विघ्नका कारण है। भावार्थ मोक्षके साधनमें विघ्न करनेवाला है ॥६॥

किमनेन प्रपञ्चेन स्वसन्देहार्तहेतुना ।
सुविचार्यैव तज्ज्ञेयं यन्मुक्तेर्बीजमग्रिमम् ॥७॥

अर्थ—इस पवनसंचारकी चतुराइके प्रपंचसे क्या लाभ? क्योंकि यह आत्मामें संदेह और पीड़ा (आर्त्तध्यान)का कारण है। ऐसे भले प्रकार विचार करके मुक्तिका प्रधान कारण हों सो जानना चाहिये ॥७॥

संविग्नस्य प्रशान्तस्य वीतरागस्य योगिनः ।
वशीकृताक्षवर्गस्य प्राणायामो न शस्यते ॥८॥

अर्थ—जो मुनि संसारदेहभोगोंसे विरक्त है, कषाय जिसके मंद हैं, विशुद्ध भावयुक्त है; वीतराग है और जितेन्द्रिय है ऐसे योगीको प्राणायाम प्रशंसा करने योग्य नहीं है ॥८॥

प्राणायामसे क्या हानि होती है। सो बताते हैं—

प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्यादार्त्तसम्भवः ।
तेन प्रच्याव्यते नूनं ज्ञाततत्त्वोऽपि लक्ष्यतः ॥९॥

अर्थ—प्राणायाममें प्राणों (श्वासोच्छ्वासरूप पवन) का आयमन कहिये रोकनेसे (संकोचनेमें) पीड़ा होती है और उस पीड़ाके होते हुए आर्त्तध्यान उत्पन्न होता है और उस आर्त्तध्यानसे तत्त्वज्ञानी मुनि भी अपने लक्ष्य (अपने समाधि स्वरूप शुद्धभावों) से छुडाया जाता है। भावार्थ—आर्त्तध्यान समाधिसे भ्रष्ट कर देता है ॥९॥

पूरणे कुम्भके चैव तथा श्वसननिर्गमे ।
व्यग्रीभवन्ति चेतांसि क्लिश्यमानानि वायुभिः ॥१०॥

अर्थ—पवन (श्वासोच्छ्वास) के पूरक करने तथा कुंभक करने तथा पवनके रेचक होनेमें चित्त व्यग्ररूप (खेदखिन्न) होता है, क्योंकि पवनसे क्लेशित होनेसे खेद पाता है। इस कारण प्राणायामका यत्न गौण किया है ॥१०॥

नातिरिक्तं फलं सूत्रे प्राणायामात्प्रकीर्तितम् ।
अतस्तदर्थमस्माभिर्नातिरिक्तः कृतः श्रमः ॥११॥

१ "जन्मना" इत्यपि पाठः ।

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि इस प्राणायामसे सिद्धांतमें कुछ भी अधिक फल नहीं कहा है। इस कारण प्राणायामके लिये हमने अधिक खेद नहीं किया है ॥ ११ ॥

क्या करना चाहिये सो कहते हैं—

निरुद्धय करणग्रामं समत्वमवलम्ब्य च ।
ललाटदेशसंलीनं विदध्यान्निश्चलं मनः ॥ १२ ॥

अर्थ—इन्द्रियोंके विषयोंको रोक कर और रागद्वेषको दूर कर समता अवलंबन करके अपने मनको ललाटदेशमें संलीन करना चाहिये । इस प्रकार करनेसे समाधिको सिद्धि होती है ॥ १२ ॥

अब ध्यानके स्थान ललाटके सिवाय अन्य भी कहते हैं । उनमें अपने मनको थांभना कहते हैं—

मान्दाक्रान्ता ।

नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे
वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते ।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे
तेष्वेकस्मिन्विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् ॥ १३ ॥

अर्थ—निर्मलबुद्धि आचार्योंने ध्यान करनेके लिये नेत्रयुगल, दोनों कान, नासिकाका अग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु, दोनों भौंहोंका मध्य भाग इन दश स्थानोंमेंसे किसी एक स्थानमें अपने मनको विषयोंसे रहित करके आलंबित करना अर्थात् इन स्थानोंमेंसे किसी एक स्थान पर ठहरा कर ध्यानमें लीन करना कहा है ॥ १३ ॥

स्थानेष्वेतेषु विश्रान्तं मुनेर्लक्ष्यं वितन्वतः ।
उत्पद्यन्ते स्वसंवित्तेर्बहवो ध्यानप्रत्ययाः ॥ १४ ॥

अर्थ—इन पूर्वोक्त स्थानोंमें विश्रामरूप ठहराये हुए लक्ष्य (चिंतवने योग्य ध्येय वस्तु) को विस्तारते हुए मुनिके स्वसंवेदनरूपसे ध्यानके कारण बहुत ही उत्पन्न होते हैं । भावार्थ-जिसका ध्यान किया चाहे, उसकी ही सिद्धि होती है ॥ १४ ॥

इस प्रकार प्रत्याहारधारणाका वर्णन किया ।

दोहा ।

भालआदि दश थानमें, ध्येय थापि मन लाय ।
प्रत्याहार जु धारणा, यहै ध्यानविस्तार ॥ ३० ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे प्रत्याहारधारणावर्णनं नाम त्रिंशं प्रकरणम् समाप्तम् । ३० ॥

३१. अथैकत्रिंशः सर्गः

सवीर्य ध्यानका वर्णन ।

आगे वीर्य सहित ध्यान करनेका वर्णन है, उसमेंसे प्रथम ही ध्यान करनेकी प्रतिज्ञा करनेका विधान कहते हैं—

अनन्तगुणराजीवबन्धुरप्यत्र वञ्चितः ।
अहो भवमहाकक्षे प्रागहं कर्मवैरिभि ॥ १ ॥

अर्थ—ध्यान करनेका उद्यमी प्रथम ही ऐसा विचारें कि अहो देखो ! यह बड़ा खेद है, जो मैं अनन्तगुण रूप कमलोका बन्धु-विकाश करनेवाले सूर्यसमान हूं, तथापि इस संसाररूप वनमें कर्मरूप शत्रुकों के द्वारा पूर्वकालमे ठगा गया हूँ ॥ १॥

स्वविभ्रमसमुद्‌भूतै रागाद्यतुलबन्धनैः ।
बद्धो विडम्बितः कालमनन्तं जन्मदुर्गमे ॥ २ ॥

अर्थ तत्पश्चात् फिर विचारे कि मैने अपने ही विभ्रमसे उत्पन्न हुए रागादिक अतुलबन्धनोसे बँधे हुए अनन्तकाल पर्यन्त ससाररूप दुर्गम मार्गमे विटंबना रूप हो कर विपरीताचरण किया ॥२॥

अद्य रागज्वरो जीर्णो मोहनिद्राद्य निर्गता ।
ततः कर्मरिपुं हन्मि ध्याननिस्त्रिंशधारया ॥ ३ ॥

अर्थ फिर ऐसे विचारे कि इस समय मेरे रागरूपा ज्वर तो जीर्ण हो गया और मोहरूपी निद्रा निकल गई है, इस कारण ध्यानरूपी खड्गकी धारासे कर्मरूपी वैरीको मारता हूं ॥ ३ ॥

आत्मानमेव पश्यामि निर्धूयाज्ञानजं तमः ।
प्लोषयामि तथात्युग्रं कर्मेन्धनसमुत्करम् ॥ ४ ॥

अर्थ—तथा अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको दूर करके आत्माको ही अवलोकन करूं, तथा अति तीव्र कर्मरूपी इंधनके समूहको दग्ध करता हूं ॥ ४ ॥

प्रबलध्यानवज्रेण दुरितद्रुमसक्षयम् ।
तथा कुर्मो यथा दत्ते न पुनर्भवसंभवम् ॥ ५ ॥

अर्थ—तथा प्रबलध्यानरूपी वज्रसे पापरूप वृक्षोंका क्षय (नाश) ऐसा करूं कि जिससे फिर संसारमें उत्पन्न होनेरूप फल न दे ॥ ५ ॥

जन्मज्वरसमुद्‌भूतमहामूर्च्छान्धचक्षुषा ।
स्वविज्ञानोद्भवः साक्षान्मोक्षमार्गो न वीक्षितः ॥ ६ ॥

१ "महो" इत्यपि पाठ ।

अर्थ—फिर ऐसा विचारें कि संसाररूपी ज्वरसे उत्पन्न हुई मूर्च्छासे अंध हो गये है नेत्र जिसके ऐसा जो मैं उसने अपने भेदविज्ञानसे उत्पन्न हुए साक्षात् मोक्षमार्गको नहीं देखा ॥६॥

मयात्मापि न विज्ञातो विश्वलोकैकलोचनः।
अविद्याविषमग्राहदन्तचर्वितचेतसा ॥७॥

अर्थ—अहो मेरा आत्मा समस्त लोकको देखनेके लिये एक अद्वितीय नेत्र है सो ऐसेको भी अविद्या (मिथ्याज्ञान) रूपी ग्राहके दाँतोंसे चर्वित किया गया है चित्त जिसका ऐसा हो कर मैंने नहीं जाना ॥७॥

फिर इस प्रकार विचारें कि—

परमात्मा परंज्योतिर्जगज्ज्येष्ठोऽपि वञ्चितः।
आपातमात्ररम्यैस्तैर्विषयैरन्तनीरसैः ॥८॥

अर्थ—मेरा आत्मा परमात्मा है, परमज्योतिप्रकाशस्वरूप है, जगतमें ज्येष्ठ है, महान् है तो भी वर्त्तमान देखनेमात्र रमणीक और अन्तमें नीरस ऐसे इंद्रियोंके विषयोंसे ठगाया हूं ॥८॥

अहं च परमात्मा च द्वावेतौ ज्ञानलोचनौ।
अतस्तं ज्ञातुमिच्छामि तत्स्वरूपोपलब्धये ॥९॥

अर्थ—मैं और परमात्मा दोनों ही ज्ञाननेत्रवाले हैं, इस कारण अपने आत्माको उस परमात्माके स्वरूपकी प्राप्तिके लिये जाननेकी इच्छा करता हूं, इस प्रकार विचारें ॥९॥

मम शक्त्या गुणग्रामो व्यक्त्या च परमेष्ठिनः।
एतावानावयोर्भेदः शक्तिव्यक्तिस्वभावतः ॥१०॥

अर्थ—अनन्तचतुष्टयादि गुणोंका समूह मेरे तो शक्तिको अपेक्षा विद्यमान है और परमेष्ठी अरहन्त सिद्धोंके व्यक्तिसे प्रगट है। हम दोनोंमें यह शक्ति और व्यक्तिके स्वभावसे ही भेद है। वास्तवमें शक्तिको अपेक्षा अभेद है ॥१०॥

उक्तं च।

"नासत्पूर्वाश्च पूर्वा नो निर्विशेषविकारजाः।
स्वाभाविकविशेषा ह्यभूतपूर्वाश्च तद्गुणाः ॥१॥"

अर्थ—तद्गुण कहिये जो आत्माके गुण हैं वे जिनके विशेष नहीं हैं और विकारसे उत्पन्न हुए मतिज्ञानादिक हैं वे संसारी जीवोंके साधारण हैं। सो ये गुण तो असत्पूर्व कहिये अपूर्व नहीं हैं—विद्यमान हैं। तथा पूर्वमें नहीं भी थे, नवीन भी उत्पन्न होते हैं। और स्वाभाविक हैं वे विशेष अनंत ज्ञानादिक हैं सो अभूतपूर्व हैं, पूर्वमें कभी प्रकट नहीं हुए ऐसे नवीन हैं। भावार्थ—द्रव्य अनादिनिधन है। उनमें जो पर्याय हैं वे क्षणक्षणमें उत्पन्न होते और विनशते हैं। उनमें त्रिकालवर्ती पर्याय हैं वे शक्तिको अपेक्षा सत्रूप एक ही कालमें कहे जाते हैं और व्यक्तिकी अपेक्षा जिस काल में जो

पर्याय होता है वही सत्‌रूप कहा जाता है; तथा भूत भविष्यत्‌के पर्याय असत्‌रूप कहे जाते हैं। इस प्रकार शक्तिकी अपेक्षा सत्‌का उत्पन्न होना, व्यक्तिकी अपेक्षा असत् का उत्पन्न होना कहा जाता है। इसी प्रकार द्रव्यकी अपेक्षा सत्‌का उत्पाद और पर्यायकी अपेक्षा असत्‌का उत्पाद कहा जाता है। यही इस श्लोकका आशय है। इस प्रकार आत्मद्रव्यमें भी सामान्यतासे मतिज्ञानादिक गुण भूतपूर्व कहे जाते है तथा अभूतपूर्व भी कहे जाते हैं। किन्तु वास्तवमें अनन्तचतुष्टयादिक ही अभूतपूर्व कहे जाते हैं, ऐसे नयविभागसे वस्तुका स्वरूप जानना ॥१॥"

तावन्मां पीडयत्येव महादाहो भवोद्भवः ।
यावज्ज्ञानसुधाम्भोधौ नावगाहः प्रवर्तते ॥११॥

अर्थ—तत्पश्चात् ऐसा विचार करे कि जबतक ज्ञानरूपी समुद्रमें मेरा अवगाह (स्नान करना) नही होता तब तक ही मुझे संसारसे उत्पन्न हुआ दाह पीड़ित करता है ॥११॥

अहं न नारको नाम न तिर्यग्नापि मानुषः ।
न देवः किन्तु सिद्धात्मा सर्वोऽयं कर्मविक्रमः ॥१२॥

अर्थ— यदि शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे देखता हूं तब न तो मैं नारकी हूं न तिर्यंच हूं, न मनुष्य वा देव ही हूं किन्तु सिद्धस्वरूप हूं। ये नारकादिक अवस्थायें हैं सो सब कर्मका विक्रम (पराक्रम) है, इस प्रकार भावना करे ॥१२॥

अनन्तवीर्यविज्ञानदृगानन्दात्मकोऽप्यहम् ।
किं न प्रोन्मूलयाम्यद्य प्रतिपक्षविषद्रुमम् ॥१३॥

अर्थ—तत्पश्चात् इस प्रकार भावना करें कि मै अनन्त वीर्य, अनंत विज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत आनन्दस्वरूप भी हूं। इस कारण इन अनन्त वीर्यादिकके प्रतिपक्षि शत्रु कर्म हैं वे ही विषके वृक्षकी समान हैं, सो उन्हें क्या अभी जड़मूलसे न उखाड़ ? अवश्य ही उखाडूंगा ॥१३॥

अद्यसाद्य स्वसामर्थ्यं प्रविश्यानन्दमन्दिरम् ।
न स्वरूपाच्च्यविष्येऽहं बाह्यार्थेषु गतस्पृहः ॥१४॥

अर्थ—फिर इस प्रकार भावना करे कि मै अपने सामर्थ्यको इसी समय प्राप्त हो कर आनन्द-मन्दिरमें प्रवेश करके अपने स्वरूपसे च्युत नही होऊंगा, क्योंकि बाह्य पदार्थोंसे नष्ट हो गई है वाछां जिसकै ऐसा हो कर जब स्वरूपमें स्थिर होता है तब आनन्दरूप होनेसे अन्यकी वांछा नही रहती फिर उस स्वरूपसे क्यों डिगें ? ॥१४॥

मयाद्यैव विनिश्चेयं स्वस्वरूपं हि वस्तुतः ।
छित्वाप्यनादिसंभूतामविद्यावैरिवागुराम् ॥१५॥

अर्थ—तथा अनादिसे उत्पन्न हुई अज्ञानतारूपी (कर्मरूपी) वैरोकी फांसीको छिन्न करके इसी समय ही वास्तविक अपने स्वरूपको निश्चय करना चाहिये ॥१५॥

इस प्रकार ध्यानका उद्यम करनेवाला अपने पराक्रमको सँभाल कर प्रतिज्ञा करता है सो कहते हैं—

उपजाति ।

इति प्रतिज्ञां प्रतिपद्य धीरः समस्तरागादिकलङ्कमुक्तः ।
आलम्बते धर्म्यमचञ्चलात्मा शुक्लं च यद्यस्ति बलं विशालं ॥१६॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्वोक्त रीतिसे प्रतिज्ञाको अंगीकार करके धीर वीर चञ्चलता रहित पुरुष समस्त रागादिक रूप कलंकसे रहित हो कर धर्मध्यानका आलम्बन करता है और यदि उसकी सामर्थ्य उत्तम हो अर्थात् शुक्लध्यानके योग्य हो तो शुक्लध्यानका अवलम्बन करता है ॥१६॥

इस प्रकार ध्यान करनेकी प्रतिज्ञाका वर्णन किया । अब ध्येय वस्तुका वर्णन करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

ध्येयं वस्तु वदन्ति निर्मलधियस्तच्चेतनाचेतनम्
स्थित्युत्पत्तिविनाशलाञ्छनयुतं[1] मूर्तेतरं च क्रमात् ।
शुद्धध्यानविशीर्णकर्मकवचो देवश्च मुक्तेर्वरः
सर्वज्ञः सकलः शिवः स भगवान्सिद्धः परो निष्कलः ॥१७॥

अर्थ—निर्मलबुद्धि पुरुष ध्यान करने योग्य वस्तुको ध्येय कहते हैं । अवस्तु ध्यान करने योग्य नहीं है । वह ध्येय वस्तु चेतन अचेतन दो प्रकारकी है । चेतन तो जीव है और अचेतन धर्मादिक पांच द्रव्य हैं । ये सब द्रव्य (वस्तु) स्थिति, उत्पत्ति और विनाश लक्षणसे युक्त हैं । सर्वथा नित्य वा सर्वथा अनित्य नहीं हैं, अर्थात् उत्पादव्यय-ध्रौव्य सहित हैं । तथा मूर्तिक अमूर्तिक भी हैं । पुद्गल मूर्तिक हैं, जीवादिक अमूर्तिक हैं । चैतन्य ध्येय, एक तो शुद्ध ध्यानसे नष्ट हुआ है कर्मरूप आवरण जिसका ऐसा मुक्तिका वर सर्वज्ञ देव सकल अर्थात् देह सहित समस्त कल्याणके पूरक अरहंत भगवान् है, और पर कहिये दूसरे निष्कल अर्थात् शरीर रहित सिद्ध भगवान् हैं ॥१७॥

अमी जीवादयो भावाश्चिदचिल्लक्षलाञ्छिताः ।
तत्स्वरूपाविरोधेन ध्येया धर्मे मनीषिभिः ॥१८॥

अर्थ—ये जीवादिक षट् द्रव्य चेतन अचेतन लक्षणसे लक्षित हैं सो धर्मध्यानमें बुद्धिमान पुरुषोंको इनके स्वरूपका अविरोध करके यथार्थ स्वरूपका ध्यान करना चाहिये ॥१८॥

ध्याने ह्युपरते धीमान् मनः कुर्यात्समाहितम् ।
निर्वेदपदमापन्नं मग्नं वा करुणाम्बुधौ ॥१९॥

अर्थ—ध्यानके पूर्ण होने पर धीमान् पुरुष मनको सावधानरूप वैराग्यपदको प्राप्त करें अथवा करुणारूपी समुद्रमें मग्न करें ॥१९॥

---

1 "लक्षणयुतं" इत्यपि पाठः ।

अथ लोकत्रयीनाथममूर्तं परमेश्वरम् ।
ध्यातुं प्रक्रमते साक्षात्परमात्मानमव्ययम् ॥२०॥

अर्थ—अथवा तीन लोकके नाथ अमूर्तिक परमेश्वर परमात्मा अविनाशीका ही साक्षात् ध्यान करनेका प्रारंभ करे ॥२०॥

त्रिकालविषयं साक्षाच्छक्तिव्यक्तिविवक्षया ।
सामान्येन नयेनैकं परमात्मानमामनेत् ॥२१॥

अर्थ—शक्ति और व्यक्तिकी विवक्षासे तीन कालके गोचर साक्षात् सामान्य नय (द्रव्यार्थिकनय) से एक परमात्माका ही ध्यान करे, अभ्यास करे। भावार्थ—यद्यपि संसार मुक्तकी अपेक्षासे आत्मामें भेदनयसे भेद है तथापि शक्ति व्यक्तिके सामान्य नय (द्रव्यार्थिक नय) की विवक्षासे त्रिकालवर्ती आत्मा एक ही हैं, संसारी मुक्तका भेद नही करना। अर्थात् संसारअवस्थामें तो शक्तिरूप परमात्मा है, और मुक्त अवस्थामें व्यक्तरूप परमात्मा है। अभेदनयकी अपेक्षा आत्मामें भेद नही है। इसप्रकार संसार अवस्थामें भी आत्माको सिद्धसमान ध्यावें ॥२१॥

साकारं निर्गताकारम् निष्क्रियं परमाक्षरम् ।
निर्विकल्पं च निष्कम्पं नित्यमानन्दमन्दिरम् ॥२२॥
विश्वरूपमविज्ञातस्वरूपं सर्वदोदितम् ।
कृतकृत्यं शिवं शान्तं निष्कलं करुणेच्युतम् ॥२३॥
निःशेषभवसम्भूतक्लेशद्रुमहुताशनम् ।
शुद्धमत्यन्तनिर्लेपं ज्ञानराज्यप्रतिष्ठितम् ॥२४॥
विशुद्धादर्शसंक्रान्तप्रतिबिम्बसमप्रभम् ।
ज्योतिर्मयं महावीर्यं परिपूर्णं पुरातनम् ॥२५॥
विशुद्धाष्टगुणोपेतं निर्द्वन्द्वं निर्गतामयम् ।
अप्रमेयं परिच्छिन्नं विश्वतत्त्वव्यवस्थितम् ॥२६॥
यदग्राह्यं बहिर्भावैर्ग्राह्यं चान्तर्मुखैः क्षणात् ।
तत्स्वभावात्मकं साक्षात्स्वरूपं परमात्मनः ॥२७॥

अर्थ—परमात्मा कैसा है, उसका स्वरूप कहते हैं। प्रथम तो साकार (आकारसहित है अर्थात् शरीराकार मूर्तिक) है तथा निर्गताकार कहिए निराकार भी है। पुद्गलके आकारके समान उसका आकार नहीं है। निष्क्रिय (क्रियासे रहित) है, परमाक्षरस्वरूप है, विकल्प रहित है, निष्कम्प है, नित्य है, आनन्दका घर है ॥२२॥ तथा विश्वरूप है, समस्त ज्ञेयों (पदार्थों) के आकार जिसमें प्रतिबिंबित हैं, तथा अविज्ञात स्वरूप है, अर्थात् जिसका स्वरूप मिथ्या दृष्टियोंने नही जाना ऐसा है, तथा सदाकाल

१ "करणच्युतम्" इत्यपि पाठः ।

उदयरूप है कृतकृत्य है जिसको कुछ भी करना नहीं रहा है, तथा शिव है, कल्याणरूप है, शान्त (क्षोभरहित) हैं, निष्कल कहिये शरीर रहित है, तथा करुणच्युत कहिये शोक रहित हैं अथवा करणच्युत कहिये इन्द्रिय रहित है ॥ २३ ॥ तथा समस्त भवों (जन्ममरणों) से उत्पन्न हुए क्लेशरूप वृक्षों को दग्ध करने के लिये अग्निके समान है; तथा शुद्ध है, कर्म रहित है, और अत्यंत निर्लेप है अर्थात् जिसके कोई कर्मरूपी लेप नहीं लगता, तथा ज्ञानरूपी राज्यमें अर्थात् सर्वज्ञतामें स्थित हैं ॥ २४ ॥ तथा निर्मल दर्पणमें प्राप्त हुए प्रतिबिम्बकी समान प्रभावाला है। तथा ज्योतिर्मय है अर्थात् जिसका ज्ञान प्रकाशरूप हैं, तथा अनन्त वीर्ययुक्त है, तथा परिपूर्ण है, जिसके कुछ भी अवयव अंश घटते नहीं, तथा पुरातन है, अर्थात् किसीने नया नहीं बनाया ऐसा है ॥ २५ ॥ तथा निर्मल सम्यक्त्वादि अष्ट गुणसहित है, निर्द्वंद्व है रागादिकसे रहित हैं, रोग रहित है, अप्रमेय है, अर्थात् जिसका प्रमाण नहीं किया जा सकता तथा परिज्ञात है अर्थात् भेदज्ञानी पुरुषोंके द्वारा जाना हुआ है, तथा समस्त तत्वोंसे व्यवस्थित है अर्थात् निश्चयरूप है॥ २६ ॥ तथा बाह्यभावोंसे तो ग्रहण करने योग्य नहीं है, और अन्तरंगभावोंसे क्षणमात्रमें ग्रहण करने योग्य है। इस प्रकार परमात्माका स्वरूप है। सो यह स्वरूप संसार अवस्थामें तो शक्तिरूप है, और मुक्त अवस्थामें व्यक्तरूप हैं, ऐसा जानकर ध्यानगोचर करना चाहिये ॥ २७ ॥

तथा फिर भी कहते हैं—

अणोरपि च यः सूक्ष्मो महानाकाशतोऽपि च ।
जगद्वन्द्यः स सिद्धात्मा निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः ॥ २८ ॥

अर्थ—जो सिद्धस्वरूप परमाणुसे तो सूक्ष्मस्वरूप है, और आकाशसे भी महान् है, वह सिद्धात्मा जगतसे वंदने योग्य है, निष्पन्न है, अत्यन्त सुखमय है ॥ २८ ॥

यस्याणुध्यानमात्रेण क्षीयन्ते जन्मजा रुजः ।
नान्यथा जन्मिनां सोऽयं जगतां प्रभुरच्युतः ॥ २९ ॥

अर्थ—जिसके ध्यानमात्रसे जीवोंके संसारसे उत्पन्न हुए रोग नष्ट हो जाते हैं, अन्य प्रकार नष्ट नहीं होते वही यह त्रिभुवनका नाथ अविनाशी परमात्मा हैं ॥ २९ ॥

विज्ञातमपि निःशेषं यदज्ञानादपार्थकम् ।
यस्मिंश्च विदिते विश्वं ज्ञातमेव न संशयः ॥ ३० ॥

अर्थ—जिस परमात्माके जाने बिना अन्य समस्त जाने हुए पदार्थ भी निरर्थक हैं, और इसमें कोई संदेह नहीं कि जिसका स्वरूप जाननेसे समस्त विश्व जाना जाता है ॥ ३० ॥

यत्स्वरूपापरिज्ञानान्नात्मतत्त्वे स्थितिर्भवेत् ।
यज्ज्ञात्वा मुनिभिः साक्षात्प्राप्तं तस्यैव वैभवम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—जिस परमात्माके स्वरूपको जाने बिना आत्मतत्वमें स्थिति नहीं होती है, और जिसको जान करके मुनिगणोंने उसके ही वैभव (परमात्माके स्वरूप) को साक्षात् प्राप्त किया है ॥ ३१ ॥

स एव नियतं ध्येयः स विज्ञेयो मुमुक्षुभिः ।
अनन्यशरणीभूय तद्गतेनान्तरात्मना ॥ ३२ ॥

अर्थ—मुक्तिकी इच्छा करनेवाले मुनिजनोंको वह परमात्मा ही नियमसे ध्यान करने योग्य है। और अन्य समस्त शरण छोड़ कर उसमें ही अपने अन्तरात्माको प्राप्त करके जानना चाहिये ॥ ३२ ॥

अवाग्गोचरमव्यक्तमनन्तं शब्दवर्जितम् ।
अजं जन्मभ्रमातीतं निर्विकल्पं विचिन्तयेत् ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो वचनके गोचर नहीं, पुद्गलके समान इन्द्रियगोचर नहीं ऐसा अव्यक्त है; जिसका अन्त नहीं है, जो शब्दसे वर्जित है अर्थात् जिसके शब्द नहीं, जिसके जन्म नहीं ऐसा अज है, तथा भवभ्रमणसे रहित है, ऐसे परमात्माको जिस प्रकार निर्विकल्प हो उस प्रकार ही चितवन करें ॥ ३३ ॥

यद्बोधानन्तभागेऽपि द्रव्यपर्यायसंभृतम् ।
लोकालोकं स्थितिं धत्ते स स्याल्लोकत्रयीगुरुः ॥ ३४ ॥

अर्थ—जिस परमात्माके ज्ञानके अनन्तवें भागमें द्रव्य पर्यायोंसे भरा हुआ यह अलोक सहित लोक स्थित है, वही परमात्मा तीन लोकका गुरु है। भावार्थ—त्रिकालवर्ती अनन्त द्रव्यपर्यायों सहित यह लोकालोक जिस ज्ञानमें एक कालपरमाणुके समान प्रतिभासता है, ऐसा केवलज्ञान जिस परमात्माके है वही तीन लोकका स्वामी है ॥ ३४ ॥

तत्स्वरूपाहितस्वान्तस्तद्गुणग्रामरञ्जितः ।
योजयत्यात्मनात्मानं तस्मिंस्तद्रूपसिद्धये ॥ ३५ ॥

अर्थ—ध्यानी मुनि उस परमात्माके स्वरूपमें मन लगा कर उसके ही गुणग्रामोंसे रंजायमान हो उसमें ही अपने आत्माको आप ही से उस स्वरूपकी सिद्धिके लिये जोड़ता है अर्थात् तल्लीन होता है ॥ ३५ ॥

इत्यजस्रं स्मरन्योगी तत्स्वरूपावलम्बितः ।
तन्मयत्वमवाप्नोति ग्राह्यग्राहकवर्जितम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—इस प्रकार निरन्तर स्मरण करता हुआ योगी (मुनि) उस परमात्माके स्वरूपके अवलंबनसे युक्त हो कर उसके तन्मयत्वको प्राप्त होता है। कैसा होता है कि यह परमात्माका रूप है, सो तो मेरे ग्रहण करने योग्य है, और मैं इसका ग्रहण करनेवाला हूं, ऐसे ग्राह्यग्राहकभावसे वर्जित (रहित) होता है। अर्थात् द्वैतभाव नहीं रहता ॥ ३६ ॥

अनन्यशरणीभूय स तस्मिन्लीयते तथा ।
ध्यातृध्यानोभयाभावे ध्येयेनैक्यं यथा व्रजेत् ॥ ३७ ॥

अर्थ—वह ध्यान करनेवाला मुनि अन्य सबका शरण छोड़ कर उस परमात्मस्वरूपमें ऐसा लीन होता है कि ध्याता और ध्यान इन दोनोंके भेदका अभाव हो कर ध्येय स्वरूपसे एकताको प्राप्त हो जाता है। भावार्थ—ध्याता ध्यान ध्येयका भेद न रहै ऐसे लीन होता है ॥ ३७ ॥

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम् ।
अपृथक्त्वेन यदात्मा लीयते परमात्मनि ॥३८॥

अर्थ—जिस भावमें आत्मा अभिन्नतासे परमात्मामें लीन होता है वह समरसी भाव आत्मा और परमात्माका समानतास्वरूप भाव है सो उस परमात्मा और आत्माको एक करने स्वरूप कहा गया है

भावार्थ—इस समरसी भावसे ही आत्मा परमात्मा होता है ॥३८॥

अनन्यशरणस्तद्धि तत्संलीनैकमानसः ।
तद्गुणस्तत्स्वभावात्मा स तादात्म्याच्च संवसन् ॥३९॥

अर्थ—जब आत्मा परमात्माके ध्यानमें लीन होता है तब एकीकरण कहा है। सो वह एकीकरण अनन्यशरण है परमात्माके शिवाय अन्य आश्रय नहीं है उसमें ही जिसका मन लीन है ऐसा तथा तद्गुण कहिये उस परमात्माके ही अनन्त ज्ञानादि गुण जिसमें है ऐसा है तथा उसका शुद्ध स्वरूप आत्मा ही है और तत्स्वरूपता से वह परमात्मा ही है इस परमात्माके ध्यानसे आत्मा परमात्मा होता है ॥ ३९ ॥

कटस्य कर्ताहमिति संबन्धः स्याद्द्वयोर्द्वयोः ।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव संबन्धः कीदृशस्तदा ॥४०॥

अर्थ—जो कोइ ऐसा कहें कि मैं कट कहिये चटाई अथवा कड़े आदिका कर्ता हूं तो उस पुरुष और कटका कर्ता कर्म संवध कहा जाता है। और ध्यान तथा ध्येय जब एक आत्मा ही हो तब दोनों भावो में क्या सबंध कहा जाय अर्थात् कुछ भी सबंध नहीं हैं॥ क्यो कि संबंध तो दो वस्तुओंमें होता है, एक ही पदार्थमें संवध सवंधीभाव नही होता ॥ ४० ॥

शिखरिणी ।

यदज्ञानाज्जन्मी भ्रमति नियतं जन्मगहने
विदित्वा यं सद्यस्त्रिदशगुरुतो याति गुरुताम् ।
स विज्ञेयः साक्षात्सकलभुवनानन्दनिलयः
परं ज्योतिस्त्राता परमपुरुषोऽचिन्त्यचरितः ॥४१॥

अर्थ—जिस परमात्माके ज्ञान बिना यह प्राणि ससाररूप गहन वनमें नियमसे भ्रमण करता है तथा जिस परमात्माको जानने से जीव तत्काल इन्द्रसे भी अधिक महत्ताको प्राप्त होता है, उसे ही साक्षात् परमात्मा जानना। वही समस्त लोकको आनन्द देनेवाला निवासधाम है वही परम ज्योति (उत्कृष्ट ज्ञानरूप प्रकाश सहित) है और वही त्राता (रक्षक)है परम पुरुष है अचिन्त्यचरित है अर्थात् जिसका चरित किसीका चिन्तवनमें नहीं आता ऐसा हैं ॥४१॥

इत्थं यथानवच्छिन्नभावनाभिर्भवच्युतम् ।
भावयत्यनिशं ध्यानी तत्सवीर्यं प्रकीर्तितम् ॥४२॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त प्रकारसे जो ध्यानी (मुनि संसार रहित परमात्माको भावना सहित निरंतर ध्यान करता है वही सवीर्य ध्यान कहा गया है। भावार्थ—अपने पुरुषार्थ को चलाता हुआ परमात्मा की भावना करता ही रहे। क्योकि जब तक ध्यानमें स्थिरता रहती हैं तब तक ही ध्यान होता है और भावना सदा रहती है ॥४२॥

दोहा।

पौरुषकर ध्यावै मुनी, शुद्ध आतमा जोय।

कर्म रहित वरगुण सहित, तब तैसा ही होय ॥३१॥

इति श्री शुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे सवीर्यध्यान वर्णनं नाम ऐक त्रिंश प्रकरणम् ॥३१॥

---

३२. अथ द्वात्रिंशः सर्गः।

बहिरात्मा अन्तरात्मा परमात्माका वर्णन।

—०—

अब बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा का निश्चय करके शुद्धोपयोगका वर्णन करते हैं —

अज्ञातस्वस्वरूपेण परमात्मा न बुध्यते।

आत्मैव प्राग्विनिश्चेयो विज्ञातुं पुरुषं परम् ॥१॥

अर्थ—जिसने अपने आत्मा का स्वरूप नही जाना वह पुरुष परमात्मा को नही जान सकता इस कारण परम पुरुष—परमात्माको जानने कि इच्छा रखनेवाला पहिले अपने आत्माका ही निश्चय करें

भावार्थ—जो आत्मा सर्वथा परमात्मा ही हो तो निश्चय ही क्या करना है, और जो परमात्मा नहीं है तो अपनेको परका निश्चयकरने से क्या फल। इस कारण आत्मा जैसा है तैसा प्रथम निश्चय करने से परमात्मा जाना जाता हैं ॥१॥

आत्मतत्त्वानभिज्ञस्य य स्यादात्मन्यवस्थितिः।

मुह्यत्यन्तः पृथक् कर्तुं स्वरूपं देहदेहिनोः ॥२॥

अर्थ—यहां यह विशेष हैं कि आत्मतत्व के यथार्थ स्वरूप का नहीं जानने वाले पुरुषके आत्मामे निश्चय ठहरना नही होता। और अन्तरङ्गमें शरीर आत्माको भिन्न २ करने व समझनेमें मोहको प्राप्त होकर भूल जाता है कि इस देहमें, द्रव्यइन्द्रिय, भावइन्द्रिय, द्रव्यमन, भावमन दर्शन, ज्ञान, सुख, दुःख, क्रोध मान, माया, लोभ, राग, द्वेश, अज्ञान, आदि जो अनेक, भाव दीखते हैं; इनमें से आत्मा कौनसा ?। इस प्रकार भ्रम उत्पन्न होता है, इस कारण, पहिले आत्माका निश्चय करना चाहिये ॥२॥

तयोर्भेदापरिज्ञानान्नात्मलाभः प्रजायते।

तदभावात्स्वविज्ञानसूतिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ॥३॥

अर्थ—उस देह और आत्माके भेदविज्ञान विना आत्माको लाभ (प्राप्ति) नहीं होता और आत्माके लाभ विना भेदविज्ञानकी उत्पत्ति स्वप्नमें भी दुर्घट है, अर्थात् दुर्लभ है ॥३॥

अतः प्रागेव निश्चेयः सम्यगात्मा मुमुक्षुभिः ।
अशेषपरपर्यायकल्पनाजालवर्जितः ॥४॥

अर्थ—इस कारण ही मोक्षाभिलाषियोंको समस्त परद्रव्योंकी पर्यायकल्पनाओंसे रहित आत्माका ही निश्चय करना चाहिये ॥४॥

त्रिप्रकारं स भूतेषु सर्वेष्वात्मा व्यवस्थितः ।
बहिरन्तः परश्चेति विकल्पैर्वक्ष्यमाणकैः ॥५॥

अर्थ—वह आत्मा समस्त देहधारियोंमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्माके भेदसे तीन प्रकारके व्यवस्थित (अवस्थारूप) है, सो आगे कहे भेदोंसे जानना ॥५॥

आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात् ।
बहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतनः ॥६॥

अर्थ— जिस जीवके शरीरादि परपदार्थोंमें आत्माके भ्रमसे आत्मबुद्धि हो कि यह मैं ही हूं अन्य अर्थात् पर नहीं हैं सो मोहरूपी निद्रासे अस्त हो गई हैं चेतना जिसकी ऐसा बहिरात्मा है ॥६॥

बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः ।
सोन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैर्विभ्रमध्वान्तभास्करैः ॥७॥

अर्थ—तथा जिस पुरुषके बाह्य भावोंको उल्लंघन करके आत्मामें ही आत्माका निश्चय हो सो विभ्रमरूप अन्धकारको दूर करनेमें सूर्यके समान उस आत्माके जाननेवाले पुरुषोंने अन्तरात्मा कहा है ॥७॥

निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः ।
निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः ॥८॥

अर्थ—और जो निर्लेप है अर्थात् जिसके कर्मोंका लेप नहीं, निष्कल कहिये शरीर रहित है, शुद्ध है, जिसके रागादिक विकार नहीं हैं, तथा जो निष्पन्न है अर्थात् सिद्धरूप है (जिसको कुछ करना नहीं), और अत्यन्त निर्वृत है अर्थात् अविनाशी सुखरूप है, तथा निर्विकल्प है अर्थात् जिसमें भेद नहीं है ऐसे शुद्धात्माको कहा गया है ॥८॥

कथं तर्हि पृथक् कृत्वा देहाद्यर्थकदम्बकात् ।
आत्मानमभ्यसेद्योगी निर्विकल्पमतीन्द्रियम् ॥९॥

अर्थ—यहां प्रश्न है कि यदि आत्मा ऐसा है तो आत्माको देहादिक पदार्थोंके समूहसे पृथक करके निर्विकल्प अतीन्द्रिय ऐसा किस प्रकार ध्यान करे ? ॥९॥

उसका उत्तर कहते हैं—

अपास्य बहिरात्मानं सुस्थिरेणान्तरात्मना ।
ध्यायेद्विशुद्धमत्यन्तं परमात्मानमव्ययम् ॥१०॥

अर्थ—योगी मुनि बहिरात्माको छोड़ कर भले प्रकार स्थिर अन्तरात्मा हो कर अत्यन्त विशुद्ध अविनाशी परमात्माका ध्यान करे ॥१०॥

सो ही कहते हैं—

संयोजयति देहेन चिदात्मानं विमूढधीः ।
बहिरात्मा ततो ज्ञानी पृथक् पश्यति देहिनम् ॥११॥

अर्थ—जो बहिरात्मा है सो चैतन्यस्वरूप आत्माका देहके साथ संयोजन करता (जोड़ता) है अर्थात् एक समझता है; और जो ज्ञानी (अन्तरात्मा) है सो देहसे देही (चैतन्यस्वरूप आत्मा) को पृथक् ही देखता है। यही बहिरात्मा अन्तरात्मा के ज्ञानमें भेद है ॥११॥

अक्षद्वारैरविश्रान्तं स्वतत्त्वविमुखैर्भृशम् ।
व्यापृतो बहिरात्मायं वपुरात्मेति मन्यते ॥१२॥

अर्थ—यह बहिरात्मा आत्मस्वरूपसे अतिशय करके निरन्तर विमुख इन्द्रियोंके द्वारा व्यापाररूप हुआ शरीरको ही आत्मा मानता है ॥१२॥

सुरं त्रिदशपर्यायैर्नृपर्यायैस्तथा नरम् ।
तिर्यञ्चं च तदङ्गे स्वं नारकाङ्गे च नारकम् ॥१३॥
वेत्त्यविद्यापरिश्रान्तो मूढस्तन्न पुनस्तथा ।
किन्त्वमूर्तं स्वसंवेद्यं तद्रूपं परिकीर्तितम् ॥१४॥

अर्थ-अविद्या (मिथ्याज्ञान) से परिश्रान्त (खेदखिन्न) मूढ बहिरात्मा देवके पर्यायों सहित आत्माको तो देव मानता है और मनुष्यपर्यायों सहित अपनेको मनुष्य मानता है, तथा तिर्यंचके अंगमें रहते हुएको तिर्यंच और नारकीके शरीरमें रहते हुएको नारकी मानता है सो भ्रम है; क्योंकि पर्यायका रूप आत्माका रूप नहीं है। आत्माका रूप तो अमूर्त्तिक है स्वसंवेद्य है अर्थात् अपने द्वारा ही अपनेको जानने योग्य है ॥१३-१४॥

स्वशरीरमिवान्विष्य पराङ्गं च्युतचेतनम् ।
परमात्मानमज्ञानी परबुद्ध्याऽध्यवस्यति ॥१५॥

अर्थ—तथा वही बहिरात्मा अज्ञानी जिस प्रकार अपने शरीरको आत्मा जानता है उसी प्रकार परके अचेतन देहको देख कर परका आत्मा मानता है अर्थात् उसको परकी बुद्धिसे निश्चय करता है ॥१५॥

स्वात्मेतरविकल्पैस्तैः शरीरेष्ववलम्बितम् ।
प्रपञ्चैर्वञ्चितं विश्वमनात्मन्यात्मदर्शिभिः ॥१६॥

अर्थ—अपने शरीरमें तो अपना आत्मा जाने और परके शरीरमें परका आत्मा जाने इस प्रकार शरीरोंमें अवलंबनस्वरूप प्रवर्ते हुए विकल्पोंसे अनात्मामें आत्माको देखनेवाले अज्ञानी जनोंने इस लोकको ठग लिया ॥१६॥

ततः सोऽत्यन्तभिन्नेषु पशुपुत्राङ्गनादिषु ।
आत्मत्वं मनुते शश्वदविद्याज्वरजिह्मितः ॥ १७ ॥

अर्थ—इस कारणसे मिथ्याज्ञानरूपी ज्वरसे निरंतर पीड़ित होकर बहिरात्मा अज्ञानी अपनेसे अत्यन्त भिन्न पशु पुत्र स्त्री आदिकमें भी आत्मपना मानता है ॥ १७ ॥

साक्षात्स्वानेव निश्चित्य पदार्थांश्चेतनेतरान् ।
स्वस्यैव मन्यते मूढस्तन्नाशोपचयादिकम् ॥ १८ ॥

अर्थ—यह मूढ बहिरात्मा अपनेसे भिन्न चेतन अचेतन पदार्थोंको साक्षात् अपने ही निश्चय करके उनके नाश होने अर संचय होनेमें अपना ही नाश और संचय होना मानता है ॥ १८ ॥

अनादिप्रभवः सोऽयमविद्याविषमग्रहः ।
शरीरादीनि पश्यन्ति येन स्वमिति देहिनः ॥ १९ ॥

अर्थ—यह पूर्वोक्त अनादिसे उत्पन्न हुआ अविद्यारूपी विषम आग्रह है जिसके द्वारा यह मूढ प्राणी शरीरादिकको अपना मानता है, अर्थात् यह शरीर है सो मैं ही हूं इस प्रकार देखता है। १९॥

वपुष्यात्मेति विज्ञानं वपुषा घटयत्यमून् ।
स्वस्मिन्नात्मेति बोधस्तु भिनत्यङ्गं शरीरिणाम् ॥ २० ॥

अर्थ—शरीरमें यह आत्मा है ऐसा ज्ञान तो जीवोंको शरीर सहित करता है, और आपमें ही आप है अर्थात् आत्मामें ही आत्मा है, इस प्रकारका विज्ञान जीवोंको शरीरसे भिन्न करता है ॥ २० ॥

वपुष्यात्ममतिः सूते बन्धुवित्तादिकल्पनम् ।
स्वस्य संपदमेतेन मन्यमानं मुषितं जगत् ॥ २१ ॥

अर्थ—शरीरमें जो आत्मबुद्धि है सो बन्धु धन इत्यादिककी कल्पना उत्पन्न करती है, तथा इस कल्पनासे ही जगत् अपनी सम्पदा मनाता हुआ ठगा गया है ॥ २१ ॥

तनावात्मेति यो भावः स स्याद्बीजं भवस्थितेः ।
बहिर्वीताक्षविक्षेपस्तत्त्यक्त्वान्तर्विशेत्ततः ॥ २२ ॥

अर्थ—शरीरमें ऐसा जो भाव है कि 'यह मैं आत्मा ही हूं' ऐसा भाव संसारकी स्थितिका बीज है। इस कारण, बाह्यमें नष्ट हो गया है इन्द्रियोंका विक्षेप जिसके ऐसा पुरुष उस भावरूप संसारके बीज को छोड़ कर अन्तरंगमें प्रवेश करो, ऐसा उपदेश है ॥ २२ ॥

अक्षद्वारैस्ततश्च्युत्वा निमग्नो गोचरेष्वहम् ।
तानासाद्याहमित्येतन्न हि सम्यगवेदिषम् ॥ २३ ॥

अर्थ—ज्ञानी इस प्रकार विचार करता है कि इन्द्रियोंके द्वारोंसे मैं आत्मस्वरूपसे छूट कर विषयोंमें मग्न हो गया तथा उन विषयोंको प्राप्त होकर 'यह अहंपदसे जाना जाय' ऐसे आत्मस्वरूपको भले प्रकार नहीं जाना ॥ २३ ॥

बाह्यात्मानमपास्यैवमन्तरात्मा ततस्त्यजेत् ।
प्रकाशयत्ययं योगः स्वरूपं परमेष्ठिनः ॥ २४ ॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त प्रकारसे बाह्यशरीरादिकमें आत्मबुद्धिको छोड़ कर अन्तरात्मा होता हुआ इन्द्रियोंके विषयादिकमें भी आत्मबुद्धिको छोड़ें. इस प्रकार यह योग परमेष्ठीके स्वरूपको प्रकाश करता है ॥२४॥

अब इन्द्रियोंके विषयोंमें आत्मबुद्धि किस प्रकार छोड़ें सो कहते हैं—

यद्यद्दृश्यमिदं रूपं तत्तदन्यन्न चान्यथा ।
ज्ञानवच्च व्यतीताक्षमतः केनाऽत्र वच्म्यहम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जो जो देखने योग्य यह रूप है सो सो अन्य है, और ज्ञानवान् रूप है सो अन्य प्रकार (अन्यरूप सदृश) नहीं है यह व्यतीताक्ष (इन्द्रियज्ञानसे अतीत) है; इस कारण मैं किसके साथ वचनालाप करूं ?। भावार्थ—मूर्तिक पदार्थ इन्द्रियोंसे ग्रहण करनेयोग्य होता है सो वह तो जड़ है कुछ भी जानता नहीं है, और मैं ज्ञानमूर्ति हूं; पुद्गलमूर्तिसे रहित हूं; इन्द्रियां मुझे ग्रहण नहीं करती अर्थात् इन्द्रियाँ मुझे नहीं जान सकती; इस कारण परस्पर वार्तालाप किससे करूं ?। इस प्रकार विचार कर विषयोंमें आत्मबुद्धि छोड़ें ॥ २५ ॥

यज्जनैरपि बोध्योऽहं यज्जनान्बोधयाम्यहम् ।
तद्विभ्रमपदं यस्मादहं विधूतकल्मषः ॥ २६ ॥

अर्थ—जो 'लोगोंद्वारा मैं संबोधनेयोग्य हूं तथा जो मैं लोगोंको संबोधता हूं' ऐसा भाव है वह भी विभ्रमका स्थान है। क्योंकि मैं तो पापसे रहित हूं अर्थात् आत्मा तो निष्कलंक है, इसे कौन संबोधें ! और यह किसको संबोधें ! ॥ २६ ॥

यः स्वमेव समादत्ते नादत्ते यः स्वतोऽपरम् ।
निर्विकल्पः स विज्ञानी स्वसंवेद्योऽस्मि केवलम् ॥ २७ ॥

अर्थ—जो आत्मा आपको ही ग्रहण करता है तथा आपसे पर है उसको नहीं ग्रहण करता है सो यह विज्ञानी (भेदज्ञानी) विकल्प रहित होकर, इस प्रकार भावना करता है कि मैं एक अपने ही जाननेयोग्य हूं; इस प्रकार विचार कर परसे परस्पर देने लेनेका व्यवहार छोड़ देता है ॥ २७ ॥

जातसर्पमतेर्यद्वच्छृङ्खलायां क्रियाभ्रमः ।
तथैव मे क्रियाः पूर्वास्तन्वादौ स्वमिति भ्रमात् ॥ २८ ॥

अर्थ—जिसकी सांकलमें सर्पकी बुद्धि है ऐसे पुरुषके जैसे क्रियाका भ्रम होता है, उसी प्रकार मेरे भी शरीरादिकमें आत्मबुद्धिरूप भ्रमसे, भेदज्ञान होनेसे पहिले, भ्रमरूप क्रिया अनेक हुई ॥२८॥

शृङ्खलायां यथा वृत्तिर्विनष्टे भुजगभ्रमे ।
तन्वादौ मे तथा वृत्तिर्नष्टात्मविभ्रमस्य वै ॥ २९ ॥

अर्थ—तथा जब सांकलमें सर्पका भ्रम था सो नष्ट हो जाने पर सांकलमें जिस प्रकार यथावत् प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार मेरे शरीरादीकमें आत्माका भ्रम नष्ट हो जाने पर मै भ्रमसे रहित हो गया तब मेरे शरीरादिकमें यथावत् प्रवृत्ति हो गई; उनको परद्रव्य मानें, तब ऐसी भावनासे परद्रव्यका ममत्व छोडे ॥२९॥

एतदेवैष एकं द्वे बहुनीति धियः पदम् ।
नाहं यच्चात्मनात्मानं वेद्म्यात्मनि तदस्म्यहम् ॥३०॥

अर्थ—तथा इस प्रकार विचार करें कि यह तो नपुंसक है, यह स्त्री है, और यह पुरुष है, तथा यह एक है, दो हैं, बहुत हैं, ऐसे लिंग और संख्याकी बुद्धिका स्थान मैं नहीं हूं, क्योंकि मैं तो अपने द्वारा अपनेको आपमें ही जाननेवाला हूँ; इस प्रकार लिंगसंख्याका विकल्प भी छोडे ॥३०॥

यदबोधे मया सुप्तं यद्बोधे पुनरुत्थितम् ।
तद्रूपमयप्रत्यक्षं स्वसंवेद्यमहं किल ॥३१॥

अर्थ—जिसका ज्ञान नहीं होते तो मैं सोया और जिसका ज्ञान होते हुए मैं उठा (जगा) वह रूप भी मेरे जाननेयोग्य प्रत्यक्ष हैं, वह ही मैं हूं; इस प्रकार विचार करें ॥३१॥

ज्योतिर्मयं ममात्मानं पश्यतोऽत्रैव यान्त्यमी ।
क्षयं रागादयस्तेन नाऽरिः कोऽपि प्रियो न मे ॥३२॥

अर्थ—फिर यह विचारे कि मैं अपनेको ज्योतिर्मय ज्ञानप्रकाशरूप देखता हूं, मेरे रागादिक यहाँ ही क्षयको प्राप्त होते हैं; इस कारण मेरे न तो कोई शत्रु है और न कोई मित्र है ॥३२।

अदृष्टमत्स्वरूपोऽयं जनो नारिर्न मे प्रियः ।
साक्षात्सुदृष्टरूपोऽपि जनो नारिः सुहृन्न मे ॥३३॥

अर्थ—नहीं देखा है मेरा स्वरूप जिसने ऐसा लोक न तो मेरा शत्रु है न मित्र है, और जिसने साक्षात् मेरा स्वरूप देखा वह लोक भी मेरा न शत्रु है और न मित्र ही है; इस प्रकार विचार करें ॥३३॥

अतःप्रभृति निःशेषं पूर्वं पूर्वं विचेष्टितम् ।
ममाद्य ज्ञाततत्त्वस्य भाति स्वप्नेन्द्रजालवत्॥३४॥

अर्थ—यहांसे लगा कर, तत्त्वस्वरूपके जाननेसे पहिले पहिले जो मैने सर्व प्रकारकी चेष्टायें करी, अब स्वरूप जाननेसे मुझे वे सब स्वप्नसदृश अथवा इन्द्रजालवत् प्रतिभासती है ॥३४॥

यो विशुद्धः प्रसिद्धात्मा परं ज्योतिः सनातनः ।
सोऽयं तस्मात्प्रपश्यामि स्वस्मिन्नात्मानमच्युतम् ॥३५॥

अर्थ—विशुद्ध (निर्मल) है और प्रसिद्ध है आत्मस्वरूप जिसका ऐसा परमज्योति सनातन जो सुननेमें आता है सो मैं ही हूं, इस कारण अपनेमें ही अविनाशी परमात्माको मैं प्रकटतया देखता हूं; इस प्रकार अपनेको ही परमात्मस्वरूप देखें ॥३५॥

बाह्यात्मानमपि त्यक्त्वा प्रसन्नेनान्तरात्मना ।
विधूतकल्पनाजालं परमात्मानमामनेत् ॥३६॥

अर्थ—फिर बाह्य आत्माको भी छोड़ कर प्रसन्नरूप अन्तरात्माके द्वारा मिटे हैं कल्पनाके जाल (समूह) जिसके ऐसे परमात्माको अभ्यासगोचर करें ॥३६॥

बन्धमोक्षावुभावेतौ भ्रमेतरनिबन्धनौ ।
बन्धश्च परसंबन्धाद्भेदाभ्यासात्ततः शिवम् ॥३७॥

अर्थ—बन्ध और मोक्ष ये दोनो भ्रम और निर्भ्रम है कारण जिनका ऐसे है। उनमेंसे परके संबंधसे तो बंध है और परद्रव्यके भेदके अभ्याससे मोक्ष है ॥३७॥

अलौकिकमहो वृत्तं ज्ञानिनः केन वर्ण्यते ।
अज्ञानी बध्यते यत्र ज्ञानी तत्रैव मुच्यते ॥३८॥

अर्थ—अहो! देखो, ज्ञानी पुरुषका यह बड़ा अलौकिक चरित्र किससे वर्णन किया जाय क्योंकि जिस आचरणमें अज्ञानी कर्मसे बंध जाता है उसी आचरणमें ज्ञानी बन्धसे छूट जाता है, यह आश्चर्यकी बात है ॥३८॥

यज्जन्मगहने खिन्नं प्राङ्मया दुःखसंकुले ।
तदात्मेतरयोर्नूनमभेदेनावधारणात् ॥३९॥

अर्थ—फिर ऐसा विचार करे की 'मैं दुःखसे भरे हुए इस संसाररूप गहन वनमें जो खेदखिन्न हुआ सो आत्मा और अनात्माके अभेदके द्वारा, अवधारणासे हुए भेदविज्ञानके विना ही संसारमें दुःखी हुआ हूं; ऐसा निश्चय करें ॥३९॥

मयि सत्यपि विज्ञानप्रदीपे विश्वदर्शिनि ।
किं निमज्जत्ययं लोको वराको जन्मकर्दमे ॥४०॥

अर्थ—मुझ समस्तको दिखानेवाले ज्ञानस्वरूप दीपकके होते हुए भी यह वराक लोक समार रूपी कर्दममें क्यों डूबता है, अर्थात् आत्माको और क्यों नहीं देखता? जिससे संसाररूपी कर्दममें न डूबे इस प्रकार देखें ॥४०॥

आत्मन्येवात्मनात्मायं स्वयमेवानुभूयते ।
अतोऽन्यत्रैव मां ज्ञातुं प्रयासः कार्यनिष्फलः ॥४१॥

अर्थ—यह आत्मा आत्मामें ही आत्माके द्वारा स्वयमेव अनुभवन किया जाता है, इससे अन्यत्र आत्माके जाननेका जो खेद है सो कार्यनिष्फल है, अर्थात् उसका फल-कार्य नहीं है, इस प्रकार जानें ॥४१॥

स एवाहं स एवाहमित्यभ्यस्यन्ननारतम् ।
वासनां दृढयन्नेव प्राप्नोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥४२॥

अर्थ—'वहि मै हूं, वही मै हूं' इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करता हुआ पुरुष इस वासनाको दृढ करता हुआ आत्मामें अवस्थितिको प्राप्त होता है, अर्थात् ठहर जाता है ॥४२॥

फिर भी विचार करता है—

स्याद्यद्यत्प्रीतयेऽज्ञस्य तत्तदेवापदास्पदम् ।
बिभेत्ययं पुनर्यस्मिंस्तदेवानन्दमन्दिरम् ॥४३॥

अर्थ—अज्ञानी पुरुषके जो जो विषयादिक वस्तु प्रीतिके अर्थ हैं, वह वह ज्ञानीके आपदाका स्थान है, तथा अज्ञानी जिस तपश्चरणादिमें भय करता है वही ज्ञानीके आनन्दका निवास है, क्योंकि अज्ञानीको अज्ञानके कारण विपर्यय भासता है ॥४३॥

सुसंवृतेन्द्रियग्रामे प्रसन्नेचान्तरात्मनि ।
क्षणं स्फुरति यत्तत्त्वं तद्रूपं परमेष्ठिनः ॥४४॥

अर्थ—भले प्रकार संवररूप किये हैं इन्द्रियोंके स्थान जिसने और अन्तरंग में प्रसन्न (विशुद्ध परिणाम स्वरूप)अन्तरात्माके होने पर जो उस समय तत्त्वका स्फुरण होता हैं वही परमेष्ठीका रूप हैं। भावार्थ— शुद्ध नयके द्वारा क्षणमात्र भी अनुभव करने पर जो शुद्धात्माका स्वरूप प्रतिभासता है वही परमेष्ठी अरहंतसिद्धका स्वरूप है ॥४४॥

यः सिद्धात्मा परः सोऽहं योऽहं स परमेश्वरः ।
मदन्यो न मयोपास्यो मदन्येन न चाप्यहम् ॥४५॥

अर्थ—जो सिद्धका आत्मस्वरूप है वही परमात्मा परमेश्वरस्वरूप मैं हूं, मेरे मुझसे अन्य कोई उपासना करने योग्य नहीं है तथा मुझसे अन्यकरके मै उपासना करने योग्य नहीं हूं, इस प्रकार अद्वैत भावना करें ॥४५॥

आकृष्य गोचरव्याघ्रमुखादात्मानमात्मना ।
स्वस्मिन्नेव स्थिरीभूतश्चिदानन्दमये स्वयम् ॥४६॥

अर्थ—फिर इस प्रकार भावना करें की मैं अपने आत्माको इन्द्रियोंके विषयरूपी व्याघ्रके मुखसे खींच (काढ) कर, आत्माके द्वारा ही मैं चिदानन्दमय अपने आत्मामें स्थिररूप हुआ हूं, इस प्रकार चैतन्य और आनन्दरूप विषें लीन हों ॥४६॥

पृथगित्थं न मां चेति यस्तनोर्वीतविभ्रमः ।
कुर्वन्नपि तपस्तीव्रं न स मुच्येत बन्धनैः ॥४७॥

अर्थ—विभ्रम रहित जो मुनि पूर्वोक्तप्रकार आत्माको देहसे भिन्न नहीं जानता है वह तीव्र तप करता हुआ भी कर्मबंधनसे नही छूटता ॥४७॥

स्वपरान्तरविज्ञानसुधास्पद्राभिनन्दितः ।
खिद्यते न तपः कुर्वन्नपिक्लेशैः शरीरजैः ॥४८॥

अर्थ–भेद विज्ञानी मुनि आत्मा और परके अन्तर्भेदी विज्ञानरूप अमृतके वेगसे आनन्दरूप होता हुआ व तप करता हुआ भी शरीरसे उत्पन्न हुए खेद क्लेशादि से खिन्न नहीं होता है ॥४८॥

रागादिमलविश्लेषाद्यस्य चित्तं सुनिर्मलम् ।
सम्यक् स्वं स हि जानाति नान्यः केनापि हेतुना ॥४९॥

अर्थ–जिस मुनिका चित्त रागादिक मलके भिन्न होनेसे भले प्रकार निर्मल हो गया हो वही मुनि सम्यक्प्रकार आत्मा (अपने)को जानता है, अन्य किसी हेतुसे नही जान सकता ॥४९॥

निर्विकल्पं मनस्तत्त्वं न विकल्पैरमभिद्रुतम् ।
निर्विकल्पमनः कार्यं सम्यक्तत्वस्यसिद्धये ॥५०॥

अर्थ–निर्विकल्प मन तो तत्त्वस्वरूप है, और जो मन विकल्पोंसे पीड़ित है वह तत्त्वस्वरूप नहीं है, इस कारण सम्यक्प्रकार तत्त्वकी सिद्धिके लिये मनको विकल्प रहित करना यह उपदेश है ॥५०॥

अज्ञानविप्लुतं चेतः स्वतत्त्वादपवर्त्तते ।
विज्ञानवासितं तद्धि पश्यत्यन्तः पुरः प्रभुम् ॥५१॥

अर्थ–जो मन अज्ञानसे बिगड़ा हुआ (पीड़ित)है वह ता निजस्वरूपसे छूट जाता है, और जो मन विज्ञान कहिये सम्यग्ज्ञानसे वासित है वह अपने अन्तरंगमें प्रभु भगवान् परमात्माको देखता है, यह विधि है, इस कारण अज्ञानको दूर करना चाहिये ॥५१॥

मुनेर्यदि मनो मोहाद्रागाद्यैरभिभूयते ।
तन्नियोज्यात्मनस्तत्वे तान्येव क्षिप्यते क्षणात् ॥५२॥

अर्थ–मुनिका मन यदि मोहके उदयसे रागादिकसे पीडित हो तो मुनि उस मनको आत्मस्वरूपमें लगा कर, उन रागादिकोंका क्षणमात्रमें क्षेपण करता है अर्थात् दूर करता हैं ॥५२॥

यत्राज्ञात्मा रतः काये तस्माद्व्यावर्त्तितो धिया ।
चिदानन्दमये रूपे योजितः प्रीतिमुत्सृजेत् ॥५३॥

अर्थ–जिस कायमें अज्ञानी आत्मा रत (रागी) हुआ है उस कायसे बुद्धिपूर्वक भिन्न किये हुए चिदानन्द स्वरूपमें लगाया हुआ मन उस कायमें प्रीति छोड देता है ॥५३॥

स्वविभ्रमोद्भवं दुःखं स्वज्ञानेनैव हीयते ।
तपसापि न तच्छेद्यमात्मविज्ञानवर्जितैः ॥५४॥

अर्थ–अपने विभ्रमसे उत्पन्न हुआ दुःख अपने ही ज्ञानसे दूर होता है और जो आत्माके विज्ञानसे रहित पुरुष हैं वे तपके द्वारा भी उस दुःखको दूर नहीं कर सकते। भावार्थ–आत्मज्ञानके बिना केवल तप करने मात्रसे दुःख नहीं मिटता ॥५४॥

१ "सम्यक्तत्त्वप्रसिद्धये" इत्यपि पाठ।

रूपायुर्बलवित्तादि-सम्पत्तिं स्वस्य वाञ्छति ।
बहिरात्माथ विज्ञानी साक्षात्तेभ्योपि विच्युतिम् ॥५५॥

अर्थ—जो बहिरात्मा हैं वह तो अपने लिये सुंदर रूप, आयु, बल, धन, इत्यादिक चाहता है, और जो भेद विज्ञानी पुरुष है वह अपनेमें, रूपादिक विद्यमान हों उनसे भी विच्युति कहिये छूटना चाहता है ॥५५॥

कृत्वाहंमतिमन्यत्र बध्नाति स्वं स्वतश्च्युतः ।
आत्मन्यात्ममतिं कृत्वा तस्माद् ज्ञानी विमुच्यते ॥५६॥

अर्थ—अपने आत्मस्वभावसे च्युत हुआ बहिरात्मा अन्य पदार्थोंमें अहंबुद्धि करके अपने आपको बांधता है अर्थात् कर्मबन्ध करता है, और ज्ञानी पुरुष आत्मामें ही आत्मबुद्धि करके उस परपदार्थसे छूट जाता है ॥५६॥

आत्मानं वेत्त्यविज्ञानी त्रिलिङ्गी संगतं वपुः ।
सम्यग्वेदी पुनस्तत्त्वं लिङ्गसंगतिवर्जितम् ॥५७॥

अर्थ—भेदविज्ञान रहित बहिरात्मा तीन लिंगोंसे चिन्हित शरीर को आत्मा जानता है और समयग्ज्ञानी पुरुष आत्मतत्त्वको इन लिंगोंकी संगतिसे रहित जानता है ॥५७॥

समभ्यस्तं सुविज्ञातं निर्णीतमपि तत्त्वतः ।
अनादिविभ्रमात्तत्त्वं प्रस्खलत्येव योगिनः ॥५८॥

अर्थ—फिर ऐसी भावना करता है कि योगी मुनिका तत्त्व कहिये आत्माका यथार्थ स्वरूप भले प्रकार अभ्यास रूप (परमार्थ निर्णय) किया हुआ भी अनादि विभ्रमके कारण डिग जाता है। भावार्थ—विभ्रमका संस्कार ऐसा तीव्र होता है कि जाना हुआ आत्मस्वरूप भी छूट जाता है इस कारण ऐसा विचार करें ॥५८ ॥ कि —

अचिद्दृश्यमिदं रूपं न चिद्दृश्यं ततो वृथा
मम रागादयोऽर्थेषु स्वरूपं संश्रयाम्यहम् ॥५९॥

अर्थ—यह रूप (मूर्ति) अचेतन हैं और दृश्य अर्थात् इन्द्रियग्राह्य हैं और चेतन दृश्य (इन्द्रियग्राह्य) नहीं है, इस कारण मेरे रूपादिक पर पदार्थोंमें जो रागादिक है वे सब वृथा (निष्फल) है, मैं अपने स्वरूपको आश्रय करता हूं; इसप्रकार विचारें ॥५९॥

करोत्यज्ञो ग्रहत्यागौ बहिरन्तस्तु तत्त्ववित् ।
शुद्धात्मा न बहिर्नान्तस्तौ विदध्यात्कथंचन ॥६०॥

अर्थ—अज्ञानी बाह्य त्याग ग्रहण करता है और तत्त्वज्ञानी अन्तरंग त्याग ग्रहण करता है, और जो शुद्धात्मा है सो बाह्य और अन्तरंगके दोनो ही त्याग ग्रहण नहीं करता है ॥६०॥

वाक्कायाभ्यां पृथक् कृत्वा मनसात्मानमभ्यसेत् ।
वाक्तनुभ्यां प्रकुर्वीत कार्यमन्यन्न चेतसा ॥६१॥

अर्थ-मुनि आत्माको वचन और कायसे भिन्न करके मनसे अभ्यास करें तथा अन्य कार्योंको वचन और कायसे करे, चित्तसे नहीं करे, चित्तसे तो आत्माका ही अभ्यास करे ॥६१॥

विश्वासानन्दयोः स्थानं स्याज्जगदज्ञचेतसाम् ।
क्वानन्दः क च विश्वासः स्वस्मिन्नेवात्मवेदिनाम् ॥६२॥

अर्थ-अज्ञानचित्तवालोंके तो यह जगत् विश्वास और आनन्दका स्थान है और अपने आत्मामें ही आनन्दके जाननेवालोंके कहां तो आनन्द और कहां विश्वास? अर्थात् कहीं भी नहीं, अपनेमें ही आनन्दरूप है ॥६२॥

स्वबोधादपरं किञ्चिन्न स्वान्ते विभृयात्क्षणम् ।
कुर्यात्कार्यवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामनादृतः ॥६३॥

अर्थ-आत्मज्ञानी मुनि ज्ञानके सिवाय किसी कार्यको मनमें क्षणमात्र भी नहीं धारण करता, यदि अन्य कार्योंको किसी कारणवशतः करता भी है तो वचन और कायसे बिना आदरके करता है, मनमें तो ज्ञानकी ही वासना निरन्तर रहती है ॥६३॥

यदक्षविषयं रूपं मद्रूपात्तद्विलक्षणम् ।
आनन्दनिर्भरं रूपमन्तर्ज्योतिर्मयं मम ॥६४॥

अर्थ— आत्मज्ञानी मुनि यह विचारता है कि जो इन्द्रियोंके विषयरूप मूर्ति है सो तो मेरे आत्मस्वरूपसे बिलक्षण है, मेरा रूप तो आनन्द से भरा अन्तरंग ज्योतिर्मय (ज्ञानप्रकाशमय) है ॥६४॥

अन्तर्दुःखं बहिः सौख्यं योगाभ्यासोद्यतात्मनाम् ।
सुप्रतिष्ठितयोगानां विपर्यस्तमिदं पुनः ॥६५॥

अर्थ—योगके अभ्यासमें उद्यमरूप है आत्मा जिनका ऐसे साधक मुनियोंके अन्तरंगमें दुःख और बाह्यमें सुख है, और जिनका योग सुप्रतिष्ठित है उनके इससे विपर्यस्त है अर्थात् अन्तरंगमें तो सुख है और बाह्यमें दुःख हैं। भावार्थ—योगी साधक अवस्थामें तो योगाभ्यासको सुखरूप जान उद्यम करता है, परन्तु साधन करते समय कुछ पीडा होती हैं, और जब अभ्यास सिद्ध हो जाता है तब परके देखनेमें तो दुःख दीखता है किन्तु अन्तरंगमें सुखी होता है ॥६५॥

तद्विज्ञेयं तदाख्येयं तच्छ्रव्यं चिन्त्यमेव वा ।
येन भ्रान्तिमपास्योच्चैः स्यादात्मन्यात्मनः स्थितिः ॥६६॥

अर्थ—मुनिजनोंको यह करना योग्य है कि जिससे भ्रान्ति को छोड़ आत्माकी स्थिति आत्मामें हो हो और यही विषय जानना चाहिये तथा इसको ही वचनसे कहना व सुनना तथा इसको ही विचारना चाहिये ॥६६॥

विषयेषु न तत्किञ्चित्स्याद्धितं यच्छरीरिणाम् ।
तथाप्येष्वेव कुर्वन्ति प्रीतिमज्ञा न योगिनः ॥६७॥

अर्थ—यद्यपि इन इन्द्रियोंके विषयोंमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो जीवोंका हितकर हो तथापि ये अज्ञानको जोड़नेवाले मूर्ख प्राणी उन विषयोंमें ही प्रीति करते हैं, सो यह अज्ञानकी चेष्टा है।६७।

अनाख्यातमिवाख्यातमपि न प्रतिपद्यते ।
आत्मानं जडधीस्तेन वन्ध्यस्तत्र ममोद्यमः॥६८॥

अर्थ—जडधी (मूर्ख) कहते हुए भी विना कहेकी समान आत्माको प्राप्त नहीं होता सो यहां मेरे कहनेका उद्यम वृथा (निष्फल) है, इस प्रकार विचार करें ॥६८॥

तन्नाहं यन्मया किञ्चित्प्रज्ञापयितुमिष्यते ।
योऽहं न स परग्राह्यस्तन्मुधा बोधनोद्यमः ॥६९॥

अर्थ—जो कुछ मैं परको जानना चाहता हूं सो मैं वह आत्मा नही हूं और जो मैं आत्मा हूं वह आत्मा परके ग्रहण करने योग्य नहीं है; इस कारण मेरे परके संबोधनका जो उद्यम है, सो वृथा है, क्योंकि, आत्मा आपसे हीं जाना जाता है, परका कहना सुनना निमित्तमात्र है, इस कारण इसमें आग्रह करना वृथा है ॥६९॥

निरुद्धज्योतिरज्ञोऽन्तः स्वतोऽन्यत्रैव तुष्यति ।
तुष्यत्यात्मनि विज्ञानी बहिर्विगतविभ्रमः ॥७०॥

अर्थ—अज्ञानी तो अपनेसे भिन्न पर वस्तुमें ही सन्तुष्ट होता है, क्योंकि अन्तर्ज्योति रूद्ध हो गई है, और ज्ञानी पुरुष आत्मामें ही सन्तुष्ट होता है, क्योंकि उसके बाह्य विभ्रम नष्ट हो गया है ।७०।

यावदात्मेच्छयाऽऽदत्ते वाक्चित्तवपुषां व्रजम् ।
जन्म तावदमीषां तु भेदज्ञानाद्भवच्युतिः ॥७१॥

अर्थ—यह प्राणी जब तक वचन मन कायके समूहको आत्माकी इच्छासे ग्रहण करता है तब तक इसके संसार है, तथा इनका जब भेदज्ञान होता है तब उससे संसारका अभाव होता है ॥७१॥

जीर्णे रक्ते घने ध्वस्ते नात्मा जीर्णादिकः पटे ।
एवं वपुषि जीर्णादौ नात्मा जिर्णादिकस्तथा ॥७२॥

अर्थ—जिस प्रकार वस्त्रके जीर्ण होते, रक्त होते, दृढ होते वा नष्ट होते आत्मा वा शरीर जीर्ण रक्तादिक स्वरूप नही होता, उसी प्रकार शरीरके जीर्ण वा ध्वस्त होते हुए आत्मा जीर्णादिकरूप नहीं होता। वह दृष्टान्त दार्ष्टान्त जानना ॥७२॥

चलमप्यचलप्रख्यं जगद्यस्यावभासते ।
ज्ञानयोगक्रियाहीनं स एवास्कन्दति ध्रुवम्[1] ॥७३॥

अर्थ—जिस प्रकार मुनिको चलस्वरूप भी यह जगत् अचलकी समान दीखता है, वही मुनि इन्द्रिय ज्ञानकी और योगकी क्रियासे हीन ऐसे शिव (निर्वाण) को प्राप्त होता है । भावार्थ—जब अपने

१ "शिवम्" इत्यपि पाठः ।

परिणाम स्थिरीभूत होते हैं तब समस्त पदार्थ ज्ञानमें निश्चल प्रतिबिंब स्वरूप ही भासते हैं और तब ही मुक्त होता है ॥७३॥

तनुत्रयावृतो देही ज्योतिर्मयवपुः स्वयम् ।
न वेत्ति यावदात्मानं क्व तावद्बन्धविच्युतिः ॥७४॥

अर्थ—यह आत्मा स्वयं तो ज्ञानज्योति-प्रकाशमय है, और देह सहित देही औदारिक तैजस और कार्माण इन तीन शरीरोंसे ढका हुआ है, सो यह आत्मा जब तक अपने ज्ञानमय आत्माको नहीं जानता तब तक बंधका अभाव कहांसे हो अर्थात् होता नहीं है ॥७४॥

गलन्मिलदणुव्रातसंनिवेशात्मकं वपुः ।
वेत्ति मूढस्तदात्मानमनाद्युत्पन्नविभ्रमात् ॥७५॥

अर्थ—झरते मिलते पुद्गल परमाणुओंके स्कन्धोंके निवेशसे रचा हुआ जो यह शरीर है, उसको यह मूढ बहिरात्मा अनादिसे उत्पन्न हुए विभ्रमसे आत्मा जानता है यही संसार का बीज है ॥७५॥

मुक्तिरेव मुनेस्तस्य यस्यात्मन्यचला स्थितिः ।
न तस्यास्ति ध्रुवं मुक्तिर्न यस्यात्मन्यवस्थितिः ॥७६॥

अर्थ—जिस मुनिकी आत्मामें अचलस्थिति है उसीकी मुक्ति होती है, और जिसकी आत्मामें अवस्थिति नहीं है उसकी नियमसे मुक्ति नहीं होती; क्योंकि आत्मामें जो अवस्थिति है वही सम्यग्दर्शन व ज्ञानपूर्वक चारित्र है और उसीसे मुक्ति है । सांख्य नैयायिकादि मतावलंबी ज्ञानमात्रसे मुक्ति मानते हैं, सो नहीं है ॥७६॥

दृढः स्थूलः स्थिरो दीर्घो जीर्णः शीर्णो लघुर्गुरुः ।
वपुषैवमसंबध्नन्स्वं विन्द्याद्वेदनात्मकम् ॥७७॥

अर्थ—शरीरसहित मैं दृढ हूं, स्थूल (मोटा) हूं, स्थिर हूं, लंबा हूं, जीर्ण हूं, शीर्ण (अति कृश) हूं, हलका हूं और भारी हूं इस प्रकार आत्माको शरीर सहित संबंध रूप नहीं करता हुवा पुरुष ही आत्माको ज्ञानस्वरूप जानता है अर्थात् अनुभव करता है ॥७७॥

जनसंसर्गवाक्चित्तपरिस्पन्दमनोभ्रमाः ।
उत्तरोत्तरबीजानि ज्ञानी जनस्ततस्त्यजेत् ॥७८॥

अर्थ—लोकका संसर्ग होनेसे वचन और चित्तका चलना और मनको भ्रम होता है, ये उत्तरोत्तर बीजस्वरूप है, अर्थात् लोकके संसर्गसे तो परस्पर वचनालाप होता है और उस वचनालापसे चित्त चलायमान होता है और चित्त चलनेसे मनमें भ्रम होता है, इस कारण, ज्ञानी मुनि लोकके संसर्गको छोड़ें । भावार्थ—लौकिक जनकी संगति न करें ॥७८॥

नगग्रामादिषु स्वस्य निवासं वेत्त्यनात्मवित् ।
सर्वावस्थासु विज्ञानी स्वस्मिन्नेवास्तविभ्रमः ॥७९॥

अर्थ—जो अनात्मवित् हैं अर्थात् आत्माको नहीं जानते वे पर्वत ग्राम आदिमें अपना निवास जानते हैं, और जो अस्तविभ्रम (ज्ञानी) हैं, वे समस्त अवस्थाओंमें अपने आत्मामें ही अपना निवासस्थान समझते हैं। भावार्थ—परमार्थसे परके आधेय आधार भावको नहीं जानते ॥७९॥

आत्मेति वपुषि ज्ञानं कारणं कायसन्ततेः ।
स्वस्मिन्स्वमिति विज्ञानं स्याच्छरीरान्तरच्युतः ॥८०॥

अर्थ—शरीरमें यह शरीर ही आत्मा है इस प्रकारजानना कायको सन्तान अर्थात् आगामी परिपाटीका कारण है, और अपने आत्मामें ही आत्मा है ऐसा ज्ञान इस शरीरसे अन्य शरीर होनेके अभावका कारण है ॥८०॥

आत्माऽऽत्मना भवं मोक्षमात्मनः कुरुते यतः ।
अतो रिपुर्गुरुश्चायमात्मैव स्फुटमात्मनः ॥८१॥

अर्थ—यह आत्मा अपने ही द्वारा अपने संसारको करता है और अपने द्वारा आप ही अपने लिये मोक्ष करता है, इस कारण आप ही अपना शत्रु है और आप ही अपना गुरु है, यह प्रकटतया जानो, पर तो बाह्य निमित्तमात्र है ॥८१॥

पृथग् दृष्ट्वात्मनः कायं कायादात्मानमात्मवित् ।
तथा त्यजत्यशङ्कोऽङ्गं यथा वस्त्रं घृणास्पदम् ॥८२॥

अर्थ—आत्माका जाननेवाला ज्ञानी देहको आत्मासे भिन्न तथा आत्माको देहसे भिन्न देख करही निःशंक हो (देहको) त्यागता है, जैसे प्राकृत पुरुष जब वस्त्र मलिन हो कर ग्लानिका स्थान होता है, तब उस वस्त्रको निःशंक हो, छोड़ देता है, उसी प्रकार यह देह भी ग्लानिका स्थान है, इस कारण ज्ञानीको इसके त्यागनेमें कुछ भी शंका नहीं होती है ॥८२॥

अन्तर्दृष्ट्वाऽऽत्मनस्तत्त्वं बहिर्दृष्ट्वा ततस्तनुम् ।
उभयोर्भेदनिष्णातो न स्खलत्याऽऽत्मनिश्चये ॥८३॥

अर्थ—ज्ञानी आत्माके स्वरूपको अन्तरंगमें देख कर और देहको बाह्यमें देख कर, दोनोंके भेदमें निष्णात कहिये निःसंदेह ज्ञाता हो कर आत्माके निश्चयमें नहीं डिगता अर्थात् निश्चल अन्तरात्मा हो कर रहता है ॥८३॥

तर्कयेज्जगदुन्मत्तं प्रागुत्पन्नात्मनिश्चयः ।
पश्चाल्लोष्ठमिवाचष्टे तद्दृढाभ्यासवासितः ॥८४॥

अर्थ—जिसको आत्माका निश्चय हो गया है ऐसा ज्ञानी प्रथम तो इस जगतको उन्मत्तवत् विचारता है, तत्पश्चात् आत्माका दृढ अभ्यास करके पाषाणके समान देखता है। भावार्थ—जब ज्ञान उत्पन्न होता है, उस समय यह जगत् बावलासा दीखता है, तत्पश्चात् जब ज्ञानाभ्यास दृढ हो जाता है तब वस्तु स्वभावके विचारसे जैसा है वैसा ही दीखता है अर्थात् उसमें इष्ट अनिष्ट भाव नहीं होता ॥८४॥

शरीराद्भिन्नमात्मानं शृण्वन्नपि वदन्नपि ।
तावन्न मुच्यते यावन्न भेदाभ्यासनिष्ठितः ॥८५॥

अर्थ—यह पुरुष आत्मा को शरीरसे भिन्न सुनता हुआ भी तथा कहता हुआ भी जबतक इसके भेदाभ्यासमें निष्ठित (परिपक्व) नहीं होता, तब तक इससे छूटता नहीं, क्यों कि निरन्तर भेदज्ञानके अभ्याससे ही इसका ममत्व छूटता है ॥८५॥

व्यतिरिक्तं तनोस्तद्वद्भाव्य आत्माऽऽत्मनाऽऽत्मनि ।
स्वप्नेऽप्ययं यथाऽभ्येति पुनर्नाङ्गेन संगतिम् ॥८६॥

अर्थ—आत्माको आत्माके ही द्वारा आत्मामें शरीरसे भिन्न ऐसा विचारना कि जिससे फिर वह आत्मा स्वप्नमें भी शरीरको संगतिको प्राप्त न हो, अर्थात् मैं शरीर हूं ऐसी बुद्धि स्वप्नमें भी न हो ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥८६॥

यतो व्रताव्रते पुंसां शुभाशुभनिबन्धने ।
तदभावात्पुनर्मोक्षो मुमुक्षुस्ते ततस्त्यजेत् ॥८७॥

अर्थ—तथा व्रत और अव्रत शुभ और अशुभ दो प्रकार के बंधोके कारण हैं, और शुभाशुभ कर्मके अभावसे मोक्ष होता है, इस कारण मुक्तिका इच्छुक मुनि इन व्रत और अव्रत दोनोंको ही त्यागता है, अर्थात् इनमें करने न करनेका अभिमान नहीं करता ॥८७॥

प्रागसंयममुत्सृज्य संयमैकरतो भवेत् ।
तपोऽपि विरमेत्प्राप्य सम्यगात्मन्यवस्थितिम् ॥८८॥

अर्थ—व्रत अव्रतका त्यागना कहा है सो इस प्रकार त्यागे कि प्रथम तो असंयमको छोड संयममें रक्त हो. तत्पश्चात् सम्यक्प्रकारसे आत्मामें अवस्थितिको प्राप्त हो कर उस संयममें भी विरक्त हो जावे, अर्थात् संयमका ममत्व वा अभिमान न रक्खें ॥८८॥

जातिलिङ्गमिति द्वन्द्वमङ्गमाश्रित्य वर्त्तते ।
अङ्गात्मकश्च संसारस्तस्मात्तद्द्वितयं त्यजेत् ॥८९॥

अर्थ—जाति (क्षत्रियादिक) और लिंग मुनि श्रावकादिकका वेष ये दोनों ही देहके आश्रित है तथा इस देहस्वरूप ही संसार है, इससे मुनि इन जाति लिंग दोनोंको ही त्यागता है, अर्थात् इनका अभिमान नहीं रखता ॥८९॥

अभेदविद्यथापङ्गोर्वेत्ति चक्षुरचक्षुषि ।
अङ्गेऽपि च तथा वेत्ति संयोगाद्दृश्यमात्मनः ॥९०॥

अर्थ—जिसप्रकार अन्धके कन्धे पांगुला चढ कर चलता है, उनका भेद न जाननेवाला कोई पुरुष पंगुके नेत्रोंको अंधेके नेत्र जानता हैं, उसी प्रकार आत्मा और देहका संयोग है, सो इनका भेद नहीं जाननेवाला अज्ञानी आत्माके दृश्यको अंगका ही दृश्य (देखने योग्य) जानता है ॥९०॥

भेदविन्न यथा वेत्ति पङ्गोरन्धस्य चक्षुषि ।
विज्ञातात्मा तथा वेत्ति न काये दृश्यमात्मनः ॥९१॥

अर्थ—जिस प्रकार पंगु और अंधके भेदको जाननेवाला पुरुष पंगुके नेत्रोंको अंधेके नेत्र नहीं जानता, उसी प्रकार आत्मा और देहके भेदको जाननेवाला पुरुष आत्माके दृश्यको देहका नहीं जानता, क्योंकि आत्मा चैतन्य ज्ञानवान् है, परन्तु देहके बिना चल नहीं सकता, इस कारण वह पंगुके समान; और देह अचेतन है, इस कारण वह अंधेके समान है, इस भेदको जो जानता है, वह देहमें न जान कर, आत्मामें ही आत्माको जानता है ॥९१॥

मत्तोन्मत्तादिचेष्टासु यथाज्ञस्य स्वविभ्रमः ।
तथा सर्वास्ववस्थासु न क्वचित्तत्त्वदर्शिनः ॥९२॥

अर्थ--जिस प्रकार अज्ञानीके मत्त उन्मत्त आदि चेष्टाओंमें आत्माका विभ्रम होता है अर्थात् अज्ञानी अपनेको भूल जाता है और जब चेत करता है तब अपनेको जानता है; उसी प्रकार तत्त्वदर्शीके सब ही अवस्थाओंमें विभ्रम नहीं है अर्थात् सदा ही समस्त अवस्थाओंमें आत्मा जानता है, भूलता कभी नहीं है। भावार्थ आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टिके सर्व अवस्थाओंमें कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥९२॥

देहात्मदृग्न मुच्येत चेज्जागर्ति पठत्यपि ।
सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्येत स्वस्मिन्नुत्पन्ननिश्चयः ॥९३॥

अर्थ—जिसकी देहमें ही आत्मदृष्टि है ऐसा मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा यदि जागता है तथा पढ़ता (वचन उच्चार करता) है तो भी वह कर्मोंसे नहीं छूटता और भेदज्ञानी सोता या उन्मत्त रहता हुआ भी कर्मोंसे मुक्त हो जाता है ॥९३॥

आत्मानं सिद्धमाराध्य प्राप्नोत्यात्मापि सिद्धताम् ।
वर्तिः प्रदीपमासाद्य यथाभ्येति प्रदीपताम् ॥९४॥

अर्थ—जैसे वर्तिका (बत्ती) दीपको प्राप्त हो कर दीपक हो जाती है, उसी प्रकार यह आत्मा सिद्ध परमात्माका आराधन करके सिद्धपनको प्राप्त होता है ॥९४॥

आराध्यात्मानमेवात्मा परमात्मत्वमश्नुते ।
यथा भवति वृक्षः स्वं स्वेनोद्घृष्य हुताशनः ॥९५

अर्थ—आत्मा आत्माको ही आराध कर परमात्मपनको प्राप्त होता है, जैसे वृक्ष अपनेको आपसे ही घिस कर अग्नि हो जाता है। भावार्थ–जैसे बाँसोंके परस्पर घिसनेसे उनमें अग्नि उत्पन्न हो जाती हैं उसी प्रकार आत्मा आत्माका आराधन करनेसे परमात्मा हो जाता हैं ॥९५॥

इत्थं वाग्गोचरातीतं भावयन्परमेष्ठिनम् ।
आसादयति यद्यस्मान्न भूयो विनिवर्तते ॥९६॥

अर्थ—यह आत्मा पूर्वोक्त प्रकार वचनके अगोचर परमेष्ठीको भावता हुआ उस पदको पाता है कि जिस पदसे फिर निवृत्त (लौटना) न हो, अर्थात् जो छूटे नहीं ऐसे सिद्ध पदको प्राप्त होता है।९६।

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्त्वं भूतजं यदि । ...

अयत्नजनितं मन्ये ज्ञानिनां परमं पदम् ।
यदात्मन्यात्मविज्ञानमात्रमेव समीहते ॥९७॥

अर्थ-जो यह आत्मा आत्मामें ही विज्ञान मात्रको सम्यक्प्रकार चाहता है, तो जानना चाहिये कि ज्ञानियोंके परमपद बिना यत्नके ही हो गया। 'मैं ऐसा मानता हूं' इस प्रकार आचार्य महाराजने संभावना की है ॥९७॥

स्वप्ने दृष्टविनाशोऽपि यथात्मा न विनश्यति ।
जागरेऽपि तथा भ्रान्तेरुभयत्राविशेषतः ॥९८॥

अर्थ-जैसे स्वप्नमें अपनेको नष्ट हुआ देख लेनेसे आत्मा नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार जागते हुए भी विनाश नहीं है किन्तु दोनों जगह विनाशके भ्रमका अविशेष है। भावार्थ—स्वप्नमें अपनेको मरा हुआ मानें, उसी प्रकार जागने पर भी मरा हुआ मानें तो यह भ्रम ही है; आत्मा सदा अमर है; आत्माका मरण मानना भ्रम है ॥९८॥

अतीन्द्रियमनिर्देश्यममूर्तं कल्पनाच्युतम् ।
चिदानन्दमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ॥९९॥

अर्थ-हे आत्मन्! तू आत्माको आत्मामें ही आपसे ही ऐसा जान कि, मैं अतीन्द्रिय हूं अर्थात् मेरे इन्द्रिय नहीं अथवा मैं इन्द्रियोंके गोचर नहीं हूं; अथवा इन्द्रियोंके स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द, विषय मुझ (आत्मा) में नहीं है, इस कारण अतीन्द्रिय हूं, तथा अनिर्देश्य हूं—वचनोंके द्वारा कहनेमें नहीं आता ऐसा हूं, तथा अमूर्तिक हूं अर्थात् स्पर्शादिकसे रहित हूं, तथा कल्पनातीत हूं, और चैतन्य तथा आनंदमय हूं ॥९९॥

मुच्येताधीतशास्त्रोऽपि नात्मेति कल्पयन्वपुः ।
आत्मन्यात्मानमन्विच्छन् श्रुतशून्योऽपि मुच्यते ॥१००॥

अर्थ-शरीरमें यह शरीर ही आत्मा है इस प्रकार अभ्यास करता हुआ वा भावता हुआ पुरुष यदि अधीतशास्त्र (पढ़े है शास्त्र जिसने ऐसा) है, तथापि कर्मसे नहीं छूटता है अर्थात् मुक्त नहीं हो सकता है, तथा शास्त्रसे शून्य है और आत्मामें ही आत्माको जानता वा मानता है तो कर्मसे छूटकर मुक्त हो जाता है। भावार्थ-शास्त्रज्ञान भी आत्मज्ञानके लिये है जो आत्मज्ञान नहीं हुआ तो शास्त्र पढ़नेसे क्या फल? अर्थात् व्यर्थ ही है ॥१००॥

पराधीनसुखास्वादनिर्वेदविशदस्य ते ।
आत्मैवामृततां गच्छन्नविच्छिन्नं स्वमीक्षते ॥१०१॥

अर्थ—हे आत्मन्! पराधीन इन्द्रियजनित सुखके आस्वादमें वैराग्य है स्पष्ट जिसके ऐसा जो तू उसका आत्मा ही अमृतपनको प्राप्त होता हुआ अविच्छेदरूप अपनेको देखता है। भावार्थ—इन्द्रिय सुखका आस्वाद छोड़ने पर ऐसा न जान कि अब सुख नहीं है किन्तु वह केवल आत्मा ही अमृतमय हो जाता है, और उस अमृतके आस्वादसे जन्म मरणसे रहित अमर होता है ॥१०१॥

यदभ्यस्तं सुखाद् ज्ञानं तद्दुःखेनापसर्पति ।
दुःखैकशरणस्तस्माद्योगी तत्त्वं निरूपयेत् ॥१०२॥

अर्थ--जो ज्ञान सुखसे अभ्यास किया है, वह ज्ञान प्रायः दुःख आने पर चला जाता है, इस कारण योगी दुःखको ही अंगीकार करके तत्त्वका अनुभव करता है। भावार्थ—जो तीव्र तप आचरण करता है वह परीषह आ जाने पर डिगता नहीं, अर्थात् दुःख आवें तो भी अपने ज्ञानाभ्यासको नहीं छोड़ता ॥१०२॥

मालिनी ।

निखिलभुवनतत्त्वोद्भासनैकप्रदीपं
निरुपधिमधिरूढं निर्भरानन्दकाष्ठाम् ।
परममुनिमनीषोद्भेदपर्यन्तभूतं
परिकलय विशुद्धं स्वात्मनात्मानमेव ॥१०३॥

अर्थ--हे आत्मन् ! तू अपने आत्माको अपने आत्मासे ही इस प्रकार विशुद्ध (निर्मल) अनुभव कर कि यह आत्मा समस्त लोकके यथार्थ स्वरूपको प्रकट करनेवाला अद्वितीय प्रदीप है, तथा अतिशय आनन्दकी सीमाको उपाधि रहित प्राप्त हुआ है, तथा परम मुनिकी बुद्धिसे प्रकट उत्कटता पर्यन्त है स्वरूप जिसका ऐसा है, इस प्रकार आत्माका अनुभव करें; ऐसा उपदेश है ॥१०३॥

इति साधारणं ध्येयं ध्यानयोर्धर्मशुक्लयोः ।
विशुद्धिस्वामिभेदेन भेदः सूत्रे निरूपितः ॥१०४॥

अर्थ--इस (उक्त) प्रकार धर्मध्यान व शुक्लध्यानका ध्येय (ध्यान करने योग्य) पदार्थ साधारणतया कहा गया। इन दोनोंकी विशुद्धता और ध्यान करनेवाले (ध्याता आदि) का भेद सूत्रमें निरूपण किया है ॥१०४॥

इस प्रकार धर्म शुक्ल ध्यानके वर्णनमें आत्माको जाननेके लिये बहिरात्मा अंतरात्माका स्वरूप कह कर तत्पश्चात् बहिरात्माको छोड़ अन्तरात्मा हो कर परमात्माका ध्यान करना वर्णन किया गया।

इस अध्यायका संक्षेप यह है कि, जो देह, इन्द्रिय धन संपदादिक बाह्य वस्तुओंमें आत्मबुद्धि करे वह तो बहिरात्मा (मिथ्या दृष्टि) है। और जो अन्तरंग विशुद्धदर्शनज्ञानमयी चेतनामें आत्मबुद्धि करता हैं और चेतनाके विकार रागादिक भावोंको कर्मजनित हेय जानता हैं वह अन्तरात्मा है और वही सम्यग्दृष्टि है, और जो समस्त कर्मोंसे रहित केवलज्ञानादिक गुणसहित हो सो परमात्मा हैं। उस परमात्माका ध्यान अन्तरात्मा हो कर करें। उसमें जो निश्चयनय (शुद्ध द्रव्यार्थिकनय) से अपने आत्माको ही अनन्तज्ञानादि गुणोंकी शक्ति सहित जान कर, नयके द्वारा युगपत् शक्ति व्यक्तिरूप परोक्षको

अपने अनुभवमें साक्षात् आरोपण करके तद्रूप अपने रूपको ध्यावें और जब वह उसमें लय हो जाय तब समस्त कर्मोंका नाश कर वैसा ही व्यक्तरूप परमात्मा स्वयं (आप) हो जाता है।

यह ध्यान अप्रमत्त सातवें गुणस्थानवर्त्ती मुनिके परिपूर्ण होता है। उसमें धर्मध्यानकी उत्कृष्टता है। ध्यानसे सातिशय अप्रमत्तगुणस्थान श्रेणीको चढ़ता है। उसीसे शुक्लध्यानको प्राप्त हो कर कर्मका नाश कर केवलज्ञान उत्पन्न करता है। इस प्रकार धर्मध्यान व शुक्लध्यानका एक ही ध्येय कहा गया है किन्तु दोनोंमें विशुद्धताका भेद अवश्य है। अर्थात् धर्मध्यानकी विशुद्धतासे शुक्लध्यानकी विशुद्धता अधिक है और स्वामिका भेद गुणस्थानोंके भेदसे जानना।

छप्पय।

जड़ चेतन मिलि है अनादिके एकरूप जिमि।
मूढ भेद नहीं लखै प्रकृतिमिथ्यात्व उदै इमि॥
जिन आगमतैं चिन्ह, भेद जाने लहि अवसर।
अनुभव करि चिद्रूप आप अरु अन्य सकल पर॥
जब अन्तर आतम होय करि, शुद्ध उपयोग मुनि।
तब शुद्ध आतमा ध्याय करि लहै मोक्ष सुखमय अवनि॥३२॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारस्वरूपे ज्ञानार्णवे शुद्धोपयोगवर्णनं नाम द्वात्रिंशं प्रकरणं समाप्तम्॥३२॥

---

३३ अथ त्रयस्त्रिंशः सर्गः।

आज्ञाविचय धर्मध्यानका स्वरूप

आगे धर्मध्यानके भेदोंका वर्णन करते है, उसमेंसे प्रथम ही भेदोंकी उत्पत्तिके लिये सामान्यतासे कहते हैं—

अनादिविभ्रमान्मोहादनभ्यासादसंग्रहात्।
ज्ञातमप्यात्मनस्तत्त्वं प्रस्खलत्येव योगिनः॥१॥

अर्थ—योगी (मुनि) आत्माके स्वरूपको यथार्थ जानता हुआ भी अनादि विभ्रमकी वासनासे, तथा मोहके उदयसे, तथा विना अभ्याससे और उस तत्वके संग्रहके अभावसे मार्गसे च्युत हो जाता है अर्थात् मुनि भी तत्त्वस्वरूपसे चलायमान हो जाता है॥१॥

फिर भी कहते है—

अविद्यावासनावेशविशेषविवशात्मनाम्।
योज्यमानमपि स्वस्मिन् न चेतः कुरुते स्थितिम्॥२॥

अर्थ—तथा आत्माके स्वरूपको यथार्थ जान कर अपनेमें जोडता हुआ भी अर्थात् ध्यानसे एकाग्र लगता हुआ भी अविद्याकी वासनाके-वेगसे विशेषतया विक्षत है आत्मा जिनका उनका चित्त स्थिरताको नहीं धारण करता ॥२॥

साक्षात्कर्तुमतः क्षिप्रं विश्वतत्त्वं यथास्थितम् ।
विशुद्धिं चात्मनः शश्वद्वस्तुधर्मे स्थिरीभवेत् ॥३॥

अर्थ--इस प्रकार पूर्वोक्त ध्यानके विघ्नके कारण दूर करनेके लिये तथा समस्त वस्तुओंके स्वरूपका यथास्थित तत्काल साक्षात् करनेके लिये तथा आत्माकी विशुद्धता करनेके लिये निरन्तर वस्तुओं के धर्ममें स्थिरीभूत होवे। भावार्थ—ध्येयमें एकाग्र मनका लगना ध्यान है। उसमें विघ्नके पूर्वोक्त कारण हैं। इनको दूर करनेके लिये समस्त वस्तुका यथार्थ स्वरूप निश्चय करके संशयादिक रहित वस्तुके धर्ममें ठहरे। यह धर्मध्यानकी सिद्धिका उपाय हैं, सो विशेषतासे कहते हैं ॥३॥

अलक्ष्यं लक्ष्यसंबन्धात् स्थूलात्सूक्ष्मं विचिन्तयेत् ।
सालम्बाच्च निरालम्बं तत्त्ववित्तत्त्वमञ्जसा ॥४॥

अर्थ—तत्त्वज्ञानी इस प्रकार तत्त्वको प्रकटतया चिंतवन करें कि लक्ष्यके (जो अपने लखनेमें आवे उसके) सम्बन्धसे तो अलक्ष्यको (जो अनुभवगोचर नहीं उसके) चिंतवन करें, और स्थूल इन्द्रियगोचर पदार्थ से सूक्ष्म इन्द्रियोंके अगोचर पदार्थों को चिंतवन करें; इसी प्रकार सालम्ब कहिये किसी ध्येयका आलंबन ले कर, उससे निरालम्ब वस्तु स्वरूप से तन्मय होना चाहिये। भावार्थ—दृष्ट पदार्थके सम्बन्ध से अदृष्टका ध्यान करना कहा गया हैं; यहां प्रकरणमें परमात्माका ध्यान हैं और परमात्मा जो अर्हन्त सिद्ध परमेष्ठी है, वे छद्मस्थ करके(अल्प ज्ञानीके) दृष्ट नहीं है, तथा उनके समान अपना स्वरूप निश्चय नयसे कहा है, वह भी शक्तिरूप है, सो वह भी छद्मस्थके ज्ञानगोचर नहीं (अदृष्ट) है इस कारण छद्मस्थके अपने क्षयोपशम ज्ञानका उपयोग दृष्ट है सो इसीके सबंधसे सर्वज्ञके आगमसे परमात्माका स्वरूप निश्चय कर, श्रुतज्ञानके भेदरूप शुद्ध नयके द्वारा परमात्माका ध्यान करना, चाहिये इसीसे परमात्मपदकी प्राप्त होती है ॥४॥

अब धर्मध्यानके भेदोंको कहते है—

आज्ञापायविपाकानां क्रमशः संस्थितेस्तथा ।
विचयो यः पृथक् तद्धि धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥५॥

अर्थ—आज्ञा अपाय विपाक तथा संस्थान इनका भिन्न भिन्न विचय(विचार) अनुक्रमसे करना ही धर्मध्यान के चार प्रकार हैं। यहां विचय नाम विचार करने अर्थात् चिंतवन करनेका है, तथा इन चारों प्रकारोंके नाम इस प्रकार कहने चाहिये—आज्ञाविचय १ अपायविचय २ विपाकविचय ३ और संस्थानविचय ४ ॥५॥

अब प्रथम आज्ञाविचय नामा धर्मध्यानका वर्णन करते हैं--

वस्तुतत्त्वं स्वसिद्धान्तं प्रसिद्धं यत्र चिन्तयेत् ।
सर्वज्ञाज्ञाभियोगेन तदाज्ञाविचयो मतः ॥६॥

अर्थ—जिस धर्मध्यानमें अपने जैन सिद्धान्तमें प्रसिद्ध वस्तुस्वरूपको सर्वज्ञ भगवानकी आज्ञाकी प्रधानतासे चिंतवन करे सो आज्ञाविचयनामा धर्मध्यानका प्रथम भेद है ॥६॥

अनन्तगुणपर्यायसंयुतं तत्त्रयात्मकम् ।
त्रिकालविषयं साक्षाज्जिनाज्ञासिद्धमामनेत् ॥७॥

अर्थ--आज्ञाविचय धर्मध्यानमें तत्त्व अनन्त गुण पर्यायोंसहित त्रयात्मक त्रिकालगोचर साक्षात् जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञासे सिद्ध हुआ चिन्तवन करे (मानें)॥७॥

उक्तं च

"सूक्ष्मं जिनेन्द्रवचनं हेतुभिर्यन्न हन्यते ।
आज्ञासिद्धं च तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥१॥

अर्थ—जिनेन्द्र सर्वज्ञ देवके वचनोंसे कहे हुए सूक्ष्म तत्त्व हेतुसे बाध्य नहीं हैं, ऐसे तत्त्व आज्ञासे ही ग्रहण करने (मानने)चाहिये, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान वीतराग हैं, वे अन्यथावादि नहीं होते । यदि सर्वज्ञ न हो तो बिना जाने अन्यथा कहें अथवा वीतराग न हो तो रागद्वेषके कारण अन्यथा कहें, और जो सर्वज्ञ और वीतराग हो वह कदापि अन्यथा नहीं कहेगा ॥१॥"

प्रमाणनयनिक्षेपैर्निर्णीतं तत्त्वमञ्जसा ।
स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं चिदचिल्लक्षणं स्मरेत् ॥८॥

अर्थ—आज्ञाविचय ध्यानमें प्रमाण नय निक्षेपोंसे निर्णय किये हुए, स्थिति उत्पत्ति और व्यय संयुत अर्थात् उपजें विनशें स्थिर रहे ऐसा, और चेतन अचेतनरूप है लक्षण जिसका ऐसे तत्त्व समूहका चिन्तवन करे ॥८॥

श्रीमत्सर्वज्ञदेवोक्तं श्रुतज्ञानं च निर्मलम् ।
शब्दार्थनिचितं चित्रमत्र चिन्त्यमविप्लुतम् ॥९॥

अर्थ—तथा इस आज्ञाविचय ध्यानमें श्रीमत्सर्वज्ञ देवके कहे हुए निर्मल और शब्द तथा अर्थसे परिपूर्ण नाना प्रकारके निर्बाध श्रुतज्ञानका चिन्तवन करना चाहिये ॥९॥

अब श्रुतज्ञान का वर्णन करते हैं—

परिस्फुरति यत्रैतद्विश्वविद्याकदम्बकम् ।
द्रव्यभावभिदा तद्धि शब्दार्थज्योतिरग्रिमम् ॥१०॥

अर्थ—शब्द और अर्थका प्रकाश है मुख्य जिसमें ऐसा, तथा जो समस्त प्रकारकी विद्याओंका समूह है अर्थात् आचार आदि अंग, पूर्व अंग बाह्य प्रकीर्णक रूप विद्याका समूह है तथा द्रव्यश्रुत

(शब्दरूप) और भावश्रुत (ज्ञानरूप) ये दो हैं भेद जिसके ऐसा सर्वज्ञ भगवानका कहा हुआ श्रुतज्ञान है ॥ १० ॥

अपारमतिगम्भीरं पुण्यतीर्थं पुरातनम् ।
पूर्वापरविरोधादिकलङ्कपरिवर्जितम् ॥ ११ ॥

अर्थ—फिर कैसा है श्रुतज्ञान ? अपार है; क्योंकि जिसके शब्दोंका पार कोई अल्पज्ञानी नहीं पा सकता; तथा गंभीर है; क्योंकि जिसके अर्थकी थाह हर कोई नहीं पासकता; तथा पुण्यतीर्थ है; क्योंकि जिसमें पापका लेश भी नहीं है, अर्थात् निर्दोष है; इसी कारण जीवोंको तारनेवाला है; तथा पुरातन है, अर्थात् अनादिकालसे चला आता है; और पूर्वापरविरोध आदि कलंकोंसे रहित है ॥ ११ ॥

नयोपनयसंपातगहनं मुनिभिः स्तुतम् ।
विचित्रमपि चित्रार्थसंकीर्णं विश्वलोचनम् ॥ १२ ॥

अर्थ—फिर कैसा है श्रुतज्ञान ? द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय और सद्भूत, असद्भूत व्यवहारादिक उपनयोंके संपातसे तो गहन है, तथा मुनिवरादिकों करके स्तुति करने योग्य है; तथा विचित्र कहिए अपूर्व है तथापि चित्र कहिए अनेक प्रकारके अर्थोंसे भरा हुआ है; तथा समस्त लोकको दिखानेके लिए नेत्रके समान है ॥ १२ ॥

अनेकपदविन्यासैरङ्गपूर्वैः प्रकीर्णकैः ।
प्रसृतं यद्विभात्युच्चै रत्नाकर इवापरः ॥ १३ ॥

अर्थ—फिर कैसा है श्रुतज्ञान ? अनेक पदोंका विन्यास (स्थान) है जिनमें ऐसे आचारादि अंग तथा आग्रायणी आदि पूर्व और सामायिकादि प्रकीर्णकोंसे विस्ताररूप है; सो यह श्रुतज्ञान जिस प्रकार रत्नाकर (समुद्र) शोभता है उसी प्रकार शोभता है ॥ १३ ॥

मदमत्तोद्धतक्षुद्रशासनाशीविषान्तकम् ।
दुरन्तघनमिथ्यात्वध्वान्तघर्मांशुमण्डलम् ॥ १४ ॥

अर्थ—फिर कैसा है श्रुतज्ञान ? मदसे माते, उद्धत, क्षुद्र (नीच) सर्वथा एकान्त वादियोंका शासन (मत) रूपी आशीविष कहिये सर्पका अन्तक है अर्थात् नष्ट करनेवाला है; तथा दुरन्त कहिये जिसका अन्त बहुत दूर है ऐसे दृढ मिथ्यात्वरूपी अन्धकारके दूर करनेको सूर्यमंडलके समान है ॥ १४ ॥

यत्पवित्रं जगत्यस्मिन्विशुद्ध्यति जगत्त्रयी ।
येन तद्धि सतां सेव्यं श्रुतज्ञानं चतुर्विधम् ॥ १५ ॥

अर्थ—फिर कैसा है वह श्रुतज्ञान ? इस जगतमें पवित्र है, क्योंकि जिसके द्वारा ये तीनों जगत् पवित्र होते हैं; इसी कारण ही वह श्रुतज्ञान सत्पुरुषोंके सेवने योग्य है । वह श्रुतज्ञान प्रथमानुयोग करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगके भेदसे चार प्रकारका है ॥ १५ ॥

स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं तृतीयं योगिलोचनम् ।
नयद्वयसमावेशात्साधनादि व्यवस्थितम् ॥ १६ ॥

अर्थ—फिर कैसा है श्रुतज्ञान ? उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य करके संयुक्त है; तथा योगीश्वरोंका तीसरा नेत्र है; तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयोंके कारण सादि अनादिव्यवस्था रूप हैं । द्रव्य नयसे संतानकी अपेक्षा अनादि है और पर्यायनयकी अपेक्षा तीर्थंकरोंकी दिव्य ध्वनिसे प्रगट होता है इस कारण सादि है ॥ १६ ॥

निःशेषनयनिक्षेपनिकषग्रावसन्निभम् ।
स्याद्वादपविनिर्घातभग्नान्यमतभूधरम् ॥ १७ ॥

अर्थ—फिर यह श्रुतज्ञान समस्त नय निक्षेपोंसे वस्तुके स्वरूपकी परीक्षा करनेके लिए कसोटीके समान है; तथा स्याद्वाद कहिये कथंचित् वचनरूपी वज्रके निर्घातसे भग्न किए हैं अन्यमतरूपी पर्वत जिसने ऐसा है ॥ १७ ॥

इत्यादिगुणसंदर्भनिर्भरं भव्यशुद्धिदम् ।
ध्यायन्तु धीमतां श्रेष्ठाः श्रुतज्ञानमहार्णवम् ॥ १८ ॥

अर्थ—इत्यादि पूर्वोक्त गुणोंकी रचनासे भरा हुआ, भव्य जीवोंको शुद्धिका देनेवाला श्रुतज्ञान रूप महासमुद्र है सो इसको बुद्धिमानों में जो श्रेष्ठ हैं वे ध्यावो (चिंतवन करो) । यह प्रेरणा रूप उपदेश है ॥ १८ ॥

अब ऐसे श्रुतज्ञानकी महिमा कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम् ।

यज्जन्मज्वरघातकं त्रिभुवनाधीशैर्यदभ्यर्चितं ।
यत्स्याद्वादमहाध्वजं नयशताकीर्णं च यत्पठ्यते ।
उत्पादस्थितिभङ्गलाञ्छनयुता यस्मिन्पदार्थाः स्थिता
स्तच्छ्रीवीरमुखारविन्दगदितं दद्याच्छ्रुतं वः शिवम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जो श्रुतज्ञान संसाररूपी ज्वरका तो घातक है और तीन भुवनके ईश इन्द्रोंसे पूजित है, तथा जो स्याद्वादरूपी बड़ी ध्वजावाला है, और सैंकड़ों नयोंसे पूर्ण है, ऐसा कहा जात है; तथा जिसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लांछन युक्त पदार्थ रहते हैं ऐसे श्रीवर्द्धमान स्वामीके मुखकमलसे कहा हुआ श्रुतज्ञान तुम श्रोता जनोंको कल्याणरूप हो, ऐसा आशीर्वचन है ॥ १९ ॥

वाग्देव्याः कुलमन्दिरं बुधजनानन्दैकचन्द्रोदयं
मुक्तेर्मङ्गलमग्रिमं शिवपथप्रस्थानदिव्यानकम् ।
तत्त्वाभासकुरङ्गपञ्चवदनं भव्यान्विनेतुं क्षमं
तच्छ्रोत्राञ्जलिभिः पिबन्तु गुणिनः सिद्धान्तवार्द्धेः पयः ॥२०॥

अर्थ—जो वाग्देवी (सरस्वती) के रहनेको कुलगृह है तथा विद्वानोंके आनन्द उपजानेके लिये अद्वितीय चन्द्रमाका उदय है, मुक्तिका मुख्य मंगल व मोक्षमार्गमें गमन करनेके लिये दिव्य आनक कहिये पटह नामका बाजा है, तत्त्वाभास (मिथ्यात्व) रूपी हिरणके नाश करनेको सिंहके समान है, तथा भव्य जीवोंको मोक्षमार्गमें चलानेके लिये समर्थ है ऐसे इस सिद्धान्तरूपी समुद्रके जलको हे गुणी जनो! कर्णरूपी अञ्जलियोंसे पान करो ॥ २० ॥

येनैते निपतन्ति वादिगिरयस्तुष्यन्ति योगीश्वराः
भव्या येन विदन्ति निर्वृतिपदं मुञ्चन्ति मोहं बुधाः ।
यद्बन्धुर्यमिनां यदक्षयसुखस्याधारभूतं नृणां
तल्लोकद्वयशुद्धिदं जिनवचः पुष्याद्विवेकश्रियम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जिसके द्वारा प्रसिद्ध वादीरूप पर्वत गिरते हैं अर्थात् खंडखंड हो जाते हैं, तथा जिसके द्वारा योगीश्वर प्रसन्न होते हैं, जिसके द्वारा भव्य जीव मोक्षपदको जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं, तथा जिसको पढ़ कर पण्डितजन संसारके मोहको छोड़ देते हैं, तथा जो वचन संयमी मुनियोंका बंधु (हित करनेवाला) है, तथा जो पुरुषोंके अविनाशी सुखका आधारभूत है, इस प्रकार दोनों लोकोंकी शुद्धताका देनेवाला जिनेन्द्र भगवानका वचन भव्य जीवोंकी विवेकरूपी श्रीको पुष्ट करें। इस प्रकार यह आशीर्वाद है ॥ २१ ॥

सर्वज्ञाज्ञां पुरस्कृत्य सम्यगर्थान् विचिन्तयेत् ।
यत्र तद्ध्यानमाम्नातमाज्ञाख्यं योगिपुङ्गवैः ॥ २२ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें सर्वज्ञकी आज्ञाको अग्रेसर (प्रधान) करके पदार्थोंको सम्यक्प्रकार चितवन करें (विचारें) सो मुनीश्वरोंने आज्ञाविचयनाम धर्मध्यान कहा है ॥ २२ ॥

इस प्रकार आज्ञाविचयनामक धर्मध्यानका प्रथम भेद कहा ।

दोहा

श्रीजिन-आज्ञामें कह्यो, वस्तुस्वरूप जु मानि ।
चित्त लगावै तासुमें, आज्ञाविचय सु जानि ॥ ३३ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे आज्ञाविचयध्यानवर्णननाम त्रयस्त्रिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ३३ ॥

---

३४. अथ चतुस्त्रिंशः सर्गः ।

अपायविचय धर्मध्यानका स्वरूप

आगे अपायविचय नामा धर्मध्यानके दूसरे भेदका वर्णन करते है—

अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः ।
अपायः कर्मणां यत्र सोपायः स्मर्यते बुधैः ॥ १ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें कर्मोका अपाय (नाश) हो, तथा सोपाय कहिये पंडितजनों करके इस प्रकार जिसमें चिन्तवन किया जाय कि इन कर्मोंका नाश किस उपायसे होगा? उस ध्यानको बुद्धिमान् पुरुषोंने अपायविचय कहा है ॥ १ ॥

श्रीमत्सर्वज्ञनिर्दिष्टं मार्गं रत्नत्रयात्मकम् ।
अनासाद्य भवारण्ये चिरं नष्टाः शरीरिणः ॥ २ ॥

मज्जनोन्मज्जनं प्रव्रजन्ति भवसागरे ।
वराकाः प्राणिनोऽप्राप्य यानपात्रं जिनेश्वरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस ध्यानमें ऐसा चिंतवन होता है कि ये प्राणी श्रीमत्सर्वज्ञजिनेन्द्रके उपदेश किये हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्ररूप मार्गको न पा कर संसाररूप वनमें बहुतकाल पर्यन्त नष्ट होते हुए जन्ममरण और उपार्जन किए कर्मोंके नाश करनेका उपाय जो रत्नत्रय सो उन्होंने नहीं पाया ॥२॥ तथा ये रंक प्राणी जिनेश्वर देवरूपी जहाज़को न पा कर संसाररूप समुद्रमें निरंतर मज्जन उन्मज्जन करते हैं अर्थात् निरंतर जन्म मरण पाते रहते है और दुःख भोगते हैं, इस प्रकार चिन्तवन करें ॥ ३ ॥

महाव्यसनसप्तार्चिःप्रदीप्ते जन्मकानने ।
भ्रमताद्य मया प्राप्तं सम्यग्ज्ञानाम्बुधेस्तटम् ॥ ४ ॥

अर्थ—फिर ऐसा चिंतन करें कि महान् कष्टरूपी अग्निसे प्रज्वलित इस संसाररूपी वनमें भ्रमण करता हुआ मैं इस समय सम्यग्ज्ञानरूपी समुद्रका तट (किनारा) पा गया ॥ ४ ॥

अद्यापि यदि निर्वेदविवेकाद्रिमस्तकात् ।
स्खलेत्तदैव जन्मान्ध-कूपपातोऽनिवारितः ॥ ५ ॥

अर्थ—फिर इस प्रकार चिन्तन करें कि मैंने इस समय सम्यग्ज्ञान पाया है; सो यदि अब भी वैराग्य और भेदज्ञानरूप पर्वतके शिखरसे पडूं तो संसाररूप अंधकूपमें अवश्य पड़ना होगा ॥ ५ ॥

अनादिविभ्रमसंभूतं कथं निर्वार्यते मया ।
मिथ्यात्वाविरतिप्रायं कर्मबन्धनिबन्धनम् ॥ ६ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् इस प्रकार चिन्तन करें कि अनादि अविद्यासे उत्पन्न हुए तथा जिसमें मिथ्यात्व व अविरतकी बहुलता है ऐसे कर्मबंध होनेके कारण मुझसे किस प्रकार निवारण किये जायेंगे।६।

सोऽहं सिद्धः प्रसिद्धात्मा दृग्बोधविमलेक्षणः ।
जन्मपङ्के चिरं खिन्नः खण्ड्यमानः स्वकर्मणा ॥७॥

अर्थ—फिर ऐसा चिन्तन करें कि प्रसिद्ध है स्वरूप जिसका ऐसा मैं सिद्ध हूं, दर्शन ज्ञान ही निर्मल नेत्र है जिसके ऐसा हूं तथापि संसाररूपी कीचड़में अपने उपार्जन किये हुए कर्मोंसे खंड २ किया चिरकालसे खेदखिन्न हुआ हूं ॥७॥

एकतः कर्मणां सैन्यमहमेकस्ततोऽन्यतः ।
स्थातव्यमप्रमत्तेन मयास्मिन्नरिसंकटे ॥८॥

अर्थ—इस संसारमें एक ओर तो कर्मोंकी सेना है और एक तरफ मैं अकेला हूं; इस कारण इस शत्रुसमूहमें मुझको अप्रमत्त (सावधान) हो कर रहना चाहिये, असावधान रहूंगा तो कर्मरूप वैरी बहुत हैं, इससे वे मुझे बिगाड़ देंगे ॥८॥

निर्धूय कर्मसंघातं प्रबलध्यानवह्निना ।
कदा स्वं शोधयिष्यामि धातुस्थमिव काञ्चनम् ॥९॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारें कि जिस प्रकार अन्य धातु (पाषाण) में मिला हुआ कंचन अग्निसे शोध कर शुद्ध किया जाता है—उसी प्रकार मैं प्रबल ध्यानरूप अग्निके द्वारा कर्मोंके समूहको नष्ट करके आत्माको कब शुद्ध करूँगा ? इस प्रकार विचार करें ॥९॥

किमुपेयो ममात्मायं किंवा विज्ञानदर्शने ।
चरणं वापवर्गाय त्रिभिः सार्द्धं स एव वा ॥१०॥

अर्थ—फिर ऐसा विचार करें कि मोक्षके लिये मेरे यह आत्मा उपादेय है; अथवा ज्ञानदर्शन उपादेय है, अथवा चारित्र उपादेय है, अथवा ज्ञान दर्शन चारित्र इन तीनों सहित आत्मा ही उपादेय हैं ॥१०॥

कोऽहं ममास्रवः कस्मात्कथं बन्धः क्व निर्जरा ।
का मुक्तिः किं विमुक्तस्य स्वरूपं च निगद्यते ॥११॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारें कि मै कोन हूं और मेरे कर्मोंका आस्रव क्यों होता है तथा कर्मोंका बंध क्यों होता हैं ? और किस कारणसे निर्जरा होती है ? और मुक्ति क्या वस्तु हैं ? एवं मुक्त होने पर आत्माका क्या स्वरूप कहा जाता है ? ॥११॥

जन्मनः प्रतिपक्षस्य मोक्षस्यात्यन्तिकं सुखम् ।
अव्याबाधं स्वभावोत्थं केनोपायेन लभ्यते ॥१२॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारें कि संसारका प्रतीपक्षी जो मोक्ष है उसका अविनाशी, अनन्त अव्याबाध (बाधारहित), स्वभावसे ही उत्पन्न हुआ (स्वाधीन) सुख किस उपायसे प्राप्त हो ? ॥१२॥

मय्येव विदिते साक्षाद्विज्ञातं भुवनत्रयम् ।
यतोऽहमेव सर्वज्ञः सर्वदर्शी निरञ्जनः ॥१३॥

अर्थ—फिर ऐसा ध्यान करें कि मेरे स्वरूपको जाननेसे मैने तीनों भुवन जान लिये; क्योंकि मैं ही सर्वज्ञ, सबका देखनेवाला, निरंजन और समस्त कर्मकालिमासे रहित हूं ॥१३॥

उक्तं च ।

"एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः ।
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः ॥१॥

अर्थ—एक भाव सर्व भावोंके स्वभावस्वरूप है और सर्व भाव एक भावके स्वभावस्वरूप हैं; इस कारण जिसने तत्त्व (यथार्थपने) से एक भावको जाना उसने समस्त भावोंको यथार्थतया जाना । **भावार्थ**—आत्माका एक ज्ञानभाव ऐसा है कि जिसमें समस्त भाव (पदार्थ) प्रतिबिम्बित होते हैं; उन पदार्थोंके आकारस्वरूप आप होता है तथा वे भाव सब ज्ञेय है, उनके जितने आकार हैं वे एक ज्ञानके आकार होते हैं, इस कारण जो इस प्रकारके ज्ञानके स्वरूपको यथार्थ जानता है, उसने सब ही पदार्थ जाने; अर्थात् ज्ञान ज्ञेयाकार हुआ, इस कारण ज्ञानको जाना तब सब ही जाना क्योंकि ज्ञान ही आत्मा है, इस कारण ऐसा कहा है ॥१॥

यावद्यावच्च संबन्धो मम स्याद्बाह्यवस्तुभिः ।
तावत्तावत्स्वयं स्वस्मिन्स्थितिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ॥१४॥

अर्थ—फिर ऐसा ध्यान करें कि जब २ मेरे वस्तुओंसे संबन्ध होते हैं तब २ मेरी आपसे ही अपनेमें स्थिति होना स्वप्नमें भी दुर्घट है ॥१४॥

तथैवैतेऽनुभूयन्ते पदार्थाः सूत्रसूचिताः ।
अतो मार्गेऽत्र लग्नोऽहं प्राप्त एव शिवास्पदम् ॥१५॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारें कि जिनसूत्रमें जो पदार्थ कहे हैं वे वैसे ही अनुभव किये जाते हैं, और जैसे कहे हैं वैसे ही दीखते हैं, इस कारण इस सूत्रके मार्गमें लगा हूं इसी कारण मोक्षस्थान भी मैं पाया हुआ ही मानता हूं, क्योंकि जब मार्ग पाया और उस मार्गमें चला तो असली ठिकाना प्राप्त हुआ ही कहा जाता है ॥१५॥

इत्युपायो विनिश्चेयो मार्गाच्यवनलक्षणः ।
कर्मणां च तथापाय उपायश्चात्मसिद्धये ॥१६॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्वोक्त मोक्षमार्गसे नहीं छूटना है लक्षण जिसका ऐसा तो उपाय निश्चय करना तथा वैसे ही कर्मोंका अपाय (नाश) निश्चय करना, इस प्रकार अपाय और उपाय दोनोंका आत्माकी सिद्धिके लिये निश्चय करना चाहिए ॥१६॥

मालिनी

इति नयशतसीमालम्बि निर्धूतदोषं
च्युतसकलकलङ्कैः कीर्त्तितं ध्यानमेतत् ।
अविरतमनुपूर्वं ध्यायतोऽस्तप्रमादं
स्फुरति हृदि विशुद्धे ज्ञानभास्वत्प्रकाशः ॥ १७ ॥

अर्थ—यह पूर्वोक्त प्रकारका अपायविचयनामा ध्यान सैंकड़ों नयोंको अवलम्बन करनेवाला है, तथा दूर किये हैं समस्त दोष जिसने ऐसे समस्त कलंक रहित सर्वज्ञदेवने कहा है; सो जो कोई पुरुष इसको अनुक्रमसे निरन्तर प्रमाद रहित हो कर ध्याता है उसके हृदयमें निर्मल ज्ञानरूप सूर्यका प्रकाश स्फुरायमान होता है ॥ १७ ॥

इस प्रकार अपायविचय नामक धर्मध्यानके दूसरे भेदका वर्णन किया ।

दोहा ।

मोक्षमार्गमें विघ्नको, मिटै कौन विधि सोय ।
इमि चिंतै ज्ञानी जबै, विचय अपाय सु होय ॥ ३४ ॥

इति शुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे अपायविचयवर्णनं नाम चतुस्त्रिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ३४ ॥

---

३५. अथ पञ्चत्रिंशः सर्गः ।

विपाकविचय धर्मध्यानका स्वरूप ।

आगे विपाकविचयनामा धर्मध्यानके तीसरे भेदका वर्णन करते हैं—

स विपाक इति ज्ञेयो यः स्वकर्मफलोदयः ।
प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररूपः शरीरिणाम् ॥ १ ॥

अर्थ—प्राणियोंके अपने उपार्जन किये हुए कर्मके फलका जो उदय होता है वह विपाक नामसे कहा है; सो वह कर्मोदय क्षण क्षणप्रति उदय होता है और ज्ञानावरणादि अनेकरूप है ॥ १ ॥

कर्मजातं फलं दत्ते विचित्रमिह देहिनाम् ।
आसाद्य नियतं नाम द्रव्यादिकचतुष्टयम् ॥

अर्थ—जीवोंके कर्मोंका समूह निश्चित द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप चतुष्टयको पा कर इस लोकमें अनेक प्रकारसे अपने नामानुसार फल (आगे कहते हैं उस प्रकार) को देता है ॥ २ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

स्रक्शय्यासनयानवस्त्रवनितावादित्रमित्राङ्गजान्
कर्पूरागुरुचन्द्रचन्दनवनक्रीडाद्रिसौधध्वजान् ॥

मातङ्गांश्च विहङ्गचामरपुरीभक्षान्नपानानि वा
छत्रादीनुपलभ्य वस्तुनिचयान्सौख्यं श्रयन्तेऽङ्गिनः ॥ ३ ॥

अर्थ—ये प्राणी पुष्पमाला, सुंदर शय्या, आसन, यान, वस्त्र, स्त्री, बाजे, मित्र, पुत्रादिकों तथा कर्पूर, अगुरु, चन्द्रमा, चंदन, वनक्रीड़ा, पर्वत, महल, ध्वजादिकको तथा हस्ती, घोड़े, पक्षी, चामर नगरी और खाने योग्य अन्नपानादिकको तथा छत्रादिक वस्तुसमूहको पा कर सुखका आश्रय करते हैं अर्थात् भोगते हैं ॥ ३ ॥ तथा—

क्षेत्राणि रमणीयानि सर्वर्तुसुखदानि च ।
कामभोगास्पदान्युच्चैः प्राप्य सौख्यं निषेव्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—सर्व ऋतुओंमें सुख देनेवाले, रमणीय और काम भोगके स्थान ऐसे क्षेत्रोंको प्राप्त होकर अतिशय सुखका अनुभव करते हैं ॥ ४ ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

प्रासासिक्षुरयन्त्रपन्नगगरव्यालानलोग्रग्रहान्
क्षीणाङ्गान्कृमिकीटकण्टकरजःक्षारास्थिपङ्कोपलान्
काराशृङ्खलशङ्कुकाण्डनिगडक्रूरारिवैरांस्तथा
द्रव्याण्याप्य भजन्ति दुःखमखिलं जीवा भवाध्वस्थिताः ॥ ५ ॥

अर्थ—संसाररूप मार्गमें रहते हुए जीव भाला, तलवार, छुरा, यंत्र, बंदूक आदि शस्त्र और सर्प विष, दुष्ट हस्ती, अग्नि, तीव्र खोटे ग्रहादिकको तथा दुर्गन्धित सड़े हुए अंग, लट, कीड़े, कांटे, रज क्षार, अस्थि, कीच पाषाणादिकको तथा बंदीखाना (जेलखाना), सांकल, कीला, कांड, बेड़ी, क्रूर (दुष्ट), वैरी, वैर, इत्यादि द्रव्योंको प्राप्त हो कर दुःखोंको भोगते हैं ॥ ५ ॥

निसर्गेणातिरौद्राणि भयक्लेशास्पदानि च ।
दुःखमेवाप्नुवन्त्युच्चैः क्षेत्राण्यासाद्य जन्तवः ॥ ६ ॥

अर्थ—ये प्राणी स्वभाव से ही रौद्र, भय और क्लेशके ठिकाने ऐसे क्षेत्रोंको प्राप्त होकर अतिशय दुःखोंको ही पाते हैं ॥ ६ ॥

अरिष्टोत्पातनिर्मुक्तो वातवर्षादिवर्जितः ।
शीतोष्णरहितः कालः स्यात्सुखाय शरीरिणाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—अरिष्ट (दुःख देनेवाले) उत्पातसे रहित तथा पवन वर्षाआदिसे वर्जित और शीत उष्णता रहित काल जीवोंके सुखके लिये है ॥ ७ ॥

वर्षातपतुषाराढ्य ईत्युत्पातादिसंकुलः ।
कालः सदैव सत्त्वानां दुःखानलनिबन्धनम् ॥ ८ ॥

अर्थ- वर्षा, आतप, हिम (बर्फ) सहित तथा इति कहिये स्वचक्र परचक्रादिकोंके उत्पात आदि सहित काल जीवोंको निरन्तर दुःखरूप अग्निका कारण है ॥ ८ ॥

इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, कालके संबन्धसे जो कर्मोंका उदय होता है, उसके निमित्तसे सुखदुःख होनेका वर्णन किया ।

अब जो भावसे सुख दुःख होता है, उसका वर्णन करते हैं—

प्रशमादिसमुद्भूतो भावः सौख्याय देहिनाम् ।
कर्मगौरवजः सोऽयं महाव्यसनमन्दिरम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जो कर्मके उपशमादिकसे उत्पन्न हुआ भाव है, वह तो जीवोंको सुखके अर्थ है और जो कर्मके तीव्र गुरुपनासे उत्पन्न हुआ भाव है, सो महान् कष्टका घर है ॥ ९ ॥

मूलप्रकृतयस्तत्र कर्मणामष्ट कीर्तिताः ।
ज्ञानावरणपूर्वास्ता जन्मिनां बन्धहेतवः ॥ १० ॥

अर्थ—कर्मकी मूल प्रकृति (भेद) आठ कही हैं; ज्ञानावरणादिक वे जीवोंके बंधनका कारण है ॥ १० ॥

ज्ञानावृतिकरं कर्म पञ्चभेदं प्रपञ्चितम् ।
निरुद्धं येन जीवानां मतिज्ञानादिपञ्चकम् ॥ ११ ॥

अर्थ—उन आठ कर्म प्रकृतियोंमेंसे प्रथम ज्ञानको आवरण करनेवाला ज्ञानावरणीय कर्म पांच भेदरूप कहा गया है; इन पाचो ज्ञानावरण कर्मोंने जीवोंके मति ज्ञानादिक (मति, श्रुत, अवधि मनःपर्यय और केवल) पाचो ज्ञानोंको रोक रक्खा है अर्थात् ढक रक्खा है ॥ ११ ॥

नवभेदं मतं कर्म दृगावरणसंज्ञकम् ।
रुद्ध्यते येन जन्तूनां शश्वदिष्टार्थदर्शनम् ॥ १२ ॥

अर्थ—दूसरा दर्शनावरण नामक कर्म वह नवें प्रकारका है; जिसने जीवोंके निरन्तर इष्ट वस्तुके दर्शनको रोक रक्खा है अर्थात् ढक रक्खा है ॥ १२ ॥

वेदनीयं विदुः प्राज्ञा द्विधा कर्म शरीरिणाम् ।
यन्मधुच्छिष्टतद्व्यक्त—शस्त्रधारासमप्रभम् ॥ १३ ॥

अर्थ—इसके पश्चात् तीसरा वेदनीय कर्म दो प्रकारका है, एक साता वेदनीय और दूसरा असातावेदनीय; सो यह कर्म जीवोंको शहद-लिपटी तरवारकी धारके समान किंचित् सुखदायक है ॥ १३ ॥

सुरोरगनराधीशसेवितं श्रयते सुखम् ।
सातोदयवशात्प्राणी संकल्पानन्तरोद्भवम् ॥ १४ ॥

---

१ ज्ञानावरणीय १ दर्शनावरणीय २ मोहनीय ३ अन्तराय ४ वेदनीय ५ आयु ६ नाम ७ और गोत्र ८ ये आठ मूल प्रकृति है ।

२ मतिज्ञानावरणीय १ श्रुतज्ञानावरणीय २ अवधिज्ञानावरणीय ३ मन पर्यय ज्ञानावरणीय ४ और केवल ज्ञानावरणीय ।

३ निद्रा १ निद्रानिद्रा २ प्रचला ३ प्रचलाप्रचला ४ स्त्यानगृद्धि ५ चक्षुदर्शनावरणीय ६ अचक्षुर्दर्शनावरणीय ७ अवधिदर्शनावरणीय ८ और केवलदर्शनावरणीय ९ ।

असद्वेद्योदयात्तीव्रं शारीरं मानसं द्विधा ।
जीवो विसह्यते दुःखं श्वभ्रच्छ्वभ्रादिभूमिषु ॥ १५ ॥

अर्थ—यह प्राणी सातावेदनीयके उदयके वशसे तो देवेन्द्र, नागेन्द्र, धरणीन्द्र, व चक्रवर्तियोंसे सेवित तथा मनके संकल्प करते ही प्राप्त होनेवाले सुखको प्राप्त होता है, और असाता वेदनीयके उदय से शरीरसंबन्धी और मनसंबन्धी दो प्रकारके तीव्र दुःख नरकादिक पृथ्वियोंमें भोगता है ॥१४-१५॥

दृष्टिमोहप्रकोपेन दृष्टिः साध्वी विलुप्यते ।
तद्विलोपान्निमज्जन्ति प्राणिनः श्वभ्रसागरे ॥ १६ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् चौथा मोहनीय कर्म है, उसके दो मूल भेद हैं—एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोहनीय; इनमेंसे दर्शनमोहनीय नामक कर्मके प्रकोप (उदय) से जीवोंका सम्यग्दर्शन लोपा जाता है, सम्यग्दर्शनके लोपसे जीव नरकरूपी समुद्रमें डूबता है इस दर्शनमोहनीयको मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व ऐसे तीन प्रकृतियां हैं ॥ १६ ॥

चारित्रमोहपाकेन नाङ्गिभिर्लभ्यते क्षणम् ।
भावशुद्ध्या स्वसात्कर्तुं चरणं स्वान्तशुद्धिदम् ॥ १७ ॥

अर्थ—दूसरा चारित्रमोह कर्म है, उसके उदयसे यह प्राणी मनकी शुद्धि देनेवाले चारित्रको भावकी शुद्धतासे अंगीकार करनेके लिए क्षणमात्र भी समर्थ नहीं होता ॥ १७ ॥

लब्ध्वापि यत्प्रमाद्यन्ति यत्स्खलन्त्यथ संयमात् ।
सोऽपि चारित्रमोहस्य विपाकः परिकीर्त्तितः ॥ १८ ॥

अर्थ—जो संयम (चरित्र)को ग्रहण करके भी जीव प्रमादरूप होता है और संयमसे भ्रष्ट हो जाता है उसका कारण भी चारित्र मोहका उदय कहा है । भावार्थ—पहिले श्लोकमें तो चारित्र मोहके उदयसे संयमको ग्रहण ही न कर सकें ऐसा कहा है और यहां ऐसा कहा है कि कदाचित् चारित्रमोहके क्षयोपशमसे चारित्र (संयम) ग्रहण कर ले तो उसमें भी प्रमाद होता है अथवा तीव्र उदय होता है तो संयमसे भ्रष्ट भी हो जाता है । इस चारित्रमोहकी प्रकृति जो क्रोध मान माया लोभादिक २५ कषाय हैं, उनका वर्णन अन्य ग्रन्थोंसे जानना ॥ १८ ॥

अब आयु कर्मके विपाकको कहते हैं—

उपजातिः ।

सुरायुरारम्भककर्मपाकात्संभूय नाके प्रथितप्रभावैः ।
समर्थ्यते देहिभिरायुरग्र्यं सुखामृतस्वादनलोलचित्तैः ॥ १९ ॥

अर्थ—पांचवाँ आयुकर्म है उसके ४ चार भेद हैं—देवायु मनुष्यायु तिर्यगायु ३ और नरकायु । सो इनमेंसे देवायु उत्पन्न करनेवाले कर्मके उदयसे प्राणी स्वर्गमें उत्पन्न हो कर विख्यात है प्रभाव जिसका और सुखामृतके आस्वादनमें आसक्त है चित्त जिसका ऐसा देव हो, स्वर्गके सुख भोगता है ॥१९॥

उपेन्द्रवज्रा ।

नरायुषः कर्मविपाकयोगान्नरत्वमासाद्य शरीरभाजः ।
सुखासुखाक्रान्तधियो नितान्तं नयन्ति कालं बहुभिः प्रपञ्चैः ॥२०॥

अर्थ—तथा प्राणी मनुष्यायु नामा कर्मके उदययोगसे मनुष्यतत्त्वको पा कर कुछ सुख दुःखसे व्याप्त है बुद्धि जिनकी ऐसे हो, नानाप्रकारके प्रपञ्चों (कार्यों) से काल यापन करते है ॥२०॥

चरस्थिरविकल्पासु तिर्यग्गतिषु जन्तुभिः ।
तिर्यगायुःप्रकोपेन दुःखमेवानुभूयते ॥२१॥

अर्थ—तथा प्राणी तिर्यंच आयुके उदयसे त्रस स्थावर दो भेदरूप तिर्यञ्च गतियोंमें उत्पन्न हो कर केवल दुःख ही दुःख भोगते हैं ॥२१॥

नारकायुःप्रकोपेन नरकेऽचिन्त्यवेदने ।
निपतन्त्यङ्गिनस्तूर्णं कृतार्तिकरुणस्वनाः ॥२२॥

अर्थ— तथा नारकायुःकर्मके उदयसे प्राणी अचिन्त्य वेदनावाले नरकोंके बिलोंमें जिसके सुननेसे करुणा हो आवे ऐसे शब्द करते हुए उत्पन्न होते हैं और पांच प्रकारके दुःख भोगते हैं । २२॥

नामकर्मोदयः साक्षाद्धत्ते चित्राण्यनेकधा ।
नामानि गतिजात्यादिविकल्पानीह देहिनाम् ॥२३॥

अर्थ—तथा जीवोंको नाकर्मका उदय अनेक प्रकारके गति जाति आदि ९३ भेदवाले नामोंको साक्षात् धारण कराता है; नामकर्मकी ९३ प्रकृतियोंका नाम लक्षणादि विशेष भेद गोमट्टसार ग्रन्थसे जानना ॥२३॥

गोत्राख्यं जन्तुजातस्य कर्म दत्ते स्वकं फलम् ।
शस्ताशस्तेषु गोत्रेषु जन्म निष्पाद्य सर्वथा ॥२४॥

अर्थ—तथा गोत्रनाम कर्म जीवोंके समूहको ऊँच नीच गोत्रमें उत्पन्न करा कर सर्व प्रकारसे अपना फल देता है ॥२४॥

निरुणद्धि स्वसामर्थ्याद्दानलाभादिपञ्चकम् ।
विघ्नसन्ततिविन्यासैर्विघ्नकृत्कर्म देहिनाम् ॥२५॥

अर्थ— आठवाँ कर्म अन्तराय है सो विघ्न करनेवाला है; यह अपनी सामर्थ्य (उदय) से जीवोंके प्राप्त होनेवाले शक्ति दान लाभ भोग उपभोगोंमें विघ्नसन्ततिकी रचना करता है अर्थात् दान-भोगादिमें अन्तराय डाल कर उनको रोकता है ॥२५॥

मन्दवीर्याणि जायन्ते कर्माण्यतिबलान्यपि ।
अपक्वपाचनायोगात्फलानीव वनस्पतेः ॥२६॥

अर्थ—पूर्वोक्त अष्टकर्म अतिशय बलिष्ठ हैं तथापि जिस प्रकार वनस्पतिके फल बिना पके भी

पवनके निमित्त (पाल आदि) से पक जाते हैं, उसी प्रकार इन कर्मोंकी स्थिति पूरी होनेसे पहिले भी तपश्चरणादिकसे मन्दवीर्य (अल्प फल देनेवाले) हो जाते हैं ॥२६॥

उपेन्द्रवज्रा ।

अपक्वपाकः क्रियतेऽस्ततन्द्रैस्तपोभिरुग्रैर्वरशुद्धियुक्तैः ।
क्रमाद्गुणश्रेणिसमाश्रयेण सुसंवृतान्तःकरणैर्मुनीन्द्रैः ॥ २७ ॥

अर्थ—नष्ट हुआ है प्रमाद जिनका और सम्यक्प्रकारसे संवररूप हुआ है चित्त जिनका ऐसे मुनीन्द्र उत्कृष्ट विशुद्धता सहित तपोंसे अनुक्रमसे गुणश्रेणी निर्जराका आश्रय करके बिना पके कर्मोंको भी पका कर स्थिति पूर्ण हुए बिना ही निर्जरा करते है ॥२७॥

द्रव्याद्युत्कृष्टसामग्रीमासाद्योग्रतपोबलात् ॥२८॥
कर्माणि घातयन्त्युच्चैस्तुर्यध्यानेन योगिनः ॥ २८ ॥

अर्थ—योगीश्वर द्रव्यक्षेत्रकालभावकी उत्कृष्ट सामग्रीको प्राप्त होकर तीव्र तपके बलसे इस विपाकविचय नामा ध्यानके पश्चात् चौथे संस्थानविचय नामा ध्यानसे कर्मोंको अतिशयताके साथ नष्ट करते हैं ॥२८॥

विलीनाशेषकर्माणि स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ॥२९॥

अर्थ—उक्त विधानसे कर्मोंकी निर्जरासे विलय हुए है समस्त कर्म जिसके ऐसा स्फुरायमान निर्मल पुरुषाकारस्वरूप अपने अंगमें ही प्राप्त हुए आत्माको स्मरण करता है अर्थात् चिन्तवन (ध्यान) करता है ॥२९॥

मालिनी

इति विविधविकल्पं कर्म चित्रस्वरूपं
प्रतिसमयमुदीर्णं जन्मवर्त्यङ्गभाजाम् ।
स्थिरचरविषयाणां भावयन्नस्ततन्द्रो
दहति दुरितकक्षं संयमी शान्तमोहः ॥३०॥

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकार अनेक हैं भेद (विकल्प) जिसमें ऐसे कर्मका स्वरूप संसारमें वर्तनेवाले प्राणी स्थावर त्रसोंके समय समयप्रति उदयरूप है; उसको शान्तमोह संयमी मुनि प्रमाद रहित हो कर चिन्तवन करता हुआ पापरूपी वनको दग्ध करता है ॥३०॥

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्थं कर्मकटुप्रपाककलिताः संसारघोरार्णवे
जीवा दुर्गतिदुःखवाडवशिखासन्तानसंतापिताः ।
मृत्यूत्पत्तिमहोर्मिजालनिचिता मिथ्यात्ववातेरिताः
क्लिश्यन्ते तदिदं स्मरन्तु नियतं धन्याः स्वसिद्ध्यर्थिनः ॥३१॥

अर्थ—इस प्रकार भयानक संसाररूप समुद्रमें जो जीव हैं ते ज्ञानावरणादिक कर्मोंके कटु पाक (तीव्रोदय) से संयुक्त है; वे दुर्गतिके दुःखरूपी बड़वानलकी ज्वालाके संतानसे संतापित हैं, तथा मरण जन्मरूपी बड़ी लहरके समूहसे परिपूर्ण है तथा मिथ्यात्वरूप पवनके प्रेरे हुये क्लेश भोगते हैं; सो जो भव्य पुरुष हैं वे अपनी मुक्तिकी सिद्धीके लिये इस विपाकविचय ध्यानको स्मरण करें (ध्यावें) ॥३१॥

इस प्रकार विपाकविचय ध्यान का वर्णन किया है। इसका संक्षेप यह है कि ज्ञानावरणादिक कर्म जीवोंके अपने तथा परके निरन्तर उदयमें आते हैं सो यह विपाक हैं, इसको चिन्तवन करनेसे परिणाम विशुद्ध हो जाने पर कर्मोंके नाश करनेका उपाय करें तब मुक्त होता है।

दोहा

दुःख सुख आवे आपके, कर्म विपाक विचार।
है नीको यह ध्यानभवि, करो दुःखहरतार ॥ ३५ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे विपाकविचयवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ३५ ॥

३६- अथ षट्त्रिंशः सर्गः।

संस्थानविचय धर्मध्यानका स्वरूप।

आगे संस्थानविचय नामक धर्मध्यानके चौथे भेदका वर्णन करते हैं; इस ध्यानमें लोकका स्वरूप विचारा जाता है, इस कारण लोकका वर्णन किया जाता है—

अनन्तानन्तमाकाशं सर्वतः स्वप्रतिष्ठितम्।
तन्मध्येऽयं स्थितो लोकः श्रीमत्सर्वज्ञवर्णितः ॥ १ ॥

अर्थ—प्रथम तो सर्व तरफ (चारों ओर) अनन्तानान्त प्रदेशरूप आकाश है सो वह स्वप्रतिष्ठित है अर्थात् आपही अपने आधार पर है; क्योंकि उससे बडा अन्य कोई पदार्थ नहीं है; जो उसका आधार हो, उस आकाशके मध्य (बीच) में यह लोक स्थित है, सो श्रीमत्सर्वज्ञ देवने वर्णन किया है, इस कारण प्रमाणभूत है, क्योंकि असत्य कल्पना करके अन्य किसीने नहीं कहा, सर्वज्ञ भगवान प्रत्यक्ष देख कर जैसा है वैसा ही वर्णन किया है ॥ १ ॥

स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतैः पदार्थैश्चेतनेतरैः।
सम्पूर्णोऽनादिसंसिद्धः कर्तृव्यापारवर्जितः ॥ २ ॥

अर्थ—यह लोक ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय (क्षय) करके संयुक्त चेतन अचेतन पदार्थोंसे सम्पूर्ण-तथा भरा हुआ है और अनादिसंसिद्ध है, कर्त्ताके व्यापार से वर्जित है, अर्थात् कोई अन्यमती इस लोकका कर्त्ता हर्त्ता ईश्वर आदिको कहते है; तथा कच्छप वा शेष नागके ऊपर स्थित है इत्यादि

बुद्धिकल्पित असत्यार्थ कल्पना करके कहते हैं, सो वैसा नहीं है, सर्वज्ञने जैसा कहा है वैसा ही सत्य है ॥ २ ॥

ऊर्ध्वाधोमध्यभागैर्यो बिभर्ति भुवनत्रयम् ।
अतः स एव सूत्रज्ञैस्त्रैलोक्याधार इष्यते ॥ ३ ॥

अर्थ—तथा यह लोक ऊर्ध्व, मध्य, अधोभागसे तीन भुवनोंको धारण करता है इस कारण सूत्रके जाननेवाले तीन लोक (तीन जगत) का आधार इस लोकको कहते हैं ॥ ३ ॥

उपर्युपरि संक्रान्तैः सर्वतोऽपि निरन्तरैः ।
त्रिभिर्वायुभिराकीर्णो महावेगैर्महाबलैः ॥ ४ ॥

अर्थ—तथा यह लोक उपरि उपरि (एकके उपरि एक) सर्व तरहसे अन्तर रहित महावेगवान महाबलवाले तीन पवनोंसे बेढ़ा हुआ है ॥ ४ ॥

घनाब्धिः प्रथमस्तेषां ततोऽन्यो घनमारुतः
तनुवातस्तृतीयोऽन्ते विज्ञेया वायवः क्रमात् ॥ ५ ॥

अर्थ—उन तीन पवनोंमेंसे प्रथम तो यह लोक घनोदधि नाम पवनसे बेढा हुआ है, उसके ऊपर घनवात नामका पवन बेढा हुआ है, उसके ऊपर अन्तमें तनुवात नामका पवन हैं, इस प्रकार तीन पवनोंसे लोक बेढा हुआ है, इसी कारण उधर इधर हट नहीं सकता, किंतु आकाशके मध्यमें स्थित है ॥ ५ ॥

उद्धृत्य सकलं लोकं स्वशक्त्यैव व्यवस्थिताः ।
पर्यन्तरहिते व्योम्नि मरुतः प्रांशुविग्रहाः ॥ ६ ॥

अर्थ—और ये तीनों पवन तीन लोकोंको धारण करके अपनी शक्तिसे ही इस अन्तर रहित आकाशमें अपने शरीरको विस्तृत किये हुए स्थित हैं ॥ ६ ॥

घनाब्धिवलये लोकः स च नान्ते व्यवस्थितः ।
तनुवातान्तरे सोऽपि स चाकाशे स्थितः स्वयम् ॥ ७ ॥

अर्थ—यह लोक तो घनोदधि नामके वात वलयमें स्थित हैं, और घनोदधि वातवलय घनवातवलयके मध्यमें है, अर्थात् घनोदधि वातवलयके चारों और घनवातवलय घिरा हुआ हैं और घनवात वलयके चारों तरफ तनुवातवलय घिरा हुआ है और तनुवातवलय आकाशमें स्वयमेव स्थित है, इसमें किसीका कोई कर्तव्य नहीं है। अनादि कालसे इसी प्रकार की व्यवस्था है ॥ ७ ॥

अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः ।
मृदङ्गाभस्ततोप्यूर्ध्वं स त्रिधेति व्यवस्थितः ॥ ८ ॥

अर्थ—यह लोक नीचेसे तो वेत्रासन कहिये मोढेके आकारका है, अर्थात् नीचेसे चौड़ा है फिर

१ "मृदङ्गसदृशश्चाग्रे" इत्यपि पाठः ।

घटता २ मध्यलोक पर्यन्त सँकड़ा है; फिर मध्यलोक झालरके आकारका है, और उसके उपर ऊर्ध्वलोक मृदंगके आकारका है अर्थात् बीचमें कुछ चौड़ा और दोनों तरफ सँकड़ा है, ऐसे तीन प्रकारके लोक की व्यवस्था है ॥८॥

अस्य प्रमाणमुन्नत्या सप्त सप्त च रज्जवः ।
सप्तैका पञ्च चैका च मूलमध्यान्तविस्तरे ॥ ९ ॥

अर्थ—इस लोककी ऊंचाई तो सात सात राजू है, अर्थात् नीचेसे लगा कर मध्यलोक पर्यन्त सात राजू है और उससे ऊपर सात राजू है, इस प्रकार चौदह राजू ऊंचा है, और मूलमें चौड़ा सात राजू है, सो घटता घटता मध्यलोकमें एक राजू चौड़ा है, और उसके ऊपर बीचमें पांच राजू चौडा है, और अन्तमें और आदिमें मध्यलोकके निकट एक एक राजू चौड़ा है ॥९॥

अब अधोलोकमें जो नारकियोंकी निवासभूमि हैं, उनका वर्णन करते हैं—

तत्राधोभागमासाद्य संस्थिताः सप्त भूमयः ।
यासु नारकषण्ढानां निवासाः सन्ति भीषणाः ॥ १० ॥

अर्थ—इस लोकके अधोभागमें सात पृथ्वि हैं, जिनमें नारकी नपुंसक जीवोंके बड़े भयकारी निवासस्थान हैं ॥१०॥

काश्चिद्वज्रानलप्रख्याः काश्चिच्छीतोष्णसंकुलाः ।
तुषारबहुलाः काश्चिद्भूमयोऽत्यन्तभीतिदाः ॥ ११ ॥

अर्थ—उन सप्त नरककी पृथ्वियोंमें कई तो वज्राग्निके समान उष्ण हैं, कई शीत उष्णतासे व्याप्त हैं और कई अत्यन्त हिमवाली है, इस प्रकार अतिशय भयकारक है ॥११॥

उदीर्णानलदीप्तासु निसर्गोष्णासु भूमिषु ।
मेरुमात्रोऽप्ययः पिण्डः क्षिप्तः सद्यो विलीयते ॥ १२ ॥

अर्थ—उदयरूप है अग्नि जिनमें ऐसी स्वाभाविक उष्णरूप भूमियोंमें यदि मेरुपर्वतके समान लोहेका पिंड डाला जाय तो तत्काल गल कर भस्म हो जाय, ऐसी उन भूमियोंमें उष्णता है ॥१२॥

शीतभूमिष्वपि प्राप्तो मेरुमात्रोऽपि शीर्यते ।
शतधासावयःपिण्डः प्राप्य भूमिं क्षणान्तरे ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार उष्णभूमियोंमें मेरु समान लोहे का पिंड गल जाता है, उसी प्रकार शीतप्रधान भूमियोंमें भी मेरुके समान लोहेका पिंड डाला जाय तो शीतके कारण क्षणमात्रमें खंड २ हो कर बिखर जायगा ॥१३॥

हिंसास्तेयानृताब्रह्मबह्वारम्भादिपातकैः ।
विशन्ति नरकं घोरं प्राणिनोऽत्यन्तनिर्दयाः ॥ १४ ॥

अर्थ—उन घोर नरकोंमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (अब्रह्मचर्य) और बहुत आरंभ परिग्रहादि पापोंके करनेसे ही अत्यन्त निर्दयी जीव प्रवेश करते हैं। भावार्थ—हिंसादि पांच पाप अथवा सात व्यसनोंके सेवी जीव ही उन घोर नरकोंमें जा कर दुःख भोगते हैं ॥१४॥

मिथ्यात्वाविरतिक्रोधरौद्रध्यानपरायणाः ।
पतन्ति जन्तवः श्वभ्रे कृष्णलेश्यावशं गताः ॥ १५ ॥

अर्थ—तथा मिथ्यात्व, अविरति, क्रोध, रौद्रध्यानमें तत्पर तथा कृष्ण लेश्याके वश हुए प्राणी नरकमें पड़ते हैं ॥१५॥

असिपत्रवनाकीर्णे शस्त्रशूलासिसंकुले ।
नरकेऽत्यन्तदुर्गन्धे वसासृक्कृमिकर्दमे ॥१६ ॥
शिवाश्वव्याघ्रकङ्काढ्ये मांसाशिविहगान्विते ।
वज्रकण्टकसंकीर्णे शूलशाल्मलिदुर्गमे ॥ १७ ॥
संभूय कोष्ठिकामध्ये ऊर्ध्वपादा अधोमुखाः ।
ततः पतन्ति साक्रन्दं वज्रज्वलनभूतले ॥ १८ ॥

अर्थ—नरक कैसे हैं कि असिपत्र (तरवार) सरीखे है पत्र जिनके ऐसे वृक्षोंसे तथा शूल तलवार आदि शस्त्रोंसे व्याप्त है, अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त है, वसा (अपक्वमांस), रुधिर और कीटोंसे भरा हुआ कर्दम है जिनमें ऐसे है, तथा सियाल, श्वान, व्याघ्रादिकसे तथा मांसभक्षी पक्षियोंसे भरे हुए हैं तथा वज्रमय कांटोंसे और शूल शाल्मलि आदिसे दुर्गम है अर्थात् जिनमें गमन करना दुःखदायक है, ऐसे नरकोंमें बिलोंके संपुटमें उत्पन्न हो कर वे नारकी जीव ऊंचे पांव और नीचे मुख चिल्लाते हुए उन संपुटों (उत्पत्तिस्थानों) से वज्राग्निमय पृथ्विमें गिरते हैं ॥ १६-१७-१८ ॥

अयःकण्टककीर्णासु द्रुतलोहाग्निवीथिषु ।
छिन्नभिन्नविशीर्णाङ्गा उत्पतन्ति पतन्ति च ॥ १९ ॥

अर्थ—उस नरकभूमिमें वे नारकी जीव छिन्नभिन्न खंड २ हो कर बिखरे हुए अंगसे पड कर बारंबार उछल २ के गिरते है, सो कैसी भूमिमें गिरते है कि जहां पर लोहेके कांटे बिखरे हुए हैं और जिनमें लोहा गल जाता है ॥१९॥

दुःसहा निष्प्रतीकारा ये रोगाः सन्ति केचन ।
साकल्येनैव गात्रेषु नारकाणां भवन्ति ते ॥ २० ॥

अर्थ—जो रोग असह्य हैं और जिनका कोई उपाय (चिकित्सा) नहीं है ऐसे समस्त प्रकारके रोग नरकोंमें रहनेवाले नारकी जीवोंके शरीरमें रोमरोम प्रति होते हैं ॥२०॥

अदृष्टपूर्वमालोक्य तस्य रौद्रं भयास्पदम् ।
दिशः सर्वाः समीक्षन्ते वराकाः शरणार्थिनः ॥ २१ ॥

अर्थ—फिर वे नारकी जीव उस नरकभूमिको अपूर्व और रौद्र (भयानक)देख कर किसीकी शरण लेनेकी इच्छा से चारों तरफ देखते हैं; परन्तु कहीं कोई सुखका कारण नहीं दीखता और न कोई शरण ही प्रतीत होता है ॥ २१ ॥

न तत्र सुजनः कोऽपि न मित्रं न च बान्धवाः ।
सर्वे ते निर्दयाः पापाः क्रूरा भीमोग्रविग्रहाः ॥२२ ॥

अर्थ—उस नरक भूमिमें कोई सुजन वा मित्र वा बांधव नहीं है; सभी निर्दय, पापी, क्रूर और भयानक प्रचण्ड शरीरवाले हैं ॥ २२ ॥

सर्वे च हुण्डसंस्थानाः स्फुलिङ्गसदृशेक्षणाः ।
विवर्द्धिताशुभध्यानाः प्रचण्डाश्चण्डशासनाः ॥ २३ ॥

अर्थ—वे सभी नारकी जीव हुंडक संस्थानवाले हैं अर्थात् जिनके शरीरका प्रत्येक अंग अति भयानक बेडोल है, और अग्निके स्फुलिंगके समान जिनके नेत्र हैं, तथा प्रचण्ड, आर्त्त रौद्रध्यानको बढ़ाये हुए हैं. तथा क्रोधी हैं, और जिनका शासन भी प्रचण्ड है ॥२३॥

तत्राक्रन्दरवैः सार्द्धं श्रूयन्ते कर्कशाः स्वनाः ।
दृश्यन्ते गृध्रगोमायुसर्पशार्दूलमण्डलाः ॥२४ ॥

अर्थ—उस नरकभूमिमें चारों ओरसे पुकारनेके शब्द बड़े कर्कश सुने जाते हैं; तथा गृध्रपक्षी, सियाल, सर्प, सिंह, कुत्ते ये सब जीव बड़े भयानक दीखते हैं ॥ २४ ॥

घ्रायन्ते पूतयो गन्धाः स्पृश्यन्ते वज्रकण्टकाः ।
जलानि पूतिगन्धीनि नद्योऽसृग्मांसकर्दमाः ॥ २५ ॥

अर्थ—जिस नरकभूमिमें दुर्गंध सूंघनी पड़ती है और वज्रमय कांटोंसे छिदना पड़ता है और जल जहां दुर्गन्धमय है और रुधिरमांसका है कादा जिसमें ऐसी नदियाँ हैं ॥२५ ॥

चिन्तयन्ति तदालोक्य रौद्रमत्यन्तशङ्किताः ।
केयं भूमिः क्व चानीताः के वयं केन कर्मणा ॥२६ ॥

अर्थ—उस स्थानको रौद्र (भयानक) देख कर वे नारकी गण (जो नवीन उत्पन्न हुए हैं) अत्यन्त शंकित हो कर विचारते हैं कि यह भूमि कौनसी है और हम कौन हैं, कौनसे भयानक कर्मोंने हमे यहां ला कर पटका है ॥ २६ ॥

ततो विदुर्विभङ्गात्स्वं पतितं श्वभ्रसागरे ।
कर्मणाऽत्यन्तरौद्रेण हिंसाद्यारम्भजन्मना ॥ २७ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् विभङ्गावधि (कुअवधिज्ञान) से जानते हैं कि हिंसादिक आरंभोंसे उत्पन्न हुए अत्यन्त रौद्र (खोटे) कर्मसे हम नरकरूपि समुद्रमें पड़े हैं ॥ २७ ॥

ततः प्रादुर्भवत्युच्चैः पश्चात्तापोऽति दुःसहः ।
दहन्नविरतं चेतो वज्राग्निरिव निर्दयः ॥ २८ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् नारकी जीवोंके दुःसह पश्चात्ताप अतिशय करके प्रगट होता है; वह दुःसह पश्चात्ताप वज्राग्निके समान निर्दय हो चित्तको दहन करता हुआ प्रकट होता है ॥२८ ।

मनुष्यत्वं समासाद्य तदा कैश्चिन्महात्मभिः ।
अपवर्गाय संविग्नैः कर्म पूज्यमनुष्ठितम् ॥ २९ ॥

विषयाशामपाकृत्य विध्याप्य मदनानलम् ।
अप्रमत्तैस्तपश्चीर्णं धन्यैर्जन्मार्तिशान्तये ॥ ३० ॥

उपसर्गाग्निपातेऽपि धैर्यमालम्ब्य चोन्नतम् ।
तैः कृतं तदनुष्ठानं येन सिद्धं समीहितम् ॥ ३१ ॥

प्रमादमदमुत्सृज्य भावशुद्धया मनीषिभिः ।
केनाप्यचिन्त्यवृत्तेन स्वर्गो मोक्षश्च साधितः ॥ ३२ ॥

शिवाभ्युदयदं मार्गं दिशन्तोऽप्यतिवत्सलाः ।
मयावधीरिताः सन्तो निर्भर्त्स्य कटुकाक्षरैः ॥ ३३ ॥

अर्थ—कितनेक बडे पुरुषोंने मनुष्यत्व पा कर वैराग्य सहित हो मोक्षके लिये पूजनीय पवित्राचरण किया ॥ २९ ॥ और उन महाभाग्य मुनियोंने विषयोंकी आशाको दूर करके कामरूप अग्निको बुझा कर निष्प्रमादी हो संसारपीड़ाकी शान्तिके लिये तपका संचय किया ॥३०॥ तत्पश्चात् उन उत्तम पुरुषोंने उपसर्ग रूपि अग्निके आने पर बड़े धैर्यका आलंबन कर वह आचरण किया कि जिससे वांछित कार्य सिद्ध हुआ ॥३१॥ तथा उन बुद्धिमान् पुरुषोंने प्रमाद और मदको छोड़ कर भावकी शुद्धतासे किसी, अचिन्त्य आचरणसे स्वर्ग तथा मोक्ष साधा ॥३२ ॥ उन सत्पुरुषोंने वात्सल्य भावसे युक्त हो मुझे मोक्ष और स्वर्ग आदिके मार्गका उपदेश किया, परन्तु मैंने बड़े कटु अक्षरोंसे उनका तिरस्कार करके निंदा की उनका उपदेश अंगीकार नहीं किया, इत्यादि पश्चात्ताप करते हैं ॥३३ ॥

तस्मिन्नपि मनुष्यत्वे परलोकैकशुद्धिदे ।
मया तत्संचितं कर्म यज्जातं श्वभ्रशंबलम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—फिर भी नारकी पश्चात्ताप करता है की परलोककी अद्वितीय शुद्धता देनेवाले उन मनुष्यभव में भी मैंने वह कर्म संचय किया कि जिससे नरकका शंबल (पाथेय-राहखर्च) हुआ अर्थात् उस कर्मने सहजमें ही नरकमें ला पटका ॥ ३४ ॥

अविद्याक्रान्तचित्तेन विषयान्धीकृतात्मना ।
चरस्थिराङ्गिसंघातो निर्दोषोऽपि हतो मया ॥३५॥

अर्थ — फिर नारकी विचारता है कि अविद्यासे आक्रान्त है चित्त जिसका तथा विषयोंसे अन्धा हो कर मैंने निर्दोष त्रस स्थावरोंके समूहको मारा ॥३५॥

परवित्तामिषासक्तः परस्त्रीसंगलालसः ।
बहुव्यसनविध्वस्तो रौद्रध्यानपरायणः ॥३६॥
यत्स्थितः प्राक् चिरं कालं तस्यैतत्फलमागतम् ।
अनन्तयातनासारे दुरन्ते नरकार्णवे ॥३७॥

अर्थ— नारकी फिर पश्चात्ताप करता है कि मैं परके धनमें और मांसमें अथवा परके धनरूपी मांसमें आसक्त हो कर परस्त्रीसंग करनेमें लुब्ध हुआ तथा बहुत प्रकारके व्यसनोंसे पीड़ित हो कर रौद्रध्यानी हुआ ॥३६॥ पूर्वजन्ममें मैं इस प्रकार रहा, इस कारण उसका यह अनन्त पीड़ासे असार अपार नरकरूपी समुद्र फल आया है ॥३७॥

यन्मया वञ्चितो लोको वराको मूढमानसः ।
उपायैर्बहुभिः पापैः स्वाक्षसन्तर्पणार्थिना ॥३८॥
कृतः पराभवो येषां धनभूस्त्रीकृते मया ।
घातश्च तेऽत्र संप्राप्ताः कर्तुं तस्याद्य निष्क्रियाम् ॥३९॥

अर्थ—फिर विचारता है कि मैंने भोले रंक जनोंको अति अन्यायरूप उपायोंसे इन्द्रियोंको पोषनेके लिये ठगा ॥३८॥ तथा परका धन, परकी भूमि वा स्त्री लेनेके लिये जिनका अपमान किया तथा घात किया वे लोग यहां नरकभूमिमें उसका दंड देनेके लिये आ कर प्राप्त हुए हैं ॥३९॥

ये तदा शशकप्राया मया बलवता हताः ।
तेऽद्य जाता मृगेन्द्राभा मां हन्तुं विविधैर्वधैः ॥४०॥

अर्थ—उस मनुष्यभवमें जब मैं था तब तो वे शशक (खरगोश) समान थे और मैं बलवान् था सो मैंने मारा, किन्तु वे आज यहां पर सिंहके समान हो कर अनेक प्रकारके घातोंसे मुझे मारनेके लिये उद्यत हैं ॥४०॥

मानुष्येऽपि स्वतंत्रेण यत्कृतं नात्मनो हितम् ।
तदद्य किं करिष्यामि दैवपौरुषवर्जितः ॥४१॥

अर्थ— फिर विचारता है कि जब मनुष्यभवमें मैं स्वाधीन था, तब भी मैंने अपना हितसाधन नहीं किया तो अब यहां दैव और पौरुष दोनोंसे रहित हो कर क्या कर सकता हूं ? यहां कुछ भी हितसाधन नहीं हो सकता ॥४१॥

मदान्धेनापि पापेन निस्त्रिंशेनास्तबुद्धिना ।
चिराध्याराध्यसन्तानं कृतं कर्मातिनिन्दितम् ॥४२॥

अर्थ—फिर विचारता है कि मदसे अन्धे, पापी, निर्दय, नष्टबुद्धि मैंने आराधने योग्य जो भले मार्गमें प्रवर्त्तनेवाले उन पूज्य पुरुषोंके सन्तानको विराध कर निंदनीय कर्म किया ॥४२॥

यत्पुरग्रामविन्ध्येषु मया क्षिप्तो हुताशनः ।
जलस्थलबिलाकाशचारिणो जन्तवो हताः ॥४३॥
कृन्तन्ति मम मर्माणि स्मर्यमाणान्यनारतम् ।
प्राचीनान्यद्य कर्माणि क्रकचानीव निर्दयम् ॥४४॥

अर्थ—फिर विचारता है कि मैंने पूर्वभवमें पुर, ग्राम वनमें अग्नि डाल कर दव लगाई; और जलचर, थलचर, आकाशचर तथा बिलोंमें रहनेवाले असंख्य जीवोंको मारा, वे पूर्वके पापकर्म इस समय स्मरण आनेसे निरन्तर मेरे मर्मस्थानोंको दया रहित करोंतके समान भेदते हैं॥४३-४४॥

किं करोमि क गच्छामि कर्मजाते पुरःस्थिते ।
शरणं कं प्रपश्यामि वराको दैववञ्चितः ॥४५॥

अर्थ—फिर विचारता है कि ऐसे नरकोंके दुःखमें भी कर्मोंका समूह मेरे सामने है, उसके होते हुए मैं क्या करूं? कहां जाऊं? किसकी शरण देखूं? मैं रंक दैवसे ठगा हुआ हूं; मुझे कुछ भी सुखका उपाय नहीं दीखता ॥४५॥

यन्निमेषमपि स्मर्तुं द्रष्टुं श्रोतुं न शक्यते ।
तद्दुःखमत्र सोढव्यं वर्द्धमानं कथं मया ॥४६॥

अर्थ—फिर विचारता है कि नेत्रके टिमकार मात्र भी जिसके स्मरण करने वा सुननेकी समर्थता नहीं प्रतिक्षण बढ़ता हुआ वह दुःख मैं कैसे सहूंगा? ॥४६॥

एतान्यदृष्टपूर्वाणि बिलानि च कुलानि च ।
यातनाश्च महाघोरा नारकाणां मयेक्षिताः ॥४७॥

अर्थ—फिर विचारता है कि नरकोंके बिल तथा नारकियोंके कुल(समूह) तथा नारकियोंकी महा-तीव्र वेदनाका सहना आदि सब मैंने अदृष्टपूर्व देखा अर्थात् अन्यत्र नहीं देखा ऐसा यहीं पर देखा ॥४७॥

विषज्वलनसंकीर्णं वर्द्धमानं प्रतिक्षणम् ।
मम मूर्ध्नि विनिक्षिप्तं दुःखं दैवेन निर्दयम् ॥४८॥

अर्थ—फिर विचारता है कि विष तथा अग्निसे व्याप्त क्षण क्षणमें बढ़नेवाले ये सब दुःख दैव (कर्म) ने दया रहित हो कर मेरे ही माथे पर डाले हैं ॥४८॥

न दृश्यन्तेऽत्र ते भृत्या न पुत्रा न च बान्धवाः ।
येषां कृते मया कर्म कृतं स्वस्यैव घातकम् ॥४९॥
न कलत्राणि मित्राणि न पापप्रेरको जनः ।
पदमप्येकमायातो मया सार्द्धं गतत्रपः ॥५०॥

अर्थ—फिर ऐसा विचारता है कि जिनके लिये मैंने अपने घातक पापकर्म पूर्व जन्ममें किये इस समय न तो वे चाकर, न पुत्र, कलत्र, मित्र, व न पापमें प्रेरणा करनेवाले बांधव कोई देखनेमें आते है, वे ऐसे निर्लज्ज हो गये कि एक कदम भी मेरे साथ नहीं आये ॥ ४९–५० ॥

आश्रयन्ति यथा वृक्षं फलितं पक्षिणः पुरा ।
फलापाये पुनर्यान्ति तथा ते स्वजना गताः ॥५१॥

अर्थ–फिर ऐसा विचारता है कि जिस प्रकार पक्षी पहिले तो फले हुए वृक्षका आश्रय करते हैं, परन्तु जब फलोंका अभाव हो जाता है तब सब पक्षी उड़ जाते हैं, उसी प्रकार मेरे स्वजन गण जाते रहे, ये दुःख भोगनेको कोई साथ नहीं आया ॥ ५१ ॥

शुभाशुभानि कर्माणि यान्त्येव सह देहिभिः ।
स्वार्जितानीति यत्प्रोचुः सन्तस्तत्सत्यतां गतम् ॥५२॥

अर्थ–फिर क्या विचारता है कि जो सत्पुरुष कहते थे कि अपने उपार्जन किए हुए शुभ अशुभ कर्म हैं; वे ही जीवके साथ जाते हैं अन्य कोई साथ नहीं जाता सो वह आज सत्य प्रतीत हुआ ॥५२॥

धर्म एव समुद्धर्तुं शक्तोऽस्माच्छ्वभ्रसागरात् ।
न स स्वप्नेऽपि पापेन मया सम्यक्पुरार्जितः ॥५३॥

अर्थ–फिर विचारता हैं कि इस नरकरूपी समुद्रसे उद्धार करनेके लिये एक धर्म ही समर्थ है, परन्तु मुझ पापिष्ठने पहिले स्वप्नमें भी उसका उपार्जन नहीं किया ॥ ५३ ॥

सहायः कोऽपि कस्यापि नाभून्न च भविष्यति ।
मुक्त्वैकं प्राक्कृतं कर्म सर्वसत्वाभिनन्दकम् ॥५४॥

अर्थ–फिर विचारता है कि इस संसारमें कोई किसीका सहायक न है, न हुआ और न होगा, किन्तु समस्त जीवोंको आनंद करनेवाला अर्थात् जिसमें सबकी दया हो ऐसा शुभ कर्म ही सहायक होता है ॥ ५४ ॥

तत्कुर्वन्त्यधमाः कर्म जिह्वोपस्थादिदण्डिताः ।
येन श्वभ्रेषु पच्यन्ते कृतार्तकरुणस्वनाः ॥५५॥

अर्थ—फिर यह विचारता है कि जो अधम (पापी) पुरुष जिह्वा उपस्थेन्द्रियसे दण्डित होते हैं, वे ऐसा कर्म करते हैं कि जिस कर्मसे वे पापी पीडित हो कर नरकोंमें पचाये जाते है, रोते है वा शब्द करते हैं, जिसको सुननेसे अन्यको दया उपज आवें ॥ ५५ ॥

चक्षुरुन्मेषमात्रस्य सुखस्यार्थे कृतं मया ।
तत्पापं येन सम्पन्ना अनन्ता दुःखराशयः ॥५६॥

अर्थ–फिर विचारता है कि मैने नेत्रोंके टिमकारमात्र सुख के लिये ऐसा पाप किया कि जिससे अनन्त दुःखोंकी राशि प्राप्त हुई ॥ ५६ ॥

याति सार्द्धं ततः पाति करोति नियतं हितम् ।
हन्ति दुःखं सुखं दत्ते यः स बन्धुर्न पोषितः ॥५७॥

अर्थ-- फिर विचारता है कि यह धर्मरूप बन्धु (हितू) ऐसा है कि साथ जाता है, और जहां जाता है, वहीं रक्षा करता है, और यह मित्र नियमसे हित ही करता है, दुःखका नाश करके सुख देता है, ऐसे धर्मरूपी मित्रको मैंने पोषा ही नहीं और जिनको मित्र समझके पोषा उनमेंसे कोई एक भी साथ नहीं आया ॥ ५७ ॥

परिग्रहमहाग्राहसंग्रस्तेनार्तचेतसा ।
न दृष्टा यमशार्दूलचपेटा जीवनाशिनी ॥५८॥

अर्थ-फिर विचारता है कि परिग्रहरूपी महाग्राहसे पकडे हुए पीडित चित्त हो कर मैंने जीवको नाश करनेवाली यमरूपी शार्दूलकी चपेट नही देखी, अर्थात् परिग्रहमें आसक्त हो कर निरन्तर पाप ही करता रहा ॥ ५८ ॥

पातयित्वा महाघोरे मां श्वभ्रेऽचिन्त्यवेदने ।
क्व गतास्तेऽधुना पापा मद्वित्तफलभोगिनः ॥५९॥

अर्थ-फिर विचारता है कि जो कुटुंबादिक मेरे उपार्जन किए हुए धनके फल भोगनेवाले थे वे पापी मुझे अचिन्त्य वेदनामय इस घोर नरकमें डाल कर अब कहां चले गये? यहां दुःखमें कोई साथी न हुआ ॥ ५९ ॥

इत्यजस्रं सुदुःखार्त्ता विलापमुखराननाः ।
शोचन्ते पापकर्माणि वसन्ति नरकालये ॥६०॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त प्रकारसे नारकी जीव निरन्तर महादुःखसे पीडित हुए, मुखसे पुकारते हुए, विलाप करते हुए अपने पापकार्योंको स्मरण कर करके शोच करते हैं और नरकमंदिरमें बसते है ॥६०॥

इति चिन्तानलेनोच्चैर्दह्यमानस्य ते तदा ।
धावन्ति शरशूलासिकराः क्रोधाग्निदीपिताः ॥६१॥
वैरं पराभवं पापं स्मारयित्वा पुरातनम् ।
निर्भर्त्स्य कटुकालापैः पीडयन्त्यतिनिर्दयम् ॥६२॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त प्रकारकी चिन्तारूप अग्निसे अतिशय जलते हुए नारकीके ऊपर उसी समय अन्य पुराने नारकी बाण, शुल, तलवार लिये हुए क्रोधरूपी अग्निसे जलते हुए दौड़ते हैं और पूर्वके पाप तथा वैरको याद कराते हुए कटु वचनोंसे तिरस्कार करके उसे अतिनिर्दयतासे जिस प्रकार बनता है दुःख देते है ॥६१-६२ ॥

उत्पाटयन्ति नेत्राणि चूर्णयन्त्यस्थिसंचयम् ।
दारयन्त्युदरं क्रुद्धास्त्रोटयन्त्यन्त्रमालिकाम् ॥६३॥

अर्थ—वे पुराने नारकी उस विलाप करते हुए नये नारकीके नेत्रोंको उखाड़ते हैं, हड्डियोंको चूर्ण कर डालते हैं, उदरको फाड़ते हैं, और क्रोधी हो कर उसकी आंतोंको तोड़ डालते हैं ॥६३॥

निष्पीडयन्ति यन्त्रेषु दलन्ति विषमोपलैः ।
शाल्मलीषु निघर्षन्ति कुम्भीषु क्वाथयन्ति च ॥ ६४ ॥

अर्थ—तथा वे नारकी उसे घानीमें डालकर पीलते हैं और कठिन पाषाणोंसे दलते हैं, लोहेके कांटेवाले वृक्षोंसे घिसते (रगड़ते) हैं तथा कुंभियोंमें (कलशियोंमें) डालकर काढा करते (उबालते) हैं।

असह्यदुःखसन्तानदानदक्षाः कलिप्रियाः ।
तीक्ष्णदंष्ट्रा करालास्या भिन्नाञ्जनसमप्रभाः ॥ ६५ ॥
कृष्णलेश्योद्धताः पापा रौद्रध्यानैकभाविताः ।
भवन्ति क्षेत्रदोषेण सर्वे ते नारकाः खलाः ॥ ६६ ॥

अर्थ—तथा वे नारकी कैसे हैं कि असह्य दुःखोंकी निरन्तरता देनेमें चतुर हैं, कलह करना ही जिनको प्रिय है, तीक्ष्ण दाढोंसे भयानक मुखवाले हैं, विखरे हुए काजलके समान जिनके शरीरकी काली प्रभा है; तथा कृष्णलेश्या के कारण उद्धत है, पापरूप है और एक रौद्रध्यानके भावनेवाले हैं, एवं क्षेत्रके दोषसे वे सब ही नारकी दुष्ट होते हैं ॥ ६५–६६ ॥

वैक्रियिकशरीरत्वाद्विक्रियन्ते यदृच्छया ।
यन्त्राग्निश्वापदाद्यैस्ते हन्तुं चित्रैर्वधैः परान् ॥ ६७ ॥

अर्थ—उन नारकियोंका वैक्रियिक शरीर होनेके काण अपनी इच्छानुसार घाणी अग्नि हिंस्र जन्तु सिंहादिकका रूप बना कर अनेक प्रकारसे परस्पर मारनेके लिए विक्रिया करते हैं ॥ ६७ ॥

न तत्र बान्धवःस्वामी मित्रभृत्याङ्गनाङ्गजाः ।
अनन्तयातनासारे नरकेऽत्यन्तभीषणे ॥ ६८ ॥

अर्थ—उस अत्यन्त भयानक नरकमें न तो कोई बांधव है न कोई स्वामी है, न कोई मित्र है, न कोई भृत्य ही है, न पुत्र हैं, केवल अनन्त यातनाका भयानक वृष्टिपात ही है ॥ ६८ ॥

तत्र ताम्रमुखा गृध्रा लोहतुण्डाश्च वायसाः ।
दारयन्त्येव मर्माणि चञ्चुभिर्नखरैः खरैः ॥ ६९ ॥

अर्थ—उस नरकमें तामेकेसे हैं मुख-चोंच जिनके ऐसे तो गृध्रपक्षी है और लोहेकी चोंचवाले काक है; सो चोंचोंसे तथा तीक्ष्ण नखोंसे नारको जीवोंके मर्मोंको विदारते है ॥ ६९ ॥

कृमयः पूतिकुण्डेषु वज्रसूचीसमाननाः ।
भित्वा चर्मास्थिमांसानि पिबन्त्याकृष्य लोहितम् ॥ ७० ॥

अर्थ—तथा उस नरकमें पीबके कुंडोंमें वज्रकीसूई समान है मुख जिनके ऐसे कीड़े वा जोकें नारकी जीवोंके चमड़े और हाड़मांसको विदार कर रक्त (खून) को पीते है ॥ ७० ॥

बलाद्विदार्य संदंशैर्वदनं क्षिप्यते क्षणात् ।
विलीनं प्रज्वलत्ताम्रं यैः पीतं मद्यमुद्धतैः ॥ ७१ ॥

अर्थ—तथा जिन पापियोंने मनुष्यजन्ममें उद्धत हो कर मद्यपान किया है; उनके मुखको संडासीसे फाड २ कर तुरंतके पिघलाये हुए तामेको पिलाते है ॥ ७१ ॥

परमांसानि यैः पापैर्भक्षितान्यतिनिर्दयैः ।
शूलापक्वानि मांसानि तेषां खादन्ति नारकाः ॥ ७२ ॥

अर्थ—और जिन पापियोंने मनुष्यभवमें निर्दय हो कर अन्य जीवोंका मांस भक्षण किया है; उनके मांसके शूले पका २ कर नारकी जीव खाते है ॥ ७२ ॥

यैः प्राक्परकलत्राणि सेवितान्यात्मवञ्चकैः ।
योज्यन्ते प्रज्वलन्तीभिः स्त्रिभिस्ते ताम्रजन्मभिः ॥ ७३ ॥

अर्थ—तथा जिन आत्मवञ्चक पापी जनोंने पूर्वभवमें परस्त्री सेवन की है; उनको तामेकी अग्निसे लाल की हुई स्त्रियोंसे संगम कराया जाता है ॥ ७३ ॥

न सौख्यं चक्षुरुन्मेषमात्रमप्युपलभ्यते ।
नरके नारकैर्दीनैर्हन्यमानैः परस्परम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—नरकमें नारकी जीव परस्पर एक दूसरेको मारता है, सो वे दीन एक पलक मात्र भी सुखको नहीं पाते ॥ ७४ ॥

किमत्र बहुनोक्तेन जन्मकोटिशतैरपि ।
केनापि शक्यते वक्तुं न दुःखं नरकोद्भवम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते है कि बहुत कहां तक कहें ? क्योंकि उस नरकमें उत्पन्न हुए दुःखको कोटि जन्म लेकर भी कोई कहनेको समर्थ नहीं है; हम क्या कह सकते है ॥ ७५ ॥

विस्मृतं यदि केनापि कारणेन क्षणान्तरे ।
स्मारयन्ति तदाभ्येत्य पूर्ववैरं सुराधमाः ॥ ७६ ॥

अर्थ—यदि वे नारकी किसी कारणसे क्षणमात्रके लिये भूल जाते है तो उसी समय नीच असुर देव आकर उन्हें पूर्व वैर याद करा देते है, जिससे फिर वे परस्पर मार पीट करके अपनेको महादुःखी कर लेते है ॥ ७६ ॥

बुभुक्षा जायतेऽत्यर्थं नरके तत्र देहिनाम् ।
यां न शामयितुं शक्तः पुद्गलप्रचयोऽखिलः ॥ ७७ ॥

अर्थ—तथा उस नरकमें नारकी जीवोंको भूख ऐसी लगती है कि समस्त पुद्गलोंका समूह भी उसको शमन करनेमें असमर्थ है ॥ ७७ ॥

तृष्णा भवति या तेषु वाडवाग्निरिवोल्बणा ।
न सा शाम्यति निःशेषपीतैरप्यम्बुराशिभिः ॥ ७८ ॥

अर्थ—तथा नरकमें नारकी जीवोंके जो तृषा बड़वाग्निकी समान अति उत्कट (तीव्र) होती है सो समस्त समुद्रोंका जल पी लें तो भी नहीं मिटती ॥ ७८ ॥

बिन्दुमात्रं न तैर्वारि प्राप्यते पातुमातुरैः ।
तिलमात्रोऽपि नाहारो ग्रसितुं लभ्यते हि तैः ॥ ७९ ॥

अर्थ—यद्यपि नरकोंमें उपर्युक्त भूख प्यासकी तीव्रता है, परन्तु न तो किसी कालमें तिलमात्र किसीको भोजन मिलता है और न एक बिंदु पानी ही कहीं मिलता है, इस प्रकार आतुर हो कर निरंतर भूख प्यास सहते हैं ॥ ७९ ॥

तिलादप्यतिसूक्ष्माणि कृतखण्डानि निर्दयैः ।
वपुर्मिलति वेगेन पुनस्तेषां विधेर्वशात् ॥ ८० ॥

अर्थ – तथा उन नारकियोंके शरीर निर्दय नारकियोंके द्वारा तिलतिलमात्र खण्ड किये जाते हैं, परन्तु मृत्यु नहीं आती, तत्काल मिल कर शरीर बन जाता है, इनके ऐसा ही कर्मोदय है, जो मरण नहीं होता; सागरोंकी आयु पूर्ण होने पर हीं मरण होता है; अकाल मृत्यु कभी नहीं होती ॥८०॥

यातनारुक्शरीरायुर्लेश्यादुःखभयादिकम् ।
वर्द्धमानं विनिश्चेयमधोऽधः श्वभ्रभूमिषु ॥ ८१ ॥

अर्थ—उन नरककी भूमियोंमें पीड़ा, रोग, शरीर, आयु, लेश्या, दुःख, भय इत्यादि नीचे नीचे बढ़ता हुआ है; अर्थात् पहिले नरक (पृथ्वि) से दूसरे नरकमें अधिक हैं, दूसरेसे तीसरेमें और तीसरेसे चौथेमें और चौथेसे पांचवेंमें और पांचवेसे छठेमें और छठेसे सातवेंमें इस क्रमसे अधिक २ हैं; यह अधोलोकका वर्णन हुआ ॥ ८१ ॥

अब मध्यलोकका वर्णन हैं

मध्यभागस्ततो मध्ये तत्रास्ते झल्लरीनिभः ।
यत्र द्वीपसमुद्राणां व्यवस्था वलयाकृतिः । ८२ ॥

अर्थ—उस अधोलोकके ऊपर झालर (घंटा बजानेकी घड़वली) के समान गोलाकार मध्यलोकका मध्य भाग, है, उसमें गोल २ वलयों (कड़ों) के समान असंख्यात द्वीप समुद्र हैं ॥ ८२ ॥

जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणोदादयोऽर्णवाः ।
स्वयम्भूरमणान्तास्ते प्रत्येकं द्वीपसागराः ॥ ८३ ॥

अर्थ—इस मध्यलोकमें जम्बूद्वीपादिक तो द्वीप हैं और लवणसमुद्रादिक समुद्र हैं सो अन्तके स्वयंभूरमण पर्यन्त भिन्न २ हैं । भावार्थ–सबके बीच एक लाख योजन चौड़ा लंबा गोल जम्बूद्वीप है, और उसके चारों ओर दो लाख योजनके व्यासका खाईके समान लवणसमुद्र है, इसी प्रकार

समुद्रके चारों ओर द्वीप और द्वीपोंके चारों ओर समुद्र, इस प्रकार स्वयंभूरमण समुद्रपर्यन्त द्वीपसमुद्रोंकी स्थिति है ॥ ८३ ॥

द्विगुणा द्विगुणा भागाः प्रावर्त्यान्योन्यमास्थिताः ।
सर्वे ते शुभनामानो वलयाकारधारिणः ॥ ८४ ॥

अर्थ—तथा वे द्वीप और समुद्र दूने २ विस्तारवाले हैं तथा परस्पर एक दूसरेको लपेटे हुए हैं; गोलाकार कड़ेके आकार हैं और उनके नाम भी जम्बूद्वीप, धातकीद्वीप, पुष्करद्वीप लवणसमुद्र, कालोदधि आदि उत्तमोत्तम हैं ॥ ८४ ॥

मानुषोत्तरशैलेन्द्रमध्यस्थमतिसुन्दरम् ।
नरक्षेत्रं सरिच्छैलसुराचलविराजितम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—तथा मानुषोत्तर पर्वतके मध्यस्थ नदीपर्वत मेरुपर्वतसे अति सुन्दर मनुष्यक्षेत्र है। भावार्थ—सबसे बीचमें एक लाख योजन व्यासका जंबूद्वीप है; जम्बूद्वीपके चारों ओर दो लाख योजनका लवण-समुद्र है; लवणसमुद्रके चारों तरफ चार लाख योजन धातकीखंडद्वीप है, और धातकीखंडद्वीपके चारों ओर आठ लाख योजनका कालोदधि समुद्र है, और कालोदधि समुद्रके चारों तरफ १६ लाख योजन चौड़ा पुष्करद्वीप है; पुष्करद्वीपके उत्तरार्द्धमें अर्थात् अगले आधे भागमें ८ लाख योजन चौड़ा मानुषोत्तर नामका दीवारके समान पर्वत पड़ा हुआ है, इस कारण इस द्वीपको पुष्करार्द्ध द्वीप कहते हैं; इन अढाई द्वीपोंमें ही मनुष्य रहते हैं, अगले द्वीपोंमें मनुष्य नहीं हैं और न उससे आगे मनुष्य जा ही सकते हैं, इसी कारण उस पर्वतका नाम मानुषोत्तर पर्वत है ॥ ८५ ॥

तत्रार्यम्लेच्छखण्डानि भूरिभेदानि तेष्वमी ।
आर्या म्लेच्छा नराः सन्ति तत्क्षेत्रजनितैर्गुणैः ॥ ८६ ॥

अर्थ—उस मनुष्यक्षेत्रमें अर्थात् अढ़ाई द्वीपोंमें अनेक आर्यखंड और म्लेच्छखंड है, और आर्य-क्षेत्रोंमें आर्य पुरुष और म्लेच्छक्षेत्रोंमें म्लेच्छ रहते है, उन क्षेत्रोंके अनुसार ही उनके गुण आचारादिक हैं, अर्थात् आर्योंके उत्तम आचार, उत्तम गुण हैं, और म्लेच्छोंके निकृष्ट आचार और धर्मशून्यतादि निकृष्ट गुण है ॥ ८६ ॥

क्वचित्कुमानुषोपेतं क्वचिद्व्यन्तरसंभृतम् ।
क्वचिद्भोगधराकीर्णं नरक्षेत्रं निरन्तरम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—यह मनुष्यक्षेत्र निरंतर कहीं तो कुमानुष कुभोगभूमि सहित है, कहीं व्यन्तर देवोंसे भरा है, कहीं उत्तम भोगभूमि सहित है, इस प्रकार संक्षेपसे मध्यलोकका वर्णन किया ॥ ८७ ॥

आगे ऊर्ध्वलोकका वर्णन करते हैं—

ततो नभसि तिष्ठन्ति विमानानि दिवौकसाम् ।
चरस्थिरविकल्पानि ज्योतिष्काणां यथाक्रमम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—उस मध्यलोकके ऊपर आकाशमें ज्योतिषी देवोंके विमान रहते हैं; वे चर स्थिर भेदसे दो प्रकारके हैं अर्थात् कई विमान तो निरन्तर गमन करते रहते हैं और कई विमान स्थिर रहते हैं ॥८८॥

तदूर्ध्वे सन्ति देवेशकल्पाः सौधर्मपूर्वकाः।
ते षोडशाच्युतस्वर्गपर्यन्ता नभसि स्थिताः ॥८९॥

अर्थ—ज्योतिषी देवोंके विमानोंके ऊपर कल्पवासी देवोंके कल्प (विमान) हैं; जिनके सौधर्म स्वर्ग, ईशानस्वर्ग आदि नाम हैं; वे अच्युतस्वर्ग पर्यन्त सोलह है और आकाशमें स्थित हैं ॥८९॥

उपर्युपरि देवेशनिवासयुगलं क्रमात्।
अच्युतान्तं ततोऽप्यूर्ध्वमेकैकत्रिदशास्पदम् ॥९०॥

अर्थ—वे देवोंके निवास (स्वर्ग)आकाशमें दो स्वर्गके ऊपर दो स्वर्ग फिर उन दोके ऊपर फिर दो स्वर्ग, इस प्रकार दो दोके आठ युगल हैं और उनके ऊपर एक एक विमान करके नव ग्रैवेयक विमान हैं, तथा एक अनुदिश और एक अनुत्तर विमान भी है ॥९०॥

निशादिनविभागोऽयं न तत्र त्रिदशास्पदे।
रत्नालोकः स्फुरत्युच्चैः सततं नेत्रसौख्यदः ॥९१॥

अर्थ—उन देवोंके निवासोंमें रात्रिदिनका विभाग नहीं है; क्योंकि वहां पर सूर्यचन्द्रमा नहीं हैं, किन्तु नेत्रोंको सुख देने वाला रत्नोंका उत्तम प्रकाश निरन्तर स्फुरायमान रहता है ॥९१॥

वर्षातपतुषारादिसमयैः परिवर्जितः।
सुखदः सर्वदा सौम्यस्तत्र कालः प्रवर्त्तते ॥९२॥

अर्थ—उन स्वर्गोंमें वर्षा, शीत, आतप आदिक समय व ऋतुओंसे रहित सदाकाल सुख देनेवाला सौम्य मध्यस्थ काल (वसंतऋतु) रहता है ॥९२॥

उत्पातभयसन्तापभङ्गचौरारिविद्वराः।
न हि स्वप्नेऽपि दृश्यन्ते क्षुद्रसत्त्वाश्च दुर्जनाः ॥९३॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंमें उत्पात, भय, संताप, भंग, चैार शत्रु, वञ्चक तथा क्षुद्र जीव, दुर्जन ये स्वप्नमें भी नहीं दीखते ॥९३॥

चन्द्रकान्तशिलानद्धाः प्रवालदलदन्तुराः।
वज्रेन्द्रनीलनिर्माणा विचित्रास्तत्र भूमयः ॥९४॥

अर्थ—उन देवोंके निवासोंमें पृथ्वी चन्द्रकान्त मणियोंसे बंधी हुई है तथा मूंगेके पत्रकी समान रची हुई हैं; तथा कहीं २ हीरा इन्द्रनीलमणि आदि नाना प्रकारके रत्नोंसे बनी हुई है ॥९४॥

माणिक्यरोचिषां चक्रैः कर्बुरीकृतदिङ्मुखाः।
वाप्यः स्वर्णाम्बुजच्छन्ना रत्नसोपानराजिताः ॥९५॥

अर्थ—तथा स्वर्गोंमें वापिकायें माणिककी किरणोंके समूहोंसे दशों दिशाओंको अनेक वर्णमय कर रही है तथा सुवर्णमय कमलोंसे आच्छादित और रत्नमय सीढियोंसे सुशोभित हैं ॥९५॥

सरांस्यमलवारीणि हंसकारण्डमण्डलैः ।
वाचालैः रुद्धतीर्थानि दिव्यनारीजनेन च ॥९६॥

अर्थ—स्वर्गमें सरोवर भी अतिस्वच्छ निर्मल जलवाले हैं, हंस वा कारंड जातिके पक्षियोंके समूहसे तथा देवांगना वा अप्सराओंसे रुके हुए हैं तट जिनके ऐसे हैं ॥९७॥

गावः कामदुघाः सर्वाः कल्पवृक्षाश्च पादपाः ।
चिन्तारत्नानि रत्नानि स्वर्गलोके स्वभावतः ॥९७॥

अर्थ—तथा उस स्वर्गमें गो है वे तो कामधेनु हैं, वृक्ष हैं सो कल्पवृक्ष हैं और रत्न हैं सो चिन्तामणि रत्न हैं; ये सब क्षेत्रके स्वभावसे निरन्तर रहते हैं ॥९७॥

ध्वजचामरछत्राङ्कैर्विमानैर्वनितासखाः ।
संचरन्ति सुरासारैः सेव्यमानाः सुरेश्वराः ॥९८॥

अर्थ—उन स्वर्गोंके अधिपति इन्द्र ध्वजा, चमर, छत्रोंसे चिह्नित हुए विमानोंके द्वारा अनेक देवांगनाओं सहित यत्र तत्र विचरते हैं; उनकी अनेक देव सेवा करते हैं ॥९८॥

यक्षकिन्नरनारीभिर्मन्दारवनवीथिषु ।
कान्ताश्लिष्टाभिरानन्दं गीयन्ते त्रिदशेश्वराः ॥९९॥

अर्थ—तथा वहांके इन्द्र, मंदार वृक्षोंकी गलियोंमें यक्ष और किन्नर जातीय देवोंकी देवांगना अपने पति सहित आलिंगित आनंदसे भरी गाती हैं, उनके गीत सुनते हैं ॥ ९९ ॥

क्रीडागिरिनिकुञ्जेषु पुष्पशय्यागृहेषु वा ।
रमन्ते त्रीदशा यत्र वरस्त्रीवृन्दवेष्टिताः ॥१००॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंके देव क्रीडापर्वतोंकी कुंजोंमें, पुष्पलतादिकृत कंदराओंमें पुष्पोंकी शय्यामें सुन्दर देवांगनाओंके समूहके साथ वेष्टित हो कर नाना प्रकारकी आनन्दक्रीडा करते हैं ॥१००॥

मन्दारचम्पकाशोकमालतीरेणुरञ्जिताः ।
भ्रमन्ति यत्र गन्धाढ्या गन्धवाहाः शनैः शनैः ॥१०१॥

अर्थ—उन स्वर्गोंमें मंदार, चम्पक, अशोक, मालतीके पुष्पोंकी रजसे रंजित भ्रमरों सहित मन्दमन्द सुगन्ध पवन बहता है ॥१०१॥

लीलावनविहारैश्च पुष्पावचयकौतुकैः ।
जलक्रीडादिविज्ञानैर्विलासास्तत्र योषिताम् ॥१०२॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंमें देवांगनाओंके विलास, क्रीडावनके विहारोंसे तथा पुष्पोंके चुननेके कौतुकसे तथा जलक्रीडाके विज्ञानों (चतुराइयों) से बडी शोभा है ॥१०२॥

वीणामादाय रत्यन्ते कलं गायन्ति योषितः ।
ध्वनन्ति मुरजा धीरं दिवि देवाङ्गनाहताः ॥१०३॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंमें देवांगनायें संभोगके अन्तमें वीणा ले कर सुन्दर गान करती हैं तथा उनके बजाये हुए मृदंग धीरे २ बजते हैं ॥१०३॥

कोकिलाः कल्पवृक्षेषु चैत्यागारेषु योषितः
विबोधयन्ति देवेशांल्ललितैर्गीतनिःस्वनैः ॥१०४॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंमें कल्पवृक्षों पर तो कोकिलायें और चैत्य मन्दिरोंमें देवांगनायें सुन्दर गीत और शब्दोंसे इन्द्रोंको आनन्द प्रदान करती हैं ॥१०४॥

नित्योत्सवयुतं रम्यं सर्वाभ्युदयमन्दिरम् ।
सुखसंपद्गुणाधारं कैः स्वर्गमुपमीयते ॥१०५॥

अर्थ—प्रत्येक स्वर्ग नित्य ही उत्सवों सहित है, रमणीक है, समस्त अभ्युदयोंके भोगोंका निवास है तथा सुख संपद् और गुणोंका आधार है सो उसको किसकी उपमा दी जाय ? ॥१०५॥

पञ्चवर्णमहारत्ननिर्माणाः सप्त भूमिकाः ।
प्रासादाः पुष्करिण्यश्च चन्द्रशाला वनान्तरे ॥१०६॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंके बागोंमें पांच वर्णोंके रत्नोंसे बने हुए सात सात खण्डके महल हैं और वापिका तथा चन्द्रशाला (शिरोगृह—अंटे) हैं ॥१०६ ।

प्राकारपरिखावप्रगोपुरोत्तुङ्गतोरणैः ।
चैत्यद्रुमसुरागारैर्नगर्यो रत्नराजिताः ॥१०७॥

अर्थ—तथा उन स्वर्गोंमें जो नगरी है वे कोट, खाई, बडे दरवाजों और ऊंचे तोरणोंसे तथा चैत्य वृक्ष, और देवोंके मंदिर आदिकसे रत्नमयी शोभती है ॥१०७॥

इन्द्रायुधश्रियं धत्ते यत्र नित्यं नभस्तलम् ।
हर्म्याग्रलग्नमाणिक्यमयूखैः कर्बुरीकृतम् ॥१०८॥

अर्थ—तथा स्वर्गोंमें आकाश महलोंके अग्रभागमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंसे विचित्र वर्णका हो कर इन्द्रधनुषकी सी शोभाको नित्य धारण किये हुए रहता है ॥१०८॥

सप्तभिस्त्रिदशानीकैर्विमानैरङ्गनान्वितैः ।
कल्पद्रुमगिरीन्द्रेषु रमन्ते विबुधेश्वराः ॥१०९॥

अर्थ—स्वर्गोंके इन्द्र सात प्रकारकी देवसेनाओंसे तथा देवांगना सहित विमानोंके द्वारा कल्पवृक्षो तथा क्रीडावनोंमें रमते (आनन्द करते) हैं ॥१०९॥

हस्त्यश्वरथपादातवृषगन्धर्वनर्तकि ।
सप्तानीकानि सन्त्यस्य प्रत्येकं च महत्तरम् ॥११०॥

अर्थ—हस्ती, घोड़े, रथ, पयादे बैल, गन्धर्व, नर्तकी इस प्रकार सात प्रकारकी सेना इन्द्रकी होती है सो प्रत्येक एकसे एक बढकर है ॥११०॥

शृङ्गारसारसंपूर्णा लावण्यवनदीर्घिकाः ।
पीनस्तनभराक्रान्ताः पूर्णचन्द्रनिभाननाः ॥१११॥
विनीताः कामरूपिण्यो महर्द्धिमहिमान्विताः ।
हावभावविलासाढ्या नितम्बभरमन्थराः ॥११२॥
अन्ये शृंगारसर्वस्वमेकीकृत्य विनिर्मिताः ।
स्वर्गवासविलासिन्यः संति मूर्त्ता इव श्रियः ॥११३॥

अर्थ—उन स्वर्गोंमें विलासिनी देवांगनायें शृंगारका सार है जिनके ऐसी लावण्यरूपी जलकी वापिका ही है तथा पीन कुचोंके भार सहित हैं, जिनके मुख पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान है, विनीत है, चतुर है, महाऋद्धिकी शोभा सहित है, मुखके हावभाव चित्तविकार विलास, भ्रूविकार आदिसे भरी हुई हैं; नितम्बोंके भारसे धीरगतिवाली है; आचार्य महाराज उत्प्रेक्षा करते हैं कि वे देवांगनायें मानो शृंगारका सर्वस्व एकत्र करके ही बनाई गई हैं, जिससे मूर्तिमान् लक्ष्मीसमान ही शोभती है ॥१११-११२-११३॥

गीतवादित्रविद्यासु शृंगाररसभूमिषु ।
परिरम्भादि सर्वेषु स्त्रीणां दाक्ष्यं स्वभावतः ॥११४॥

अर्थ—स्वर्गोंमें शृंगाररसकी भूमि ऐसी गीत व बाजेकी विद्याओंमें तथा आलिंगनादि समस्त क्रियाओंमें स्त्रियोंकी स्वभावसे ही प्रवीणता होती है ॥११४॥

सर्वावयवसम्पूर्णा दिव्यलक्षणलक्षिताः ।
अनङ्गप्रतिमा धीराः प्रसन्नाः पांशुविग्रहाः ॥११५॥
हारकुण्डलकेयूरकिरीटाङ्गदभूषिताः ।
मन्दारमालतीगन्धा अणिमादिगुणान्विताः ॥११६
प्रसन्नामलपूर्णेन्दुकान्ताः कान्ताजनप्रियाः ।
शक्तित्रयगुणोपेताः सत्त्वशीलावलम्बिनः ॥११७॥
विज्ञानविनयोद्दामप्रीतिप्रसरसंभृताः ।
निसर्गसुभगाः सर्वे भवन्ति त्रिदिवौकसः ॥११८॥

अर्थ—उन स्वर्गोंमें देव कैसे हैं कि शरीरके समस्त अवयव जिनके सम्पूर्ण सुडौल हैं दिव्य-मनोहर लक्षणों सहित हैं, कामदेवके समान सुन्दर है, धीर (क्षोभ रहित) हैं, प्रसन्न वा विस्तीर्ण है शरीर जिनका ऐसे है ॥११५॥ तथा हार कुंडल केयूर (भुजबन्ध)किरीट (मुकुट)अंगद (कटक आदि) इन आभूषणोंसे भूषित हैं, मन्दार मालतीके पुष्पोंके समान जिनके अंगमें सुगन्धि है, अणिमा महिमादि अष्टऋद्धि सहित है, ॥११६॥ प्रसन्न निर्मल पूर्ण चन्द्रमा समान मनोहर हैं, और कान्ताजन

कहिये स्त्रियोंको अतिशय प्रिय लगनेवाले हैं, तीन शक्ति कहिये प्रभुत्व, मन्त्र, उत्साह इन गुणों सहित हैं, तथा सत्व पराक्रम और शील कहिये सुस्वभावके अवलम्बन करनेवाले हैं ॥११७॥ तथा विज्ञान, प्रवीणता और विनय वा उत्तम प्रीतिके प्रसर कहिये वेगसे भरे हैं। स्वर्गमें समस्त देव इसी प्रकार स्वभावसे सुन्दर होते है ११८॥

न तत्र दुःखितो दीनो वृद्धो रोगी गुणच्युतः।
विकलाङ्गो हतश्रीकः स्वर्गलोके विलोक्यते ॥११९॥

अर्थ—तथा उस स्वर्गमें कोई ऐसा नहीं देखा जाता जो दुःखी, दीन, वृद्ध, वा गुण रहित विकल-अंग अथवा कान्तिहीन हो ॥११९॥

सभ्यसामानिकामात्यलोकपालप्रकीर्णकाः।
मित्राद्यभिमतस्तेषां पार्श्ववर्ती परिग्रहः ॥१२०॥

अर्थ—स्वर्गोंमें सभाके देव, सामानिकदेव, अमात्यादिकदेव, लोकपालदेव, प्रकीर्णकदेव ये भेद हैं; तथा मित्र आदिक सब ही उन इन्द्रोंके पार्श्ववर्ती परिवार उनके अभिमत (इष्ट प्रीति करनेवाले) हैं ॥१२०॥

वन्दिगायनसैरन्ध्रीस्वाङ्गरक्षाः पदातयः।
नटवेश्याविलासिन्यः सुराणां सेवको जनः ॥१२१॥

अर्थ—तथा स्वर्गोंमें उन देवोंकी सेवा करने वाले देव है, बंदीजन हैं, गानेवाले हैं, अङ्गरक्षक है दंड धरनेवाले है तथा नाचनेवाली विलासिनी अप्सरायें हैं ॥१२१॥

तत्रातिभव्यताधारे विमाने कुन्दकोमले।
उपपादशिलागर्भे संभवन्ति स्वयं सुराः ॥१२२॥

अर्थ—स्वर्गोंमें अति मनोज्ञताका आधार ऐसे विमानमें कुन्दके पुष्प समान कोमल ऐसी उपपादि शिलाके मध्यसे देव स्वयमेव उत्पन्न होते हैं। भावार्थ—देवोंके उत्पन्न होनेको उपपादि शय्या है उस पर जन्म लेते हैं; जिस प्रकार कोई सोया हुआ आदमी उठता है। इसी प्रकार जिसका स्वर्गमें जन्म होता है, वह जीव पूर्णांग उस उपपाद शय्या पर उठता है ॥१२२

सर्वाक्षसुखदे रम्ये नित्योत्सवविराजिते।
गीतवादित्रलीलाढ्ये जयजीवस्वनाकुले ॥१२३॥
दिव्याकृतिसुसंस्थानाः सप्तधातुविवर्जिताः।
कायकान्तिपयःपूरैः प्रसादितदिगन्तराः ॥१२४॥
शिरीषसुकुमाराङ्गाः पुण्यलक्षणलक्षिताः।
अणिमादिगुणोपेता ज्ञानविज्ञानपारगाः १२५॥
मृगाङ्कमूर्तिसंकाशाः क्षान्तदोषाः शुभाशयाः।
अचिन्त्यमहिमोपेता भयक्लेशार्तिवर्जिताः ॥१२६॥

वर्द्धमानमहोत्साहा वज्रकाया महाबलाः

अचिन्त्यपुण्ययोगेन गृह्णन्ति वपुरूर्जितम् ॥१॥

" **अर्थ**—उस उपपाद शय्याका स्थान कैसा है कि समस्त इन्द्रियोंको सुख देने वाला है, रमणीक है, नित्य ही उत्सव सहित विराजिता है, गीत वादित्रादि लीलाओं सहित हैं, तथा "जयवन्त होओ" चिरंजीवी होओ" ऐसे शब्दोंसे व्याप्त है ॥१२३॥ ऐसे स्थान पर जो देव उत्पन्न होते हैं, वे कैसे हैं कि दिव्य सुन्दराकार है सस्थान जिनका और जिनका सप्तधातु रहित शरीर है, जो शरीरकी प्रभारूपी जलके प्रभावोंसे समस्त दिशाओंको प्रसन्न करने वाले हैं ॥१२४॥ जिनका शरीर शिरीषपुष्पके समान कोमल है, पवित्र लक्षणों सहित है, अणिमा महिमादि गुणोंसे युक्त है, अवधिज्ञानादि विज्ञान चतुरताओंके पारगामी है ॥१२५॥ तथा चन्द्रमाकी मूर्त्तिसमान है; जिनसे सब दोष शान्त हो गये है, जिनका चित्त शुभ है, अचिन्त्य महिमा सहित है, भय क्लेश पीडासे रहित है ॥१२६॥ जिनका उत्साह बढता ही रहता है वज्रके समान दृढ शरीर है, बडे पराक्रमी है, इस प्रकारके देव अचिन्त्य पुण्यके योगसे उस उपपाद स्थानमें शरीरको धारण करते हैं ॥१२७॥

सुखामृतमहाम्भोधेर्मध्यादिव विनिर्गताः ।

भवन्ति त्रिदशा सद्यः क्षणेन नवयौवनाः ॥१२८॥

अर्थ—उस उपपाद शय्यामें वे देव उत्पन्न होते है सो जिस प्रकार समुद्रमेंसे कोई मनुष्य निकलें, उसी प्रकार वे देव सुखरूपी महासमुद्रमेसे तत्काल नव यौवनरूप हो कर उत्पन्न होते है ॥१२८॥

किं च पुष्पफलाक्रान्तैःप्रवालदलदन्तुरैः ।

तेषां कोकिलवाचालैर्द्रुमैर्जन्म निगद्यते ॥१२९॥

अर्थ—फूल-फलोंसे भरपूर, कोमल पत्तोंसे अंकुरित और कोकिलाओंसे शब्दायमान वृक्षों करके उनके जन्मकी सूचना की जाती है ॥१२९॥

गीतवादित्रनिर्घोषैर्जयमङ्गलपाठकैः

विबोध्यन्ते शुभैः शब्दै सुखनिद्रात्यये यथा ॥१३०॥

अर्थ—तथा वे देव उस उपपाद शय्यामें ऐसे उत्पन्न होते है कि जैसे कोई राजकुमार सोता हो और वह गीत वादित्रोंके शब्दोंसे. 'जय जय' इत्यादि मंगलके पाठोंसे तथा उत्तमोत्तम शब्दोसे सुख निद्राका अभाव होने पर जगाया जाता है; उसी प्रकार देव भी उस उपपाद शिला (शय्या) में उठ कर सावधान होते हैं ॥१३०॥

किञ्चिद्भ्रममपाकृत्य वीक्षते स शनै शनैः ।

यावदाशा मुहु स्निग्धैस्तदा कर्णान्तलोचनै ॥१३१॥

अर्थ—तथा उस उपपाद शय्यामें सावधान हो कर कुछ भ्रमको दूर करके उस समय कर्णान्त पर्यन्त नेत्रोंको उघाड कर दृष्टि फेर फेरकर चारों ओर देखता है ॥१३१॥

तत्पश्चात् क्या करता है सो कहते हैं—

इन्द्रजालमथ स्वप्नः किं नु मायाभ्रमोनु किम् ।
दृश्यमानमिदं चित्रं मम नायाति निश्चयम् ॥१३२॥

अर्थ—फिर सावधान हो कर वह देव ऐसा विचारता है कि अहो ! यह क्या इन्द्रजाल है ! अथवा मुझे क्या स्वप्न आ रहा है ? अथवा यह मायामय कोई भ्रम है; यह तो बड़ा आश्चर्य देखनेमें आता है; निश्चय नहीं कि यह क्या है ? इस प्रकार सन्देहरूप होता है ॥१३२॥

इदं रम्यमिदं सेव्यमिदं श्लाघ्यमिदं हितम् ।
इदं प्रियमिदं भव्यमिदं चित्तप्रसत्तिदम् ॥१३३॥
एतत्कन्दलितानन्दमेतत्कल्याणमन्दिरम् ।
एतन्नित्योत्सवाकीर्णमेतदत्यन्तसुन्दरम् ॥१३४॥
सर्वर्द्धिमहिमोपेतं महर्द्धिकसुरार्चितम् ।
सप्तानीकान्वितं भाति त्रिदशेन्द्रसभाजिरम् ॥१३५॥

अर्थ—तत्पश्चात् वह देव विचार करता है कि यह वस्तु रमणीय है, यह सेवनीय है, यह सराहने योग्य है, यह हितरूप है, यह प्रिय है, यह सुन्दर है, यह चित्तको प्रसन्नता देनेवाली है ॥१३३॥ तथा यह आनन्दको उत्पन्न करनेवाला कल्याणका मंदिर निरन्तर उत्सवरूप तथा अत्यन्त सुन्दर है, इत्यादि विचार करता है ॥१३४॥ तथा यह स्थान समस्त ऋद्धि और महिमा सहित महाऋद्धिके धारक देवोंसे पूजनीय सात प्रकारकी सेना सहित देवेन्द्रके स्थानके समान दीखता है ॥१३५॥

फिर भी कुछ विशेष है —

मामेवोद्दिश्य सानन्दः प्रवृत्तः किमयं जनः ।
पुण्यमूर्त्तिः प्रियः श्लाघ्यो विनीतोऽत्यन्तवत्सलः ॥१३६॥
त्रैलोक्यनाथसंसेव्यः कोऽयं देशः सुखाकरः ।
अनन्तमहिमाधारो विश्वलोकाभिनन्दितः ॥१३७॥
इदं पुरमतिस्फीतं वनोपवनराजितम् ।
अभिभूय जगद्भूत्या वलातीव ध्वजांशुकैः ॥१३८॥

अर्थ—फिर वह देव विचारता है कि ये सामने जो लोग खड़े हैं वे मुझे ही देख कर आनन्द सहित प्रवृत्त हैं, ये पवित्र हैं, उज्ज्वल हैं मूर्ति जिनकी ऐसे हैं तथा ये सब बहुत प्रिय हैं, प्रशंसनीय हैं, विनीत हैं, चतुर हैं, अत्यन्त प्रीति युक्त हैं ।१३६॥ तथा फिर विचारता है कि यह सुखकी खानि तीन लोकके स्वामी द्वारा सेवने योग्य कौनसा देश है ? यह देश अनन्त महिमाका आधार है, सबको वांछनीय है ॥१३७॥ तथा यह नगर भी अति विस्तीर्ण है, वन उपवनोंसे शोभित है, संपदाके द्वारा

समस्त जगत को जीत कर ध्वजाओंके वस्त्रोंके हिलनेसे मानो दौड़ता हैं, नृत्य ही करता है, इत्यादि विचारता है ॥१३८॥

आकलय्य तदाकूतं सचिवा दिव्यचक्षुषः ।
नतिपूर्वं प्रवर्तन्ते वक्तुं कालोचितं तदा ॥१३९॥
प्रसादः क्रियतां देव नतानां स्वेच्छया दृशा ।
श्रूयतां च वचोऽस्माकं पौर्वापर्यप्रकाशकम् ॥१४०॥

अर्थ—तत्पश्चात् उसी समय वहांके मंत्री देव दिव्यनेत्रोंसे उस उत्पन्न हुए देवेन्द्रके अभिप्रायको समझ कर नमस्कार करके कहते हैं कि हे देव! हम सेवकों पर प्रसन्न हूजिये, निर्मल दृष्टिसे देखिये और हमारे पूर्वापर परिपाटीके प्रकाश करनेवाले वचनोंको सुनिये ॥१३९-१४०॥

अद्य नाथ वयं धन्याः सफलं चाद्य जीवितम् ।
अस्माकं यत्त्वया स्वर्गः संभवेन पवित्रितः ॥१४१॥
प्रसीद जय जीव त्वं देव पुण्यस्तवोद्भवः ।
भव प्रभुः समग्रस्य स्वर्गलोकस्य सम्प्रति ॥१४२॥
सौधर्मोऽयं महाकल्पः सर्वामरशतार्चितः ।
नित्याभिनवकल्याणवार्द्धिवर्द्धनचन्द्रमाः ॥१४३॥
कल्पः सौधर्मनामायमीशानप्रमुखाः सुराः ।
इहोत्पन्नस्य शक्रस्य कुर्वन्ति परमोत्सवम् ॥१४४॥
अत्र संकल्पिताः कामा नवं नित्यं च यौवनम् ।
अत्राविनश्वरा लक्ष्मीः सुखं चात्र निरन्तरम् ॥१४५॥
स्वविमानमिदं रम्यं कामगं कान्तदर्शनम् ।
पादाम्बुजनता चेयं तव त्रिदशमण्डली ॥१४६॥
एते दिव्याङ्गनाकीर्णाश्चन्द्रकान्ता मनोहराः ।
प्रासादा रत्नवाप्यश्च क्रीडानद्यश्च भूधराः ॥१४७॥
सभाभवनमेतत्ते नतामरशतार्चितम् ।
रत्नदीपकृतालोकं पुष्पप्रकरशोभितम् ॥१४८॥
विनीतवेषधारिण्यः कामरूपा वरस्त्रियः ।
तवादेशं प्रतीक्षन्ते लास्यलीलारसोत्सुकाः ॥१४९॥
आतपत्रमिदं पूज्यमिदं च हरिविष्टरम् ।
एतश्च चामरव्रातमेते विजयकेतवः ॥१५०॥

एता अग्रे महादेव्यो वरस्त्रीवृन्दवन्दिताः ।
तृणीकृतसुराधीशलावण्यैश्वर्यसम्पदः ॥१५१॥
भृंगारजलधेर्वेला-विलासोल्लासितभ्रुवः ।
लीलालंङ्कारसम्पूर्णास्तव नाथ समर्पिताः ॥१५२।
सर्वावयवनिर्माणश्रीरासां नोपमास्पदम् ।
यासां श्लाघ्यामलस्निग्धपुण्याणुप्रसवं वपुः ॥१५३॥
अयमैरावणो नाम देवदन्ती महामनाः ।
धत्ते गुणाष्टकैश्वर्याच्छ्रियं विश्वातिशायिनीम् ॥१५४॥
इदं मत्तगजानीकमितोऽश्वीयं मनोजवम् ।
एते स्वर्णरथास्तुङ्गा वल्गन्त्येते पदातयः ॥१५५॥
एतानि सप्त सैन्यानि पालितान्यमरेश्वरैः ।
नमन्ति ते पदद्वन्द्वं नतिविज्ञप्तिपूर्वकम् ॥१५६॥
समग्रं स्वर्गसाम्राज्यं दिव्यभूत्योपलक्षितम् ।
पुण्यैस्ते सम्मुखीभूतं गृहाण प्रणतामरम् ॥१५७॥
इति वादिनि सुस्निग्धे सचिवेऽत्यन्तवत्सले ।
अवधिज्ञानमासाद्य पौर्वापर्यं स बुद्धयति ॥१५८॥

अर्थ—यदि कोई मनुष्य सौधर्म स्वर्गमें इन्द्र उत्पन्न होता है तो उसका मन्त्री सबकी तरफसे इस प्रकार कहता है कि हे नाथ! आपने यहां उत्पन्न हो कर इस स्वर्गको पवित्र किया सो आज हम धन्य हुए, हमारा जीवन भी आज सफल हुआ ॥१४१॥ हे नाथ! आप प्रसन्न हूजिये, चिरंजीव रहिये, हे देव! आपका उत्पन्न होना पुण्यरूप है, पवित्र है, आप इस स्वर्गलोकके स्वामी हूजिये ॥१४२। यह सौधर्म नामा महास्वर्ग है, सैंकड़ों देवोंसे पूजित है; यह स्वर्ग सर्वदेवोंके कल्याणरूप समुद्रको बढ़ानेके लिये चन्द्रमाके समान है ॥१४३॥ यह सौधर्म नामा स्वर्ग ऐसा है कि इसमें जो इन्द्र उत्पन्न होता है, उसका ईशान इन्द्र आदि समस्त देव परमोत्सव करते हैं ॥१४४॥ इस स्वर्गमें वांछित पदार्थ भोगने योग्य हैं; यहां नित्य नया यौवन है, अविनश्वर लक्ष्मी है, निरन्तर सुख ही सुख है ॥१४५॥ तथा यह स्वर्गीय विमान जहां जाना चाहें वहीं जा सकता है, इसका दर्शन अति मनोहर है, यह देवोंकी मंडली (सभा) आपके चरणकमलोंमें नम्रीभूत है ॥१४६॥ ये मनोहर अप्सराओंसे भरे हुए चन्द्रकान्तके समान मनोहर आपके महल हैं, ये रत्नमयी वापिकायें हैं, ये क्रीडानदियां तथा पर्वत हैं ॥१४७॥ यह सभाभवन है सो नम्रीभूत देवोंके द्वारा सेवा करने योग्य है, पूजित है, यह रत्नमयी दीपकोंसे प्रकाशमान पुष्पसमूहोंसे शोभित है ॥१४८॥ और विनीत चतुर वेशकी धरनेवाली कामरूपिणी सुंदर स्त्रियां नृत्य संगीतादि रसमें उत्सुक हो कर आपके सामने नृत्य करनेके लिये आपकी

आज्ञाकी प्रतीक्षा कर रही हैं ॥१४९॥ तथा यह आपका छत्र है, यह आपका पूजनीय सिंहासन है, यह चमरोंका समूह है, ये विजयकी ध्वजायें हैं ॥१५०॥ और ये सब आपकी अग्रमहिषी अर्थात् पट्टदेवियां हैं, ये श्रेष्ठ देवांगनाओं द्वारा वंदने योग्य हैं तथा इन्द्रके ऐश्वर्यको तृणकी समान समझनेवाली है ॥१५१॥ तथा शृंगाररूपी समुद्रकी लहरोंके समान चंचल हैं; विलासके कारण जिनकी भौंहें प्रफुल्लित है और लीलारूपी अलङ्कारसे पूरित है; सो हे नाथ! ये आपके चरणोंमें समर्पित हैं ॥१५२॥ इन पट्टदेवियोंके शरीरकी शोभा अनुपम है; क्योंकि इनका शरीर योग्य निर्मल स्निग्ध पवित्र परमाणुओंके द्वारा बना हुआ है ॥१५३॥ हे नाथ! यह आपका महामनवाला ऐरावत नामा हस्ती है; यह अणिमा महिमादि आठ गुणोंके ऐश्वर्यसे समस्त प्रकारकी विक्रियारूप लक्ष्मीको धरनेवाला है ॥१५४॥ और यह आपकी मदोन्मत्त हस्तियोंकी सेना है, यह घोड़ोंकी सेना है, इसका वेग मनके समान है; यह सुवर्णमयी ऊँचे ऊँचे रथोंकी सेना है और ये पयादे हैं ॥१५५॥ तथा यह आपकी सात प्रकारकी सेना है, पूर्वके इन्द्रों द्वारा पालित है; यह आपके चरणकमलोंको प्रार्थना पूर्वक नमस्कार करती है ॥१५६॥ यह समस्त स्वर्गीय राज्य दिव्य सम्पदाओंसे शोभित है, सो आपके पुण्यके प्रतापसे आपके सन्मुख हुआ है नम्रीभूत हैं देव जिसमें ऐसा है, सो आप ग्रहण कीजिये ॥१५७॥ इस प्रकार अति स्नेहयुक्त अत्यन्त प्रीति पूर्वक कहता है, उसी समय इन्द्र अवधिज्ञानको प्राप्त हो कर पूर्व जन्मसंबंधी समस्त वृत्तान्त जान जाता है ॥१५८॥

> अहो तपः पुरा चीर्णं मयान्यजनदुश्चरम् ।
> वितीर्णं चाभयं दानं प्राणिनां जीवितार्थिनाम् ॥१५९॥
> आराधितं मनःशुद्ध्या दृग्बोधादिचतुष्टयम् ।
> देवश्च जगतां नाथः सर्वज्ञः परमेश्वरः ॥१६०॥
> निर्दग्धं विषयारण्यं स्मरवैरी निपातितः ।
> कषायतरवश्छिन्ना रागशत्रुर्नियन्त्रितः ॥१६१॥
> सर्वस्तस्य प्रभावोऽयमहं येनाद्य दुर्गतेः ।
> उद्धृत्य स्थापितं स्वर्गराज्ये त्रिदशवन्दिते ॥१६२॥

अर्थ—तत्पश्चात् वह इन्द्र अवधिज्ञानसे सब जान कर मन ही मनमें कहता है कि अहो! देखो, मैंने पूर्व भवमें अन्यसे आचरण करनेमें नहीं आवे ऐसे तपको धारण किया तथा अनेक जीवोंको मैंने अभयदान दिया ॥१५९॥ तथा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, इन चारों आराधनाओंसे त्रैलोक्यके नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर देवाधिदेवका आराधन किया था ॥१६०॥ तथा मैंने पूर्वभवमें इन्द्रियोंके विषयरूप वनको दग्ध किया था, कामरूप शत्रुका नाश किया था, कषायरूप वृक्षोंको काट दिया था और रागरूपी शत्रुको पीड़ित किया था ॥१६१॥ उसीका यह प्रभाव है; उक्त आचरणोंने ही इस समय मुझे दुर्गतिसे बचाकर इस देवोंके वंदनीय स्वर्गके राज्यमें स्थापित किया है ॥१६२॥

रागादिवहनज्वाला न प्रशाम्यन्ति देहिनाम् ।
सद्वृत्तवार्यसंसिक्ताः क्वचिज्जन्मशतैरपि ॥१६३॥
तन्नात्र सुलभं मन्ये तत्किं कुर्मोऽधुना वयम् ।
सुराणां स्वर्गलोकेऽस्मिन्दर्शनस्यैव योग्यता ॥१६४॥
अतस्तत्त्वार्थश्रद्धा मे श्रेयसी स्वार्थसिद्धये ।
अर्हद्देवपदद्वन्द्वे भक्तिश्चात्यन्तनिश्चला ॥१६५॥
यान्यत्र प्रतिबिम्बानि स्वर्गलोके जिनेशिनाम् ।
विमानचैत्यवृक्षेषु मेर्वाद्युपवनेषु च ॥१६६॥
तेषां पूर्वमहं कृत्वा स्वद्रव्यैः स्वर्गसंभवैः ।
पुष्पचन्दननैवेद्यैर्गन्धदीपाक्षतोत्करैः ॥१६७॥
गीतवादित्रनिर्घोषैः स्तुतिस्तोमैर्मनोहरैः ।
स्वर्गैश्वर्यं ग्रहीष्यामि ततस्त्रिदशवन्दितः ॥१६८
इति सर्वज्ञदेवस्य कृत्वा पूजामहोत्सवम् ।
स्वीकरोति ततो राज्यं पट्टबन्धादिलक्षणम् ॥१६९॥

अर्थ—तत्पश्चात् वह इन्द्र विचारता है कि जीवोंके रागादिकरूप अग्निकी ज्वाला सम्यक् चारित्ररूपी जलको सींचे विना सैकड़ों जन्म लेने पर भी नहीं बुझती ॥१६३॥ ऐसा सम्यक् चारित्र इस स्वर्गमें सुलभ नहीं है, इसलिये क्या करूं ! इस स्वर्गलोकमें तो सम्यग्दर्शनकी ही योग्यता है, चारित्रकी योग्यता नहीं है ॥१६४॥ इस कारण मेरे स्वार्थके लिये तत्त्वार्थश्रद्धान ही कल्याणकारी व श्रेष्ठ है, तथा अर्हन्त भगवान्के चरणयुगलमें अत्यन्त निश्चल भक्ति करना ही कल्याणकारी है ॥१६५॥ इसलिये यहां स्वर्गमें विमानों, चैत्य वृक्षों तथा मेरु आदिके उपवनोंमें जो जिनेन्द्र भगवान्के प्रतिबिम्ब हैं ॥१६६॥ उनका प्रथम ही इस स्वर्गके उत्पन्न हुए अपने द्रव्य पुष्प, चंदन, नैवेद्य, गन्ध, दीपक व अक्षतोंके समूहसे पूजन करके ॥१६७॥ तथा गीत नृत्य वादित्रोंके शब्दों सहित मनोहर स्तुतियां करके तत्पश्चात् इस देवोंसे वंदनीय स्वर्गके ऐश्वर्यको ग्रहण करना चाहिये ॥१६८॥ इस प्रकार विचार कर वह इन्द्र सर्वज्ञ देवकी पूजा करके महान् उत्सव पूर्वक पट्टबंधादिक है लक्षण जिसका ऐसे स्वर्गके राज्यको ग्रहण करता है ॥१६९॥

तस्मिन्मनोजवैर्यानैर्विचरन्तो यदृच्छया ।
वनाद्रिसागरान्तेषु दीव्यन्ते ते दिवौकसः ॥१७०॥

अर्थ—तत्पश्चात् वे स्वर्गके देव मनके समान वेगवाले विमानोंके द्वारा स्वच्छन्द विचरते हुए वन, पर्वत वा समुद्रोंके तीर पर क्रीडा करते रहते हैं ॥१७०॥

संकल्पानन्तरोत्पन्नैर्दिव्यभोगैः समन्वितम् ।
सेवमानाः सुरानीकैः श्रयन्ति स्वर्गिणः सुखम् ॥१७१॥

अर्थ—तथा संकल्प करते ही उत्पन्न होनेवाले नानाप्रकारके दिव्य मनोहर भोगोंको भोगते हुए देवोंकी सेना सहित वे स्वर्गके सुख भोगते रहते हैं ॥१७१॥

महाप्रभावसम्पन्ने महाभूत्योपलक्षिते ।
कालं गतं न जानन्ति निमग्नाः सौख्यसागरे ॥१७२॥

अर्थ—इस प्रकार महाप्रभाव सहित महाविभूति युक्त स्वर्गोंके सुखरूपी समुद्रमें निमग्न रहते हुए समयको नहीं जानते कि कितना बीत गया ॥१७२॥

क्वचिद्गीतैः क्वचिन्नृत्यैः क्वचिद्वाद्यैर्मनोरमैः ।
क्वचिद्विलासिनीव्रातक्रीडाशृङ्गारदर्शनैः १७३॥
दशाङ्गभोगजैः सौख्यैर्लभ्यमानाः क्वचित् क्वचित् ।
वसन्ति स्वर्गिणः स्वर्गे कल्पनातीतवैभवे ॥१७४॥

अर्थ—इस प्रकार कहीं तो मनके लुभानेवाले गीत तथा नृत्य वादित्रों सहित तथा कहीं विलासिनी अप्सराओंके समूहसे किये हुए क्रीडा शृंगार सहित ॥१७३॥ तथा कहीं पर दश प्रकारके भोगों (कल्प वृक्षों) से उत्पन्न हुए सुखों सहित कल्पनातीत विभववाले स्वर्गोंमें वे देव रहते हैं ॥१७४॥

अब दशांग भोगोंके नाम गिनाते हैं—

मद्यतूर्यगृहज्योतिर्भूषाभाजनविग्रहाः ।
स्रग्दीपवस्त्रपात्राङ्गा दशधा कल्पपादपाः ॥१७५॥

अर्थ—मद्य, वादित्र, गृह, ज्योति, भूषण, भोजन, माला, दीपक, वस्त्र, पात्र, इन दश प्रकारके भोगोंके देनेवाले दश प्रकारके कल्पवृक्ष स्वर्गोंमें होते हैं; इस कारण स्वर्गके देव दशांग भोग भोगते हैं ॥१७५॥

यत्सुखं नाकिनां स्वर्गे तद्वक्तुं केन पार्यते ।
स्वभावजमनातङ्कं सर्वाक्षप्रीणनक्षमम् ॥१७६॥

अर्थ—स्वर्गोंमें स्वर्गवासियोंको जो सुख है, उसका वर्णन करनेमें कोई समर्थ नहीं है; क्योंकि वह सुख बिना प्रयासके स्वयमेव उत्पन्न होता है, उस सुखमें आतंक(रोगादिक) नहीं है और समस्त इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें समर्थ है ॥१७६॥

अशेषविषयोद्भूतं दिव्यस्त्रीसंगसंभवम् ।
विनीतजनविज्ञानज्ञानाद्यैश्वर्यलाञ्छितम् ॥१७७॥

अर्थ—स्वर्गोंका सुख समस्त प्रकारके विषयोंसे उत्पन्न हुआ है तथा दिव्य स्त्रियोंके संगमसे उत्पन्न हुआ है तथा विज्ञान चतुराई ज्ञानादिक ऐश्वर्य सहित उत्पन्न हुआ है, उसका वर्णन कौन कर सकता है ! ॥१७७॥

सौधर्माद्यच्युतान्ता ये कल्पाः षोडशवर्णिताः।
कल्पातीतास्ततो ज्ञेया ग्रैवेया वैमानिकाः परे ॥ १७८ ॥
अहमिन्द्राभिधानास्ते प्रवीचारविवर्जिताः।
विवर्द्धितशुभध्याना: शुक्ललेश्यावलम्बिनः ॥ १७९ ॥

अर्थ—सौधर्म स्वर्गसे लगा कर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त सोलह स्वर्ग कल्प कहे जाते हैं; उनसे ऊपर जो नव ग्रैवेयकोंमें वैमानिक देव हैं, वे कल्पातीत कहाते हैं ॥१७८॥ वे देव अहमिन्द्र नामसे वर्णन किये जाते हैं अर्थात् उनका आचार्योंने अहमिन्द्र नाम कहा है, वे अहमिन्द्र काम रहित हैं, उनके स्त्रीका मैथुन वर्जित है, इसी कारण वहां देवांगनायें नहीं होतीं, उन देवोंका शुभ ध्यान उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ है और वे शुक्ल लेश्याके धरनेवाले हैं ॥ १७९ ॥

अनुत्तरविमानेषु श्रीजयन्तादिपञ्चसु।
संभूय स्वर्गिणश्च्युत्वा व्रजन्ति पदमव्ययम् ॥ १८० ॥

अर्थ–तत्पश्चात् उन नव ग्रैवेयक विमानोंसे ऊपर श्रीजयंतादिक पाँच अनुत्तर विमान हैं. उनमें जो देव उत्पन्न होते हैं, वे वहांसे गिर कर मनुष्य हो अवश्य ही मोक्षको पाते हैं ॥१८०॥

कल्पेषु च विमानेषु परतः परतोऽधिकाः।
शुभलेश्यायुर्विज्ञानप्रभावैः स्वर्गिणः स्वयम् ॥ १८१ ॥

अर्थ–तथा कल्पोंमें और कल्पातीत विमानोंमें शुभ लेश्या आयु विज्ञान प्रभावादिक करके देव स्वयं ही अगले अगले विमानोंमें अधिक अधिक बढते हुए हैं ॥ १८१ ॥

ततोऽग्रे शाश्वतं धाम जन्मजातङ्कविच्युतम्।
ज्ञानिनां यदधिष्ठानं क्षीणनिःशेषकर्मणाम् ॥ १८२ ॥

अर्थ—उन अनुत्तर विमानोंसे आगे अर्थात् उपर शाश्वत धाम (मोक्षस्थान वा सिद्धशिला) है सो संसारसे उत्पन्न हुए क्लेश दुःखादिसे रहित है और समस्त कर्मोंके नाश करनेवाले सिद्ध भगवानोंका आश्रयस्थान है ॥ १८२ ॥

चिदानन्दगुणोपेता निष्ठितार्था विबन्धनाः।
यत्र सन्ति स्वयं बुद्धाः सिद्धाः सिद्धेः स्वयंवराः ॥ १८३ ॥

अर्थ - उस मोक्षस्थानमें सिद्ध भगवान् विद्यमान है, वे चैतन्य और आनन्द कहिये गुणोंसे संयुक्त है, कृतकृत्य है, कर्मबन्धसे रहित है, स्वयंबुद्ध है, अर्थात् जिनके स्वाधीन अतीन्द्रिय ज्ञान है तथा सिद्धि (मुक्ति) को स्वयं वरनेवाले हैं ॥ १८३ ॥

समस्तोऽयमहो लोकः केवलज्ञानगोचरः।
तं व्यस्तं वा समस्तं वा स्वशक्त्या चिन्तयेद्यतिः ॥ १८४ ॥

विजय १ वैजयन्त २ जयन्त ३ अपराजित ४ और सर्वार्थसिद्ध ५ ये पांच विमान हैं।

अर्थ—अहो भव्य जीवो! यह समस्त लोक केवलज्ञानगोचर है तथापि इस संस्थानविचय नामा धर्म ध्यानमें मुनि सामान्यतासे सबको ही तथा व्यस्त कहिये कुछ भिन्न भिन्नको अपनी शक्तिके अनुसार चिन्तवन करें ॥ १८४ ॥

विलीनाशेषकर्माणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ॥ १८५ ॥

अर्थ—तथा इस लोकके संस्थानके चिन्तवनके पश्चात् अपने शरीरमें प्राप्त पुरुषाकार अपने आत्माको कर्म रहित स्फुरायमान अति निर्मल चिन्तवन (स्मरण) करें ॥ १८५ ॥

मालिनी

इति निगदितमुच्चैर्लोकसंस्थानमित्थं
नियतमनियतं वा ध्यायतः शुद्धबुद्धेः ।
भवति सततयोगाद्योगिनो निष्प्रमादं
नियतमनतिदूरं केवलज्ञानराज्यम् ॥ १८६ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि इस पूर्वोक्त प्रकारसे कहे हुए लोकके स्वरूप(संस्थान) को इस प्रकार नियत मर्यादा सहित वा अनियत मर्यादा रहित चिन्तवन करता हुआ जो निर्मल बुद्धि मुनि है उसको प्रमाद रहित ध्यान करनेसे नियमसे शीघ्र ही केवलज्ञान राज्यको प्राप्ति होती है।

भावार्थ—अप्रमत्त नामा सातवें गुणस्थानमें यह धर्मध्यान उत्कृष्ट होता है, उस गुणस्थानसे फिर क्षपक श्रेणीका प्रारंभ करने पर अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है ॥१८६॥

इस प्रकार संस्थानविचय नाम धर्मध्यानमें लोकसंस्थानका चिंतवन करना होता है, इस कारण लोकके संस्थानोंका संक्षेप वर्णन किया; यदि किसीको लोकका विशेष वर्णन देखना हो तो त्रिलोकसारादि ग्रंथोंको देखे।

छप्पय।

लोकरूप सर्वज्ञ कथित सत्यारथ जाने।
अधो मध्य अरु ऊर्ध्व भेद त्रय कहे सुमाने ॥
रचना है षट्द्रव्यतणी बहुभाव विचारो।
द्रिव्यदृष्टितैं नित्य अनित पर्यय लखि धारो ॥
इस ध्यान तूर्यमें ध्येय करि, ध्यावो जिय मन थिर रहै।
पुनि आतमको संस्थान हू, चितवो ज्यों चिर भ्रम दहै ॥ ३६ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे संस्थानविचयनामकध्यानवर्णनं नाम षट्त्रिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ३६ ॥

३७. अथ सप्तत्रिंशः सर्गः ।

पिण्डस्थ ध्यानका वर्णन ।

आगे इस संस्थानविचय नामा धर्म ध्यानमें पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इस प्रकार ध्यानके जो भेद कहे हैं, उनका वर्णन किया जाता है—

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
चतुर्धा ध्यानमाम्नातं भव्यराजीवभास्करैः ॥१॥

अर्थ—जो भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्यके समान योगीश्वर हैं, उन्होंने ध्यानको पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ऐसे चार प्रकारका कहा है ॥१॥

पिण्डस्थं पञ्च विज्ञेया धारणा वीरवर्णिताः ।
संयमी यास्वसंमूढो जन्मपाशान्निकृन्तति ॥ २ ॥

अर्थ—पिंडस्थ ध्यानमें श्रीवर्धमान स्वामीसे कही हुई जो पांच धारणायें हैं, उनमें संयमी मुनि ज्ञानी हो कर संसाररूपी पाशको काटता है ॥२॥

पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाथ वारुणी ।
तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥ ३ ॥

अर्थ—वे धारणायें पार्थिवी, आग्नेयी तथा श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती ऐसे यथाक्रमसे होती हैं ॥३॥

सो प्रथम ही पार्थिवी धारणाका स्वरूप कहते हैं—

तिर्यग्लोकसमं योगी स्मरति क्षीरसागरम् ।
निःशब्दं शान्तकल्लोलं हारनीहारसंनिभम् ॥ ४ ॥

अर्थ—प्रथम ही योगी मध्यलोकमें स्वयंभूरमण नामा समुद्रपर्यन्त जो तिर्यक् लोक है, उसके समान निःशब्द, कल्लोल रहित तथा हार और बरफके सदृश सफेद क्षीरसमुद्रका ध्यान (चिन्तवन) करे ॥४॥

तस्य मध्ये सुनिर्माणं सहस्रदलमम्बुजम् ।
स्मरत्यमितभादीप्तं द्रुतहेमसमप्रभम् ॥ ५ ॥

अर्थ—उस क्षीरसमुद्रके मध्यभागमें सुन्दर है निर्माण (रचना) जिसकी और अमित फैलती हुई दीप्तिसे शोभायमान, पिघलाये हुए सुवर्णकीसी प्रभावाले एक सहस्रदलके कमलका चिन्तवन (ध्यान) करे ॥५॥

अब्जरागसमुद्भूतकेसरालिविराजितम् ।
जम्बूद्वीपप्रमाणं च चित्तभ्रमररञ्जकम् ॥ ६ ॥

अर्थ—फिर इस कमलको कैसा ध्यावे कि कमलके रागसे उत्पन्न हुई केसरोंकी पंक्तिसे विराजमान (शोभायमान) तथा चित्तरूपी भ्रमरको रंजायमान करनेवाले जम्बूद्वीपके बराबर लाख योजनका चिन्तवन करे ॥६॥

स्वर्णाचलमयीं दिव्यां तत्र स्मरति कर्णिकाम् ।
स्फुरत्पिङ्गप्रभाजालपिञ्जरितदिगन्तराम् ॥ ७ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् उस कमलके मध्य सुवर्णाचल (मेरु) के समान, स्फुरायमान है पीतरंगकी प्रभाका-समूह जिसमें तथा उसके द्वारा पीतरंगकी कर दी हैं दशों दिशायें जिसने, ऐसी एक कर्णिकाका ध्यान करे ॥७॥

शरच्चन्द्रनिभं तस्यामुन्नतं हरिविष्टरम् ।
तत्रात्मानं सुखासीनं प्रशान्तमिति चिन्तयेत् ॥ ८ ॥

अर्थ—उस कमलकी कर्णिकामें शरद् ऋतुके चन्द्रमाके समान श्वेतवर्णका एक ऊँचा सिंहासन चिंतवन करे; उस सिंहासनमें अपने आत्माको सुखरूप, शान्त स्वरूप, क्षोभ रहित चिंतवन करे ॥८॥

रागद्वेषादिनिःशेषकलङ्कक्षपणक्षमम् ।
उद्युक्तं च भवोद्भूतकर्मसन्तानशातने ॥ ९ ॥

अर्थ—उस सिंहासन पर बैठे हुए अपने आत्माको ऐसा विचारे कि यह रागद्वेषादिक समस्त कलंकोंको क्षय करनेमें समर्थ है और संसारमें उत्पन्न हुए जो जो कर्म हैं, उनके सन्तानको नाश करनेमें उद्यमी है ॥९॥

इस प्रकार यह पार्थिवी धारणाका स्वरूप जानना । अब आग्नेयी धारणाका वर्णन करते हैं—

ततोऽसौ निश्चलाभ्यासात्कमलं नाभिमण्डले ।
स्मरत्यतिमनोहारि षोडशोन्नतपत्रकम् ॥ १० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् योगी(ध्यानी) निश्चल अभ्याससे अपने नाभिमंडलमें १६ सोलह ऊंचे २पत्रोंकि एक मनोहर कमलका ध्यान (चिंतवन) करे ॥१०॥

प्रतिपत्रसमासीनस्वरमालाविराजितम् ।
कर्णिकायां महामन्त्रं विस्फुरन्तं विचिन्तयेत् ॥ ११ ॥

अर्थ— तत्पश्चात् उस कमलकी कर्णिकामें महामन्त्रका (जो आगे कहा जाता है उसका) चिंतवन करे और उस कमलके सोलह पत्रों पर 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः' इन १६ अक्षरोंका ध्यान करे ॥११॥

उस महामन्त्रका स्वरूप कहते हैं—

रेफरुद्धं कलाबिन्दुलाञ्छितं शून्यमक्षरम् ।
लसदिन्दुच्छटाकोटिकान्तिव्याप्तहरिन्मुखम् ॥ १२ ॥

अर्थ—रेफसे रुद्ध कहिये आवृत और कला तथा बिन्दुसे चिह्नित और शून्य कहिये हकार ऐसा अक्षर लसत् कहिये देदीप्यमान होते हुए इंदुकी छटाकोटिकी कान्तिसे व्याप्त किया है दिशाका मुख जिसने ऐसा महामंत्र "र्हँ" उस कमलकी कर्णिकामें स्थापन कर, चिन्तवन करे ॥१२॥

फिर कैसा चिन्तवन करे सो कहते हैं—

तस्य रेफाद्विनिर्यान्तीं शनैर्धूमशिखां स्मरेत् ।
स्फुलिङ्गसंततिं पश्चाज्ज्वालाकलीं तदनन्तरम् ॥१३॥
तेन ज्वालाकलापेन वर्द्धमानेन सन्ततम् ।
दहत्यविरतं धीरः पुण्डरीकं हृदि स्थितम् ॥१४॥

अर्थ—तत्पश्चात् उस महामन्त्रके रेफसे मंद मंद निकलती हुई धूम (धूआं) की शिखाका चिन्तवन करे तत्पश्चात् उसमेंसे अनुक्रमसे प्रवाहरूप निकलते हुए स्फुलिंगोंकी पंक्तिका चिन्तवन करे और तत्पश्चात् उसमेंसे निकलती हुई ज्वालाकी लपटोंको विचारे ॥१३॥ तत्पश्चात् योगी मुनि क्रमसे बढ़ते हुए उस ज्वालाके समूहसे अपने हृदयस्थ कमलको निरन्तर जलाता हुआ चिन्तवन करे ॥१४॥

उस हृदयस्थ कमलका विशेष स्वरूप कहते हैं—

तदष्टकर्मनिर्माणमष्टपत्रमधोमुखम् ।
दहत्येव महामन्त्रध्यानोत्थप्रबलोऽनलः ॥१५॥

अर्थ—वह हृदयस्थ कमल अधोमुख आठ पत्रका (पांखुडीवाला) है; उन आठ पत्रों (दलों) पर आठ कर्म स्थित हों; ऐसे कमलको नाभिस्थ कमलकी कर्णिकामें स्थित "र्हं" महामन्त्रके ध्यानसे उठी हुई प्रबल अग्नि निरन्तर दहती है; इस प्रकार चिन्तवन करे, तब अष्टकर्म जल जाते है, यह चैतन्य परिणामोंकी सामर्थ्य है ॥१५॥

ततो बहिः शरीरस्य त्रिकोणं वह्निमण्डलम् ।
स्मरेज्ज्वालाकलापेन ज्वलन्तमिव वाडवम् ॥१६॥
वह्निबीजसमाक्रान्तं पर्यन्ते स्वस्तिकाङ्कितम् ।
ऊर्ध्ववायुपुरोद्भूतं निर्धूमं काञ्चनप्रभम् ॥१७॥
अन्तर्दहति मन्त्रार्चिर्बहिर्वह्निपुरं पुरम् ।
धगद्धगितिविस्फूर्जज्ज्वालाप्रचयभासुरम् ॥१८॥
भस्मभावमसौ नीत्वा शरीरं तच्च पङ्कजम् ।
दाह्याभावात्स्वयं शान्तिं याति वह्निः शनैः शनैः ॥१९॥

अर्थ—उस कमलके दग्ध हुए पश्चात् शरीरके बाह्य त्रिकोण वह्नि (अग्नि) का चिन्तवन करे, सो ज्वालाके समूहोंसे जलते हुए बडवानलके समान ध्यान करे । १६॥ तथा अग्नि बीजाक्षर 'र' से व्याप्त और अन्तमें साथियाके चिह्नसे चिह्नित हो, ऊर्ध्व वायुमंडलसे उत्पन्न धूम रहित कांचनकी-सी प्रभावाला चिंतवन करे ॥१७॥ इस प्रकार यह धगधगायमान फैलती हुई लाटोंके समूहसे देदीप्यमान बाहरका अग्निपुर (अग्निमण्डल) अंतरंगकी मंत्राग्नि दग्ध करता है ॥१८॥ तत्पश्चात् वह अग्निमण्डल

उस नाभिस्थ कमल और शरीरको भस्मीभूत करके दाह्य (जलाने योग्य पदार्थ) का अभाव होनेसे धीरे धीरे अपने आप यह अग्नि शान्त हो जाती है ॥१९॥

इस प्रकार यह आग्नेयी धारणा कही। आगे मारुती नामा धारणाका स्वरूप कहते हैं—

विमानपथमापूर्य संचरन्तं समीरणम्।
स्मरत्यविरतं योगी महावेगं महाबलम् ॥२०॥

अर्थ—योगी (ध्यान करनेवाला मुनि) आकाशमें पूर्ण हो कर विचरते हुए महावेगवाले और महाबलवान् ऐसे वायुमण्डलका चिन्तवन करें ॥२०॥

चालयन्तं सुरानीकं ध्वनन्तं त्रिदशाचलम्।
दारयन्तं घनव्रातं क्षोभयन्तं महार्णवम् ॥२१॥
व्रजन्तं भुवनाभोगे संचरन्तं हरिन्मुखे।
विसर्पन्तं जगन्नीडे निविशन्तं धरातले ॥२२॥
उद्धूय तद्रजः शीघ्रं तेन प्रबलवायुना।
ततः स्थिरीकृताभ्यासः समीरं शांतिमानयेत् ॥२३॥

अर्थ—तत्पश्चात् उस पवनको ऐसा चिन्तवन करे कि देवोंकी सेनाको चलायमान करता है, मेरु पर्वतको कँपाता हैं' मेघोंके समूह बखेरता हुआ, समुद्रको क्षोभरूप करता हुआ ॥२१॥ तथा लोकके मध्य गमन करता हुआ, दशों दिशाओंमें संचरता हुआ जगतरूप घरमें फैला हुआ, पृथ्वीतलमें प्रवेश करता हुआ चिंतवन करे ॥२२॥ तत्पश्चात् ध्यानी (मुनि) ऐसा चिंतवन करे कि वह जो शरीरादिककी भस्म है, उसको इस प्रबल वायुमंडलने तत्काल उड़ा दिया, तत्पश्चात् इस वायुको स्थिररूप चिन्तवन करके शान्तरूप करे ॥२३॥

इस प्रकार यह मारुती धारणा कही। अब वारुणी धारणाका वर्णन करते हैं—

वारुण्या स हि पुण्यात्मा घनजालचितं नभः।
इन्द्रायुधतडिद्गर्जच्चमत्काराकुलं स्मरेत् ॥२४॥

अर्थ—वही पुण्यात्मा (ध्यानी मुनि) इन्द्र धनुष, बिजुली, गर्जनादि चमत्कार सहित मेघोंके समूहसे भरे हुए आकाशका ध्यान (चिन्तवन) करे ॥२४॥

सुधाम्बुप्रभवैः सान्द्रैर्बिन्दुभिर्मौक्तिकोज्ज्वलैः।
वर्षन्तं तं स्मरेद्धीरः स्थूलस्थूलैर्निरन्तरम् ॥२५॥

अर्थ—तथा उन मेघोंको अमृतसे उत्पन्न हुए मोती समान उज्ज्वल बड़े २ बिंदुओंसे निरन्तर धारारूप वर्षते हुए आकाशको धीर, वीर मुनि स्मरण करे अर्थात् ध्यान करे ॥२५॥

---

१ "घनव्रात" इत्यपि पाठः।

तातोऽर्द्धेन्दुसमं कान्तं पुरं वरुणलाञ्छितम् ।
ध्यायेत्सुधापयःपूरैः प्लावयन्तं नभस्तलम् ॥२६॥

अर्थ—तत्पश्चात् अर्द्धचन्द्राकार, मनोहर, अमृतमय जलके प्रवाहसे आकाशको बहाते हुए वरुणपुर(वरुणमंडल) का चिन्तवन करे ॥२६॥

तेनाचिन्त्यप्रभावेण दिव्यध्यानोत्थिताम्बुना ।
प्रक्षालयति निःशेषं तद्रजः कायसंभवम् ॥२७॥

अर्थ—अचिन्त्य है प्रभाव जिसका ऐसे दिव्य ध्यानसे उत्पन्न हुए जलसे शरीरके जलनेसे उत्पन्न हुए समस्त भस्मको प्रक्षालन करता है अर्थात् धोता है, ऐसा चिन्तवन करें ॥२७॥

इस प्रकार वारुणी धारणा है। अब तत्त्वरूपवती धारणाको कहते हैं—

सप्तधातुविनिर्मुक्तं पूर्णचन्द्रामलत्विषम् ।
सर्वज्ञकल्पमात्मानं ततः स्मरति संयमी ॥२८॥

अर्थ—तत्पश्चात् संयमी मुनि सप्त धातु रहित, पूर्णचन्द्रमाके समान है निर्मल प्रभा जिसकी ऐसे सर्वज्ञसमान अपने आत्माका ध्यान करे ॥२८॥

मृगेन्द्रविष्टरारूढं दिव्यातिशयसंयुतम् ।
कल्याणमहिमोपेतं देवदैत्योरगार्चितम् ॥२९॥
विलीनाशेषकर्माणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ॥३०॥

अर्थ—तत्पश्चात् अपने आत्माके अतिशय युक्त, सिंहासन पर आरूढ कल्याणकी महिमा सहित देव दानव धरणेन्द्रादिसे पूजित हैं, ऐसा चिन्तवन करे ॥२९॥ तत्पश्चात् विलय हो गये हैं आठ कर्म जिसके ऐसा स्फुरायमान(प्रगट) अति निर्मल पुरुषाकार अपने शरीरमें प्राप्त हुए अपने आत्माका चिन्तवन करे। इस प्रकार तत्त्वरूपवती धारणा कही गई ॥३०॥

आर्या

इत्यविरतं स योगी पिण्डस्थे जातनिश्चलाभ्यासः ।
शिवसुखमनन्यसाध्यं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥३१॥

अर्थ—इस प्रकार पिंडस्थ ध्यानमें जिसका निश्चल अभ्यास हो गया है वह ध्यानी मुनि अन्य प्रकारसे साधनेमें न आवे ऐसे मोक्षके सुखको शीघ्र(अल्प समयमें)ही प्राप्त होता है ॥३१॥

स्रग्धरा

इत्थं यद्यानवद्यं स्मरति नवसुधासान्द्रचन्द्रांशुगौरं
श्रीमत्सर्वज्ञकल्पं कनकगिरितटे वीतविश्वप्रपञ्चम् ।

---

१ "सुधधीः" इत्यपि पाठः ।

आत्मानं विश्वरूपं त्रिदशगुरुगणैरप्यचिन्त्यप्रभावं
तत्पिण्डस्थं प्रणीतं जिनसमयमहाम्भोधिपारं प्रयातैः ॥३२॥

अर्थ—उक्त प्रकारसे जिस पिंडस्थ ध्यानमें निर्दोष, नये अमृतसे भीगी हुई चन्द्रमाकी किरण सदृश—गोरे वर्ण, श्रीमत्सर्वज्ञ भगवान् समान तथा मेरु गिरिके तट वा शिखर पर बैठा, नाशे हैं समस्त प्रपंच जिसके ऐसे तथा विश्वरूप–समस्त ज्ञेय पदार्थों के आकार जिसमें प्रतिबिम्बित हो रहे हैं ऐसे देवेंद्रोंके समूहसे भी जिसका अधिक प्रभाव हो ऐसे आत्माका जो चिन्तवन किया जाय, उस को जिनसिद्धान्तरूपी महासमुद्रके पार पहुँचनेवाले मुनिश्वरोंने पिंडस्थ ध्यान कहा है ॥३२॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

विद्यामण्डलमन्त्रयन्त्रकुहककूराभिचाराः क्रियाः
सिंहाशीविषदैत्यदन्तिशरभा यान्त्येव निःसारताम् ।
शाकिन्यो ग्रहराक्षसप्रभृतयो मुञ्चन्त्यसद्वासनां
एतद्ध्यानधनस्य सन्निधिवशाद्भानोर्यथा कौशिकाः ॥३३॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्यके उदय होने पर उल्लू (घूघू) भाग जाते हैं उसी प्रकार इस पिंडस्थ ध्यानरूपी धनके समीप होनेसे विद्या, मंडल, मंत्र, यन्त्र, इन्द्रजालके आश्चर्य (प्रसिद्ध कपट) क्रूर अभिचार (मरणादि) स्वरूप क्रिया तथा सिंह आशीविष (सर्प दैत्य हस्ती अष्टापद ये सब ही निःसारताको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् किसी प्रकारका भी उपद्रव नहीं करते तथा शाकिनी ग्रह राक्षस वगैरह भी खोटी वासनाको छोड़ देते हैं। भावार्थ—पिंडस्थ ध्यानके प्राप्त होनेवाले मुनिके निकट कोई दुष्ट जीव किसी प्रकारका भी उपद्रव नहीं कर सकते, समस्त विघ्न दूरसे नष्ट हो जाते हैं ॥३३॥

इस प्रकार पिंडस्थ ध्यानका वर्णन किया। यहां कोई ऐसा कहे कि ध्यान तो ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माका ही करना है। इतनी पृथ्वि, अग्नि, पवन, जलादिककी कल्पना किस लिये करनी? उसको कहा जाता है कि—

यह शरीर पृथ्वि आदि धातुमय है और सूक्ष्म पुद्गल कर्मके द्वारा उत्पन्न हुआ है; उसका आत्माके साथ संबंध है; इनके संबंधसे आत्मा द्रव्य भावरूप कलंकसे अनादि कालसे मलिन हो रहा है; इस कारण इस जीवके विना विचारे अनेक विकल्प उत्पन्न होते हैं। उन विकल्पोंके निमित्तसे परिणाम निश्चल नहीं होते। उनको निश्चल करनेके लिये स्वाधीन चिंतवनोंसे चित्तको वश करना चाहिये। सो ध्यानमें किसीका आलम्बन किये विना चित्त निश्चल नहीं होता, इस कारण उसको आलम्बन करनेके लिये पिंडस्थ ध्यानमें पृथ्वि आदि पांच प्रकारको धारणाकी कल्पना स्थापन की गई है।[1] सो, प्रथम तो पृथ्वि संबंधी धारणासे मनको थांमे, तत्पश्चात् अग्निकी धारणासे कर्म और शरीरको दग्ध करनेको कल्पना करके मनको रोकें, तत्पश्चात् पवनको धारणाकी कल्पना करके शरीर तथा कर्मकी भस्मको उड़ा कर मनको थांमें, तत्पश्चात् जलकी धारणासे उसमेंसे बची बचाई रजको धो देनेरूप

१ "निर्विकल्पं इत्यपि पाठः।

ध्यानसे मनको थांभे, तत्पश्चात् आत्मा, शरीर और कर्मोंसे रहित शुद्ध ज्ञानानंदमय कल्पना करके, उसमें मनका स्तंभन करे। इस प्रकार मनको थांभने रूप अभ्यासके करनेसे ध्यानका दृढ अभ्यास हो जाता है, तब आत्मा शुक्लध्यानमें ठहरता है, उस समय घातिकर्मोंका नाश करके केवलज्ञानकी प्राप्ति हो कर मोक्ष हो जाती है। अन्य अन्यमती भी इसी प्रकार पार्थिवी आदि धारणा करने को कहते हैं, परन्तु उनके आत्मतत्त्वका यथार्थ निरूपण नहीं होनेके कारण उनके यहां सत्यार्थ धारणा नहीं होती है। कुछ लौकिक चमत्कार सिद्ध हो तो हो जाओ, परन्तु मोक्षकी प्राप्ती तो यथार्थ तत्त्वके श्रद्धान ज्ञान आचरण बिना होती ही नहीं। इस कारण इसमें सन्देह नहीं करना।

चौपाई १५ मात्रा

या पिण्डस्थ ध्यानके माहिं, देहविषे थित आतम ताहि।
चितवै पंच धारणा धारि, निज आधीन चित्तको पारि ॥३७॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे पिण्डस्थध्यानवर्णनं नाम सप्तत्रिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥३७॥

---

३८ अथ अष्टत्रिंशः सर्गः।

पदस्थ ध्यानका वर्णन।

आगे पदस्थ ध्यानका वर्णन है—

पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते।
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः ॥ १ ॥

अर्थ—जिसको योगीश्वर पवित्र मंत्रोंके अक्षर स्वरूप पदोंका अवलंबन करके चिंतवन करते हैं, उसको अनेक नयोंके पार पहुंचनेवाले योगीश्वरोंने पदस्थ ध्यान कहा है ॥ १ ॥

प्रथम ही वर्णमातृका-ध्यान का विधान कहते हैं—

ध्यायेदनादिसिद्धान्तप्रसिद्धं वर्णमातृकाम्।
निःशेषशब्दविन्यासजन्मभूमिं जगन्नुताम् ॥२॥

अर्थ—अनादि सिद्धान्तमें प्रसिद्ध जो वर्णमातृका अर्थात् अकारादि स्वर और ककारादि व्यञ्जनोंका समूह है, उसका चिन्तवन करे, क्योंकि, यह वर्णमातृका सम्पूर्ण शब्दोंके रचनाकी जन्मभूमि है और जगतसे वंदनीय है ॥ २ ॥

द्विगुणाष्टदलाम्भोजे नाभिमण्डलवर्तिनि।
भ्रमन्तीं चिन्तयेद्ध्यानी प्रतिपत्रं स्वरावलीम् ॥ ३ ॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला पुरुष नाभिमंडल पर स्थित सोलह दल (पँखड़ी) के कमलमें प्रत्येक दल पर क्रमसे फिरती हुई स्वरावलीका अर्थात् अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इन अक्षरोंका चिन्तवन करे ॥ ३ ॥

चतुर्विंशतिपत्राढ्यं हृदि कञ्जं सकर्णिकम् ।
तत्र वर्णानिमान्ध्यायेत्संयमी पञ्चविंशतिम् ॥ ४ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् ध्यानी अपने हृदयस्थान पर कर्णिका सहित चौबीस पत्रोंका कमल संयमी मुनि चिन्तवन करके उसकी कर्णिका तथा पत्रोंमें क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म इन पचीस अक्षरोंका ध्यान करे ॥४ ॥

ततो वदनराजीवे पत्राष्टकविभूषिते ।
परं वर्णाष्टकं ध्यायेत्सञ्चरन्तं प्रदक्षिणम् ॥ ५ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् आठ पत्रोंसे विभूषित मुखकमलके प्रत्येक पत्र पर भ्रमण करते हुए य र ल व श ष स ह इन आठ वर्णोंका ध्यान करें ॥ ५ ॥

इत्यजस्रं स्मरन् योगी प्रसिद्धां वर्णमातृकाम् ।
श्रुतज्ञानाम्बुधेः पारं प्रयाति विगतभ्रमः ॥ ६ ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रसिद्ध वर्णमातृकाका निरन्तर ध्यान करता हुआ योगी भ्रम रहित हो कर श्रुतज्ञानरूपी समुद्रके पार (उत्तरतट) को प्राप्त हो जाता है । भावार्थ—इस प्रकार ध्यान करनेवाला मुनि श्रुतकेवली हो सकता है ॥ ६ ॥

उक्तं च—आर्या ।

"कमलदलोदरमध्ये ध्यायन्वर्णाननादिसंसिद्धान् ।
नष्टादिविषयबोधं ध्याता सम्पद्यते कालात् ॥ १ ॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला पुरुष कमलके पत्र और कर्णिकाके मध्यमें अनादि संसिद्ध(पूर्वोक्त ४९) अक्षरोंका ध्यान करता हुआ कितने ही कालमें नष्टादि वस्तु संबंधी ज्ञानको प्राप्त करता है ॥१॥

उक्तं च—वसन्ततिलका ।

जाप्याज्जयेत् क्षयमरोचकमग्निमान्द्यं
कुष्ठोदरात्मकसनश्वसनादिरोगान ।
प्राप्नोति चाप्रतिमवाङ्महतीं महद्भ्यः
पूजां परत्र च गतिं पुरुषोत्तमाप्ताम् ॥ २ ॥

अर्थ—इस वर्णमातृकाके जापसे योगी क्षयरोग, अरुचिपना, अग्निमंदता, कुष्ट, उदर रोग कास तथा श्वास आदि रोगोंको जीतता है, और वचनसिद्धता, महान् पुरुषोंसे पूजा तथा परलोकमें उत्तम पुरुषोंसे प्राप्त की हुई श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

अथ मन्त्रराजका ध्यान कहते हैं—

अथ मन्त्रपदाधीशं सर्वतत्त्वैकनायकम्।
आदिमध्यान्तभेदेन स्वरव्यञ्जनसम्भवम् ॥७॥
ऊर्ध्वाधोरेफसंरुद्धं सपरं बिन्दुलाञ्छितम्।
अनाहतयुतं तत्त्वं मन्त्रराजं प्रचक्षते ॥८॥

अर्थ—अब समस्त मन्त्र पदोंका स्वामी, सब तत्त्वोंका नायक, आदि मध्य और अन्तके भेदसे स्वर तथा व्यंजनोंसे उत्पन्न, ऊपर और नीचे रेफ (र्) से रुका हुआ तथा बिन्दु (ँ) से चिह्नित सपर कहिये हकार अर्थात (र्हं) ऐसा बीजाक्षर तत्त्व है; अनाहत सहित इसको योगीजन मन्त्रराज कहते हैं ॥७-८॥

अनाहतका लक्षण

ॐबिन्द्वाकारहरोर्ध्व रेफबिन्द्वानवाक्षरम्।
मालाधःस्यन्दि पीयूषबिन्दुं विदुरनाहतम् ॥१॥

अनाहतका आकार[1]

इसमें निम्न लिखित नौ ९ अक्षर मिले हुए हैं।
१ ॐकार २ अनुस्वार ३ ईकार ४ ऊर्ध्वरेफ ५ हकार
६ हकर ७ निम्न रैफ ८ अनुस्वार ९ ईकार

देवासुरनतं भीमदुर्बोधध्वान्तभास्करम्।
ध्यायेन्मूर्द्धस्थचन्द्रांशुकलापाक्रान्तदिङ्मुखम् ॥९॥

अर्थ—देव और असुर कर रहे हैं नमस्कार जिसको ऐसा, अज्ञानरूपी अन्धकारके दूर करनेके लिये सूर्यके समान तथा मस्तक पर स्थित जो चन्द्रमा उसकी किरणोंके समूहसे व्याप्त किया है। दिशाओंका मुख (कादि) भाग जिसने ऐसे इस मन्त्रराजका ध्यान करे ॥९॥

तत्पश्चात् इस मन्त्रराजका कैसा ध्यान करे सो कहते हैं—

कनककमलगर्भे कर्णिकायां निषण्णं
विगतमलकलङ्कं सान्द्रचन्द्रांशुगौरम्।
गगनमनुसरन्तं सञ्चरन्तं हरित्सु
स्मर जिनवरकल्पं मन्त्रराजं यतीन्द्र ॥१०॥

अर्थ—हे मुनीन्द्र! सुवर्णमय कमलके मध्यमें कर्णिका पर विराजमान, मल तथा कलंकसे रहित

---

१ यह अनाहतका लक्षण व आकार हमको श्रीजवाहरलालजी शास्त्रीने बड़े परिश्रमसे प्रतिष्ठाविधि-संबंधी पुस्तकोंमेंसे निकाल कर बतलाया है, इसलिये हम उनके कृतज्ञ हैं। —अनुवादक

शरदऋतुके पूर्ण चन्द्रमाकी किरणोंके समान गौरवर्णके धारक, आकाशमें गमन करते हुए तथा दिशाओंमें व्याप्त होते हुए ऐसे श्रीजिनेन्द्रके सदृश इस मन्त्रराजका स्मरण अर्थात् ध्यान करो ॥१०॥

इस मन्त्रराजके विषयमें जो मत हैं उनको कहते हैं—

बुद्धः कैश्चिद्धरिः कैश्चिदजः कैश्चिन्महेश्वरः ।
शिवः सार्वस्तथैशानः सोऽयं वर्णः प्रकीर्तितः ॥११॥

अर्थ—कितने ही इस (र्हूँ) अक्षरको बुद्ध, कितने ही हरि, कितने ही ब्रह्मा, कितने ही महेश्वर, कितने ही शिव, कितने ही सार्व और कितने ही ईशानस्वरूप कहते हैं ॥११॥

परन्तु यथार्थमें यह अक्षर क्या है सो कहते हैं—

मन्त्रमूर्तिं समादाय देवदेवः स्वयं जिनः ।
सर्वज्ञः सर्वगः शान्तः सोऽयं साक्षाद्व्यवस्थितः ॥१२॥

अर्थ यह मन्त्रराज (र्हूँ) अक्षर ऐसा है कि मानो सर्वज्ञ, सर्वव्यापी शान्तमूर्तिके धारक देवाधिदेव स्वयं श्रीजिनेन्द्र भगवान् ही मन्त्रमूर्तिको धारण करके साक्षात् विराजमान हैं। **भावार्थ**—यह मन्त्रराज अक्षर साक्षात् श्रीजिनेन्द्रस्वरूप है ॥१२॥

ज्ञानबीजं जगद्वन्द्यं जन्मज्वलनवार्मुचम् ।
पवित्रं मतिमान्ध्यायेदिमं मन्त्रमहेश्वरम् ॥१३॥

अर्थ- बुद्धिमान् पुरुष मन्त्रराजको ज्ञानका बीज, जगतसे वंदनीय तथा संसाररूपी अग्निके लिये अर्थात् जन्मसंतापको दूर करनेके लिये मेघके समान ध्यावे ॥१३॥

सकृदुच्चारितं येन हृदि येन स्थिरीकृतम् ।
तत्त्वं तेनापवर्गाय पाथेयं प्रगुणीकृतम् ॥१४॥

अर्थ—इस मन्त्रराज महातत्त्वका जिस पुरुषने एक बार भी उच्चारण किया जिसने हृदयमें स्थित किया उसने मोक्षके लिये पाथेय (संबल) संग्रह किया ॥१४॥

यदैवेदं महातत्त्वं मुनेर्धत्ते हृदि स्थितिम् ।
तदैव जन्मसन्तानप्ररोहः प्रविशीर्यते ॥१५॥

अर्थ—जिस समय वह महातत्त्व मुनिके हृदयमें स्थिति करता है, उस ही काल संसारके संतानका अंकुर गल जाता है अर्थात् टूट जाता है ॥१५॥

स्फुरन्तं भ्रूलतामध्ये विशन्तं वदनाम्बुजे ।
तालुरन्ध्रेण गच्छन्तं स्रवन्तममृताम्बुभिः ॥१६॥

स्फुरन्तं नेत्रपत्रेषु कुर्वन्तमलके स्थितिम् ।
भ्रमन्तं ज्योतिषां चक्रे स्पर्द्धमानं सितांशुना ॥१७॥

संचरन्तं दिशामास्ये प्रोच्छलन्तं नभस्तले ।
छेदयन्तं कलङ्कौघं स्फोटयन्तं भवभ्रमम् ॥१८॥
नयन्तं परमस्थानं योजयन्तं शिवश्रियम् ।
इति मन्त्राधिपं धीर कुम्भकेन विचिन्तयेत् ॥१९॥

अर्थ–धैर्यका धारक योगी कुंभक प्राणायामसे इस मन्त्रराजको भौंहकी लताओंमें स्फुरायमान होता हुआ, मुखकमलमें प्रवेश करता हुआ, तालुआके छिद्रसे गमन करता हुआ, तथा अमृतमय जलसे झरता हुआ ॥१६॥ नेत्रको पलकों पर स्फुरायमान होता हुआ, केशोंमें स्थिति करता तथा ज्योतिषियोंके समूहमें भ्रमता हुआ, चन्द्रमाके साथ स्पर्द्धा करता हुआ ॥ १७ ॥ दिशाओंमें संचरता हुआ, आकाशमें उछलता हुआ, कलंकके समूहको छेदता हुआ, संसारके भ्रमको दूर करता हुआ ॥१८॥ तथा परम स्थान (मोक्षस्थान) को प्राप्त करता हुआ, मोक्षलक्ष्मीसे मिलाप कराता हुआ ध्यावें ॥१९॥

अनन्यशरणः साक्षात्तत्संलीनैकमानसः ।
तथा स्मरत्यसौ ध्यानी यथा स्वप्नेऽपि न स्खलेत् ॥२०॥

अर्थ–ध्यान करनेवाला इस मन्त्राधिपको अन्य किसीका शरण न ले कर; इसमें ही साक्षात् तल्लीन मन करके स्वप्नमें भी इस मंत्रसे च्युत न हो ऐसा दृढ हो कर ध्यावें ॥२०॥

इति मत्वा स्थिरीभूतं सर्वावस्थासु सर्वथा ।
नासाग्रे निश्चलं धत्ते यदि वा भ्रूलतान्तरे ॥२१॥

अर्थ–ऐसे पूर्वोक्त प्रकार महामन्त्रके ध्यानके विधानको जान कर मुनि समस्त अवस्थाओंमें स्थिरस्वरूप सर्वथा नासिकाके अग्रभागमें अथवा भौंहलताके मध्यमें इसको निश्चल धारण करें।२१।

तत्र कैश्चिच्च वर्णादिभेदैस्तत्कल्पितं पुनः ।
मन्त्रमण्डलमुद्रादिसाधनैरिष्टसिद्धिदम् ॥२२॥

अर्थ— इस नासिकाके अग्रभाग अथवा भौंहलताके मध्यमें निश्चल धारण करनेके अवसरमें कई आचार्योंने उस मंत्राधिपको ध्यान करनेमें अक्षरादिकके भेद करके कल्पना किया है और मंत्र मंडल मुद्रा इत्यादिक साधनोंसे इष्टकी सिद्धिका देनेवाला कहा है ॥२२॥

उक्तं च ।

"अकारादि हकारान्तं रेफमध्यं सबिन्दुकम् ।
तदेव परमं तत्त्वं यो जानाति स तत्त्ववित् ॥१॥

अर्थ—अकार है आदिमें जिसके, हकार है अन्तमें जिसके और रेफ है मध्यमें जिसके और बिन्दु सहित ऐसा जो अर्हं पद है वही परम तत्त्व है। जो कोई इसको जानता है वह तत्त्वका जाननेवाला है ॥१॥

सर्वावयवसंपूर्णं ततोऽवयवविच्युतम् ।
क्रमेण चिन्तयेद्ध्यानी वर्णमात्रं शशिप्रभम् ॥२॥

अर्थ—प्रथम तो ध्यानी अर्हं अक्षरका पूर्वोक्त समस्त अवयवों सहित चिन्तवन करें; तत्पश्चात् अवयव रहित ध्यान करे, फिर क्रमसे चन्द्रमासमान प्रभावला वर्णमात्र (हकार) स्वरूप चिन्तवन करे ॥२॥

बिन्दुहीनं कलाहीनं रेफद्वितयवर्जितम् ।
अनक्षरत्वमापन्नमनुच्चार्यं च चिन्तयेत् ॥३॥

अर्थ—तत्पश्चात् इस मंत्रराज बिन्दु (अनुस्वार) रहित, कला (अर्द्ध चन्द्राकार) रहित, दोनों रेफ (र) रहित, अक्षर रहितताको प्राप्त, तथा उच्चारण करने योग्य न हो ऐसा क्रमसे चिन्तवन करें ॥३॥"

चन्द्रलेखासमं सूक्ष्मं स्फुरन्तं भानुभास्वरम् ।
अनाहताभिधं देवं दिव्यरूपं विचिन्तयेत् ॥२३॥

अर्थ—चन्द्रमाकी रेखा समान सूक्ष्म और सूर्यसरीखा देदीप्यमान, स्फुरायमान होता हुआ तथा दिव्य रूपका धारक ऐसा जो अनाहत नामका देव है, उसका चिन्तवन करें ॥२३॥

अस्मिन्स्थिरीकृताभ्यासाः सन्तः शान्ति समाश्रिताः ।
अनेन दिव्यपोतेन तीर्त्वा जन्मोग्रसागरम् ॥२४॥

अर्थ—इस अनाहत नामा देवमें किया है स्थिर अभ्यास जिन्होंने ऐसे सत्पुरुष इस दिव्य जहाजके द्वारा संसाररूप घोर समुद्रको तिर कर, शान्तिको प्राप्त हो गये है । २४॥

फिर इसका चिंतवन अन्य प्रकारसे कहते है—

तदेव च पुनः सूक्ष्मं क्रमाद्वालाग्रसन्निभम् ।
ध्यायेदेकाग्रतां प्राप्य कर्तुं चेतः सुनिश्चलम् ॥२५॥

अर्थ—और फिर एकाग्रताको प्राप्त हो कर, चित्तको स्थिर (निश्चल) करनेके लिये उस ही अनाहतको अनुक्रमसे सूक्ष्म ध्याता हुआ बालके अग्रभाग समान ध्यावें ॥२५॥

ततोऽपि गलिताशेषविषयीकृतमानसः ।
अध्यक्षमीक्षते साक्षाज्जगज्ज्योतिर्मयं क्षणे ॥२६॥

अर्थ—उसके पश्चात् गलित हो गये है समस्त विषय जिसमें ऐसे अपने मनको स्थिर करनेवाला योगी उसी क्षणमें ज्योतिर्मय साक्षात् जगतको प्रत्यक्ष अवलोकन करता है ॥२६॥

सिद्ध्यन्ति सिद्धयः सर्वा अणिमाद्या न संशयः ।
सेवां कुर्वन्ति दैत्याद्या आज्ञैश्वर्यं च जायते ॥२७॥

अर्थ—इस अनाहत मंत्रके ध्यानसे ध्यानके अणिमा आदि सर्व सिद्धियाँ होती है और दैत्यादिक सेवा करते है तथा आज्ञा और ऐश्वर्य होता है इसमें संदेह नहीं है ॥२७॥

---

१ "बिन्दुमात्र" इत्यपि पाठः ।

क्रमात्प्रच्याव्य लक्ष्येभ्यस्ततोऽलक्ष्ये स्थिरं मनः ।
दधतोऽस्य स्फुरत्यन्तर्ज्योतिरत्यक्षमक्षयम् ॥२८॥

अर्थ—तत्पश्चात् क्रमसे लक्ष्यों (लखने योग्य वस्तुओं) से छुड़ा कर अलक्ष्यमें अपने मनको धारण करते हुए ध्यानीके अन्तरंगमें अक्षय तथा इन्द्रियोंके अगोचर ज्योति अर्थात् ज्ञान प्रकट होता है ।२८॥

इति लक्ष्यानुसारेण लक्ष्याभावः प्रकीर्तितः ।
तस्मिन्स्थितस्य मन्येऽहं मुनेः सिद्धं समीहितम् ॥२९॥

अर्थ—इस प्रकार लक्ष्यके अनुसार लक्ष्यका अभाव कहा गया; सो आचार्य महाराज उत्प्रेक्षासे कहते हैं कि उस अलक्ष्यमें स्थिर रहनेवाले मुनिके वांछित कार्यको मैं सिद्ध हुआ मानता हूँ ॥२९॥

एतत्तत्त्वं शिवाख्यं वा समालम्ब्य मनीषिणः ।
उत्तीर्णा जन्मकान्तारमनन्तं क्लेशसंकुलम् ॥३०॥

अर्थ—इस अनाहत तत्त्व अथवा शिवनामा तत्त्वका अवलंबन करके मनीषीगण अनन्तक्लेश सहित संसाररूपी वनसे पार हो गये; इस प्रकार मंत्रराज और अनाहत दोनों मंत्रोंके ध्यानका विधान कहा ॥३०॥

अब प्रणव मन्त्र (ओंकार) के ध्यानका विधान कहते हैं—

स्मर दुःखानलज्वाला-प्रशान्तेर्नवनीरदम् ।
प्रणवं वाङ्मयज्ञानप्रदीपं पुण्यशासनम् ॥३१॥

अर्थ—हे मुने ! तू प्रणव नामा अक्षरका स्मरण कर अर्थात् ध्यान कर क्योंकि यह प्रणव नामा अक्षर दुःखरूपी अग्निकी ज्वालाको शान्त करनेके लिये मेघकी समान है तथा वाङ्मय (समस्त श्रुत)के प्रकाश करने के लिये दीपक है और पुण्यका शासन है ॥३१॥

यस्माच्छब्दात्मकं ज्योतिः प्रसूतमतिनिर्मलम् ।
वाच्यवाचकसंबन्धस्तेनैव परमेष्ठिनः ॥३२॥

अर्थ—इस प्रणवसे अतिनिर्मल शब्दरूप ज्योति अर्थात् ज्ञान उत्पन्न हुआ है और परमेष्ठीका वाच्य वाचक संबंध भी इसी प्रणवसे होता है अर्थात् परमेष्ठी तो इस प्रणवका वाच्य और यह परमेष्ठीका वाचक हैं ॥३२॥

हृत्कञ्जकर्णिकासीनं स्वरव्यञ्जनवेष्टितम् ।
स्फीतमत्यन्तदुर्द्धर्षं देवदैत्येन्द्रपूजितम् ॥३३॥
प्रक्षरन्मूर्ध्निसंक्रान्तचन्द्रलेखामृतप्लुतम् ।
महाप्रभावसम्पन्नं कर्मकक्षहुताशनम् ॥३४॥
महातत्त्वं महाबीजं महामन्त्रं महत्पदम् ।
शरच्चन्द्रनिभं ध्यानी कुम्भकेन विचिन्तयेत् ॥३५॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला संयमी हृदयकमलकी कर्णिकामें स्थित और स्वर व्यञ्जन अक्षरोंसे

वेढ़ा हुआ, उज्ज्वल, अत्यन्त दुर्धर्ष, देव और दैत्योंके इन्द्रोंसे पूजित तथा झरते हुए मस्तकमें स्थित चन्द्रमाकी(लेखा) रेखाके अमृतसे आर्द्रित, महाप्रभावसम्पन्न, कर्मरूपी वनको दग्ध करनेके लिये अग्नि समान ऐसे इस महातत्त्व, महाबीज, महापदस्वरूप तथा शरदके चन्द्रमाके समान गौर वर्णके धारक 'अ' को कुंभक प्राणायामसे चिन्तवन करें ॥३३-३४-३५॥

अब इसका विशेष विधान कहते हैं—

सान्द्रसिंदूरवर्णाभं यदि वा विद्रुमप्रभम्‌ ।
चिन्त्यमानं जगत्सर्वं क्षोभयत्यभिसंगतम्‌ ॥३६॥
जाम्बूनदनिभं स्तम्भे विद्वेषे कज्जलत्विषम्‌ ।
ध्येयं वश्यादिके रक्तं चन्द्राभं कर्मशातने ॥३७॥

अर्थ—यह प्रणव अक्षर गहरे सिंदूरके वर्णकी समान अथवा मूंगेकी समान चिन्तवन किया हुआ मिले हुए जगतको क्षोभित करता है ॥३६॥ तथा इस प्रणवको स्तंभनके प्रयोगमें सुवर्णके समान पीला चिंतवन करें और द्वेषके प्रयोगमें कज्जलके समान काला तथा वश्यादि प्रयोगमें रक्त (लाल) वर्ण और कर्मोंके नाश करनेमें चन्द्रमाकी समान श्वेतवर्ण ध्यान करें ॥३७॥

इस प्रकार प्रणव अर्थात्‌ ॐकार मन्त्रके ध्यानका विधान कहा; अब पंचपरमेष्ठीके नमस्काररूप मन्त्रके ध्यानका विधान कहते हैं—

गुरुपञ्चनमस्कारलक्षणं मन्त्रमूर्जितम्‌ ।
विचिन्तयेज्जगज्जन्तुपवित्रीकरणक्षमम्‌ ॥३८॥

अर्थ—पंचपरमेष्ठियोंको नमस्कार करनेरूप है लक्षण जिसका ऐसे महामन्त्रका चिंतवन करें क्योंकि यह नमस्कारात्मक मन्त्र जगतके जीवोंको पवित्र करनेमें समर्थ है ॥३८॥

स्फुरद्विमलचन्द्राभे दलाष्टकविभूषिते ।
कञ्जे तत्कर्णिकासीनं मन्त्रं सप्ताक्षरं स्मरेत्‌ ॥३९॥
दिग्दलेषु ततोऽन्येषु विदिक्पत्रेष्वनुक्रमात्‌ ।
सिद्धादिकं चतुष्कं च दृष्टिबोधादिकं तथा ॥४०॥

अर्थ—स्फुरायमान निर्मल चन्द्रमाकी कान्ति समान आठ पत्रसे शोभित जो कमल है उसकी कर्णिका पर स्थित सात अक्षरके "णमो अरहंताणं" मन्त्रका चिन्तवन करें ॥३९॥ और उस कर्णिकासे बाहरके आठ पत्रोंमेंसे ४ दिशाओंके ४ दलों पर "णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं, ये ४ मन्त्रपद और विदिशाओंके चार पत्रों पर सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, सम्यक्तपसे नमः, इन चार नमस्कार मन्त्रोंका चिन्तवन करें; इस प्रकार अष्टदलका कमल और एक कर्णिकामें नव मन्त्रों को स्थापन कर चिन्तवन करें ॥४०॥

श्रियमात्यन्तिकीं प्राप्ता योगिनो येऽत्र केचन ।
अमुमेव महामन्त्रं ते समाराध्य केवलम् ॥४१॥

अर्थ—इस लोकमें जिन कितने ही योगियोंने आत्यन्तिकी लक्ष्मी (मोक्षलक्ष्मी) को प्राप्त किया है उन सबोंने एक मात्र इस महामन्त्रका आराधन करके ही प्राप्त किया है ॥४१॥

प्रभावमस्य निःशेषं योगिनामप्यगोचरम् ।
अनभिज्ञो जनो ब्रूते यः स मन्येऽनिलार्दितः ॥४२॥

अर्थ—इस महामन्त्रका पूर्ण प्रभाव योगी मुनीश्वरोंके भी अगोचर है, उनके द्वारा भी कहनेमें नहीं आता और जो इसको नहीं जाननेवाला पुरुष इसके प्रभावको कहता है उसको मैं वायु रोगसे प्रलाप करनेवाला मानता हूं ॥४२॥

अनेनैव विशुद्ध्यन्ति जन्तवः पापपङ्किलाः[1] ।
अनेनैव विमुच्यन्ते भवक्लेशान्मनीषिणः ॥४३॥

अर्थ—जो जीव पापसे मलिन हैं वे इसी मन्त्रसे विशुद्ध होते हैं और इसी मन्त्रके प्रभावसे मनीषिगण (बुद्धिमान्) संसारके क्लेशोंसे छूटते हैं ॥४३॥

असावेव जगत्यस्मिन्भव्यव्यसनबान्धवः ।
अमुं विहाय सत्त्वानां नान्यः कश्चित्कृपापरः[2] ॥४४॥

अर्थ—भव्य जीवोंको आपदाके समय यही मन्त्र इस जगतमें बांधव (मित्र) है इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी जीवों पर कृपा करनेमें तत्पर नहीं है । भावार्थ—सबका रक्षक यही एक महामंत्र है ॥४४॥

एतद्व्यसनपाताले भ्रमत्संसारसागरे ।
अनेनैव जगत्सर्वमुद्धृत्य विधृतं शिवे ॥४५॥

अर्थ—आपदा अर्थात् कष्ट ही है पातालगर्त्त जिसमें ऐसे संसाररूपी समुद्रमें भ्रमते हुए इस जगतको इस मन्त्रने ही उद्धार करके मोक्षमें धारण किया है ॥४५॥

कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च ।
अमुं मंत्रं समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि दिवं गताः ॥४६॥

अर्थ—पूर्व कालमें हजारों पाप करके तथा सैकड़ों जीवोंको मार कर तिर्यंच भी इस महामन्त्रका शुद्ध भावोंसे आराधन करके स्वर्गको प्राप्त हुए है, उनकी कथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है ॥४६॥

शतमष्टोत्तरं चास्य त्रिशुद्ध्या चिन्तयन्मुनिः ।
भुञ्जानोऽपि चतुर्थस्य प्राप्नोत्यविकलं फलम् ॥४७॥

अर्थ—मन वचन कायको शुद्ध करके इस मन्त्रको एकसो आठ बार चिन्तवन करें तो वह मुनि आहार करता हुआ भी चतुर्थ कहिये एक उपवासके पूर्ण फलको प्राप्त होता है ॥४७॥

---

१ "पापकलङ्किताः" इत्यपि पाठः । २ "कृपाकरः" इत्यपि पाठ. ।

इस प्रकार महामन्त्रके विधान, फल और महिमाका वर्णन किया; अब षोडशाक्षरी विद्याको कहते हैं –

स्मर पञ्चपदोद्भूतां महाविद्यां जगन्नुताम् ।
गुरुपञ्चकनामोत्थां षोडशाक्षरराजिताम् ॥४८॥

अर्थ–हे मुने, तू सोलह अक्षरोंसे विराजमान जो महा विद्या है उसका स्मरण कर अर्थात् ध्यान कर क्योंकि षोडशाक्षरी विद्या पञ्च पदों और पंच परमगुरुके नामोंसे उत्पन्न हुई है और जगतमात्रसे नमस्कार करने योग्य है; वह सोलह अक्षरी विद्या यह है–"अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः ॥४८॥

अस्याः शतद्वयं ध्यानी जपन्नेकाग्रमानसः ।
अनिच्छन्नप्यवाप्नोति चतुर्थतपसः फलम् ॥४९॥

अर्थ— जो जीव षोडशाक्षरी विद्याका एकाग्र मन हो कर, दोसौ बार जप करता है वह नहीं चाहता हुआ भी चतुर्थ तप अर्थात् एक उपवासके फलको प्राप्त होता है ॥४९॥

विद्यां षड्वर्णसम्भूतामजय्यां पुण्यशालिनीम्
जपन्प्रागुक्तमभ्येति फलं ध्यानी शतत्रयम् ॥५०॥

अर्थ–तथा "अरहन्त सिद्ध" इस प्रकार छह अक्षरोंसे उत्पन्न हुई विद्याका तीन सौ बार जप करनेवाला मनुष्य एक उपवासके फलको प्राप्त होता हैं क्योंकि यह षडक्षरी विद्या अजय्य है और पुण्यको उत्पन्न करनेवाली तथा पुण्यसे शोभित है ॥५०॥

चतुर्वर्णमयं मन्त्रं चतुर्वर्गफलप्रदम् ।
चतुःशतं जपन्योगी चतुर्थस्य फलं लभेत् ॥५१॥

अर्थ–"अरहंत" इन चार अक्षरोंका मन्त्र है सो धर्म अर्थ काम मोक्षरूप फलको देनेवाला है; इसका जो चारसौ बार जप करता है वह एक उपवासका फल पाता है ॥५१॥

वर्णयुग्मं श्रुतस्कन्धसारभूतं शिवप्रदम् ।
ध्यायेज्जन्मोद्भवाशेषक्लेशविध्वंसनक्षमम् ॥५२॥

अर्थ–'सिद्ध' इन दो अक्षरोंका युग्म है, सो श्रुतस्कन्ध (द्वादशांग शास्त्र) का सारभूत हैं, मोक्षको देनेवाला है, संसारसे उत्पन्न हुए समस्त क्लेशोंको नाश करनेमें समर्थ हैं, इसलिये योगी इसका ध्यान करें ॥५२॥

अवर्णस्य सहस्रार्द्धं जपन्नानन्दसंभृतः ।
प्राप्नोत्येकोपवासस्य निर्जरां निर्जिताशयः ॥५३॥

अर्थ–जो मुनि अपने चित्तको वश करके आनन्दसे 'अ' इस वर्णमात्रका पांचसौ बार जप करता है, वह एक उपवासके निर्जरारूपफलको प्राप्त होता है ॥५३॥

एतद्धि कथितं शास्त्रे रुचिमात्रप्रसाधकम् ।
किन्त्वमीषां फलं सम्यक्स्वर्गमोक्षैकलक्षणम् ॥५४॥

अर्थ—यह जो शास्त्रमें इन मंत्रोंका एक उपवासरूप फल कहा है सो केवल मंत्रजपनेको रुचि करानेके लिये है, किन्तु वास्तवमें उक्त मंत्रोंका उत्तम फल स्वर्ग और मोक्ष ही है ॥५४॥

पञ्चवर्णमयीं विद्यां पञ्चतत्त्वोपलक्षिताम् ।
मुनिवीरैः श्रुतस्कन्धाद्बीजबुद्ध्या समुद्धृताम् ॥५५॥

अर्थ— पांच तत्त्वोंसे युक्त, पांच अक्षरमयी विद्याको मुनीश्वरोंने द्वादशांग शास्त्रमेंसे सारभूत समझ कर निकाली है; वह पंचाक्षरमयी विद्या "ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा नमः" इस प्रकार है ॥५५॥

अस्यां निरन्तराभ्यासाद्वशीकृतनिजाशयः ।
प्रोच्छिन्नत्त्याशु निःशङ्को निगूढं जन्मबन्धनम् ॥५६॥

अर्थ—इस पूर्वोक्त पंचाक्षरमयी विद्यामें निरन्तर अभ्यास करनेसे वशीभूत कर लिया है मन जिसने ऐसा मुनि निःशंक हो कर अति कठिन संसाररूपी बन्धनको शीघ्र ही काट देता है ॥५६॥

आर्या ।

मङ्गलशरणोत्तमपदनिकुरम्बं यस्तु संयमी स्मरति ।
अविकलमेकाग्रधिया स चापवर्गश्रियं श्रयति ॥५७॥

अर्थ—जो संयमी मुनि एकाग्र बुद्धिसे मंगल, शरण उत्तम इन पदोंके समूहका स्मरण करता है वह मोक्षलक्ष्मीका आश्रय करता है। वह मंगलकारक उत्तम पदों का समूह यह है—

चत्तारि मंगलं। अरहंत ॥ मंगलं । सिद्ध ॥ मंगलं । साहु मंगलं । केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं । चत्तारि लोगुत्तमा । अरहंत लोगुत्तमा । सिद्ध लोगुत्तमा । साहू लोगुत्तमा । केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो । चत्तारि सरणं पव्वज्जामि । अरहंतसरणं पव्वज्जामि । सिद्धसरणं पव्वज्जामि । साहुसरणं पव्वज्जामि । केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि ॥५७॥

सिद्धेः सौधं समारोढुमियं सोपानमालिका ।
त्रयोदशाक्षरोत्पन्ना विद्या विश्वातिशायिनी ॥५८॥

अर्थ—जगत्में अतिशयरूप तेरह अक्षरोंसे उत्पन्न हुई यह विद्या मोक्षके महलपर चढ़नेके लिये सीढ़ियों की पंक्ति है ॥ वह १३ तेरह अक्षरका मन्त्र इस प्रकार है ॥५८॥

प्रसादयितुमुद्युक्तैर्मुक्तिकान्तां यशस्विनीम् ।
दृष्टिकैषं मता मन्ये जगद्वन्द्यैर्मुनीश्वरैः ॥५९॥

अर्थ—यशकी धारक मुक्तिरूपी स्त्रीको प्रसन्न करनेके लिये उद्यमी हुए ऐसे तथा जगत्से पूज्य

मुनीश्वरोंने इस तेरह अक्षरी विद्याको मुक्तिको प्रसन्न करनेके अर्थ दूती माना है, ऐसा मैं मानता हूं ॥५९॥

सकलज्ञानसाम्राज्यदानदक्षं विचिन्तय ।
मन्त्रं जगत्त्रयी-नाथ चूडारत्नं कृपास्पदम् ॥६०॥

अर्थ-यह मन्त्र सकल ज्ञानके साम्राज्य (केवलज्ञान) के देखनेमें प्रवीण है और जगत्त्रयके नाथोंके चूडारत्न समान है तथा कृपाका स्थान है, सो हे मुने, तू चिन्तवन कर । वह मन्त्र 'ॐ ह्रां श्रीं अर्हं नमः' है ॥६०॥

न चास्य भुवने कश्चित्प्रभावं गदितुं क्षमः ।
श्रीमत्सर्वज्ञदेवेन यः साम्यमवलम्बते ॥६१॥

अर्थ-इस मन्त्रका प्रभाव लोकमें कोई भी कहनेको समर्थ नहीं है, क्योंकि यह मन्त्र श्रीमत्सर्वज्ञ देवकी समानताको धारण करनेवाला है ॥६१॥

स्मर कर्मकलङ्कौघध्वान्तविध्वंसभास्करम् ।
पञ्चवर्णमयं मन्त्रं पवित्रं पुण्यशासनम् ॥६२॥

अर्थ—हे मुने, तू पंच अक्षरमयी जो मन्त्र है, उसे चिन्तवन कर; क्योंकि यह मन्त्र कर्मकलंकोंके समूहरूप अंधकारका विध्वंसन करनेको सूर्यके समान है, पवित्र है और पुण्यशासन है । वह मन्त्र 'णमो सिद्धाणं' यह है ॥६२॥

सर्वसत्त्वाभयस्थानं वर्णमालाविराजितम् ।
स्मर मन्त्रं जगज्जन्तुक्लेशसंततिघातकम् ॥६३॥

अर्थ—हे मुने तू समस्त जीवोंका अभयस्थान तथा जगतके जीवोंके क्लेशकी सन्ततिको काटने वाला और अक्षरोंकी पंक्तिसे विराजमान ऐसे मन्त्रका चिन्तवन कर । वह मन्त्र यह है 'ॐनमोऽर्हते केवलिने परमयोगिनेऽनन्तशुद्धिपरिणामविस्फुरदुरुशुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मबीजाय प्राप्तानन्तचतुष्टयाय सौम्याय शान्ताय मङ्गलाय वरदाय अष्टादशदोषरहिताय स्वाहा' ॥६३॥

स्मरेन्दुमण्डलाकारं पुण्डरीकं मुखोदरे ।
दलाष्टकसमासीनं वर्णाष्टकविराजितम् ॥ ६४॥

अर्थ—हे मुने ! तू मुखमें चन्द्रमंडलके आकारका, आठ अक्षरोंसे शोभायमान, आठ पत्रोंका एक कमल चिन्तवन कर ॥६४॥

वे आठ अक्षर कौन २ से हैं, सो कहते है--

ॐ णमो अरहंताणमिति वर्णानपि क्रमात् ।
एकशः प्रतिपत्रं तु तस्मिन्नेव निवेशयेत् ॥६५॥

अर्थ-'ॐ णमो अरहंताणं' ये आठ अक्षर मुखमें स्मरण किए हुए उस कमलके आठों पत्रों पर क्रमसे एक एक अक्षरका स्थापन कर ध्यान करना चाहिये ॥६५॥

स्वर्णगौरीं स्वरोद्भूतां केशरालीं ततः स्मरेत् ।
कर्णिकां च सुधास्यन्दबिन्दुव्रजविभूषिताम् ॥६६॥

अर्थ—तत्पश्चात् अमृतके झरनोंके बिन्दुओंसे सुशोभित कर्णिकाका चिन्तवन करे और उसमें स्वरोंसे उत्पन्न हुई तथा सुवर्णके समान गौरवर्णवाली केशरोंकी पंक्तिका ध्यान करे ॥६६॥

प्रोद्यत्संपूर्णचन्द्राभं चन्द्रबिम्बाच्छनैः शनैः ।
समागच्छत्सुधाबीजं मायावर्णं तु चिन्तयेत् ॥६७॥

अर्थ—पश्चात् उदयको प्राप्त होते हुए, पूर्णचन्द्रमाके कान्ति समान, चन्द्रबिंबसे मंद मंद अमृतबीजको प्राप्त होते हुए मायावर्ण ह्रीं का चिंतवन करे ॥६७॥

इस मायावर्णका किस प्रकार चिंतवन करे, सो कहते हैं—

विस्फुरन्तमतिस्फीतं प्रभामण्डलमध्यगम् ।
संचरन्तं मुखाम्भोजे तिष्ठन्तं कर्णिकोपरि ॥६८॥
भ्रमन्तं प्रतिपत्रेषु चरन्तं वियति क्षणे ।
छेदयन्तं मनोध्वान्तं स्रवन्तममृताम्बुभिः ॥६९॥
व्रजन्तं तालुरन्ध्रेण स्फुरन्तं भ्रूलतान्तरे ।
ज्योतिर्मयमिवाचिन्त्यप्रभावं भावयेन्मुनिः ॥७०॥

अर्थ—उपर्युक्त मायाबीज ह्रीं अक्षरको स्फुरायमान होता हुआ, अत्यंत उज्ज्वल प्रभामंडलके मध्य प्राप्त हुआ, कभी पूर्वोक्त मुखस्थ कमलमें संचरता हुआ कभी २ उसकी कर्णिकाके उपरि तिष्ठता हुआ, तथा कभी २ उस कमलके आठों दलों पर फिरता हुआ तथा कभी २ क्षणभरमें आकाशमें चलता हुआ, मनके अज्ञान अंधकारको दूर करता हुआ, अमृतमयी जलसे चूता हुआ तथा, तालुआके छिद्रसे गमन करता हुआ तथा भौंहोंकी लताओंमें स्फुरायमान होता हुआ, ज्योतिर्मयके समान अचिन्त्य है प्रभाव जिसका ऐसे मायावर्णका चिन्तवन करे ॥६८–६९-७० ॥

अब इस मन्त्रकी महिमाका वर्णन करते हैं—

वाक्पथातीतमाहात्म्यं देवदैत्योरगार्चितम् ।
विद्यार्णवमहापोतं विश्वतत्त्वप्रदीपकम् ॥७१॥

अर्थ—इस मन्त्रका माहात्म्य वचनातीत है, इसको देव दैत्य नागेन्द्र पूजते है तथा यह मन्त्र विद्यारूपी समुद्रके महान् जहाज है और जगतके पदार्थोंको दिखानेके लिये दीपक ही है ॥७१॥

अमुमेव महामन्त्रं भावयन्नस्तसंशयः ।
अविद्याव्यालसंभूतं विषवेगं निरस्यति ॥७२॥

अर्थ—इसी महामन्त्रका संशय रहित हो कर ध्यान करनेवाला मुनि अविद्यारूपी सर्पसे उत्पन्न हुए विषके वेगको दूर करता है ॥७२॥

इति ध्यायन्नसौ ध्यानी तत्संलीनैकमानसः ।
वाङ्मनोमलमुत्सृज्य श्रुताम्भोधिं विगाहते ॥७३॥

अर्थ—ऐसे पूर्वोक्त प्रकार इस मन्त्रका ध्यान करता हुआ और उस ध्यानमें ही लीन है मन जिसका ऐसा जो ध्यानी है, वह अपने मन तथा वचनके मलको नष्ट करके श्रुत समुद्रमें अवगाहन करता है अर्थात् शास्त्ररूपी समुद्रमें तैरता है ॥७३॥

ततो निरन्तराभ्यासान्मासैः षड्भिः स्थिराशयः ।
मुखरन्ध्राद्विनिर्यान्तीं धूमवर्तिं प्रपश्यति ॥७४॥

अर्थ—तत्पश्चात् वह ध्यानी स्थिर चित्त हो कर निरन्तर अभ्यास करने पर छह महीनेमें अपने मुखसे निकलती हुई (धूप) धूऐंकी वत्तिका देखता है ॥७४॥

ततः संवत्सरं यावत्तथैवाभ्यस्यते यदि ।
प्रपश्यति महाज्वालां निःसरन्तीं मुखोदरात् ॥७५॥

अर्थ—तत्पश्चात् यदि एक वर्ष पर्यन्त उसी प्रकार अभ्यास करे तो मुखमेंसे निकलती हुई महा अग्निकी ज्वाला को देखता है ॥७५॥

ततोऽतिजातसंवेगो निर्वेदालम्बितो वशी ।
ध्यायन्पश्यत्यविश्रान्तं सर्वज्ञमुखपङ्कजम् ॥७६॥

अर्थ—तत्पश्चात् अतिशय उत्पन्न हुआ है धर्मानुराग जिसके ऐसा वैराग्यावलंबित जितेन्द्रिय मुनि निरन्तर ध्यान करता २ सर्वज्ञके मुखकमलको देखता है ॥७६॥

अथाप्रतिहतानन्दप्रीणितात्मा जितश्रमः ।
श्रीमत्सर्वज्ञदेवेशं प्रत्यक्षमिव वीक्षते ॥७७॥

अर्थ—यहासे आगे वही ध्यानी अनिवारित आनंदसे तृप्त है आत्मा जिसका और जीता है दुःख जिसने ऐसा हो कर श्रीमत्सर्वज्ञदेवका प्रत्यक्ष अवलोकन करता है ॥७७॥

सर्वातिशयसंपूर्णं दिव्यरूपोपलक्षितम् ।
कल्याणमहिमोपेतं सर्वसत्त्वाभयप्रदम् ॥७८॥

अर्थ—सर्वज्ञको ध्यानी कैसेप्रत्यक्ष देखता है कि सर्व अतिशयोंसे परिपूर्ण दिव्य रूपसे उपलक्षित पंचकल्याणकी महिमा सहित समस्त जीवोंको अभयदान देनेवाले ॥७८॥ तथा

प्रभावलयमध्यस्थं भव्यराजीवरञ्जकम् ।
ज्ञानलीलाधरं वीरं देवदेवं स्वयंभुवम् ॥७९॥

अर्थ—प्रभावलयके बीचमें स्थित हुए भव्यरूप कमलोंको रंजायमान करनेवाले, ज्ञानकी लीलाके धरनेवाले, विशिष्ट लक्ष्मीवाले, देवोंके देव स्वयंभू ऐसे सर्वज्ञको साक्षात् देखता है॥७९॥

ततो विधूततन्द्रोऽसौ तस्मिन्संजातनिश्चयः ।
भवभ्रममपाकृत्य लोकाग्रमधिरोहति ॥ ८० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् इस मन्त्रका ध्यान करने वाला मुनि प्रमादको नष्ट करके तथा इस मंत्रमें सर्वज्ञके स्वरूपका निश्चय हो जाने पर संसारभ्रमको दूर करके लोकके अग्रभाग मोक्षस्थानका आश्रय करता है ॥८०॥

इस प्रकार मुखकमलमें अष्टदलकमलमें आठ अक्षरोंको स्थापन करके कर्णिकाके केशरोंमें सोलह स्वर स्थापनपूर्वक ह्रीं वर्णका जो पूर्वोक्त प्रकारसे ध्यान करे, उसका फल (महिमा) वर्णन किया।

अब अन्य विद्याका वर्णन करते हैं—

आर्या

स्मर सकलसिद्धविद्यां प्रधानभूतां प्रसन्नगम्भीराम् ।
विधुबिम्बनिर्गतामिव क्षरत्सुधार्द्रां महाविद्याम् ॥ ८१ ॥

अर्थ—हे मुने, तू सकल सिद्धविद्याका भी चिंतवन कर, क्योंकि वह विद्या प्रधानस्वरूप है, प्रसन्न है, गम्भीर है तथा चंद्रमाके बिंबसे निकली हुई के समान जो झरती हुई सुधा है उससे आर्द्रित है, ऐसी वह महाविद्या 'क्ष्वीं' ऐसा अक्षर है ॥ ८१ ॥

अविचलमनसा ध्यायंल्ललाटदेशे स्थितामिमां देवीम् ।
प्राप्नोति मुनिरजस्रं समस्तकल्याणनिकुरम्बम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—इस विद्या देवीको ललाट देश पर स्थिती करके, निश्चल मनसे निरन्तर ध्यान करता हुआ मुनि समस्त कल्याणके समूहको प्राप्त होता है ॥८२ ॥

मालिनी ।

अमृतजलधिगर्भान्निःसरन्तीं सुदीप्त-
मलिकतलनिषण्णां चन्द्रलेखां स्मर त्वम् ।
अमृतकणविकीर्णां प्लावयन्तीं सुधाभिः
परमपदधरित्र्यां धारयन्तीं प्रभावम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—हे मुने, तू इस अमृतके समुद्र से निकलती हुई, भले प्रकार देदीप्यमान, ललाटदेश में स्थित, अमृतके कणोंसे बिखरी हुई और अमृतसे आर्द्रित करती हुई चंद्रलेखाका स्मरण कर; क्योंकि वह विद्या मोक्षरूपी पृथ्वीमें अपने प्रभावको धारण करनेवाली है ॥ ८३ ॥

एतां विचिन्तयन्नेव स्तिमितेनान्तरात्मना ।
जन्मज्वरक्षयं कृत्वा याति योगी शिवास्पदम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—इस विद्याको पूर्वोक्त प्रकार से अपने निश्चल मनसे ध्यान करता हुआ ध्यानी योगी संसाररूप ज्वरका क्षय करके मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ ८४ ॥

यदि साक्षात्समुद्विग्नो जन्मदावोग्रसंक्रमात्‌ ।
तदा स्मरादिमन्त्रस्य प्राचीनं वर्णसप्तकम्‌ ॥ ८५ ॥

अर्थ—हे मुने, जो तू संसाररूप अग्निके तीव्र संक्रम (संयोग) से उद्वेगरूप हुआ है अर्थात्‌ दुःखी हुआ है तो आदिमंत्र जो पंच नमस्कार मन्त्र है, उसके पहिले सात अक्षरोंका ध्यान कर, वे सात अक्षर 'णमो अरहंताणं' ये हैं ॥८५॥

यदत्र प्रणवं शून्यमनाहतमिति त्रयम्‌ ।
एतदेव विदुः प्राज्ञास्त्रैलोक्यतिलकोत्तमम्‌ ॥८६॥

अर्थ—जो इस प्रकरणमें प्रणव और शून्य तथा अनाहत ये तीन अक्षर हैं, इन तीनों (ॐ ह अ) अक्षरोंको ही बुद्धिमानोंने तीनलोकके तिलक समान कहा है ॥८६॥

नासाग्रदेशसंलीनं कुर्वन्नत्यन्तनिर्मलम्‌ ।
ध्याता ज्ञानमवाप्नोति प्राप्य पूर्वं गुणाष्टकम्‌ ॥८७॥

अर्थ—इन तीन अक्षरोंको नासिकाके अग्र भागमें अत्यन्त लीन करता हुआ ध्यानी अणिमा महिमादिक आठ ऋद्धियोंको प्राप्त हो कर तत्पश्चात्‌ अति निर्मल ज्ञान (केवलज्ञान) को प्राप्त होता है ॥८७॥

शङ्खेन्दुकुन्दधवला ध्याता देवास्त्रयो विधानेन ।
जनयन्ति सर्वविषयं बोधं कालेन तद्ध्यानात्‌ ॥८८॥

अर्थ—पूर्वोक्त ये तीन देव (अक्षर) शंखके समान, कुन्दके पुष्प समान तथा चंद्रमा समान विधानपूर्वक ध्याये जावें तो इनके ध्यानसे कितने ही कालमें समस्त विषयोंका ज्ञान कराने वाला केवलज्ञान उत्पन्न होता है ॥८८॥

प्रणवयुगलस्य युग्मं पार्श्वे मायायुगं विचिन्तयति ।
मूर्द्धस्थं हंसपदं कृत्वा व्यस्तं वितन्द्रात्मा ॥८९॥

अर्थ—प्रणवयुगल कहिये दो ओंकारका युग्म और दोनों तरफ दो मायायुगल ह्रीं ह्रीं ऐसे और इनके ऊपरि हंसपद रख कर, प्रमाद रहित हो कर, ध्यानी भिन्न भिन्न चिंतवन करे। वह मंत्र 'ह्रीं ॐ ॐ ह्रीं हंसः' ऐसा है ॥ ८९ ॥

ततो ध्यायेन्महाबीजं क्ष्वींकारं छिन्नमस्तकम्‌ ।
अनाहतयुतं दिव्यं विस्फुरन्तं मुखोदरे ॥९०॥

अर्थ—तत्पश्चात्‌ महाबीज जो 'क्ष्वीं' ऐसा अक्षर और छिन्नमस्तक अर्थात्‌ जिस पर बिंदु, अनुस्वार नहीं है, उसको अनाहत सहित दिव्य मुख पर स्फुरायमान होता हुआ चिंतवन करे ॥९०॥

श्रीवीरवदनोद्गीर्णां विद्यां चाचिन्त्यविक्रमाम्‌ ।
कल्पवल्लीमिवाचिन्त्यफलसंपादनक्षमाम्‌ ॥ ९१ ॥

अर्थ—और श्रीवीरवर्द्धमान भगवानके मुखसे निकली हुई विद्याका चिंतवन करे; कैसी है वह विद्या ! अचिन्त्य पराक्रमवाली और कल्पवेलके समान अचिन्त्य फल देनेमें समर्थ है। ऐसी विद्या

"ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिणपारिस्से स्वाहा" तत्पश्चात् ऐसा मंत्र है "ॐ ह्रीं स्वर्हं नमो नमोऽर्हताणं ह्रीं नमः" ऐसे अक्षर हैं ॥९१॥

आर्या ।

विद्यां जपति य इमां निरन्तरं शान्तविश्वविस्पन्दः ।
अणिमादिगुणाँल्लब्ध्वा ध्यानी शास्त्रार्णवं तरति ९२ ॥

अर्थ—जो ध्यानी शान्तवेग निश्चल हो कर इस विद्याको निरन्तर जपता है, वह अणिमादिक गुणोंको प्राप्त होकर, शास्त्रसमुद्रके पार हो जाना है अर्थात् श्रुतकेवली होता है ॥९२॥

त्रिकालविषयं साक्षाज्ज्ञानमस्योपजायते ।
विश्वतत्त्वप्रबोधश्च सतताभ्यासयोगतः ॥९३॥

अर्थ—इस विद्याका ध्यान करनेवालेके निरंतर अभ्यास करनेसे समस्त तत्त्वोंका ज्ञान और त्रिकालविषयक साक्षात्ज्ञान कहिये केवलज्ञान उत्पन्न होता है ॥९३॥

शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरास्तथान्ये व्यन्तरादयः ।
ध्यानविध्वंसकर्तारो येन तद्धि प्रपठ्यते ॥९४॥

अर्थ—अब ध्यानीके उपसर्ग करनेवाले क्रूर जन्तु तथा ध्यानको नाश करनेवाले व्यन्तरादिक जिस ध्यानसे उपशमताको प्राप्त होते हैं, उस ध्यानका विस्तारसे वर्णन करते हैं ॥९४॥

दिग्दलाष्टकसम्पूर्णे राजीवे सुप्रतिष्ठितम् ।
स्मरत्वात्मानमत्यन्तस्फुरद्ग्रीष्मार्कभास्करम् ॥९५॥
प्रणवाद्यस्य मन्त्रस्य पूर्वादिषु प्रदक्षिणम् ।
विचिन्तयति पत्रेषु वर्णैकैकमनु मात् ॥९६॥
अधिकृत्य छदं पूर्वं सर्वाशासम्मुखः परम् ।
स्मरत्यष्टाक्षरं मन्त्रं सहस्रैकं शताधिकम् ॥
प्रत्यहं प्रतिपत्रेषु महेन्द्राशाद्यनुक्रमात् ।
अष्टरात्रं जपेद्योगी प्रसन्नामलमानसः ॥९८॥
तस्याचिन्त्यप्रभावेण क्रूराशयकलङ्किताः ।
त्यजन्ति जन्तवो दर्पं सिंहत्रस्ता इव द्विपाः ॥९९॥

अर्थ—आठ दिशा संबंधी आठ पत्रोंसे पूर्ण कमलमें भले प्रकार स्थापित और अत्यन्त स्फुरायमान ग्रीष्मऋतुके सूर्यके समान देदीप्यमान आत्माका स्मरण करे ॥९५॥ प्रणव है आदिमें जिसके ऐसे मंत्रको पूर्वादिक दिशाओंमें प्रदक्षिणारूप एक एक पत्र पर अनुक्रमसे एक एक अक्षरका चिन्तवन करे वे अक्षर "ॐ णमो अरहंताणं" ये हैं ॥९६॥ इनमेंसे प्रथम पत्रको मुख्य करके सर्व दिशाओंके सन्मुख हो कर इस अष्टाक्षर मंत्रको ग्यारहसें बार चिन्तवन (ध्यान) करे ॥९७ इस प्रकार प्रतिदिन

प्रत्येक मन्त्रमें पूर्व दिशादिकके अनुक्रमसे आठ रात्रिपर्यन्त प्रसन्न होकर जपे ॥९८॥ उसके अचिन्त्य प्रभावसे क्रूरचित्त जीव, सिंहसे भयभीत हो कर जिस प्रकार हाथी गर्व छोड़ देते हैं, उसी प्रकार अपना गर्व छोड़ देते हैं ॥९९॥

अष्टरात्रे व्यतिक्रान्ते कमलस्यास्यवर्तिनः ।
निरूपयति पत्रेषु वर्णानेतानुक्रमात् ॥१००॥
आलम्ब्य प्रक्रियामेनां पूर्वं विघ्नौघशान्तये ।
पश्चात्सप्ताक्षरं मन्त्रं ध्यायेत्प्रणववर्जितम् ॥१०१॥
मन्त्रः प्रणवपूर्वोऽयं निःशेषाभीष्टसिद्धिदः ।
ऐहिकानेककामार्थं मुक्त्यर्थं प्रणवच्युतः ॥१०२॥

अर्थ—तत्पश्चात् पूर्वोक्त आठ रात्रियोंके व्यतीत होनेके पश्चात् इस कमलके पत्रों पर वर्तनेवाले अक्षरोंको अनुक्रमसे निरूपण करके देखे ॥१००॥ इस प्रकार इस प्रक्रियाको प्रथम विघ्नके समूहकी शान्तिके लिये आलंबन करके तत्पश्चात् प्रणववर्जित सात अक्षर स्वरूप "णमो अरहंताणं" इस मन्त्रका ध्यान करे ॥१०१॥ जब इस मन्त्रको प्रणवपूर्वक ध्यावे, तब यह समस्त मनोवांछित सिद्धिका देनेवाला है तथा इस लोकसम्बन्धी अनेक कार्योंके लिये है और प्रणववर्जित ध्याव करनेसे यह मन्त्र मुक्तिका कारण है ॥१०२॥

स्मर मन्त्रपदं चान्यज्जन्मसंघातघातकम् ।
रागाद्युग्रतमस्तोमप्रध्वंसरविमण्डलम् ॥१०३॥

अर्थ—अब कहते हैं कि हे मुने, तू अन्य एक मन्त्रपदका स्मरण कर, क्यों कि वह मन्त्र जन्मसमूहको घात करनेवाला है और रागादिकरूप तीव्र अंधकारको नष्ट करनेके लिये सूर्यमंडल समान है। वह मन्त्र "श्रीमद्वृषभादिवर्द्धमानान्तेभ्यो नमः' ऐसा है ॥१०३॥

मनः कृत्वा सुनिष्कम्पं तां विद्यां पापभक्षिणीम् ।
स्मर सत्वोपकाराय या जिनेन्द्रैः प्रकीर्तिता ॥१०४॥

अर्थ—तत्पश्चात् हे मुने, तू निश्चलमनसे उस पापभक्षिणी विद्याका स्मरण कर, जिसको कि समस्त जीवोंके उपकारार्थ श्रीजिनेन्द्र भगवान्ने कही है। वह विद्या यह है "ॐ अर्हन्मुखकमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि श्रुतज्ञानज्वालासहस्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः क्षीरवरधवले अमृतसंभवे वं वं हूं हूं स्वाहा । ये पापभक्षिणी विद्याके अक्षर हैं ॥१०४॥

चेतः प्रसत्तिमाधत्ते पापपङ्कः प्रलीयते ।
आविर्भवति विज्ञानं मुनेरस्याः प्रभावतः ॥१०५॥

अर्थ—इस पापभक्षिणी विद्याके प्रभावसे मुनिका चित्त प्रसन्नताको धारण करता है, पापरूपी पंक नष्ट हो जाता है और विशिष्ट ज्ञान प्रगट होता है ॥१०५॥

मुनिभिः संजयन्ताद्यैर्विद्यावादात्समुद्धृतम् ।
मुक्तिमुक्तेः परं धाम सिद्धचक्राभिधं स्मरेत् ॥१०६॥
तस्य प्रयोजकं शास्त्रं तदाश्रित्योपदेशतः ।
ध्येयं मुनीश्वरैर्जन्ममहाव्यसनशान्तये ॥१०७॥

अर्थ—तत्पश्चात् सिद्धचक नामा मंत्रको संजयन्तादिक महामुनियोंने विद्यानुवाद नामा दशम पूर्वसे उद्धृत किया है सो यह मन्त्र भोग और मोक्षका उत्कृष्ट धाम है, इसका ध्यान करे ॥१०६॥ इस सिद्धचक्र मन्त्रके प्रयोजक शास्त्रका आश्रय ले कर उसके उपदेशसे जन्मरूप महाकष्टकी शान्तिके लिए मुनीश्वरोंको ध्यान करना चाहिये, इसके अक्षरादिकका विधान उसके प्रयोजक शास्त्रसे जानना ॥१०७॥

स्मर मन्त्रपदाधीशं मुक्तिमार्गप्रदीपकम् ।
नाभिपङ्कजसंलीनमवर्णं विश्वतोमुखम् ॥१०८॥
सिवर्णं मस्तकाम्भोजे साकारं मुखपङ्कजे ।
आकारं कण्ठकञ्जस्थं स्मरोकारं हृदि स्थितम् ॥१०९॥

अर्थ—हे मुने ! तू मन्त्रपदोंका स्वामी और मुक्तिके मार्गको प्रकाश करनेवाले अकार अक्षरको नाभिकमलमें चिन्तवन कर, यह अक्षर सर्वव्यापी है, और सि अक्षरको मस्तक कमल पर, आ अक्षरको कंठस्थ कमलमें, उ अक्षरको हृदयकमल पर और सा अक्षरको मुखस्थ कमल पर ऐसे **'असिआउसा'** इन पाच अक्षरोंको पांच स्थानो पर चिन्तवन कर ॥१०८–१०९॥

सर्वकल्याणबीजानि बीजान्यन्यान्यपि स्मरेत् ।
यान्याराध्य शिवं प्राप्ता योगिनः शीलसागराः ॥११०॥

अर्थ—सर्व कल्याणके बीज अन्यान्य भी मन्त्र है, जिनका आराधन करके शीलके सागर योगीगण मोक्षको प्राप्त हुए है, उन सब ही अक्षरोंको ध्यानी मुनि चिन्तवन करे । **'नमः सर्वसिद्धेभ्य'** यह भी एक मन्त्र है ॥११०॥

श्रुतिसिन्धुसमुद्भूतमन्यद्वा पदमक्षरम् ।
तत्सर्वं मुनिभिर्ध्येयं स्यात्पदस्थप्रसिद्धये ॥१११॥

अर्थ—अन्य भी पद तथा अक्षर जो श्रुतसमुद्र द्वादशाग शास्त्रसे उत्पन्न हुए हैं, वे सब ही पदस्थ ध्यानकी प्रसिद्धतार्थ होते है, उन्हें भी मुनिगणोंको ध्यानगोचर करना चाहिये ॥१११॥

एवं समस्तवर्णेषु मन्त्रविद्यापदेषु च ।
कार्यक्रमेण विश्लेषो लक्ष्यभावप्रसिद्धये ॥११२॥

अर्थ—इस प्रकार समस्त अक्षरोंमें तथा मन्त्रपद और विद्या पदों अनुक्रमसे लक्ष्य भावकी प्रसिद्धताके लिये भेद करना अर्थात् भिन्न २ चिन्तवन करना चाहिये ॥११२॥

अन्यथा यद्यच्छ्रुतस्कन्धबीजं निर्वेदकारणम् ।
तत्तद्ध्यायन्नसौ ध्यानी नापमार्गपथि स्खलेत् ॥११३॥

अर्थ—अन्य जो जो द्वादशांग शास्त्रके बीजाक्षर हैं तथा वैराग्यके कारण हैं, उन उन मंत्रोंका ध्यान करता हुआ मुनि मोक्षमार्गमें गमन करता हुआ डिगता नहीं भावार्थ—जो ज्ञान वैराग्यके कारण मंत्र, पद वा बीजाक्षर हैं, वे सब ही मोक्षमार्गमें ध्यान करने योग्य (ध्येय) हैं ॥११३॥

उक्तं च ।

"ध्येयं स्याद्वीतरागस्य विश्ववर्त्यर्थसंचयम् ।
तद्धर्मव्यत्ययाभावान्माध्यस्थ्यमधितिष्ठतः ॥१॥

अर्थ—जो वीतराग है उसके इस लोकमें प्रवर्त्तनेवाले समस्त पदार्थोंके समूह ध्येय है क्योंकि वीतराग उस पदार्थके स्वरूपमें विपरीतताके अभावसे मध्यस्थताका आश्रय करता है। भावार्थ—वीतरागके ज्ञानमें जो ज्ञेय आता है, उसका स्वरूप यथार्थ जाननेके कारण उसके इष्ट अनिष्ट ममत्वभाव नहीं होते, इस कारण उनसे मध्यस्थ भाव रहता है, अर्थात् वीतरागतासे नहीं छूटते ॥१॥

पुनः उक्तं च

वीतरागो भवेद्योगी यत्किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
तदेव ध्यानमाम्नातमतोऽन्यद् ग्रन्थविस्तारः ॥२॥

अर्थ—वीतराग योगी जो कुछ चिंतवन करे वही ध्यान है, इस कारण अन्य कहना है वह ग्रन्थका विस्तार मात्र है, वीतरागके सब ही ध्येय हैं ॥२॥"

वीतरागस्य विज्ञेया ध्यानसिद्धिर्ध्रुवं मुनेः ।
क्लेश एव तदर्थं स्याद्रागार्त्तस्येह देहिनः ॥११४॥

अर्थ—जो मुनि वीतराग है उसके ध्यानकी सिद्धि अवश्य होती है और जो रागसे पीड़ित है उसका ध्यान करना क्लेशके लिये ही है अर्थात् रागीके ध्यानकी सिद्धि नहीं होती ॥११४॥

यहां कोई प्रश्न करे कि सर्वथा वीतराग तो सर्व मोहका अभाव होनेसे होता है, उसके ध्यान करनेकी इच्छा ही नहीं होती और जो इच्छा होती है तो वह वीतराग कैसे हो ? उसका समाधान यह है कि यहां पर राग संसार देह भोगसंबन्धी है, उसकी अपेक्षा वीतराग कहा है; ध्यानसे राग करनेको राग नहीं कहा जाता, क्योंकि ध्यान रागका अभाव करनेवाला है, इस रागसे भी मुनिके राग नहीं है, इस कारण वीतराग ही कहा जाता है, परमार्थ अपेक्षा यह एकदेश सर्वदेशका व्यवहार जानना ।

शार्दूलविक्रीडितम् ।

निर्मथ्य श्रुतसिन्धुमुन्नतधियः श्रीवीरचन्द्रोदये
तत्त्वान्येव समुद्धरन्ति मुनयो यत्नेन रत्नान्यतः ।
तान्येतानि हृदि स्फुरन्ति सुभगन्यासानि भव्यात्मनां
ये वाञ्छन्त्यनिशं विमुक्तिललनासम्भोगसंभावनाम् ॥११५॥

अर्थ—श्रीवीर वर्द्धमानस्वामीरूप चन्द्रमाके उदय होते हुए जो उन्नतबुद्धि मुनि हैं, वे शास्त्ररूपी समुद्रको मथ कर सुन्दर है रचना जिनकी ऐसे मंत्ररूप तत्त्वों (रत्नों) को निकालते हैं और ये सब

मंत्रपदरूप रत्न मुक्तिरूपी स्त्रीके संभोगकी निरन्तर वांछा करनेवाले भव्य पुरुषोंके ही हृदयमें स्फुरायमान होते हैं। भावार्थ—जो मुक्ति चाहनेवाले हैं, वे इन मंत्ररूप पदोंका अभ्यास करें ॥११५॥

विलीनाशेषकर्माणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम् ।
स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ॥११६॥

अर्थ—इन मंत्र पदोंके अभ्यासके पश्चात् विलय हुए हैं समस्त कर्म जिसमें ऐसे अतिनिर्मल स्फुरायमान अपने आत्माको अपने शरीरमें चिंतवन (ध्यान) करें। भावार्थ—इन मन्त्रपदोंके अभ्याससे विशुद्धता बढती है और चित्त एकाग्र हो जाने पर शुद्धस्वरूपका निर्मल प्रतिभास होता है और उस स्वरूपमें उपयोग स्थिरताको प्राप्त होता है तथा बड़ा संवर होता है और कर्मोंकी निर्जरा होती है तथा घातिकर्मोंका नाश करके केवल ज्ञानको प्राप्त हो मोक्षको पाता है ॥११६॥

इस प्रकार यह मन्त्रपदोंका ध्यान मोक्षका महान् उपाय है और लौकिक प्रयोजन भी इससे अनेक प्रकारके सिद्ध होते हैं; अणिमा महिमादिक ऋद्धियां प्राप्त होती हैं, परन्तु मोक्षके इच्छुक मुनियोंको इनसे कुछ प्रयोजन नहीं है।

यहां कोई पूछे कि गृहस्थ इन मन्त्रोंका ध्यान करे कि नहीं? उसका समाधान यह है कि जैसा ध्यान मुनिके होता है वैसा गृहस्थके होता हीं नहीं, परन्तु जो अपनी शक्तिके अनुसार धर्मार्थी हो कर ध्यान करे तो शुभ फलकी प्राप्ति होती है, लौकिक प्रयोजन विषयकषाय साधनेके लिये आकर्षण विद्वेषण उच्चाटन मारण आदिके लिये करनेका मोक्षमार्गमें निषेध किया है।

अडिल ।

अक्षरपदको अर्थ रूप ले ध्यानमें, जे ध्यावें इम मन्त्ररूप इक तानमें ।
ध्यानपदस्थ सु नाम कह्यो मुनिराजने, जे यामें ह्वै लीन लहै निजकाजने ॥३८॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारस्वरूपज्ञानार्णवे पदस्थध्यानवर्णनं नामाष्टत्रिंशं प्रकरणम् ॥३८॥

---

३९. अथ एकोनचत्वारिंशः सर्गः ।

रूपस्थ ध्यानका वर्णन ।

आगे रूपस्थ ध्यानका वर्णन करते हैं—

आर्हन्त्यमहिमोपेतं सर्वज्ञं परमेश्वरम् ।
ध्यायेद्देवेन्द्रचन्द्रार्कसभान्तस्थं स्वयम्भुवम् ॥१॥

सर्वातिशयसंपूर्णं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
सर्वभूतहितं देवं शीलशैलेन्द्रशेखरम् ॥२॥

सप्तधातुविनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मीकटाक्षितम् ।
अनन्तमहिमाधारं सयोगिपरमेश्वरम् ॥३॥
अचिन्त्यचरितं चारुचारित्रैः समुपासितम् ।
विचित्रनयनिर्णीतं विश्वं विश्वैकबान्धवम् ॥४॥
निरुद्धकरणग्रामं निषिद्धविषयद्विषम् ।
ध्वस्तरागादिसन्तानं भवज्वलनवार्मुचम् ॥५॥
दिव्यरूपधरं धीरं विशुद्धज्ञानलोचनम् ।
अपि त्रिदशयोगीन्द्रैः कल्पनातीतवैभवम् ॥६॥
स्याद्वादपविनिर्घातभिन्नान्यमतभूधरम् ।
ज्ञानामृतपयः पूरैः पवित्रितजगत्त्रयम् ॥७॥
इत्यादिगणनातीतगुणरत्नमहार्णवम् ।
देवदेवं स्वयम्बुद्धं स्मराद्यं जिनभास्करम् ॥८॥

अर्थ—इस रूपस्थ ध्यानमें अरहन्त भगवान्का ध्यान करना चाहिये जिसमें अरहंतका किस प्रकारका स्वरूप चिन्तवन करना चाहिये सो कहते हैं—अरहन्तताकी महिमा जो समवसरणादिकी रचना है उस सहित, सर्वज्ञ, परमेश्वर, देवेन्द्र चन्द्रमा सूर्यादिकी सभाके मध्यमें स्थित, स्वयंभू ॥१॥ तथा समस्त अतिशयोंसे संपूर्ण, सब लक्षणोंसे लक्षित, तथा जिनसे समस्त जीवोंका हित होता है ऐसे, और शील कहिये उत्तर गुणरूपी पर्वतके शिखर ॥२॥ तथा सप्तधातुसे रहित और मोक्षलक्ष्मी जिनको कटाक्ष पूर्वक देखती है ऐसे, अनन्त महिमाके आधार सयोगकेवली, परमेश्वर ॥३॥ तथा अचिन्त्य है चरित जिनका, और सुन्दर चरित्रवाले गणधरादिक मुनिगणोंसे सेवनीय तथा अनेक नयोंसे निर्णय किया है विश्व अर्थात् समस्त वस्तुओंका आकार स्वरूप जगत् जिन्होंने ऐसे और समस्त जगत्के हेतू ॥४॥ तथा इन्द्रियोंके ग्रामोंको रोकनेवाले, विषयरूप शत्रुओंको निषेध कर देनेवाले तथा रागादिक सन्तानका कर दिया है नाश जिन्होंने ऐसे, और संसाररूपी अग्निके बुझानेको मेघके समान ॥५॥ तथा दिव्यरूपके धारक, धीर अर्थात् क्षोभ रहित, निर्मल ज्ञान ही जिनके नेत्र हैं ऐसे, देव और योगीश्वरोंकी कल्पनासे अतीत है विभव जिनका ऐसे ॥६॥ तथा स्याद्वादरूपी वज्रसे खंडे है अन्य मतरूपी पर्वत जिन्होंने ऐसे, तथा ज्ञानरूप अमृतमय जलके प्रवाहोंसे पवित्र स्वरूप किया है तीन जगत् जिन्होंने ऐसे ॥७॥ इनको आदि लेकर गणनासे अतीत गुणरूप रत्नोंके महासमुद्र, देवोंके देव, स्वयंबुद्ध, जिनोंके सूर्य, ऐसे श्रीऋषभदेव सर्वज्ञका हे मुने, तू चिन्तवन(ध्यान) कर ॥८॥

जन्ममृत्युजराक्रान्तं रागादिविषमूर्छितम् ।
सर्वसाधारणैर्दोषैरष्टादशभिरावृतम् ॥९॥
अनेकव्यसनोच्छिष्टं संयमज्ञानविच्युतम् ।
संज्ञामात्रेण केचिच्च सर्वज्ञं प्रतिपेदिरे ॥१०॥

अर्थ—कई अन्यमती जन्म जरा मरणसे व्याप्त, रागद्वेषादि विषसे मूर्छित, सर्व साधारण मनुष्यके समान क्षुधा तृषा आदि १८ दोषोंसे आच्छादित ॥ ९ ॥ तथा अनेक व्यसनों (कष्ट आपदाओं) कर सहित संयम और ज्ञानसे रहित, ऐसे आत्माको नाममात्रसे सर्वज्ञ मानते हैं ॥ १० ॥

इतरोऽपि नरः षड्भिः प्रमाणैर्वस्तुसंचयम् ।
परिच्छिन्दन्मतः कैश्चित्सर्वज्ञः सोऽपि नेक्ष(ष्य) ते ॥११॥

अर्थ—तथा कईने प्रत्यक्ष १ अनुमान २ उपमान ३ आगम ४ अर्थापत्ति ५ और अभाव ६ इन छः प्रमाणोंसे वस्तुके समूहको जानते हुए अन्य पुरुषको भी सर्वज्ञ माना है सो वह भी सर्वज्ञ नहीं है ॥ ११ ॥ इस कारण आचार्य महाराज कहते हैं—

अतः सम्यक्स विज्ञेयः परित्यज्यान्यशासनम् ।
युक्त्यागमविभागेन ध्यातुकामैर्मनीषिभिः ॥ १२ ॥

अर्थ—इस कारण जो सर्वज्ञ भगवान्का ध्यान करनेके इच्छुक बुद्धिमान् पुरुष हैं, उनको चाहिये कि अन्य मतोंको छोड़ कर, युक्ति और आगमसे निर्णय करके सर्वज्ञको सम्यक् प्रकारसे निश्चय करे ॥१२॥

युक्त्या वृषभसेनाद्यैर्निर्द्धूयासाधुवल्गितम् ।
यस्य सिद्धिः सतां मध्ये लिखिता चन्द्रमण्डले ॥१३ ॥

अर्थ—जिस सर्वज्ञ को सिद्धि वृषभसेन आदि गणधर और आचार्योंने युक्तिसे असाधु दुर्जनोंके कथनका खंडन करके, सत्पुरुषोंके बीचमें निर्मल चन्द्रमण्डलमें लिखी है ॥ १३ ॥

अनेकवस्तुसंपूर्णं जगद्यस्य चराचरम् ।
स्फुरत्यविकलं बोधविशुद्धादर्शमण्डले ॥ १४ ॥
स्वभावजमसंदिग्धं निर्दोषं सर्वदोदितम् ।
यस्य विज्ञानमत्यक्षं लोकालोकं विसर्पति ॥ १५ ॥
यस्य विज्ञानघर्मांशु—प्रभाप्रसरपीडिताः ।
क्षणादेव क्षयं यान्ति खद्योता इव दुर्नयाः ॥ १६ ॥
पादपीठीकृताशेषत्रिदशेन्द्रसभाजिरम् ।
योगिगम्यं जगन्नाथं गुणरत्नमहार्णवम् ॥ १७ ॥
पवित्रितधरापृष्ठं समुद्धृतजगत्त्रयम् ।
मोक्षमार्गप्रणेतारमनन्तं पुण्यशासनम् ॥ १८ ।
भामण्डलनिरुद्धार्कं चन्द्रकोटिसमप्रभम् ।
शरण्यं सर्वगं शान्तं दिव्यवाणीविशारदम् ॥ १९ ॥
अक्षोरगशकुन्तेशं सर्वाभ्युदयमन्दिरम् ।
दुःखार्णवपतत्सत्त्वदत्तहस्तावलम्बनम् ॥ २० ॥

मृगेन्द्रविष्टराररूढं मारमातङ्गघातकम् ।
इन्दुत्रयसमोदामच्छत्रत्रयविराजितम् ॥ २१ ॥
हंसालीपातलोलाढ्यचामरव्रजवीजितम् ।
वीततृष्णं जगन्नाथं वरदं विश्वरूपिणम् ॥ २२ ॥
दिव्यपुष्पानकाशोकराजितं रागवर्जितम् ।
प्रातिहार्यमहालक्ष्मीलक्षितं परमेश्वरम् ॥ २३ ॥
नवकेवललब्धिश्रीसंभवं स्वात्मसंभवम् ।
तुर्यध्यानमहावह्नौ हुतकर्मेन्धनोत्करम् ॥ २४ ॥
रत्नत्रयसुधास्यन्दमन्दीकृतभवश्रमम् ।
वीतसंगं जितद्वैतं शिवं शान्तं सनातनम् ॥ २५ ॥
अर्हन्तमजमव्यक्तं कामदं कामनाशकम् ।
पुराणपुरुषं देवं देवदेवं जिनेश्वरम् ॥ २६ ॥
विश्वनेत्रं जगद्वन्द्यं योगिनाथं महेश्वरम् ।
ज्योतिर्मयमनाद्यन्तं त्रातारं भुवनेश्वम् ॥ २७ ॥
योगीश्वरं तमीशानमादिदेवं जगद्गुरुम् ।
अनन्तमच्युतं शान्तं भास्वन्तं भूतनायकम् ॥ २८ ॥
सन्मतिं सुगतं सिद्धं जगज्ज्येष्ठं पितामहम् ।
महावीरं मुनिश्रेष्ठं पवित्रं परमाक्षरम् ॥२९ ॥
सर्वज्ञं सर्वदं सार्वं वर्धमानं निरामयम् ।
नित्यमव्ययमव्यक्तं परिपूर्णं पुरातनम् ॥ ३० ॥
इत्यादिसान्वयानेकपुण्यनामोपलक्षितम् ।
स्मर सर्वगतं देवं वीरममरनायकम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—आचार्य महाराज कहते हैं कि हे मुनि, तू आगे लिखे हुए प्रकारसे सर्वज्ञ देवका स्मरण कर कि जिस सर्वज्ञ देवके ज्ञानरूप निर्मल दर्पणके मंडलमें अनेक वस्तुओंसे भरा हुआ चराचर यह जगत प्रकाशमान है ॥१४॥ तथा जिनका ज्ञान स्वभावसे ही उत्पन्न हुआ है, संशयादिक रहित है, निर्दोष है सदाकाल उदयरूप है, तथा इन्द्रियोंका उल्लंघन करके प्रवर्त्तनेवाला है और लोकालोकमें सर्वत्र विस्तरता है, ॥१५॥ तथा खद्योत (जुगुनू) के समान जिसके विज्ञानरूप सूर्यकी प्रभासे पीड़ित हुये दुर्नय (एकान्त पक्ष) क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं ॥१६॥ तथा जिसने समस्त इंद्रोंकी सभाके स्थानको सिंहासनरूप किया हैं तथा योगीगणोंसे गम्य है, जगतका नाथ है, गुणरूपी रत्नोंका महान् समूह है

॥१७॥ तथा पवित्र किया है पृथ्वीतल जिसने, तथा उद्धरण किया है तीन जगतका जिसने ऐसा और मोक्षमार्गका निरूपण करनेवाला है, अनन्त है और जिसका शासन पवित्र है ॥ १८॥ तथा जिसने भामंडलसे सूर्यको आच्छादित किया है, कोटि चंद्रमाके समान प्रभाका धारक है, जो जीवोंको शरण भूत है, सर्वत्र जिसके ज्ञानकी गति है, शान्त है, दिव्य वाणीमें प्रवीण है ॥१९॥ तथा इन्द्रियरूपी सर्पोंको गरुड समान है, समस्त अभ्युदयका मंदिर है, तथा दुःखरूप समुद्रमें पड़ते हुए जीवोंको हस्तावलंबन देनेवाला है ॥२०॥ तथा सिंहासन पर स्थित है, कामरूप हस्तीका घातक है, तथा तीन चन्द्रमाके समान मनोहर तीन छत्र सहित विराजमान है ॥२१॥ तथा हंसपंक्तिके पड़नेकी लीलापूर्ण चमरोंके समूहसे वीजित है, तृष्णा रहित है,जगतका नाथ है, वरका देनेवाला और विश्वरूपी है; अर्थात् ज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंके रूप देखनेवाला है ॥२२॥ तथा दिव्य पुष्पवृष्टि, आनक अर्थात् दुंदुभि बाजे तथा अशोक वृक्षों सहित विराजमान है, तथा राग रहित (वीतराग) है, प्रातिहार्य महालक्ष्मीसे विभूषित है, परम ऐश्वर्यकरके सहित (परमेश्वर) है ॥२३॥ तथा अनंतज्ञान १, दर्शन २, दान ३, लाभ ४, भोग ५, उपभोग ६, वीर्य ७, क्षायिकसम्यक्त्व ८, और चारित्र ९, इन नवलब्धिरूपी लक्ष्मीकी जिससे उत्पत्ति है, तथा अपने आत्मासे ही उत्पन्न है, और शुक्लध्यानरूपी महान् अग्निमें होम दिया है कर्मरूपी इन्धनका समूह जिसने ऐसा है ॥२४॥ तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्ररूप अमृतके झरनोंसे संसारके खेदको दूर करनेवाला है, परिग्रह रहित है, जीत लिया है द्वैतभाव जिसने ऐसा है कल्याणस्वरूप, शान्तरूप तथा सनातन अर्थात् नित्यरूप है ॥२५॥ तथा अरहन्त है, अजन्मा है, अव्यक्त है अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं है तथा कामद (मनोवांछित दाता) है, कामका नाशक है, पुराण पुरुष है, देव है, देवोंका देव है, जिनेश्वर है ॥२६॥ तथा समस्त लोकको देखने वा दिखानेको नेत्र समान हैं, जगतके वंदने योग्य हैं, योगियोंका नाथ है, महेश्वर है, ज्योतिर्मय (ज्ञानप्रकाशमय) है, आदि अंत रहित है, सबका रक्षक है, तीन भुवनका ईश्वर है ॥२७॥योगीश्वर है, ईशान है, आदिदेव है, जगद्गुरु है, अनन्त है, अच्युत है. शान्त है, तेजस्वी है, भूननायक है ॥२८॥सन्मति है, सुगत है, सिद्ध है, जगतमें ज्येष्ठ हैं, पितामह है, महावीर है, मुनिश्रेष्ठ है, पवित्र है, परमाक्षर है, ॥२९॥ सर्वज्ञ है, सबका दाता है, सर्वहितैषी है, वर्द्धमान है, निरामय (रोगरहित) है, नित्य है, अव्यय (नाशरहित) है, अव्यक्त है, परिपूर्ण है, पुरातन है ॥३०॥ इत्यादिक अनेक सार्थ पवित्र नाम सहित, सर्वगत, देवोंका नायक सर्वज्ञ जो श्रीवीरतीर्थंकर है उसका हे मुने, तू स्मरण कर ॥३१॥

इस प्रकार दोष रहित, सर्वज्ञ देव, अर्हंत जिनदेवका ही ध्यान करना चाहिये; अन्यमति गुण रहित दोष सहितको सर्वज्ञ कहते है सो नाममात्र हैं, कल्पित है, वह सर्वज्ञ ध्यान करने योग नहीं है।

अनन्यशरणं साक्षात्तत्संलीनैकमानसः ।
तत्स्वरूपमवाप्नोति ध्यानी तन्मयतां गतः ॥ ३२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त सर्वज्ञ देवका ध्यान करनेवाला ध्यानी अन्य शरणसे रहित हो साक्षात् उसमें ही

संलीन है मन जिसका ऐसा हो, तन्मयताको पा कर, उसी स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

यमाराध्य शिवं प्राप्ता योगिनो जन्मनिस्पृहाः ।
यं स्मरन्त्यनिशं भव्याः शिवश्रीसंगमोत्सुकाः ॥ ३३ ॥
यस्य वागमृतस्यैकामासाद्य कणिकामपि ।
शाश्वते पथि तिष्ठन्ति प्राणिनः प्रास्तकल्मषाः ॥ ३४ ॥
देवदेवः स ईशानो भव्याम्भोजैकभास्करः ।
ध्येयः सर्वात्मना वीरः निश्चलीकृत्य मानसम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—जिस सर्वज्ञ देवका आराधन करके संसारसे निःस्पृह मुनिगण मोक्षको प्राप्त हुए हैं तथा मोक्षलक्ष्मीके संगमें उत्सुक भव्यजीव जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं ॥३३॥ तथा जिनके वचनरूपी अमृतकी एक कणिका मात्रको पा कर संसारी जीव कल्मष (मिथ्यात्व पापों) को नष्ट करके शाश्वत मोक्षमार्गमें तिष्ठते हैं ॥३४॥ सो देवोंका देव, ईशान, भव्य जीवरूप कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्य समान ऐसा श्रीवीरजिनेन्द्र मनको निश्चल करके ध्यान करने योग्य (ध्येय) है; अन्य कल्पित ध्येय (ध्यान करने योग्य) नहीं है ॥ ३५ ॥

तस्मिन्निरन्तराभ्यासवशात्संजातनिश्चलाः ।
सर्वावस्थासु पश्यन्ति तमेव परमेष्ठिनम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—उस सर्वज्ञ देवके ध्यानमें अभ्यास करनेके प्रभावसे निश्चल हुए योगीगण सर्व अवस्थाओंमें उसी परमेष्ठीको देखते है ॥ ३६ ॥

तदालम्ब्य परं ज्योतिस्तद्गुणग्रामरञ्जितः ।
अविक्षिप्तमना योगी तत्स्वरूपमुपाश्नुते ॥ ३७ ॥

अर्थ—योगी (ध्यानीमुनि) उस सर्वज्ञ देव परम ज्योतिका आलंबन करके उसके गुणग्रामोंमें रंजायमान होता हुआ मनमें विक्षेप रहित हो कर उसी स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

इत्थं तद्भावनानन्दसुधास्यन्दाभिनन्दितः ।
न हि स्वप्नाद्यवस्थासु ध्यायन्प्रच्यवते मुनिः ॥ ३८ ॥

अर्थ—इस प्रकार उस सर्वज्ञ देवकी भावनासे उत्पन्न हुए आनन्दरूप अमृतके वेगसे आनंदरूप हुआ मुनि स्वप्नादिक अवस्थाओंमें भी ध्यानसे च्युत नहीं होता ॥ ३८ ॥

अथवा इस प्रकार है—

तस्य लोकत्रयैश्वर्यं ज्ञानराज्यं स्वभावजम् ।
ज्ञानत्रयजुषां मन्ये योगिनामप्यगोचरम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो उस सर्वज्ञ देवके तीन लोकका ईश्वरत्व है, स्वभावसे उत्पन्न ज्ञानका राज्य है, वह मति श्रुत अवधि इन तीन ज्ञान सहित योगी मुनियोंको भी अगोचर है, ऐसा मैं मानता हूं ॥३९॥

परन्तु कुछ विशेष है सो कहते हैं—

साक्षान्निर्विषयं कृत्वा साक्षं चेतः सुसंयमी।
नियोजयत्यविश्रान्तं तस्मिन्नेव जगद्गुरौ ॥४०॥

अर्थ—यद्यपि सर्वज्ञ देवका रूप छद्मस्थ ज्ञानीके अगोचर है तथापि इन्द्रिय और मनको अन्य विषयोंसे हटा कर सुसंयमी मुनि निरन्तर साक्षात् उसी भगवान्के स्वरूपमें अपने मनको लगाता है ॥४०॥

तद्गुणग्रामसंलीनमानसस्तद्गताशयः।
तद्भावभावितो योगी तन्मयत्वं प्रपद्यते ॥४१॥

अर्थ— उस परमात्मामें मन लगावे तब उसके ही गुणोंमें लीन चित्त हो कर उसमें ही चित्तको प्रवेश करके उसी भावसे भावित योगी मुनि उसीकी तन्मयताको प्राप्त होता है ॥४१॥

यदाभ्यासवशात्तस्य तन्मयत्वं प्रजायते।
तदात्मानमसौ ज्ञानी सर्वज्ञीभूतमीक्षते ॥४२॥

अर्थ—जब अभ्यासके वशसे उस मुनिके उस सर्वज्ञके स्वरूपसे तन्मयता उत्पन्न होती है, उस समय वह मुनि अपने असर्वज्ञ आत्माको सर्वज्ञ स्वरूप देखता है ॥४२॥

तब किस प्रकार मानता है सो कहते है—

एष देवः स सर्वज्ञः सोऽहं तद्रूपतां गतः।
तस्मात्स एव नान्योऽहं विश्वदर्शीति मन्यते ॥४३॥

अर्थ—जिस समय सर्वज्ञ स्वरूप अपनेको देखता है, उस समय ऐसा मानता है कि वह वही सर्वज्ञ देव है, वही तत्स्वरूपताको प्राप्त हुआ मैं हूं, इस कारण वही सर्वका देखनेवाला मैं हूं, अन्य मैं नहीं हूं ऐसा मानता है ॥४३॥

उक्तं च।

"येन येन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ॥१॥

अर्थ—जिस जिस भावसे यह यंत्रवाहक (जीव) जुड़ता है उस २ भावसे तन्मयताको प्राप्त होता है, जैसे निर्मल स्फटिक मणि जिस वर्णसे युक्त होता है, वैसा ही वर्ण स्वरूप हो जाता है ॥१॥"

इस प्रकार अन्य शास्त्रमें कहा है तथा अन्य प्रकार भी कहते हैं—

भव्यतैव हि भूतानां साक्षान्मुक्तेर्निबन्धनम्।
अतः सर्वज्ञता भव्ये भवन्ती नात्र शङ्क्यते ॥४४॥

अर्थ— अथवा इस प्रकार है कि जीवोंके भव्यत्व भाव है सो साक्षात् मुक्तिका कारण है,

इस कारण भव्य प्राणीमें सर्वज्ञता होनेमें संदेह नहीं करना अर्थात् भव्यके निःसंदेह सर्वज्ञता होती ही है ॥४४॥

अयमात्मा स्वसामर्थ्याद्विशुद्ध्यति न केवलम् ।
चालयत्यपि संक्रुद्धो भुवनानि चतुर्दश ॥४५॥

अर्थ—यह आत्मा अपने सामर्थ्यसे केवल विशुद्ध ही नहीं होता है, किन्तु जो क्रोधरूप होता है तो चौदह भुवनोंको (लोकोंको) भी चला देता है । भावार्थ—आत्माकी अचिन्त्य सामर्थ्य है कि जो आप सर्वज्ञके ध्यानसे तन्मय होता है तो सर्वज्ञ हो जाता है और किसी समय यदि क्रोधसे तन्मय हो जाय तो चौदह भुवनोंको चला देता है ॥४५॥

स्रग्धरा

त्रैलोक्यानन्दबीजं जननजलनिधेर्यानपात्रं पवित्रं
लोकालोकप्रदीपं स्फुरदमलशरच्चन्द्रकोटिप्रभाढ्यम् ।
कस्यामप्यग्रकोटौ जगदखिलमतिक्रम्य लब्धप्रतिष्ठं
देवं विश्वैकनाथं शिवमजमनघं वीतरागं भजस्व ॥४६॥

अर्थ—हे मुने, तू वीतराग देवका ही ध्यान कर, कैसे हैं वीतराग भगवान् ? तीनो लोकोंके जीवोंको आनन्दके कारण हैं, संसाररूप समुद्रके पार होनेके लिये जहाज तुल्य हैं तथा पवित्र अर्थात् द्रव्यभाव मलसे रहित हैं तथा लोक अलोकके प्रकाश करनेके लिये दीपकके समान है और प्रकाशमान तथा निर्मल ऐसे जो करोड़ शरदके चन्द्रमा उनकी प्रभासे भी अधिक प्रभाके धारक हैं तथा किसी मुख्य कोटिमें समस्त जगतका उल्लंघन कर पाई है प्रतिष्ठा जिन्होंने ऐसे हैं, जगतके अद्वितीय नाथ है, शिवस्वरूप हैं, अजन्मा हैं, पाप रहित हैं, ऐसे वीतराग भगवान्का ध्यान करो ॥४६॥

इस प्रकार रूपस्थ ध्यानका वर्णन किया । इसमें अरहंत सर्वज्ञ सर्व अतिशयोंसे पूर्णका ध्यान करना कहा है; उसीके अभ्याससे तन्मय हो कर, उसके समान अपने आत्माको ध्यावना, जिससे वैसा ही हो जाता है, इस प्रकार वर्णन किया ।

सोरठा ।

सर्वविभवजुत जान, जे ध्यावैं अरहंतकूं ।
मन बलि करि सति मान, ते पावैं तिस भावकूं ॥३९॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे रूपस्थधर्मध्यानवर्णनं नाम एकोनचत्वारिंशं प्रकरणम् ॥३९॥

---

१ : नरक ७, भवनवासी देवोंका स्थान १, ज्योतिष्क १, मध्यलोक १, सोलह स्वर्ग १, नवग्रैवेयक १, नव अनुदिश १, पंच अनुत्तर १ इस प्रकार चौदह भुवन है । अन्यमती चौदह भुवन अन्य प्रकार मानते हैं ।

४०. अथ चत्वारिंशः सर्गः ।

रूपातीत ध्यानका वर्णन

इस प्रकरणमें रूपातीत ध्यानका वर्णन करते हैं, सो प्रथम ही असमीचीन ध्यानका निषेध करते हैं—

वीतरागं स्मरन्योगी वीतरागी विमुच्यते ।
रागी सरागमालम्ब्य क्रूरकर्माश्रितो भवेत् ॥ १ ॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला योगी वीतरागका ध्यान करता हुआ वीतराग हो कर कर्मोंसे छूट जाता है और रागीका अवलंबन करके ध्यान करनेसे रागी होकर क्रूर कर्मोंके आश्रित हो जाता है अर्थात् अशुभ कर्मोंसे बँध जाता है ॥ १ ॥

मन्त्रमण्डलमुद्रादिप्रयोगैर्ध्यातुमुद्यतः ।
सुरासुरनरव्रातं क्षोभयत्यखिलं क्षणात् ॥ २ ॥

अर्थ—यदि ध्यानी मुनि मन्त्र; मंडल, मुद्रादि प्रयोगोंसे ध्यान करनेमें उद्यत हो तो समस्त सुर, असुर और मनुष्योंके समूहको क्षणमात्रमें क्षोभित कर सकता है ॥ २ ॥

क्रुद्धस्याप्यस्य सामर्थ्यमचिन्त्यं त्रिदशैरपि ।
अनेकविक्रियासारध्यानमार्गावलम्बिनः ॥ ३ ॥

अर्थ—अनेक प्रकारकी विक्रियारूप असार ध्यानमार्गका अवलंबन करनेवाले क्रोधीके भी ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जिसका देव भी चिन्तवन नहीं कर सकते ॥ ३ ॥

उपजातिः ।

बहूनि कर्माणि मुनीप्रवीरैर्विद्यानुवादात्प्रकटीकृतानि ।
असंख्य भेदानि कुतूहलार्थं कुमार्गकुध्यानगतानि सन्ति ॥ ४ ॥

अर्थ—ज्ञानी मुनियोंने विद्यानुवादपूर्वसे असंख्य भेदवाले अनेक प्रकारके विद्वेषण उच्चाटन आदि कर्म कौतूहलके लिये प्रगट किये हैं परन्तु वे सब कुमार्ग और कुध्यानके अन्तर्गत है ॥४॥

उपेन्द्रवज्रा ।

असावनन्तप्रथितप्रभावः स्वभावतो यद्यपि यन्त्रनाथः ।
नियुज्यमानः स पुनः समाधौ करोति विश्वं चरणाग्रलीनम् ॥ ५ ॥

अर्थ—यद्यपि यह आत्मा स्वभावसे ही अनन्त और जगत्प्रसिद्ध प्रभावका धारक है, फिर समाधि (ध्यान) में जोडा हुआ हो तो यह समस्त जगतको अपने चरणोंमें लीन कर लेता है ॥५॥

स्वप्नेऽपि कौतुकेनापि नासद्ध्यानानि योगिभिः ।
सेव्यानि यान्ति बीजत्वं यतः सन्मार्गहानये ॥ ६ ॥

अर्थ—परन्तु योगी मुनियोंको चाहिये कि असमीचीन ध्यानोंको कौतुकसे स्वप्नमें भी न

विचारें, क्योंकि असमीचीन ध्यान सन्मार्गकी हानिके लिये बीजस्वरूप (कारण) है भावार्थ-खोटे ध्यान से खोटा मार्ग ही चलता है, इस कारण मुनि जनोंको बुरा ध्यान कदापि नहीं करना चाहिये ॥६॥

सन्मार्गात्प्रच्युतं चेतः पुनर्वर्षशतैरपि ।
शक्यते न हि केनापि व्यवस्थापयितुं पथि ॥ ७ ॥

अर्थ—खोटे ध्यानके कारण सन्मार्गसे विचलित हुए चित्तको फिर सैकड़ों वर्षोंमें भी कोई सन्मार्गमें लानेको समर्थ नहीं हो सकता इस कारण खोटा ध्यान कदापि नहीं करना चाहिये ॥७॥

असद्ध्यानानि जायन्ते स्वनाशायैव केवलम् ।
रागाद्यसद्ग्रहावेशात्कौतुकेन कृतान्यपि ॥ ८ ॥

अर्थ—असमीचीन (खोटे) ध्यान कौतुक मात्रसे किये हुए भी रागादिरूप खोटे ग्रहोंके आवेशसे केवल अपने नाशके लिये ही होते है ॥ ८ ॥

निर्भरानन्दसन्दोहपदसंपादनक्षमम् ।
मुक्तिमार्गमतिक्रम्य कः कुमार्गे प्रवर्त्तते ॥ ९ ॥

अर्थ—इस कारण अतिशय रूप आनन्दके समूहके स्थानको उत्पन्न करनेमें समर्थ ऐसे मोक्ष मार्ग (समीचीन ध्यान) को छोड़कर ऐसा कौन है जो कुमार्ग (खोटे ध्यान) में प्रवृत्ति करे, ज्ञानवान् तो कदापि नहीं करे ॥ ९ ॥

शार्दूलविक्रीडितम् ।

क्षुद्रध्यानपरप्रपञ्चचतुरा रागानलोद्दीपिताः
मुद्रामण्डलयन्त्रमन्त्रकरणैराराधयन्त्यादृताः ।
कामक्रोधवशीकृतानिह सुरान् संसारसौख्यार्थिनो
दुष्टाशाभिहताः पतन्ति नरके भोगार्तिभिर्वञ्चिताः ॥ १० ॥

अर्थ—जो पुरुष खोटे ध्यानके उत्कृष्ट प्रपंचोंको विस्तार करनेमें चतुर हैं, वे इस लोकमें रागरूप अग्निसे प्रज्वलित होकर मुद्रा, मंडल, यंत्र, मंत्र, आदि साधनोंके द्वारा कामक्रोधसे वशीभूत कुदेवोंका आदरसे आराधन करते हैं, सो सांसारिक सुखके चाहनेवाले और दुष्ट आशासे पीडित तथा भोगोंकी पीडासे वंचित हो कर वे नरकमें पड़ते हैं, इस कारण कहते हैं कि— ॥ १० ॥

तद्ध्येयं तदनुष्ठेयं तद्विचिन्त्यं मनीषिभिः ।
यज्जीवकर्मसंबन्धविश्लेषायैव जायते ॥११॥

अर्थ—वही बुद्धिमानोंको ध्यान करने योग्य है और वही अनुष्ठान व चिन्तवन करने योग्य है, जो कि जीव और कर्मोंके सम्बन्धको दूर करनेवाला हो हो, अर्थात् जिस कार्यसे कर्मोंसे मोक्ष हो, वही कार्य करना योग्य है ॥ ११ ॥

फिर भी कुछ विशेषतासे कहते हैं—

स्वयमेव हि सिद्ध्यन्ति सिद्धयः शान्तचेतसाम् ।
अनेकफलसंपूर्णा मुक्तिमार्गावलम्बिनाम् ॥१२॥

अर्थ—जो मुनि शान्त चित्त हैं और मुक्तिमार्गका अवलम्बन करनेवाले हैं, उनके अनेक प्रकारके फलोंसे भरी हुई सिद्धियाँ स्वयमेव सिद्ध हो जाती हैं। भावार्थ-समीचीन ध्यानसे नाना प्रकारकी ऋद्धियाँ बिना चाहे ही सिद्ध हो जाती हैं; फिर खोटे आशयसे खोटे ध्यान करनेमें क्या लाभ है? ॥१२॥

संभवन्ति न वामीष्टसिद्धयः क्षुद्रयोगिनाम् ।
भवत्येव पुनस्तेषां स्वार्थभ्रंशोऽनिवारितः ॥१३॥

अर्थ—जो खोटे ध्यान करनेवाले क्षुद्र योगी हैं, उनको इष्ट सिद्धियाँ कदापि नहीं होती, किन्तु उनके उलटी स्वार्थको अनिवार्य हानि हो होती है ॥१३॥

भवप्रभवसम्बन्धनिरपेक्षा मुमुक्षवः ।
न हि स्वप्नेऽपि विक्षिप्तं मनः कुर्वन्ति योगिनः ॥१४॥

अर्थ— जो मोक्षाभिलाषी योगीश्वर मुनि हैं, वे जिससे संसारकी उत्पत्ति हो ऐसे संबन्धोंसे निरपेक्ष रहते हैं; वे अपने मनको स्वप्नमें भी चलायमान नहीं करते हैं। भावार्थ—उनको किसी प्रकारकी ऋद्धि प्राप्त हो, कोई देवता आ कर उनकी महिमा करे तथा किसीको ऋद्धिवान् देखें तो भी वे मोक्षमार्गसे कदापि अपने मनको च्युत नहीं करते ॥१४॥

अब रूपातीत ध्यानका वर्णन करते हैं—

अथ रूपे स्थिरीभूतचित्तः प्रक्षीणविभ्रमः ।
अमूर्त्तमजमव्यक्तं ध्यातुं प्रक्रमते ततः ॥१५॥

अर्थ—इसके पश्चात् रूपस्थ ध्यानमें स्थिरीभूत है चित्त जिसका तथा नष्ट हो गये हैं विभ्रम जिसके ऐसा ध्यानी अमूर्त, अजन्मा, इन्द्रियोंसे अगोचर, ऐसे परमात्माके ध्यानका प्रारम्भ करता है ॥१५॥

चिदानन्दमयं शुद्धममूर्त्तं परमाक्षरम् ।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते ॥१६॥

अर्थ—जिस ध्यानमें ध्यानी मुनि चिदानन्दमय, शुद्ध अमूर्त, परमाक्षररूप आत्माको आत्मासे ही स्मरण करे अर्थात् ध्यावे सो रूपातीत ध्यान माना गया है ॥१६॥

वदन्ति योगिनो ध्यानं चित्तमेवमनाकुलम् ।
कथं शिवत्वमापन्नमात्मानं संस्मरेन्मुनिः ॥१७॥

अर्थ—योगीश्वर चित्तके आकुलता रहित होने अर्थात् क्षोभरहित होनेको ही ध्यान कहते हैं; तो कोई मुनि मोक्षप्राप्त आत्माका स्मरण कैसे करे? भावार्थ-जब ध्येय और ध्यानी पृथक् पृथक् है तो चित्तको क्षोभ अवश्य होगा ॥१७॥

इसका समाधान इस प्रकार है—

विवेच्य तद्गुणग्रामं तत्स्वरूपं निरूप्य च ।
अनन्यशरणो ज्ञानी तस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ॥१८॥

अर्थ—प्रथम तो उस परमात्माके गुणसमूहोंको पृथक् २ विचारे और फिर उन गुणोंके समुदायरूप परमात्माको गुणगुणीके अभिन्न भावसे विचारे और फिर किसी अन्यके शरणसे रहित हो कर ज्ञानी पुरुष उसी परमात्मामें लीन हो जावें । **भावार्थ**—इस ध्यानमें प्रथम तो गुण और गुणीका पृथक् रूपसे विचार है, परन्तु अन्तमें परमात्मामें लीन होनेसे ध्येय और ध्यानी पृथक् रूप न रहेंगे ॥१८॥

तद्गुणग्रामसम्पूर्णं तत्स्वभावैकभावितः ।
कृत्वात्मानं ततो ध्यानी योजयेत्परमात्मनि ॥१९॥

अर्थ—परमात्माके स्वभावसे एकरूप भावित अर्थात् मिला हुआ ध्यानी मुनि उस परमात्माके गुणसमूहोंसे पूर्णरूप अपने आत्माको करके फिर उसे परमात्मामें योजन करे, ऐसा विधान है ॥१९॥

द्वयोर्गुणैर्मतं साम्यं व्यक्तिशक्तिव्यपेक्षया ।
विशुद्धेतरयोः स्वात्मतत्त्वयोः परमागमे ॥२०॥

अर्थ—परमागममें विशुद्ध अर्थात् कर्म रहित और उससे इतर अर्थात् कर्म सहित इन दोनों स्वात्मतत्त्वोंमें शक्ति और व्यक्तिकी अपेक्षासे गुणोंसे समानता मानी है । **भावार्थ**—जब शक्ति और व्यक्तिको भिन्न २ मानते हैं तब तो कर्म रहित विशुद्ध आत्मा व्यक्तिरूपसे परमात्मा है और कर्म सहित आत्मा शक्तिरूपसे परमात्मा है; और यदि शक्ति और व्यक्तिको अभिन्न मानते हैं तो दोनों ही समान हैं ॥२०॥

अब शक्ति और व्यक्ति भिन्नाभिन्न माननेमें अविरोधका हेतु दिखलाते हैं—

यः प्रमाणनयैर्नूनं स्वतत्त्वमवबुद्ध्यते ।
बुद्ध्यते परमात्मानं स योगी वीतविभ्रमः ॥२१॥

अर्थ—जो मुनि प्रमाण और नयोंके द्वारा अपने आत्मतत्त्वको जानता है, वही योगी विना किसी सन्देहके परमात्माको जानता है । **भावार्थ**—जब तक प्रमाण और नयोंका स्वरूप तथा इनके द्वारा आत्माका स्वरूप न जाना जायगा तब तक कर्म सहित ही आत्मा शक्तिकी अपेक्षासे कर्म रहित है विरोध भी दूर न हो सकेगा; इन दोनोंका विरोध दूर करनेवाला स्याद्वाद है; इस लिये स्याद्वादको समझ कर फिर यदि इन दोनोंका विचार करते हैं, तो कोई विरोध नहीं रहता और न भ्रम ही रहता है॥२१॥

अब कर्म रहित परमात्माका स्वरूप कहते हैं कि जिसके द्वारा यह योगी अपने आत्माको रूपातीत ध्यानमें चिन्तवन करे—

व्योमाकारमनाकारं निष्पन्नं शान्तमच्युतम् ।
चरमाङ्गात्कियन्न्यूनं स्वप्रदेशैर्घनैः स्थितम् ॥२२॥

लोकाग्रशिखरासीनं शिवीभूतमनामयम् ।
पुरुषाकारमापन्नमप्यमूर्तं च चिन्तयेत् ॥२३॥

अर्थ—आकाशके आकार अर्थात् अमूर्त, अनाकार अर्थात् पुद्गलके आकारसे रहित, निष्पन्न अर्थात् फिर जिसमें किसी प्रकारकी हीनाधिकता न हो, शान्त अर्थात् क्षोभ रहित, अच्युत अर्थात् जो अपने रूपसे कभी च्युत न हो, चरम शरीरसे किञ्चित् न्यून अर्थात् जिस शरीरसे मोक्ष हुआ है, उस शरीरसे नासिकादि रन्ध्र प्रदेशोंसे हीन, अपने घनीभूत प्रदेशोंसे स्थित तथा लोकाकाशके अग्रभागमें स्थित, शिवीभूत अर्थात् पहले अकल्याणरूप थे अब कल्याणरूप हुए ऐसे अनामय अर्थात् रोगादिकसे सर्वथा रहित और पुरुषाकारको प्राप्त हो कर भी अमूर्त अर्थात् आकार तो पुरुषका है परन्तु तो भी उसमें रूप रस गंध स्पर्शादिक नहीं हैं ऐसे परमात्माका ध्यान इस रूपातीत ध्यानमें करे ॥२२-२३॥

निष्कलस्य विशुद्धस्य निष्पन्नस्य जगद्गुरोः ।
चिदानन्दमयस्योच्चैः कथं स्यात्पुरुषाकृतिः ॥२४॥

अर्थ—जो परमात्मा निष्कल अर्थात् देहरहित है, विशुद्ध अर्थात् द्रव्यभावरूप दोनों मलोंसे रहित है, निष्पन्न अर्थात् जिसमें कुछ हीनाधिकता होनेवाली नहीं है जो जगत्का गुरु है और जोचिदानन्द स्वरूप अर्थात् चैतन्य और आनन्द स्वरूप है, महान् है, ऐसे परमात्माके पुरुषाकृति अर्थात् पुरुषका आकार कैसा हो सकता है ? ॥ २४ ॥

इसका सामाधान—

विनिर्गतमधूच्छिष्टप्रतिमे मूषिकोदरे ।
यादृग्गगनसंस्थानं तदाकारं स्मरेद्विभुम् ॥२५॥

अर्थ—जिससे मोम निकल गया है ऐसी मूषिकाके उदरमें जैसा आकाशका आकार है, तदाकार परमात्मा प्रभुका ध्यान करे ॥ २५ ॥

इसीका दूसरा दृष्टान्त कहते हैं—

सर्वावयवसम्पूर्णं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
विशुद्धादर्शसङ्क्रान्तप्रतिबिम्बसमप्रभम् ॥२६॥

अर्थ—समस्त अवयवोंसे पूर्ण और समस्त लक्षणोंसे लक्षित ऐसे निर्मल दर्पणमें पड़ते हुए प्रतिबिम्बके समान प्रभावाले परमात्माका चिन्तवन करे। भावार्थ— जैसे निर्मल दर्पणमें पुरुषके समस्त अवयव और लक्षण दिखाई पड़ते हैं, उसी तरह परमात्माके प्रदेश शरीरके अवयवरूप परिणत हैं और उनमें समस्त लक्षणोंकी तरह समस्त गुण रहते हैं ॥ २६ ॥

इत्यसौ सन्तताभ्यासवशात्संजातनिश्चयः ।
अपि स्वप्नाद्यवस्थासु तमेवाध्यक्षमीक्षते ॥२७॥

अर्थ—इस प्रकार जिसके निरन्तर अभ्यासके वशसे निश्चय हो गया है ऐसा ध्यानी स्वप्नादिक

अवस्थामें भी उसी परमात्माको प्रत्यक्ष देखता है। भावार्थ—दृढ अभ्याससे स्वप्नादिकमें भी परमात्मा ही दिखाई पडता है ॥ २७ ॥

सोऽहं सकलवित्सार्वः सिद्धः साध्यो भवच्युतः ।
परमात्मा परंज्योतिर्विश्वदर्शी निरञ्जनः ॥२८॥
तदासौ निश्चलोऽमूर्त्तो निष्कलङ्को जगद्गुरुः ।
चिन्मात्रो विस्फुरत्युच्चैर्ध्यानध्यातृविवर्जितः ॥२९॥

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे जब परमात्माका निश्चय हो जाता है और दृढ अभ्याससे उसका प्रत्यक्ष होने लगता है, उस समय परमात्माका चिन्तवन इस प्रकार करे कि ऐसा परमात्मा मैं ही हूं, मैं ही सर्वज्ञ हूं, सर्वव्यापक हूं, सिद्ध हूं, तथा मैं हो साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य था; संसारसे रहित, परमात्मा, परमज्योतिस्वरूप, समस्त विश्वका देखनेवाला मैं हो हूं, मैं हो निरंजन हूं, ऐसा परमात्माका ध्यान करे; उस समय अपना स्वरूप निश्चल, अमूर्त्त अर्थात् शरीर रहित, निष्कलङ्क जगत्का गुरु चैतन्यमात्र और ध्यान तथा ध्याताके भेदरहित ऐसा अतिशय स्फुरायमान होता है ॥ २८-२९ ॥

पृथग्भावमतिक्रम्य तथैक्यं परमात्मनि ।
प्राप्नोति स मुनिः साक्षाद्यथान्यत्वं न बुध्यते ॥३०॥

अर्थ—यह मुनि जिस समय पूर्वोक्त प्रकारसे परमात्माका ध्यान करता है उस समय परमात्मामें पृथक् भाव अर्थात् अलगपनेका उल्लंघन करके साक्षात् एकताको इस तरह प्राप्त हो जाता है कि जिससे पृथक्पनेका बिल्कुल भान नहीं होता। भावार्थ–उस समय ध्याता और ध्येयमें द्वैतभाव नहीं रहता॥३०॥

उक्तं च

"निष्कलः परमात्माहं लोकालोकावभासकः ।
विश्वव्यापी स्वभावस्थो विकारपरिवर्जितः ॥१॥

अर्थ–निष्कल अर्थात् देह रहित, लोक और अलोकको देखने और जाननेवाला, विश्वमें व्यापक, स्वभावमें स्थिर, समस्त विकारोंसे रहित ऐसा परमात्मा मैं हूं ऐसा अन्य ग्रन्थोंमें भी अभेद भाव दिखाया है ॥ १ ॥

मालिनी

इतिविगतविकल्पं क्षीणरागादिदोषं
विदितसकलवेद्यं त्यक्तविश्वप्रपञ्चम् ।
शिवमजमनवद्यं विश्वलोकैकनाथं
परमपुरुषमुच्चैर्भावशुद्ध्या भजस्व ॥३१॥

अर्थ—यहां आचार्य विशेष उपदेशरूप प्रेरणा करते हैं कि हे मुने, इस प्रकार जिसके समस्त विकल्प दूर हो गये हैं जिसके रागादिक सब दोष क्षीण हो चुके हैं जो जानने योग्य समस्त पदार्थोंका

स्वभाववाला, है जिसने संसारके समस्त प्रपञ्च छोड़ दिये हैं, जो शिव अर्थात् कल्याण स्वरूप अथवा मोक्ष स्वरूप है, जो अज अर्थात् जिसको आगे जन्म मरण नहीं करना है, जो अनघ अर्थात् पापोंसे रहित है तथा जो समस्त लोकका एक अद्वितीय नाथ है ऐसे परम पुरुष परमात्माको भावोंकी शुद्धता पूर्वक अतिशय करके भज । भावार्थ–शुद्ध भावोंसे ऐसे परम पुरुष परमात्माका ध्यान कर ॥३१॥

इस प्रकार इस अध्यायमें रूपातीत ध्यानका निरूपण किया है, इसका संक्षेप भावार्थ यह है कि जब ध्यानी सिद्ध परमेष्ठीके ध्यानका अभ्यास करके शक्तिकी अपेक्षासे आपको भी उनके समान जान कर और आपको उनके समान व्यक्तरूप करनेके लिये उस (आप) में लीन होता है, तब आप कर्मका नाश कर व्यक्तरूप सिद्ध परमेष्ठी होता है ।

दोहा

सिद्ध निरञ्जन कर्मबिन, मूरति रहित अनन्त ।
जो ध्यावै परमातमा, सो पावै शिव संत ॥४०॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे रूपातीतध्यानवर्णनं नाम चत्वारिंशं प्रकरणम् ॥४०॥

---

४१. अथैकचत्वारिंशः सर्गः ।

धर्मध्यानका फल वर्णन ।

आगे श्रीशुभचन्द्राचार्य धर्मध्यानका फल वर्णन करते हुए प्रथम ही कुछ उपदेश करते हैं—

वंशस्थम्

प्रसीद शान्तिं व्रज सन्निरुद्ध्यतां दुरन्तजन्मज्वरजिह्मितं मनः ।
अगाधजन्मार्णवपारवर्तिनां यदि श्रियं वाञ्छसि विश्वदर्शिनाम् ॥१॥

अर्थ—हे आत्मन् , यदि तू अगाध संसाररूपी समुद्रके पारवर्त्ती और समस्त लोकालोकके देखनेवाले ऐसे अरहंत और सिद्ध भगवान्‌की लक्ष्मीको इच्छा करता है तो प्रसन्न हो, शान्तता धारण कर और दुरन्त संसाररूप ज्वर मूर्छित मनको वश कर । भावार्थ—आचार्यका उपदेश है कि यदि तू ध्यान करना चाहता है तो प्रथम ही अपने मनको वशमें कर और शान्तभाव धारण कर ॥१॥

यदि रोद्धुं न शक्नोति तुच्छवीर्यो मुनिर्मनः ।
तदा रागेतरध्वंसं कृत्वा कुर्यात्सुनिश्चलम् ॥२॥

अर्थ—और तुच्छवीर्य मुनि अर्थात् सामर्थ्यहीन मुनि यदि अपने मनको वश नहीं कर सके तो रागद्वेषका नाश करके मनको निश्चल करे । भावार्थ—मनको रागद्वेषरूप परिणत न होने दे ॥२॥

अनुप्रेक्षाश्च धर्मस्य स्युः सदैव निबन्धनम् ।
चित्तभूमौ स्थिरीकृत्य स्वस्वरूपं निरूपय ॥३॥

अर्थ—हे मुने ! अनित्य अशरणादिक बारह अनुप्रेक्षा अर्थात् अनित्यादिकका चिन्तवन करना तथा धर्मध्यानका कारण है, इस लिये अपनी चित्तरूपी भूमिमें उन अनुप्रेक्षाओंको स्थिर करके अपने स्वरूपका अवलोकन कर । भावार्थ—यदि तेरा चित्त स्थिर न हो तो बारह भावनाओंका चिन्तवन कर, वे भावना धर्मध्यानमें कारण हैं ॥३॥

स्फोटयत्याशु निष्कम्पो यथा दीपो घनं तमः ।
तथा कर्मकलङ्कौघं मुनेर्ध्यानं सुनिश्चलम् ॥४॥

अर्थ—जैसे निष्कम्प अर्थात् अचल दीपक सघन अन्धकारको शीघ्र ही दूर कर देता है, उसी तरह मुनिका सुनिश्चल ध्यान भी कर्मकलंकके समूहको शीघ्र ही नाश करता है । भावार्थ—कर्मके नाश करनेके लिये ध्यान करना ही चाहिये ॥४॥

चलत्येवाल्पसत्त्वानां क्रियमाणमपि स्थिरम् ।
चेतः शरीरिणां शश्वद्विषयैर्व्याकुलीकृतम् ॥५॥
न स्वामित्वमतः शुक्ले विद्यतेऽत्यल्पचेतसाम् ।
आद्यसंहननस्यैव तत्प्रणीतं पुरातनैः ॥६॥
छिन्ने भिन्ने हते दग्धे देहे स्वमिव दूरगम् ।
प्रपश्यन् वर्षवातादिदुःखैरपि न कम्पते ॥७॥
न पश्यति तदा किंचिन्न शृणोति न जिघ्रति ।
स्पृष्टं किञ्चिन्न जानाति साक्षान्निर्वृत्तलेपवत् ॥८॥ (कलापकम्)

अर्थ— अल्पवीर्य अर्थात् सामर्थ्यहीन प्राणियोंका मन स्थिर करते हुए भी निरन्तर विषयोंसे व्याकुल होता हुआ चलायमान होता ही है, इस लिये अतिशय अल्पचित्तवालोंका शुक्लध्यान करनेमें अधिकार नहीं है, प्राचीन मुनियोंने पहलेके (वज्रवृषभनाराच) संहननवालेके ही शुक्लध्यान कहा है । इसका कारण यह है कि इस संहननवालेका ही चित्त ऐसा है कि शरीरको छेदने, भेदने, मारने और जलाने पर भी अपने आत्माको उस शरीरसे अत्यन्त दूर अर्थात् भिन्न देखता हुआ चलायमान नहीं होता, और न वर्षाकालके पवन आदिक दुःखोंसे चलायमान होता है, तथा उस ध्यानके समय लेपकी मूर्ति अर्थात् रंगसे निकाली हुई चित्रामकी मूर्तिकी तरह हो जाता है, इस कारण यह योगी न तो कुछ देखता है, न कुछ सुनता है, न कुछ सूंघता है और न कुछ स्पर्श किये हुएको जानता है । भावार्थ—ऐसे पुरुषके शुक्लध्यान होता है ॥५ ६-७-८॥

आद्यसंहननोपेता निर्वेदपदवीं श्रिताः ।
कुर्वन्ति निश्चलं चेतः शुक्लध्यानक्षमं नराः ॥९॥

अर्थ- जिनके आदिका संहनन है और जो वैराग्य पदवीको प्राप्त हुए हैं, ऐसे पुरुष ही अपने चित्तको शुक्लध्यान करनेमें समर्थ ऐसा निश्चल करते हैं ॥९॥

सामग्र्योरुभयोर्ध्यातुर्ध्यानं बाह्यान्तरङ्गयोः ।
पूर्वयोरेव शुक्लं स्यान्नान्यथा जन्मकोटिषु ॥१०॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्व कही हुई बाह्य और आभ्यन्तर अर्थात् आदिके संहनन और वैराग्यभाव इन दोनों सामग्रियोंसे ध्यान करनेवालेके शुक्लध्यान होता है; अन्यथा अर्थात् विना आदिके संहनन और वैराग्यभावके, करोड़ों जन्मोंमें भी नहीं हो सकता ॥१०॥

सर्व साधारण जीवोंके शुक्लध्यान असंभव है, इस लिये धर्मध्यानकी रीति कहते हैं—

अतिक्रम्य शरीरादिसङ्गानात्मन्यवस्थितः ।
नैवाक्षमनसा योगं करोत्येकाग्रताश्रितः ॥ ११॥

अर्थ—धर्मध्यान करनेवाला शरीरादि परिग्रहोंको छोड़ आत्मामें अवस्थित होता हुआ, एकाग्रताको धारण कर, इन्द्रिय और मनका संयोग नहीं करता है अर्थात् इन्द्रियोंसे जो पदार्थोंका ग्रहण होता है, उनका मनसे संयोग नहीं करता; मनको केवल स्वरूपमें ही स्थिर रखता है ॥११॥

अब इस ध्यानका फल लिखते हैं—

असंख्येयमसंख्येयं सद्दृष्ट्यादिगुणेऽपि च ।
क्षीयते क्षपकस्यैव कर्मजातमनुक्रमात् ॥१२॥
शमकस्य क्रमात् कर्म शान्तिमायाति पूर्ववत् ।
प्राप्नोति निर्गतातङ्कं स सौख्यं शमलक्षणम् ॥१३॥

अर्थ—इस धर्मध्यानमें कर्मोंका क्षय करनेवाले क्षपकके सद्दृष्टि अर्थात् सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त अनुक्रमसे असंख्यात असंख्यात गुणा कर्मका समूह क्षय होता है; और जो कर्मोंका उपशम करनेवाला उपशमक है, उसके क्रमसे असंख्यात असंख्यात गुणा कर्मका समूह उपशम होता है, इस लिये ऐसा धर्मध्यानी आतंक दाहादि दुःखोंसे रहित होता हुआ उपशम भावरूप सुखको प्राप्त होता है ॥१२–१३॥

धर्मध्यानस्य विज्ञेया स्थितिरान्तर्मुहूर्तिकी ।
क्षायोपशमिको भावो लेश्या शुक्लैव शाश्वती ॥१४॥

अर्थ—इस धर्मध्यानकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त है, इसका भाव क्षायोपशमिक है और लेश्या सदा शुक्ल ही रहती है । भावार्थ–धर्मध्यान अन्तर्मुहूर्त रहता है । धर्मध्यानवालेके क्षायोपशमिक भाव और शुक्ल लेश्या होती है ॥१४॥

इदमत्यन्तनिर्वेदविवेकप्रशमोद्भवम् ।
स्वात्मानुभवमत्यक्षं योजयत्यङ्गिनां सुखम् ॥१५॥

अर्थ—यह धर्मध्यान जीवोंको अत्यन्त निर्वेद अर्थात् संसार देह भोगादिकोंसे अत्यन्त वैराग्य तथा विवेक अर्थात् भेदज्ञान और प्रशम अर्थात् मंदकषाय इनसे उत्पन्न होनेवाले अपने आत्माके ही अनुभवमें आनेवाले और इन्द्रियोंसे अतीत अर्थात् अतीन्द्रिय ऐसे सुखको प्राप्त कराता है ॥१५॥

अब इस धर्मध्यानके चिन्ह कहते हैं—

उक्तं च।

अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम्।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिन्हम् ॥१॥

अर्थ—अलौल्य अर्थात् विषयोंमें इन्द्रियोंकी लंपटता न होना और मनका चपल न होना, आरोग्य अर्थात् शरीर नीरोग होना, निष्ठुरता न होना, शरीरका गंध शुभ होना, मलमूत्रका अल्प होना, शरीर कान्ति सहित होना अर्थात् शक्तिहीन न होना, चित्तका प्रसन्न होना अर्थात् खेद शोकादिक मलिन भावरूप न होना और स्वर अर्थात् शब्दोंका उच्चारण सौम्य होना, ये चिह्न योगकी प्रवृत्तिके अर्थात् ध्यान करनेवालेके प्रारम्भदशामें होते हैं। भावार्थ-ऐसे चिह्नवाले पुरुषके ध्यानका प्रारम्भ होता है ॥१॥

अब इस धर्मध्यानका फल कहते हैं—

अथावसाने स्वतनुं विहाय ध्यानेन संन्यस्तसमस्तसङ्गाः।
ग्रैवेयकानुत्तरपुण्यवासे सर्वार्थसिद्धौ च भवन्ति भव्याः ॥१६॥

अर्थ—जो भव्य पुरुष इस पर्यायके अन्त समयमें समस्त परिग्रहोंको छोड़ कर, धर्मध्यानसे अपना शरीर छोड़ते हैं, वे पुरुष पुण्यके स्थानरूप ऐसे ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानोंमें तथा सर्वार्थ-सिद्धिमें उत्पन्न होते हैं। भावार्थ-यदि परिग्रहका त्याग कर मुनि हो धर्मध्यानसे इस पर्यायको छोड़े तो नव ग्रैवेयक, नव अनुत्तर और सर्वार्थसिद्धिमें उत्तम देव हो ॥१६॥

तत्रात्यन्तमहाप्रभावकलितं लावण्यलीलान्वितं
स्रग्भूषाम्बरदिव्यलाञ्छनचितं चन्द्रावदातं वपुः।
संप्राप्योन्नतवीर्यबोधसुभगं कामज्वरार्तिच्युतं
सेवन्ते विगतान्तरायमतुलं सौख्यं चिरं स्वर्गिणः ॥१७॥

अर्थ—जो जीव धर्मध्यानके प्रभावसे स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं, वे वहां अत्यन्त महाप्रभाव सहित, सुन्दरता और क्रीड़ायुक्त तथा माला, भूषण, वस्त्र और दिव्य लक्षणादि सहित, चन्द्रमासदृश शुक्ल-वर्ण शरीरको पा कर, उन्नत वीर्य और ज्ञानसे सुभग कामज्वरकी वेदनासे रहित और अन्तराय रहित ऐसे अतुल सुखोंको चिरकाल पर्यन्त भोगते है ॥१७॥

ग्रैवेयकानुत्तरवासभाजां वीचारहीनं सुखमत्युदारम्।
निरन्तरं पुण्यपरम्पराभिर्विवर्द्धते वार्द्धिरिवेन्दुपादैः ॥१८॥

अर्थ—ग्रैवेयक और अनुत्तरादि विमानोंमें रहनेवाले देवोंका सुख कामसेवनसे रहित होता है अर्थात् उनके कामसेवन सर्वथा नहीं है तथापि उनका सुख अत्यन्त उदार है, और वह जैसे चन्द्रमाकी किरणोंसे समुद्र बढता है, वैसे ही निरन्तर पुण्यकी परम्परासे बढ़ता ही रहता है। भावार्थ वहांका सुख सदा वृद्धिरूप है ॥१८॥

देवराज्यं समासाद्य यत्सुखं कल्पवासिनाम् ।
निर्विशन्ति ततोऽनन्तं सौख्यं कल्पातिवर्तिनः ॥ १९ ॥

अर्थ—इन्द्रपदको पाने पर कल्पवासियोंको जो सुख मिलता है, उससे अनन्त गुणा सुख कल्पातीतों (नव ग्रैवेयक, नव अनुत्तर और विजयादिक पांच विमानोंमें रहनेवाले अहमिन्द्रों) को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

संभवन्त्यथ कल्पेषु तेष्वचिन्त्यविभूतिदम् ।
प्राप्नुवन्ति परं सौख्यं सुराः स्त्रीभोगलाञ्छितम् ॥ २० ॥

अर्थ—अथवा धर्मध्यानसे पर्याय छोड़ कर, जो उन कल्पस्वर्गों (सोलह स्वर्गों) में उत्पन्न होते हैं वे देव भी अचिन्त्य विभूतिके देनेवाले और स्त्रियोंके भोगों सहित उत्कृष्ट सुखको प्राप्त होते हैं ॥२०॥

दशाङ्गभोगसम्भूतं महाष्टगुणवर्द्धितम् ।
यत्कल्पवासिनां सौख्यं तद्वक्तुं केन पार्यते ॥ २१ ॥

अर्थ—कल्पवासी देवोंका सुख दशाङ्ग भोगसे उत्पन्न हुआ है और अणिमादिक आठ महागुणोंसे बढ़ा हुआ है; इस लिये उस सुखका कौन वर्णन कर सकता है ॥ २१ ॥

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं सर्वाभ्युदयभूषितम् ।
नित्योत्सवयुत दिव्यं दिवि सौख्यं दिवौकसाम् ॥ २२ ॥

अर्थ—स्वर्गमें देवोंका सुख सर्वद्वन्द्व अर्थात् क्षोभोंसे रहित है, समस्त अभ्युदयोंसे भूषित, नित्य उत्सवों सहित और दिव्य है ॥ २२ ।

प्रतिसमयमुदीर्णं स्वर्गसाम्राज्यरूढं
सकलविषयबीजं स्वान्तदत्ताभिनन्दम् ।
ललितयुवतिलीलालिङ्गनादिप्रसूतं
सुखमतुलमुदारं स्वर्गिणो निर्विशन्ति ॥ २३ ॥

अर्थ—स्वर्गके देव प्रत्येक समयमें उदयरूप अर्थात् विच्छेद रहित, स्वर्गके साम्राज्यसे प्रसिद्ध, समस्त विषयोंका कारण, अन्तःकरणको आनन्द देनेवाले, सुन्दर देवाङ्गनाओंकी लीला और आलिंगनादिकसे उत्पन्न, अतुल और उदार सुखका अनुभव करते हैं ॥ २३ ॥

सर्वाभिमतभावोत्थं निर्विघ्नं स्व सुखामृतम् ।
सेव्यमाना न बुद्ध्यन्ते गतं जन्म दिवौकसः ॥ २४ ॥

अर्थ—स्वर्गनिवासी देव अपने समस्त मनोवांछित पदार्थोंसे उत्पन्न और निर्विघ्न ऐसे स्वर्गके सुखरूप अमृतका सेवन करते हुए व्यतीत हुए जन्मको अर्थात् गये हुए देवपर्यायको नहीं जानते ॥२४॥

तस्माच्च्युत्वा त्रिदिवपटलाद्दिव्यभोगावसाने
कुर्वन्त्यस्यां भुवि नरसुते पुण्यवंशेऽवतारम् ।
तत्रैश्वर्यं परमवपुषं प्राप्य देवोपनीतै-
र्भोगैर्नित्योत्सवपरिणतैर्लाल्यमाना वसन्ति ॥ २५ ॥

अर्थ—फिर वे स्वर्गके देव दिव्य भोगोंको भोग कर, उस स्वर्गपटलसे च्युत होते हैं और इस भूमंडलमें जिसको लोग नमस्कार करते हैं ऐसे उत्तम पुण्य वंशमें अवतार लेते हैं; और वहां भी परम (उत्कृष्ट) शरीर और ऐश्वर्यको पा कर, नित्य उत्सव रूप परिणत ऐसे देवोपनीत अनेक भोगोंसे लालित और पुष्ट हुए निवास करते हैं; यह सब धर्मध्यानका फल है ॥ २५ ॥

ततो विवेकमालम्ब्य विरज्य जननभ्रमात् ।
त्रिरत्नशुद्धिमासाद्य तपः कृत्वान्यदुष्करम् ॥ २६ ॥
धर्मध्यानं च शुक्लं च स्वीकृत्य निजवीर्यतः ।
कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा व्रजन्ति पदमव्ययम् ॥ २७ ॥

अर्थ—उसके बाद अर्थात् उत्तम मनुष्यभवके सुख भोग कर, पुनः भेदज्ञान (शरीरादिकसे आत्माको भिन्नता) को अवलंबन कर, संसारके परिभ्रमणसे विरक्त हो, रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रकी शुद्धताको प्राप्त कर, दुर्धर तप कर तथा अपनी शक्तिके अनुसार धर्मध्यान और शुक्लध्यानको धारण कर और समस्त कर्मोंका नाश कर, अविनाशी मोक्ष पदको प्राप्त होते हैं; यह धर्मध्यानका परंपरारूप फल है; इस प्रकार धर्मध्यानका फल निरूपण किया ॥ २६-२७ ॥

दोहा ।

धर्मध्यानको फल भलो, पद अहमिन्द्र सुरेन्द्र ।
परंपरा शिवपुर बसें, जे नर धरें वितन्द्र ॥ ४१ ॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे धर्मध्यानफलवर्णनं नामैकचत्वारिंशं प्रकरणम् ॥ ४१ ॥

---

४२. अथ द्विचत्वारिंशः सर्गः ।

शुक्लध्यानका स्वरूप ।

अब आचार्य शुक्लध्यानका वर्णन करते हैं; शुक्लध्यान धर्मध्यानपूर्वक होता है, इस लिए प्रथम हि धर्मध्यानकी प्रेरणा करते हैं—

शार्दूलविक्रीडितम्

रागाद्युग्ररुजाकलापकलितं सन्देहलोलायितं
विक्षिप्तं सकलेन्द्रियार्थगहने कृत्वा मनो निश्चलम् ।
संसारव्यसनप्रबन्धविलयं मुक्तेर्विनोदास्पदं
धर्मध्यानमिदं विदन्तु निपुणा अत्यक्षसौख्यार्थिनः ॥ १ ॥

अर्थ—अतीन्द्रिय सुखके चाहनेवाले निपुण मुनि प्रथम हो रागादिक तीव्र रोगोंके समूहोंसे व्याप्त, अनेक सन्देहोंसे चलायमान अर्थात् जब तक निर्णय न हो तब तक स्थिर न रहनेवाले और समस्त

इन्द्रियोंके विषयरूप गहन वनमें विक्षिप्त अर्थात् भूले हुए मनको निश्चल करते हैं; संसारके कष्ट आपत्ति आदि व्यसनोंके प्रबंधसे रहित और मुक्तिके क्रीडा करनेका स्थान ऐसे इस ध्यानको धर्मध्यान कहते हैं। भावार्थ—मनको निश्चल करके, धर्मध्यान होता है; इसमें सांसारिक व्यापारके प्रबंधका सर्वथा अभाव है ॥ १ ॥

आत्मार्थं श्रय मुञ्च मोहगहनं मित्रं विवेकं कुरु
वैराग्यं भज भावयस्व नियतं भेदं शरीरात्मनोः ।
धर्मध्यानसुधासमुद्रकुहरे कृत्वावगाहं परं
पश्यानन्तसुखस्वभावकलितं मुक्तेर्मुखाम्भोरुहम् ॥ २ ॥

अर्थ—हे आत्मन्, तू आत्माके प्रयोजनका आश्रय कर अर्थात् और प्रयोजनोंको छोड़ कर केवल आत्माके प्रयोजनका ही आश्रय कर तथा मोहरूपी वनको छोड़, विवेक अर्थात् भेदज्ञानको मित्र बना, संसार देहके भोगोंसे वैराग्यका सेवन कर, और परमार्थसे जो शरीर और आत्मामें भेद है उसका निश्चयसे चिन्तवन कर, और धर्मध्यानरूपी अमृतके समुद्रके कुहर (मध्य) में परम अवगाहन (स्नान) करके अनन्त सुख स्वभाव सहित मुक्तिके मुखकमलको देख ॥ २ ॥

अब शुक्लध्यानका निरूपण करते हैं—

अथ धर्ममतिक्रान्तः शुद्धिं चात्यन्तिकीं श्रितः ।
ध्यातुमारभते वीरः शुक्लमत्यन्तनिर्मलम् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस धर्मध्यानके अनन्तर धर्मध्यानसे अतिक्रान्त हो कर अर्थात् निकल कर, अत्यन्त शुद्धताको प्राप्त हुआ धीर वीर मुनि अत्यन्त निर्मल शुक्लध्यानके ध्यावनेका प्रारम्भ करता है ॥३॥

निष्क्रियं करणातीतं ध्यानधारणवर्जितम् ।
अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—जो निष्क्रिय अर्थात् क्रिया रहित है, इन्द्रियातीत और ध्यानकी धारणासे रहित है अर्थात् "मैं इसका ध्यान करूं" ऐसी इच्छासे रहित है और जिसमें चित्त अन्तर्मुख अर्थात् अपने स्वरूपके ही सन्मुख है; उसको शुक्लध्यान कहते हैं ॥ ४ ॥

आदिसंहननोपेतः पूर्वज्ञः पुण्यचेष्टितः ।
चतुर्विधमपि ध्यान स शुक्लं ध्यातुमर्हति ॥ ५ ॥

अर्थ—जिसके प्रथम-वज्रवृषभनाराच-संहनन है; जो पूर्व अर्थात् ग्यारह अंग चौदह पूर्वका जाननेवाला है और जिसकी पुण्यरूप चेष्टा हो अर्थात् शुद्धचारित्र हो, वही मुनि चारों प्रकारके शुक्ल ध्यानोंको धारण करने योग्य होता है ॥ ५ ॥

आर्या ।

"शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमाद्वा ।
वैडूर्यमणिशिखामिव सुनिर्मलं निष्प्रकम्पं च ॥ १ ॥

अर्थ—आत्माके शुचिगुणके सम्बन्धसे इसका नाम शुक्ल पड़ा है; कषायरूपी रजके क्षय होनेसे अथवा उपशम होनेसे जो आत्माके निर्मल परिणाम होते हैं, वही शुचिगुणका योग है और यह शुक्लध्यान वैडूर्यमणिकी शिखाके समान निर्मल और निष्कंप अर्थात् कंपतासे रहित है ॥ ५ ॥

कषायमलविश्लेषात्प्रशमाद्वा प्रसूयते ।
यतः पुंसामतस्तज्ज्ञैः शुक्लमुक्तं निरुक्तिकम् ॥ ६ ॥

अर्थ—पुरुषोंके कषायरूपी मलके क्षय होनेसे अथवा उपशम होनेसे यह शुक्लध्यान होता है; इस लिये उस ध्यानके जाननेवाले आचार्योंने इसका नाम शुक्ल ऐसा निरुक्तिपूर्वक अर्थात् सार्थक कहा है ॥ ६ ॥

छद्मस्थयोगिनामाद्ये द्वे तु शुक्ले प्रकीर्तिते ।
द्वे त्वन्त्ये क्षीणदोषाणां केवलज्ञानचक्षुषाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—शुक्लध्यानके पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरतक्रियानिवृत्ति ऐसा चार भेद हैं; उनमेंसे पहिलेके दो अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क तो छद्मस्थ योगी अर्थात् बारहवें गुणस्थान पर्यन्त अल्प ज्ञानियोंके होते हैं; और अन्तके दो शुक्लध्यान सर्वथा रागादि दोषोंसे रहित ऐसे केवलज्ञानियोंके होते हैं ॥ ७ ॥

श्रुतज्ञानार्थसम्बन्धाच्छ्रुतालम्बनपूर्वके ,
पूर्वे परे जिनेन्द्रस्य निःशेषालम्बनच्युते ॥ ८ ॥

अर्थ—प्रथमके शुक्लध्यान जो कि छद्मस्थोंके होते हैं, वे श्रुतज्ञानके अर्थके संबंधसे श्रुतज्ञानके आलंबनपूर्वक हैं अर्थात् उनमें श्रुतज्ञानपूर्वक पदार्थका आलंबन होता है; और अन्तके दो शुक्लध्यान जो कि जिनेन्द्रदेवके होते हैं वे समस्त आलंबन रहित होते हैं ॥ ८ ॥

सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं च कीर्तितम् ।
शुक्लमाद्यं द्वितीयं तु विपर्यस्तमतोऽपरम् ॥ ९ ॥

अर्थ—आदिके दो शुक्लध्यानोंमें पहला शुक्लध्यान वितर्क, वीचार और पृथक्त्व सहित है, इसलिये इसका नाम पृथक्त्ववितर्कवीचार है और दूसरा इससे विपर्यस्त है, सोही कहते हैं ॥ ९ ॥

सवितर्कमवीचारमेकत्वपदलाञ्छितम् ।
कीर्तितं मुनिभिः शुक्लं द्वितीयमतिनिर्मलम् ॥ १० ॥

अर्थ—दूसरा शुक्लध्यान वितर्क सहित है, परन्तु वीचार रहित है और एकत्व पदसे लाञ्छित अर्थात् सहित है,इस लिये इसका नाम मुनियोंने एकत्ववितर्कावीचार कहा है;यह ध्यान अत्यन्त निर्मल है॥१०॥

सूक्ष्मक्रियाप्रतीपाति तृतीयं सार्थनामकम् ।
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानं तुर्यमार्यैर्निवेदितम् ॥ ११ ॥

अर्थ—तीसरे शुक्लध्यानका सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति ऐसा सार्थक नाम है; इसमें उपयोगकी क्रिया नहीं है, परन्तु कायकी क्रिया विद्यमान है, यह कायकी क्रिया घटते घटते जब सूक्ष्म रह जाती है तभी यह तीसरा शुक्लध्यान होता है और इससे इसका सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति ऐसा नाम है; और आर्य पुरुषोंने चौथे ध्यानका नाम समुच्छिन्नक्रिय अर्थात् व्युपरतक्रियानिवर्त्ति ऐसा कहा है; इसमें कायकी क्रिया भी मिट जाती है ॥ ११ ॥

तत्र त्रियोगिनामाद्यं द्वितीयं त्वेकयोगिनाम् ।
तृतीयं तनुयोगानां स्यात्तुरीयमयोगिनाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—शुक्लध्यानके चारों भेदोंमेंसे पहला जो पृथक्त्ववितर्कवीचार है सो मन, वचन, काय इन तीनों योगोंवाले मुनियोंके होता है,क्योंकि इसमें योग पलटते रहते हैं, दूसरा एकत्ववितर्कवीचार किसी एक योगसे ही होता है, क्योंकि इसमें योग पलटते नहीं, योगी जिस योगमें लीन है, वही योग रहता है, तीसरा सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति काययोग वालेके ही होता है, क्योंकि केवली भगवानके केवल काययोगकी सूक्ष्मक्रिया ही है, शेष दो योगोंकी क्रिया नहीं है, और चौथा समुच्छिन्नक्रिय अयोगकेवलीके होता है, क्योंकि अयोगकेवलीके योगोंकी क्रियाका सर्वथा अभाव है ॥ १२ ॥

अब इनका स्पष्ट अर्थ कहते हैं—

पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र विद्यते ।
सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं तदिष्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें पृथक् पृथक् रूपसे वितर्क अर्थात् श्रुतका वीचार अर्थात् संक्रमण होता है अर्थात् जिसमें अलग अलग श्रुतज्ञान बदलता रहता है, उसको सवितर्क सवीचार सपृथक्त्व ध्यान कहते हैं ॥ १३ ॥

अवीचारो वितर्कस्य यत्रैकत्वेन संस्थितः ।
सवितर्कमवीचारं तदेकत्वं विदुर्बुधाः ॥ १४ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें वितर्कका वीचार (संक्रमण) नहीं होता और जो एक रूपसे ही स्थित हो उसको पंडितजन सवितर्क अवीचार रूप एकत्व ध्यान कहते हैं ॥ १४ ॥

पृथक्त्वं तत्र नानात्वं वितर्कः श्रुतमुच्यते ।
अर्थव्यञ्जनयोगानां वीचारः संक्रमः स्मृतः ॥१५॥

अर्थ—तहां नानात्व अर्थात् अनेकपनेको पृथक्त्व कहते हैं, श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं और अर्थ, व्यञ्जन और योगोंके संक्रमणका नाम वीचार कहा गया है ॥ १५ ॥

अर्थादर्थान्तरापत्तिरर्थसंक्रान्तिरिष्यते ।
ज्ञेया व्यञ्जनसंक्रान्तिर्व्यञ्जनाद्व्यञ्जने स्थितिः ॥ १६ ॥

स्यादिदं योगसंक्रांतिर्योगाद्योगान्तरे गतिः ।
विशुद्धध्यानसामर्थ्यात्क्षीणमोहस्य योगिनः ॥ १७ ॥

अर्थ—एक अर्थ (पदार्थ) से दूसरे अर्थकी प्राप्ति होना अर्थसंक्रान्ति है, एक व्यञ्जनसे दूसरे व्यञ्जनमें प्राप्त हो कर स्थिर होना व्यञ्जनसंक्रान्ति है, और एक योगसे दूसरे योगमें गमन करना योगसंक्रान्ति है, इस प्रकार विशुद्ध ध्यानके सामर्थ्यसे जिसका मोहनीयकर्म नष्ट हो गया है ऐसे योगीके ये होते हैं ॥ १६-१७ ॥

उक्तं च

"अर्थादर्थं वचः शब्दं योगाद्योगं समाश्रयेत् ।
पर्यायादपि पर्यायं द्रव्याणोश्चिन्तयेदणुम् ॥२॥

अर्थ—एक अर्थसे दूसरे अर्थका चिन्तवन करे, एक शब्दसे दूसरे शब्दका और एक योगसे दूसरे योगका आश्रय ले, एक पर्यायसे दूसरे पर्यायका चिन्तवन करे, और द्रव्यरूप अणुसे अणुका चिन्तवन करे, ऐसा अन्य ग्रन्थोंमें लिखा है ॥ २ ॥

अर्थादिषु यथा ध्यानी संक्रामत्यविलम्बितम्
पुनर्व्यावर्त्तते तेन प्रकारेण स हि स्वयम् ॥ १८ ॥

अर्थ—जो ध्यानी अर्थ व्यञ्जन आदि योगोंमें जैसे शीघ्रतासे संक्रमण करता है वह ध्यानी अपने आप पुन उसी प्रकार लौटता है ॥ १८ ॥

त्रियोगी पूर्वविद्यः स्यादिदं ध्यायत्यसौ मुनिः ।
सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वमतो मतम् ॥ १९ ॥

अर्थ—जिसके तीनों योग होते हैं जो पूर्वका जाननेवाला होता है, वही मुनि इस पहले ध्यानको धारण करता है, इस लिये इस ध्यानका नाम सवितर्कसवीचारसपृथक्त्व कहा है ॥ १९ ॥

अस्याचिन्त्यप्रभावस्य सामर्थ्यात्स प्रशान्तधीः ।
मोहमुन्मूलयत्येव शमयत्यथवा क्षणे ॥ २० ॥

अर्थ—इस अचिन्त्य प्रभाववाले ध्यानके सामर्थ्यसे जिसका चित्त शान्त हो गया है ऐसा ध्यानी मुनि क्षणभरमें मोहनीय कर्मका मूलसे नाश करता है, अथवा उपशम करता है ॥ २० ॥

उक्तं च

"इदमत्र तु तात्पर्यं श्रुतस्कन्धमहार्णवात् ।
अर्थमेकं समादाय ध्यायन्नर्थान्तरं व्रजेत् ॥ ३ ॥

अर्थ इस ध्यानमें अर्थादिकके पलटनेका तात्पर्य यह है कि श्रुतस्कन्ध अर्थात् द्वादशांग शास्त्ररूप महासमुद्रसे एक अर्थको लेकर उसका ध्यान करता हुआ दूसरे अर्थको प्राप्त होता है॥३॥

शब्दाच्छब्दान्तरं यायाद्योगं योगान्तरादपि ।
सवीचारमिदं तस्मात्सवितर्कं च लक्ष्यते ॥ २१ ॥

अर्थ—यह ध्यान एक शब्दसे दूसरे शब्द पर जाता है और एक योगसे दूसरे योग पर जाता है इस लिये इसका नाम सवीचारसवितर्क कहते हैं ॥ २१ ॥

श्रुतस्कन्धमहासिन्धुमवगाह्य महामुनिः ।
ध्यायेत्पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानमग्रिमम् ॥ २२ ॥

अर्थ—महामुनि द्वादशांग शास्त्ररूप महासमुद्रका अवगाहन करके. इस पृथक्त्ववितर्क वीचार नामक पहले शुक्लध्यान को ध्यावे ॥ २२ ॥

एवं शान्तकषायात्मा कर्मकक्षाशुशुक्षणिः ।
एकत्वध्यानयोग्यः स्यात्पृथक्त्वेन जिताशयः ॥ २३ ॥

अर्थ—इस प्रकार पृथक्त्व ध्यानसे जिसने अपना चित्त जीत लिया है और जिसके कषाय शान्त हो गये हैं और जो कर्मरूप कक्ष अर्थात् तृणसमूह अथवा वनके दग्ध करनेको अग्निके समान है; ऐसा महामुनि एकत्व ध्यानके योग्य होता है ॥२३ ॥

पृथक्त्वे तु यदा ध्यानी भवत्यमलमानसः ।
तदैकत्वस्य योग्यः स्यादाविर्भूतात्मविक्रमः ॥ २४ ॥

अर्थ—जिस समय इस ध्यानीका चित्त पृथक्त्व ध्यानके द्वारा कषायमलसे रहित होता है, तब इस ध्यानीका पराक्रम प्रगट होता है और तभी यह एकत्व ध्यानके योग्य होता है । भावार्थ—एकत्व ध्यान, पृथक्त्व ध्यानपूर्वक ही होता है ॥ २४ ॥

ज्ञेयं प्रक्षीणमोहस्य पूर्वज्ञस्यामितद्युतेः ।
सवितर्कमिदं ध्यानमेकत्वमतिनिश्चलम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जिसका मोहनीयकर्म नष्ट हो गया है और जो पूर्वका जाननेवाला है और जिसकी द्युति अपरिमित है, उस मुनिके अत्यन्त निश्चल ऐसा यह सवितर्क एकत्वध्यान होता है ॥ २५ ॥

अपृथक्त्वमवीचारं सवितर्कं च योगिनः ।
एकत्वमेकयोगस्य जायतेऽत्यन्तनिर्मलम् ॥ २६ ॥

अर्थ—किसी एक योगवाले मुनिके पृथक्त्व रहित, वीचार रहित और वितर्क सहित ऐसा यह एकत्व ध्यान अत्यन्त निर्मल होता है ॥ २६ ॥

द्रव्यं चैकमणुं चैकं पर्यायं चैकमश्रमः ।
चिन्तयत्येकयोगेन यत्रैकत्वं तदुच्यते ॥ २७ ॥

अर्थ—जिस ध्यानमें योगी खेद रहित हो कर, एक द्रव्यको, एक अणुको अथवा एक पर्यायको एक योगसे चिन्तवन करता है, उसको एकत्व ध्यान कहते हैं ॥ २७ ॥

उक्तं च

"एकं द्रव्यमथाणुं वा पर्यायं चिन्तयेद्यदि ।
योगैकेन यदक्षीणं तदेकत्वमुदीरितम् ॥४ ॥

अर्थ—यदि यति समर्थ होता हुआ एक योगसे एक द्रव्य, एक अणु अथवा एक पर्यायका चिन्तवन करे उसे एकत्व ध्यान कहते हैं ॥ ४ ॥

अस्मिन् सुनिर्मलध्यानहुताशे प्रविजृम्भिते ।
विलीयन्ते क्षणादेव घातिकर्माणि योगिनः ॥ २८ ॥

अर्थ—योगी पुरुषोंके अतिशय निर्मल एकत्ववितर्कअवीचार नामक द्वितीय ध्यानरूपी अग्निके प्रकट होते हुए घातिया कर्म क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं ॥ २८ ॥

दृग्बोधरोधकद्वन्द्वं मोहविघ्नस्य वा परम् ।
स क्षिणोति क्षणादेव शुक्लधूमध्वजार्चिषा ॥ २९ ॥

अर्थ—ध्यानी मुनि इस दूसरे शुक्लध्यानरूपी अग्निकी ज्वालासे दर्शन और ज्ञानके आवरण करनेवाले दर्शनावरण, ज्ञानावरण कर्मको और मोहनीय और अन्तराय कर्मको क्षणमात्रमें ही नष्ट कर देता है। भावार्थ–इस एकत्व शुक्लध्यानसे घातिकर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ॥ २९ ॥

इस प्रकार पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्कअवीचार इन आदिके दोनों शुक्लध्यानोंका निरूपण किया; इनका सक्षेप भावार्थ यह है कि पहले ध्यानमें द्रव्यपर्यायस्वरूप अर्थसे अर्थान्तरका संक्रमण करता है तथा उस अर्थकी संज्ञारूप शास्त्रके वचनसे वचनान्तर (दूसरे वचन) का संक्रमण करता है और तीनों योगोंमेंसे एक योगसे दूसरा, दूसरेसे योगान्तर इस तरह संक्रमण करता है, पलटते पलटते ठहरता भी है; परन्तु उसी ध्यानकी सन्तान चली जाती है, इस लिये उस ध्यानसे मोहनीय कर्मका क्षय अथवा उपशम होता जाता है, और दूसरे ध्यानमें संक्रमण होना बंद हो जाता है, तब शेष रहे हुए घातिया कर्मोंका जड़से नाश करके, केवलज्ञानको प्राप्त होता है।

अब केवलज्ञानकी महिमा निरूपण करते हैं और फिर अगले दोनों शुक्लध्यानोंका निरूपण करेंगे।

आत्मलाभमथासाद्य शुद्धिं चात्यन्तिकीं पराम् ।
प्राप्नोति केवलज्ञानं तथा केवलदर्शनम् ॥ ३० ॥

अर्थ—एकत्ववितर्कअवीचार ध्यानसे घातिकर्मका नाश करके, अपने आत्मलाभको प्राप्त होता है और अत्यन्त उत्कृष्ट शुद्धताको पा कर, केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त करता है ॥ ३० ॥

अलब्धपूर्वमासाद्य तदासौ ज्ञानदर्शने ।
वेत्ति पश्यति निःशेषं लोकालोकं यथास्थितम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—वे ज्ञान और दर्शन दोनों अलब्धपूर्व हैं अर्थात् पहले कभी प्राप्त नहीं हुए थे सो उनको पाकर, उसी समय वे केवली भगवान् समस्त लोक और अलोकको यथावत् देखते और जानते हैं॥ ३१॥

तदा स भगवान् देवः सर्वज्ञः सर्वदोदितः ।
अनन्तसुखवीर्यादिभूतेः स्यादग्रिमं पदम् ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिस समय केवल ज्ञानकी प्राप्ति होती है उस समय वे भगवान् सर्वकालमें उदयरूप

सर्वज्ञदेव होते हैं, और अनन्त सुख अनन्त वीर्य आदि विभूतिके प्रथम स्थान होते हैं; यह भाव-मुक्तका स्वरूप है ॥३२॥

इन्द्रचन्द्रार्कभोगीन्द्रनरामरनतक्रमः ।
विहरत्यवनीपृष्ठं स शीलैश्वर्यलाञ्छितः ॥३३॥

अर्थ—इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य धरणेन्द्र, मनुष्य, और देवोंसे नमस्कृत हुए है चरण जिनके, ऐसे केवली भगवान् शील अर्थात् चौरासी लाख उत्तरगुण और ऐश्वर्य सहित पृथ्वितलमें विहार करते हैं ॥३३॥

उन्मूलयति मिथ्यात्वं द्रव्यभावमलं विभुः ।
बोधयत्यपि निःशेषं भव्यराजीवमण्डलम् ॥३४॥

अर्थ—वे विभु सर्वज्ञ भगवान् पृथ्वितलमें विहार करके जीवोंके द्रव्यमल और भावमल रूप मिथ्या त्वका जड़से नाश करते हैं और समस्त भव्यजीवरूपी कमलोंकी मडली [समूह] को प्रफुल्लित करते हैं। भावार्थ—जीवोंके मिथ्यात्वको दूर करके उनको मोक्षमार्गमें लगाते है ॥३४॥

ज्ञानलक्ष्मीं तपोलक्ष्मीं लक्ष्मीं त्रिदशयोजिताम् ।
आत्यन्तिकीं च सम्प्राप्य धर्मचक्राधिपो भवेत् ॥३५॥

अर्थ—इस शुक्ल ध्यानके प्रभावसे ज्ञानलक्ष्मी, तपोलक्ष्मी और देवोंकी की हुई समवसरण आदिक लक्ष्मी तथा मोक्षलक्ष्मीको पा कर, धर्मके चक्रवर्ती होते हैं ॥३५॥

कल्याणविभवं श्रीमान् सर्वाभ्युदयसूचकम् ।
समासाद्य जगद्वन्द्यं त्रैलोक्याधिपतिर्भवेत् ॥३६॥

अर्थ—अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मीकरके सहित केवली भगवान् जगत्से वंदनीय और सब अभ्युदयोंका सूचक ऐसे कल्याणरूप विभव [सपदा] को पा कर, तीनों लोकोंके अधिपति होते हैं ॥३६॥

तन्नामग्रहणादेव निःशेषा जन्मजा रुजः ।
अप्यनादिसमुद्भूता भव्यानां यान्ति लाघवम् ॥३७॥

अर्थ—जिन भगवानके नाम लेनेसे ही भव्य जीवोंके अनादि कालसे उत्पन्न हुए जन्ममरण-जन्य समस्त रोग लघु (हलके) हो जाते हैं ॥३७॥

तदार्हन्त्यं परिप्राप्य स देवः सर्वगः शिवः ।
जायतेऽखिलकर्मौघजरामरणवर्जितः ॥३८॥

अर्थ—तब वे सर्वगत और शिव ऐसे भगवान् अरहंतपनेको पा कर, सपूर्ण कर्मोंके समूह और जरामरणसे रहित हो जाते हैं। भावार्थ—अरहंतपना पा कर सिद्ध परमेष्ठी होते हैं ॥३८॥

अब कुछ विशेष कहते है—

तस्यैव परमैश्वर्यं चरणज्ञानवैभवम् ।
ज्ञातुं वक्तुमहं मन्ये योगिनामप्यगोचरम् ॥३९॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि मैं ऐसा मानता हूं कि उन सर्वज्ञ भगवान्‌का परम ऐश्वर्य, चारित्र और ज्ञानके विभवका जानना और कहना बड़े बड़े योगियोंके भी अगोचर है ॥३९॥

मोहेन सह दुर्द्धर्षे हते घातिचतुष्टये ।
देवस्य व्यक्तिरूपेण शेषमास्ते चतुष्टयम् ॥४०॥

अर्थ -केवली भगवान्‌के जब मोहनीय कर्मके साथ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन चार दुर्धर्ष घातिया कर्मोंका नाश हो जाता है तब अवशेष चार अघाति कर्म व्यक्तिरूपसे रहते हैं ॥४०॥

सर्वज्ञः क्षीणकर्मासौ केवलज्ञानभास्करः ।
अन्तर्मुहूर्तशेषायुस्तृतीयं ध्यानमर्हति ॥४१॥

अर्थ—कर्मोंसे रहित और केवल ज्ञानरूपी सूर्यसे पदार्थोंको प्रकाश करनेवाले ऐसे वे सर्वज्ञ जब अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु बाकी रह जाती है तब तीसरे सूक्ष्मक्रिया—अप्रतिपाति शुक्लध्यानके योग्य होते हैं ॥४१॥

आर्या ।

षण्मासायुषि शेषे संवृत्ता ये जिनाः प्रकर्षेण ।
ते यान्ति समुद्घातं शेषा भाज्याः समुद्घाते ॥४२॥

अर्थ—जो जिनदेव उत्कृष्ट छः महीनेकी आयु अवशेष रहते हुए केवली हुए हैं वे अवश्य ही समुद्घात करते हैं और शेष अर्थात् जो छः महीनेसे अधिक आयु रहते हुए केवली हुए हैं वे समुद्घातमें विकल्प रूप हैं। भावार्थ—उनका कोई नियम नहीं है, समुद्घात करे और न भी करे ॥४२॥

यदायुरधिकानि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः ।
समुद्घातविधिं साक्षात्प्रागेवारभते तदा ॥४३॥

अर्थ—जब अरहंत परमेष्ठीके आयु कर्म अन्तर्मुहूर्तका अवशेष रह जाता है और अन्य तीनों कर्मोंकी स्थिति अधिक होती है तब समुद्घातकी विधि साक्षात् प्रथम ही आरम्भ करते हैं ॥४३॥

उपजातिः ।

अनन्तवीर्यप्रथितप्रभावो दण्डं कपाटं प्रतरं विधाय ।
स लोकमेनं समयैश्चतुर्भिर्निःशेषमापूरयति क्रमेण ॥४४॥

अर्थ—अनन्त वीर्यके द्वारा जिनका प्रभाव फैला हुआ है ऐसे वे केवली भगवान् क्रमसे दण्ड, कपाट, प्रतर, इन तीन क्रियाओंको तीन समयमें करके चौथे समयमें इन समस्त लोकको पूरण करते हैं। भावार्थ—आत्माके प्रदेश पहले समयमें दण्डरूप लम्बे, द्वितीय समयमें कपाटरूप चौड़े, तीसरे समयमें प्रतर रूप मोटे होते हैं और चौथे समयमें इसके प्रदेश समस्त लोकमें भर जाते हैं, इसीको लोकपूरण कहते हैं। ये सब क्रिया: चार समयमें होती है ॥४४॥

तदा स सर्वगः सार्वः सर्वज्ञः सर्वतोमुखः ।
विश्वव्यापी विभुर्भर्त्ता विश्वमूर्तिर्महेश्वरः ॥ ४५ ॥

अर्थ—केवली भगवान् जिस समय लोकपूर्ण होते हैं, उस समय उनके सर्वगत, सार्व, सर्वज्ञ, सर्वतोमुख, विश्वव्यापी, विभु, भर्त्ता विश्वमूर्ति और महेश्वर ये नाम यथार्थ (सार्थक) होते हैं ॥४५॥

लोकपूरणमासाद्य करोति ध्यानवीर्यतः
आयुःसमानि कर्माणि भुक्तिमानीय तत्क्षणे ॥ ४६ ॥

अर्थ—केवली भगवान् लोकपूरण प्रदेशोंको पाकर, ध्यानके बलसे वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीनों अघाति कर्मोंकी स्थिति घटाकर, अर्थात् भोगमें ला कर; आयु कर्मके समान स्थिति करते हैं। भावार्थ—यदि वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मोंकी स्थिति आयुकर्मसे अधिक हो तो लोकपूरण अवस्थामें उनकी स्थिति आयु कर्मकी स्थितिके समान कर लेते हैं ॥ ४६ ॥

ततः क्रमेण तेनैव स पश्चाद्विनिवर्तते ।
लोकपूरणतः श्रीमान् चतुर्भिः समयैः पुनः ॥ ४७ ॥

अर्थ—श्रीमान् केवली भगवान् पुन: लोकपूरण प्रदेशोंसे उसी क्रमसे चार समयोंमें लौट कर स्वस्थ होते हैं। भावार्थ—लोकपूरणसे प्रतर, कपाट दण्डरूप होकर चौथे समय में शरीरके समान आत्मप्रदेशों को करते हैं ॥ ४७ ॥

काययोगे स्थितिं कृत्वा बादरेऽचिन्त्यचेष्टितः ।
सूक्ष्मीकरोति वाक्चित्तयोगयुग्मं स बादरम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—जिनकी चेष्टा अचिन्त्य है ऐसे केवली भगवान् उस समय बादर काययोगमे स्थिति कर के, बादर वचनयोग और बादर मनोयोगको सूक्ष्म करते हैं ॥ ४८ ॥

काययोगं ततस्त्यक्त्वा स्थितिमासाद्य तद्वये ।
स सूक्ष्मीकुरुते पश्चात् काययोगं च बादरम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—पुन: वे भगवान् कायको छोड कर, वचनयोग और मनोयोगमें स्थिति करके, बादर काययोगको सूक्ष्म करते हैं ॥ ४९ ॥

काययोगे ततः सूक्ष्मे स्थितिं कृत्वा पुनः क्षणात् ।
योगद्वयं निगृह्णाति सद्यो वाक्चित्तसंज्ञकम् ॥ ५० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् सूक्ष्म काययोगमें स्थिति करके, क्षणमात्रमें उसी समय वचनयोग और मनोयोग दोनोंका निग्रह करते हैं ॥ ५० ॥

सूक्ष्मक्रियं ततो ध्यानं स साक्षात् ध्यातुमर्हति ।
सूक्ष्मैककाययोगस्थस्तृतीयं यद्धि पठ्यते ॥ ५१ ॥

अर्थ—तब यह सूक्ष्मक्रिय ध्यानको साक्षात् ध्यान करने योग्य होता है; और वह वहां पर सूक्ष्म एक काययोगमें स्थित हुआ उसका ध्यान करता है; यही तृतीय सूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाति ध्यान है ॥५१॥

द्वासप्ततिर्विलीयन्ते कर्मप्रकृतयो द्रुतम् ।
उपान्त्ये देवदेवस्य मुक्तिश्रीप्रतिबन्धकाः ॥ ५२ ॥

अर्थ—तदनन्तर अयोग गुणस्थानके उपान्त्य अर्थात् अन्त समयके पहले समयमें देवाधिदेवके मुक्तिरूपी लक्ष्मीकी प्रतिबंधक कर्मोंकी बहत्तर प्रकृति शीघ्र ही नष्ट होती है ॥ ५२ ॥

तस्मिन्नैव क्षणे साक्षादाविर्भवति निर्मलम् ।
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः ॥ ५३ ॥

अर्थ—भगवान् अयोगि परमेष्ठीके उसी अयोग गुणस्थानके उपान्त्य समयमें साक्षात् निर्मल ऐसा समुच्छिन्नक्रिय नामक चौथा शुक्लध्यान प्रगट होता है ॥ ५३ ॥

विलयं वीतरागस्य पुनर्यान्ति त्रयोदश ।
चरमे समये सद्यः पर्यन्ते या व्यवस्थिताः ॥ ५४ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् वीतराग अयोगी केवलीके अयोग गुणस्थानके अन्त समयमें शेष रही हुई तेरह कर्मप्रकृति जो कि अन्ततक लगी हुई थीं, तत्काल ही विलय जाती है ॥ ५४ ॥

तदासौ निर्मलः शान्तो निष्कलङ्को निरामयः ।
जन्मजानेकदुर्वारबन्धव्यसनविच्युतः ॥ ५५ ॥
सिद्धात्मा सुप्रसिद्धात्मा निष्पन्नात्मा निरञ्जनः ।
निष्क्रियो निष्कलः शुद्धो निर्विकल्पोऽतिनिर्मलः ॥ ५६ ॥
आविर्भूतयथाख्यातचरणोऽनन्तवीर्यवान् ।
परां शुद्धिं परिप्राप्तो दृष्टेर्बोधस्य चात्मनः ॥ ५७ ॥
अयोगी त्यक्तयोगत्वात्केवलोत्पादनिर्वृतः ।
साधितात्मस्वभावश्च परमेष्ठी परं प्रभुः ॥ ५८ ॥
लघुपञ्चाक्षरोच्चारकालं स्थित्वा ततः परम् ।
स स्वभावाद्व्रजत्यूर्ध्वं शुद्धात्मा वीतबन्धनः ॥ ५९ ॥

अर्थ—उस अयोग केवली चौदहवें गुणस्थानमें केवली भगवान् निर्मल, शांत, निष्कलङ्क निरामय और जन्ममरणरूप संसारके अनेक दुर्निवार बन्धके कष्टोंसे रहित हैं; इनका आत्मा सिद्ध सुप्रसिद्ध और निष्पन्न है, तथा ये कर्ममल रहित निरंजन हैं, क्रिया रहित हैं, शरीर रहित हैं, शुद्ध है निर्विकल्प हैं और अत्यन्त निर्मल हैं इनके यथाख्यात चारित्र प्रगट हुआ है अर्थात् चारित्रकी पूर्णता हुई है; और अनन्त वीर्य सहित हैं अर्थात् अब अपने स्वरूपसे कभी च्युत नहीं होते और आत्माके दर्शन ज्ञानकी उत्कृष्ट शुद्धताको प्राप्त हुए हैं; तथा ये मन वचन कायके योगोंसे रहित है इस लिये

अत्यन्त निवृत्त अयोगी है इसलिये केवल हैं, इन्होंने अपना आत्मा सिद्ध कर लिया है इसलिए साधितात्मा है, तथा स्वभाव-स्वरूप है, परमेष्ठी है, और उत्कृष्ट प्रभु है, उस चौदहवें गुणस्थानमें इतने समय तक ठहरते हैं कि जितने समयमें लघु पांच अक्षरका उच्चारण हो और फिर कर्मबन्धनसे रहित वे शुद्धात्मा स्वभावसे ही ऊर्ध्व गमन करते हैं ॥५५-५६-५७-५८-५९॥

इस प्रकार अब तक सूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति इन दोनों शुक्लध्यानोंका निरूपण किया, इन दोनों ध्यानोंका फल मोक्ष है, इसलिये अब कुछ मोक्षका वर्णन करते हैं–

अवरोधविनिर्मुक्तं लोकाग्रं समये प्रभुः ।
धर्माभावे ततोऽप्यूर्ध्वगमनं नानुमीयते ॥६०॥

अर्थ– पश्चात् वे भगवान् ऊर्ध्व गमन कर, एक समयमें ही कर्मके अवरोध रहित लोकके अग्रभाग विषे विराजमान होते हैं, लोकाग्र भागसे आगे धर्मास्तिकायका अभाव है, इसलिये इनका आगे गमन नहीं होता, यही अनुमानद्वारा दिखलाते हैं ॥६०॥

धर्मो गतिस्वभावोऽयमधर्मः स्थितिलक्षणः ।
तयोर्योगात्पदार्थानां गतिस्थिती उदाहृते ॥६१॥

अर्थ– जो गतिस्वभाव है अर्थात् गमन करनेमें हेतु है सो धर्मास्तिकाय है और जो स्थिति लक्षणरूप है अर्थात् पदार्थोंको स्थितिमें कारण है सो अधर्मास्तिकाय है, इन दोनोंके निमित्तसे पदार्थोंकी गति और स्थिति कही गई है ॥६१॥

तौ लोकगमनान्तस्थौ ततो लोके गतिस्थिती ।
अर्थानां न तु लोकान्तमतिक्रम्य प्रवर्त्तते ॥६२॥

अर्थ–वे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोकके गमन पर्यन्त स्थित है, इसलिए पदार्थोंकी गति और स्थिति लोकमें ही होती है, लोकका उल्लंघन करके नहीं होती, इसलिये भगवान् लोकाग्रभाग तक ही गमन करते हैं ॥६२॥

स्थितिमासाद्य सिद्धात्मा तत्र लोकाग्रमन्दिरे ।
आस्ते स्वभावजानन्तगुणैश्वर्योपलक्षितः ॥६३॥

अर्थ–सिद्धात्मा उस लोकाग्रमन्दिरमें स्थिति पाकर, स्वभावसे उत्पन्न हुए अनन्त गुण और ऐश्वर्य सहित विराजमान रहते है ॥६३॥

आत्यन्तिकं निराबाधमत्यक्षं स्वस्वभावजम् ।
यत्सुखं देवदेवस्य तद्वक्तुं केन पार्यते ६४॥

अर्थ–सिद्धात्मा देवाधिदेवका जो अत्यन्त, बाधा रहित, अतीन्द्रिय और अपने स्वभावसे ही उत्पन्न सुख है, उसका वर्णन कौन कर सकता है ! ॥६४॥

तथाप्युद्देशतः किञ्चित् ब्रवीमि सुखलक्षणम् ।
निष्ठितार्थस्य सिद्धस्य सर्वद्वन्द्वातिवर्त्तिनः ॥६५॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जिनके समस्त प्रयोजन सम्पन्न हो चुके हैं और सुखके बाधक ऐसे समस्त द्वन्द्वोंसे जो रहित हैं ऐसे सिद्ध भगवानके सुखको यद्यपि कोई नहीं कह सकता तथापि मैं नाम मात्रसे किञ्चित् कहता हूं ॥६५॥

ये देवमनुजाः सर्वे सौख्यमक्षार्थसम्भवम् ।
निर्विशन्ति निराबाधं सर्वाक्षप्रीणनक्षमम् ॥६६॥
सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्तं महर्द्धिकम् ।
भाविनो यच्च भोक्ष्यन्ति स्वादिष्ठं स्वान्तरञ्जकम् ॥६७॥
अनन्तगुणितं तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजम् ।
एकस्मिन् समये भुङ्क्ते तत्सुखं परमेश्वरः ॥६८॥

अर्थ—जो समस्त देव और मनुष्य इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न और इन्द्रियोंके तृप्त करनेमें समर्थ ऐसे निराबाध सुखको वर्तमान कालमें भोगते हैं तथा सबने अतीत कालमें जो सुख भोगे हैं और जो सुख महाऋद्धियोंसे उत्पन्न हुए हैं तथा स्वादिष्ठ और मनको प्रसन्न करनेवाले जो सुख आगामी कालमें भोगे जायेंगे उन समस्त सुखोंसे अनन्त गुणे अतीन्द्रिय और अपने स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले सुखको श्रीसिद्ध भगवान् परमेश्वर एक ही समयमें भोगते हैं ॥६६-६७-६८॥

इन्द्रियोंके बिना भगवान्के कैसे सुख होता है सो दिखलाते हैं—

त्रिकालविषयाशेषद्रव्यपर्यायसङ्कुलम् ।
जगत्स्फुरति बोधार्के युगपद्योगिनां पतेः ॥६९॥

अर्थ—योगीश्वरोंके पति श्रीसिद्ध भगवानके ज्ञानरूपी सूर्यमें भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों काल सम्बन्धी समस्त द्रव्य पर्यायोंसे व्याप्त जो यह जगत् है सो एक ही समयमें स्पष्ट प्रत्यक्ष प्रतिभासित होता है। भावार्थ—इन्द्रियज्ञान तुच्छ है, उससे उत्पन्न हुआ सुख कितना हो सकता है, सिद्ध भगवानके एक ही समयमें समस्त पदार्थोंका ज्ञान होता है, इसलिये उनके सुखकी क्या महिमा ? सुखका कारण ज्ञान है, जहां पूर्ण ज्ञान है, वहां पूर्ण सुख भी है ॥६९॥

अब सिद्ध भगवानके गुणोंकी महिमा कहते हैं—

सर्वतोऽनन्तमाकाशं लोकेतरविकल्पितम् ।
तस्मिन्नपि घनीभूय यस्य ज्ञानं व्यवस्थितम् ॥७०॥

अर्थ—यह आकाश सर्वतः अनन्त है और उसके लोक और अलोक ऐसे दो भेद है, उस समस्त आकाशमें सिद्ध परमेष्ठीका ज्ञान घन भूत हो कर भरा हुआ है ॥७०॥

निद्रातन्द्राभयभ्रान्तिरागद्वेषार्तिसंशयैः ।
शोकमोहजराजन्ममरणाद्यैश्च विच्युतः ॥७१॥

अर्थ—श्रीसिद्ध भगवान् निद्रा, तन्द्रा, भय भ्रान्ति, राग, द्वेष, पीडा और संशयसे रहित हैं तथा शोक, मोह, जरा, जन्म और मरण इत्यादिकसे रहित है ॥ ७१ ॥

क्षुत्तृट्श्रममदोन्मादमूर्च्छामात्सर्यवर्जितः ।
वृद्धिह्रासव्यतीतात्मा कल्पनातीतवैभवः ॥ ७२ ॥

अर्थ—और क्षुधा, तृषा, खेद, मद, उन्माद, मूर्च्छा और मत्सर भावोंसे रहित हैं और इनकी आत्मामें वृद्धि ह्रास (घटना बढना) है और इनका विभव कल्पनातीत है ॥ ७२ ॥

निष्कलः कारणातीतो निर्विकल्पो निरञ्जनः ।
अनन्तवीर्यतापन्नो नित्यानन्दाभिनन्दितः ॥ ७३ ॥

अर्थ—सिद्ध भगवान् शरीर रहित हैं, इन्द्रिय रहित हैं, मनके विकल्पोंसे रहित हैं, निरंजन हैं अर्थात् जिनके नये कर्मोंका बंध नहीं है अनन्तवीर्यताको प्राप्त हुए हैं अर्थात् अपने स्वभावसे कभी च्युत नहीं होते और नित्य आनन्दसे आनन्दरूप हैं अर्थात् जिनके सुखका कभी विच्छेद नहीं होता ॥ ७३ ॥

परमेष्ठी परं ज्योतिः परिपूर्णः सनातनः ।
संसारसागरोत्तीर्णः कृतकृत्योऽचलस्थितिः ॥ ७४ ॥

अर्थ—तथा परमेष्ठी (परम पदमें विराजमान) परं ज्योतिः (ज्ञानप्रकाशरूप) परिपूर्ण, सनातन (नित्य), संसाररूपी समुद्रसे उत्तीर्ण अर्थात् संसारसम्बन्धी चेष्टाओंसे रहित कृतकृत्य (जिनको करना कुछ शेष नहीं है) अचलस्थिति (प्रदेशोंकी क्रियाओंसे रहित) ऐसे सिद्ध भगवान् हैं ॥७४॥

संतृप्तः सर्वदेवास्ते देवस्त्रैलोक्यमूर्द्धनि ।
नोपमेयं सुखादीनां विद्यते परमेष्ठिनः ॥ ७५ ॥

अर्थ—पुनः सिद्ध भगवान् संतृप्त हैं, तृष्णा रहित हैं, तीन लोकके शिखर पर सदा विराजमान हैं अर्थात् गमन रहित है इस संसारमें कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जिसकी उपमा परमेष्ठीके सुख को दी जाय, उनका सुख निरुपमेय है ॥ ७५ ॥

चरस्थिरार्थसम्पूर्णे मृगमाणं जगत्त्रये ।
उपमानोपमेयत्वं मन्ये स्वस्यैव स स्वयम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि यदि चर और स्थिर पदार्थोंसे भरे हुए इन तीनों जगतोंमें उपमेय और उपमान ढूंढ़ा जाय तो मैं ऐसा मानता हूं कि वे स्वयं ही उपमान उपमेय रूप है । भावार्थ—सिद्ध भगवानका उपमान सिद्ध ही है और किसीके साथ उनकी उपमा नहीं दी जा सकती ॥७६॥

यतोऽनन्तगुणानां स्यादनन्तांशोपि कस्यचित् ।
ततो न शक्यते कर्तुं तेन साम्यं जगत्त्रये ॥ ७७ ॥

अर्थ—क्योंकि तीनों जगतमें इन सिद्ध परमेष्ठीके अनन्त गुणोंका अनन्तवां अंश भी किसी पदार्थ

में नहीं है, इसलिये उनकी समानता किसीके साथ नहीं कर सकते। भावार्थ—इसलिये उनका उपमेय भाव अपना अपने हो साथ है ॥ ७७ ॥

शक्यते न यथा ज्ञातुं पर्यन्तं व्योमकालयोः ।
तथा स्वभावजातानां गुणानां परमेष्ठिनः ॥ ७८ ॥

अर्थ—जैसे कोई आकाश और कालका अन्त नहीं जान सकता, उसी तरह स्वभावसे उत्पन्न हुए परमेष्ठीके गुणोंका अन्त भी कोई नहीं जान सकता ॥ ७८ ॥

मालिनी ।

गगनघनपतङ्गाहीन्द्रचन्द्राचलेन्द्र-
क्षितिदहनसमीराम्भोधिकल्पद्रुमाणाम् ।
निचयमपि समस्तं चिन्त्यमानं गुणानां
परमगुरुगुणौघैर्नोपमानत्वमेति । ७९ ॥

अर्थ—आकाश, मेघ, सूर्य, सर्पोंका इन्द्र, चन्द्रमा, मेरु, पृथिवी, अग्नि, वायु, समुद्र और कल्प-वृक्षोंके गुणोंका समस्त समूह भी चिन्तवन किया जाय तो भी उनकी उपमा परम गुरु श्रीसिद्ध परमेष्ठीके गुणोंके साथ नहीं हो सकती। भावार्थ—संसार के उत्तमोत्तम पदार्थोंके गुण विचार करने से भी ऐसा कोई पदार्थ नहीं दिख पडता कि जिसके गुणोंकी उपमा सिद्ध परमेष्ठीके गुणोंके साथ दी जाय ॥ ७९ ॥

नासत्पूर्वाश्च पूर्वा नो निर्विशेषविकारजाः ।
स्वाभाविकविशेषा ह्यभूतपूर्वाश्च तद्गुणाः ॥ ८० ॥

अर्थ—सिद्ध परमेष्ठीके गुण पूर्वमें नहीं थे ऐसे नहीं है अर्थात् "पूर्वमें भी शक्तिरूपसे विद्यमान ही थे, क्योंकि असत्का प्रादुर्भाव नहीं होता यह नियम है, यदि असत्का भी प्रादुर्भाव माना जाय तो शशशृङ्गका भी प्रादुर्भाव होना चाहिये किन्तु होता नहीं हैं यही इस नियममें प्रमाण है।" और पूर्व में व्यक्त नहीं थे तथा विशेष विकारसे उत्पन्न नहीं, किंतु स्वाभाविक है (इस प्रकार पूर्वार्द्धद्वारा निषेधमुख कथन करके, इस विषयको पुनः उत्तरार्द्धद्वारा विधिमुखवाक्यसे कहते हैं) कि सिद्ध परमेष्ठीके गुण स्वाभाविकविशेष अर्थात् पूर्वमें भी शक्ति की अपेक्षा स्वभावमें ही विद्यमान और अभूतपूर्व अर्थात् पूर्वमें व्यक्त नहीं हुए ऐसे है। भावार्थ—आत्माके जो स्वाभाविक गुण पूर्वावस्थामें अव्यक्त रहते हैं, वे ही सिद्धावस्थामें व्यक्त हो जाते हैं। इसीसे (शक्तिकी अपेक्षा पूर्वमें भी विद्यमान होनेके कारण) उन 'गुणोंको 'पूर्वमें नहीं थे' ऐसा नहीं कह सकते और पूर्वमें व्यक्त नहीं थे इससे 'पूर्वमें थे' ऐसा नहीं कह सकते और स्वाभाविक होनेके कारण उनको विकारज भी नहीं कह सकते किंतु वे शक्ति (गुण) की अपेक्षा स्वाभाविक और व्यक्तिकी अपेक्षा अभूतपूर्व ही कहे जाते है ॥ ८० ॥

वाक्पथातीतमाहात्म्यमनन्तज्ञानवैभवम् ।
सिद्धात्मनां गुणग्रामं सर्वज्ञज्ञानगोचरम् ॥ ८१ ॥

अर्थ—जिसका माहात्म्य वचनोंसे कहने योग्य नहीं है और जिसके अनन्त ज्ञानका विभव है, ऐसे सिद्ध परमेष्ठीके गुणोंका समूह सर्वज्ञके ज्ञानके गोचर है ॥८१॥

परन्तु वहाँ भी इतनाविशेष है कि—

स स्वयं यदि सर्वज्ञः सम्यग्ब्रूते समाहितः।
तथाप्येति न पर्यन्तं गुणानां परमेष्ठिनः ॥८२॥

अर्थ—सर्वज्ञ देव परमेष्ठीके गुणोंको जानते हैं, परन्तु यदि वे उन गुणोंको समाधान सहित अच्छी तरह कहें तो वे भी उनका पार पा नहीं सकेंगे। भावार्थ—वचनकी संख्या अल्प है और गुण अनन्त हैं इसलिये वे वचनोंसे नहीं कहे जा सकते ॥८२॥

त्रैलोक्यतिलकीभूतं निःशेषविषयच्युतम् ॥८३॥
निर्द्वन्द्वं नित्यमत्यक्षं स्वादिष्ठं स्वस्वभावजम् ॥८३॥
निरौपम्यमविच्छिन्नं स देवः परमेश्वरः।
तत्रैवास्ते स्थिरीभूतः पिबन् ज्ञानसुखामृतम् ॥८४॥

अर्थ—श्रीसिद्ध परमेष्ठी परमेश्वर देव समस्त त्रैलोक्यका तिलकस्वरूप, समस्त विषयोंसे रहित, निर्द्वन्द्व अर्थात् प्रतिपक्षी रहित, अविनाशी, अतीन्द्रिय, स्वादस्वरूप, अपने स्वभावसे ही उत्पन्न, उपमा रहित और विच्छेद रहित ज्ञान और सुखरूपी अमृतको पीते हुए स्थिरीभूत तीन लोकके शिखर पर विराजमान रहते हैं ॥८३-८४॥

स्रग्धरा।

देवः सोऽनन्तवीर्यो दृगवगमसुखानर्घ्यरत्नावकीर्णः
श्रीमान्त्रैलोक्यमूर्ध्नि प्रतिवसति भवध्वान्तविध्वंसभानुः।
स्वात्मोत्थानन्तनित्यप्रवरशिवसुधाम्भोधिमग्नः स देवः
सिद्धात्मा निर्विकल्पोऽप्रतिहतमहिमा शश्वदानन्दधामा ॥८५॥

अर्थ—जिनके अनन्त वीर्य है अर्थात् प्राप्त स्वभावसे कभी च्युत नहीं होते, जो दर्शन ज्ञान और सुखरूप अमूल्य रत्नों सहित है, जो संसाररूप अन्धकारको दूर कर सूर्यके समान विराजमान है, जो अपने आत्मासे ही उत्पन्न ऐसे अनन्त नित्य उत्कृष्ट शिवसुखरूपी अमृतके समुद्रमें सदा मग्न है, विकल्प रहित है, जिसकी महिमा अप्रतिहत (जो किसीसे आहत न होवे) है और जो निरन्तर आनन्दके निवासस्थान हैं ऐसे श्रीसिद्ध परमेष्ठी देव शोभायमान जो तीनों लोकोंका मस्तक (शिखर) है उसमें सदा निवास करते हैं ॥८५॥

इति कतिपयवरवर्णैर्ध्यानफलं कीर्तितं समासेन।
निःशेषं यदि वक्तुं प्रभवति देवः स्वयं वीरः ॥८६॥

अर्थ—ऐसे पूर्वोक्त प्रकार कितने ही श्रेष्ठ अक्षरोंके द्वारा संक्षेपसे ध्यानका फल कहा है; इसका समस्त फल कहनेको स्वयं श्रीवर्द्धमानस्वामी ही समर्थ हो सकते हैं ॥८६॥

दोहा।

सकल कषाय अभावतें, उज्वल चेतन भाव।
शुक्लध्यानमें होय तब, कर्मनिर्जरा थाव ॥ १ ॥
सर्व कर्मका नाश करि, देत मोक्ष यह ध्यान।
सुख अनन्त तहँ भोगवे, सदा रहै स्थिर ध्यान ॥ २ ॥

अब ग्रन्थका उपसंहार करते हैं---

मालिनी

इति जिनपतिसूत्रात्सारमुद्धृत्य किञ्चित्
स्वमतिविभवयोग्यं ध्यानशास्त्रं प्रणीतम्।
विबुधमुनिमनीषाम्भोधिचन्द्रायमाणं
चरतु भुवि विभूत्यै यावदद्रीन्द्रचन्द्रः ॥८७॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि हमने इस प्रकार जिनेन्द्र देव सर्वज्ञके सूत्रसे थोड़ासा सार ले कर, अपनी बुद्धिके विभवानुसार यह ध्यानका शास्त्र निर्माण किया है; सो यह शास्त्र विद्वान् मुनियोंकी बुद्धिरूप समुद्रके बढ़ानेके लिये चन्द्रमाको समान होता हुआ जब तक मेरु और चन्द्रमा रहें, तब तक इस पृथ्वीमें अपनी विभूतिके लिये सदा प्रवर्त्ते (यह आचार्यका अशीर्वाद है) ॥८७॥

ज्ञानार्णवस्य माहात्म्यं चित्ते को वेत्ति तत्त्वतः।
यज्ज्ञानात्तीर्यते भव्यैर्दुस्तरोपि भवार्णवः ॥८८॥

अर्थ—भव्य जीव जिसके ज्ञानसे ही अत्यन्त कठिनतासे पार करने योग्य संसाररूप समुद्रके पार हो जाते हैं ऐसे इस ज्ञानार्णव ग्रन्थका माहात्म्य यथार्थ रीतसे अपने चित्तमें कौन जानता है ॥८८॥

इस प्रकार इस शास्त्रकी महिमा निरूपण की, इसका तात्पर्य यह है कि इस शास्त्रका नाम ज्ञानार्णव सार्थक है, ज्ञानको समुद्रकी उपमा है, जो ज्ञानको जनता है वही निर्मल जल है और उसमें जो सर्व पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं वे ही रत्न है, इस प्रकार ज्ञानकी स्वच्छता और एकाग्रता करनेका इसमें वर्णन है, इस कारण इसका नाम ज्ञानसमुद्र (ज्ञानार्णव) है, यद्यपि यह ग्रंथ मुनियोंके पढ़ने योग्य हैं, परन्तु पंचमकालमें मुनिपनेकी दुर्लभता है, इस कारण गृहस्थी भी इसको पढ़ें सुने और सुनावें तो उसके यथार्थ श्रद्धान हो जाय तथा उनकी भावना रहे तो बड़ा लाभ हो, परम्परासंस्कार पर भवमें चला जाय तो उत्तम गति हो, सुखको प्राप्ति हो इस कारण गृहस्थको पढ़ना सुनना सुनावना योग्य है।

सवैया २३ सा।

ज्ञानसमुद्र तहां सुखनीर पदारथ पंकतिरत्न विचारो।
राग विरोध विमोह कुजंतु मलीन करो तिन दूर बिडारो ॥
शक्ति सँभार करो अवगाहन निर्मल होय सुतत्त्व उधारो।
ठान क्रिया निज नेम सबै गुन भोजन भोगन मोक्ष पधारो ॥४२॥

इति श्रीशुभचन्द्राचार्यविरचिते योगप्रदीपाधिकारे ज्ञानार्णवे शुक्लध्यानवर्णनं
नाम द्विचत्वारिंशं प्रकरणं समाप्तम् ॥४२॥

समाप्त